अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

INTERNATIONAL ECONOMICS

Dr. D. N. GURTOO
B. Sc. Hons. (London),
M. A. (U.S.A.), Ph. D. (U.S.A.)
Professor & Head of the Economics Department
Birla Institute of Technology & Science
PILANI (Raj.)

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

अनुक्रम

१

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की भिन्नताप्रद विशेषताएं

(DISTINGUISHING FEATURES OF INTERNATIONAL TRADE)

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बिना ग्रेट-ब्रिटेन का अर्थशास्त्र वैसा
ही होगा जैसा संघीय बजट और कर-व्यवस्था बिना
संयुक्त राज्य अमेरिका का अर्थशास्त्र रहता है।"

—थॉमस सी. शैलिंग

"महिलाओं के वस्त्रों की भांति अर्थशास्त्र फैशन की
लहरों में चलता है और नवीनता के लिये
निरन्तर पुरातन को ठुकराता है। महिलाओं
के वस्त्रों की भांति ही नया सलीका
मूल वस्तु में बहुत कम
अन्तर लाता है।"

—चार्ल्स पी. किंडलेबर्गर

"The economics of Britain without inter-
national trade would be like the
economics of the United States
without the federal budget
and tax system".

—Thomas C. Schelling

"Economics, like female dress and much else, moves
in waves of foshion, continuously discarding
the old for the 'new Look'. And like female
dress the new styles seldom involve
much change in basic matter."

—Charles P. Kindleyberger

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की भिन्नताप्रद विशेषतायें

(DISTINGUISHING FEATURES OF INTERNATIONAL TRADE)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य स्थित व्यापारिक सम्बन्धों को कहा जाता है। जिन कारणों एवं परिस्थितियों ने राज्य के व्यापार को प्रोत्साहन दिया है वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार बने हैं। प्राकृतिक साधनों का असमान वितरण, श्रम की मात्रा में अन्तर, जलवायु की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता की स्थिति आदि के प्रभाव से एक राज्य किसी वस्तु विशेष का उत्पादन अधिक कुशलता एवं कम खर्च में कर सकता है, दूसरा देश ऐसा करने की क्षमता नहीं रखता। विभिन्न राज्यों के तकनीकी विकास एवं वैज्ञानिक आविष्कारों के स्तर का अन्तर वहां किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन को अन्य की अपेक्षा अधिक कर देता है। जिन वस्तुओं के उत्पादन में एक राज्य दक्ष होता है वे वस्तुएं आवश्यकता से अधिक उत्पादित की जाती हैं, जबकि अन्य चीजों का उत्पादन पर्याप्त नहीं हो पाता।

अत: आवश्यक है कि वह देश अतिरिक्त उत्पादित वस्तुओं का दूसरे देशों को निर्यात करे और जो वस्तुएँ वह पर्याप्त मात्रा में पैदा नहीं कर पाता उनका दूसरे देशों से आयात करे जहां पर इनका उत्पादन दक्षता एवं कम मूल्य के साथ होता है। इस दृष्टि से आज की दुनियां का प्रत्येक राज्य परावलम्बी है। दूसरे के सक्रिय सहयोग एवं समर्थन के बिना वह अपना जीवन व्यवस्थित रूप में संचालित नहीं कर सकता। इस स्थिति ने सारे संसार को एक इकाई बना दिया है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज का एक आम अभ्यास बन चुका है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं जिनके आधार पर हम उसे राष्ट्रीय अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न कर सकें। इन विशेषताओं का अध्ययन करने से पूर्व यह उपयुक्त प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अर्थ, महत्व, आवश्यकता, उसके लाभ तथा हानियों का संक्षेप में अध्ययन किया जाये।

उत्पादन में तथा शेष श्रमिकों को अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगाता है। **जिस प्रकार दो व्यक्तियों की योग्यतायें एवं क्षमतायें एक जैसी नहीं होती** उसी प्रकार दो देशों की योग्यताओं एवं क्षमताओं के बीच भी असमानता पाई जाती है। जो देश जिस वस्तु के उत्पादन में अधिक क्षमता एवं कुशलता रखता है उसे वही वस्तु उत्पादित करनी चाहिए। इससे वह स्वयं भी लाभान्वित होगा और दूसरे देश भी स्वयं उत्पादन करने की अपेक्षा उस वस्तु का आयात करने से लाभ में रहेंगे। प्रत्येक देश की सुविधायें भिन्न होती हैं। अतः उनके बीच स्वभावतः ही श्रम विभाजन हो जाता है।

श्रम-विभाजन को आवश्यक एवं उपयोगी बनाने वाली अनेक परिस्थितियां हैं—(i) **देशों के प्राकृतिक साधनों का अन्तर**। कुछ देश खनिज पदार्थों की दृष्टि से सम्पन्न होते हैं जब कि दूसरे देशों में इनका अभाव होता है। कुछ देशों का जलवायु कुछ चीजों के उत्पादन के लिए बहुत अच्छा होता है और इसलिए वहां ऐसी चीजों को बहुतायत में उत्पन्न करके उनका निर्यात किया जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक साधन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को जरूरी बना देते हैं।

(ii) **विभिन्न देशों की जनसंख्या असमान होती है**। अधिक जनसंख्या वाले देश इतना अधिक उत्पादन नहीं कर पाते कि उनकी जनता के लिए वह पर्याप्त हो सके। दूसरी ओर कम जनसंख्या वाले देशों में सामग्रियों का उत्पादन वहां की जनता की मांग से अधिक किया जाता है। यह स्थिति आयात और निर्यात को जरूरी बना देती है।

(iii) **प्राकृतिक साधनों की भाँति मानवीय गुणों के आधार पर भी राष्ट्रों के बीच अन्तर रहता है**। कुछ देश शारीरिक श्रम की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं जबकि दूसरे दस्तकारी की दृष्टि से कुशल होते हैं। देश का राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण और दीर्घकालीन जातिय व्यवस्थाएं इस प्रकार के अन्तरों का कारण होती हैं। शारीरिक श्रम की आवश्यकता वाले उद्यमों को उन देशों में अपनाया जाएगा जहां स्वस्थ और शक्तिशाली जनता निवास करती है। दूसरी ओर जिन कार्यों में बुद्धि, साहस एवं योग्यता की आवश्यकता है उन्हें प्रगतिशील, शिक्षित एवं वैज्ञानिक ज्ञान सम्पन्न समाज में अपनाया जाएगा।

(iv) **विभिन्न देशों की पूंजी का प्रकार अलग-अलग होता है**—कहीं चल पूंजी अधिक होती है तो कहीं अचल पूंजी अधिक होती है। इस प्रकार के अन्तर के आधार पर देशों के बीच विशिष्टीकरण किया जाता है।

(v) **विभिन्न देशों के राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण के भिन्न होने के कारण भी उनके बीच विभिन्नताएं स्थापित हो जाती हैं।** ये श्रम विभाजन को जरूरी बना देती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता
(Necessity of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आज के युग की आवश्यकता बन चुका है। यद्यपि इसका महत्व सभी देशों के लिए एक जैसा नहीं है फिर भी कोई देश इसकी अवहेलना नहीं कर पाता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कई कारणों से जरूरी बन जाता है, इसमें भाग लेने वाले प्रायः सभी पक्ष लाभान्वित होते हैं तथा इससे किसी का कोई अनिष्ट नहीं होता।[1] इसमें आयात करने वाला देश भी उतना ही लाभान्वित होता है जितना निर्यात करने वाला देश होता है। जब विभिन्न देशों के बीच मूल्य-अनुपात भिन्न-भिन्न होता है तो सस्ती चीजों को एक देश खरीद लेता है और महंगी चीजों को बेच देता है। मांग की लोच के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की लाभ की मात्रा निर्धारित होती है। इसी के अनुसार व्यापार की शर्तें तय की जाती हैं। मांग जितनी अधिक लोचदार होती है, उतना ही अधिक लाभ होता है और जितनी कम लोचदार होती है उतना ही कम लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आवश्यक बनाने वाले तत्व निम्न लिखित हैं—

(१) **श्रम विभाजन**—जो देश जिस चीज के उत्पादन का विशेषज्ञ होता है वह उसे स्वयं बनाता है और उसे दूसरे देशों को निर्यात करता है। अन्य वस्तुओं का वह उन देशों से आयात करता है जो उन चीजों के उत्पादन के विशेषज्ञ हैं। मि. वेस्टेवल के कथनानुसार अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जिनको एक देश पर्याप्त कम कीमत पर उत्पादित नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में ये चीजें अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा अत्यन्त सरलता से प्राप्त की जा सकती हैं।

(२) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए जरूरी है कि प्राकृतिक साधनों का प्रत्येक देश पूरा-पूरा उपयोग कर सके।** एक देश किसी वस्तु का उत्पादन केवल तभी करता है जब ऐसा करने से उसे अधिक लाभ अथवा कम से कम हानि होती है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करता है। एक देश के प्राकृतिक साधन जिस व्यव-

---

1. "It results in benefits to all participating Nations and injury to none"-Paul V. Horn and Henery: International Trade : Principles and Practices, Page 97.

साय के लिए उपयुक्त होते हैं वहां केवल वही व्यवसाय विकसित हो पाता है। ऐसा करने से उत्पादित वस्तुओं की उत्पादन लागत कम हो जाती है और कम मूल्य होने कारण विदेशों में उसकी माग बढ़ जाती है।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए आवश्यक है ताकि उपभोक्ताओं को सस्ती चीजें उपलब्ध कराई जा सकें।** प्राकृतिक साधनों का पूरा-पूरा उपयोग होने तथा उनकी लागत पर कम से कम खर्चा आने के कारण यह स्वाभाविक है कि उपभोक्ताओं को ये चीजें कम कीमत पर प्राप्त हों। सारे संसार में उत्पन्न होने वाली चीजों की कीमतें कम होने लगती हैं तथा सभी देशों के उपभोक्ता उनको आसानी से खरीद पाते हैं। उपभोक्ताओं का जीवन-स्तर पर्याप्त ऊंचा उठता है।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अकाल एवं दुर्भिक्ष जैसे प्राकृतिक संकटों का मुकाबला करने में एक देश की सहायता करता है।** यदि इस संकट द्वारा किसी देश;की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसे समर्थन देगा। आवश्यक वस्तुयें अभावग्रस्त देशों में भेजकर वहां के लोगों को नष्ट होने से बचा लिया जाता है।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश के उत्पादकों को विदेशी उत्पादकों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने का अवसर प्रदान करता है।** विदेशी उत्पादकों द्वारा दी गयी चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रत्येक उत्पादक समय-समय पर अपनी उत्पादन-विधि में करके कम से कम मूल्य पर सामान बनाने का प्रयास करता है तभी वह विदेशी प्रतियोगिता में टिकने की आशा कर सकता है। विदेशी प्रतियोगिता एक देश के उत्पादकों को एकाधिकार-मूल्य लेने से रोकती है। इस प्रतियोगिता से वस्तुओं की कीमत कम होती है और स्तर ऊंचा होता है।

(६) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कच्चे माल की उपलब्धि कराता है।** कुछ देशों का तकनीकी ज्ञान पर्याप्त होता है किन्तु उसका प्रयोग करने के लिए उनके पास पर्याप्त कच्चा माल नहीं होता। विदेशों से कच्चा माल प्राप्त करके ये देश विभिन्न उद्योग-धन्धे स्थापित करते हैं। इस प्रकार विदेशों से कच्चा माल, तकनीकी ज्ञान एवं मशीन आदि प्राप्त करके एक देश अपने औद्योगीकरण की गति को बढ़ा देता है।

(७) **अनेक वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनका उत्पादन सभी नहीं वरन् कुछ विशेष देश ही कर पाते हैं।** अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश के निवासियों को उन वस्तुओं के उपभोग का अवसर देता है जिनको वह उत्पन्न नहीं कर

सकता। विदेशी व्यापार के माध्यम से इन चीजों को सस्ती दर पर मंगाकर इनका उपयोग किया जाता है।

(८) **कुछ देश कुछ वस्तुओं का उत्पादन अपनी आवश्यकताओं से अधिक कर लेते हैं।** इस अतिरिक्त उत्पादन की खपत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से एक देश विदेशी विनिमय प्राप्त करता है जो उसके आर्थिक स्तर को दृढ़ बनाये रखने में पर्याप्त सहायक होता है।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के बीच केवल आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से ही उपयोगी नहीं होता वरन् इसके द्वारा विभिन्न देशों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित किये जाते हैं। अनेक व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल एक देश से दूसरे देश में आते जाते रहते हैं और भिन्न भिन्न संस्कृतियों के लोग परस्पर सम्पर्क में आते हैं। वे एक दूसरे के रीति-रिवाज, राजनैतिक आचार-विचार एवं सामाजिक मूल्यों से परिचित होते हैं।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय **व्यापार पारस्परिक निर्भरता** को जन्म देता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न देशों के बीच आवश्यक रूप से सहयोग बढ़ता है। एक देश जब वस्तुओं का आयात और निर्यात करने के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहता है तो स्वाभाविक रूप से उनके बीच सहयोग और सद्भावना बढ़ जाती है।

इस प्रकार अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक एवं आवश्यक बन जाता है। यह देश के साधन स्रोतों का अधिक से अधिक उपयोग करने का अवसर देता है। इससे एक देश के लोग बचत कर सकते हैं उन्हें पूंजी की रचना में सहायता मिलती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोहरा लाभ होता है—इससे देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है तथा विदेशों से वस्तुयें मंगाकर देशवासियों की आवश्यकतायें पूरी की जा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक कारणों से एक ऐसा आकर्षण पैदा हो जाता है जो प्राय: राष्ट्रीय व्यापार में नहीं हो पाता। व्यापार करने वाले को नये-नये स्थानों पर घूमना होता है, अनेक चीजें देखनी होती हैं, नये लोगों के साथ व्यवहार करना होता है। विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सभ्यता का सबसे बडा प्रचारक माना है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व

(The Importance of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता से मिलता हुआ ही एक अन्य

प्रश्न इसके महत्व का है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कई कारणों से आज जन-जीवन के लिए परम महत्वपूर्ण है—

(क) यह देश के कृषि, उद्योग, श्रम एवं समाज की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है, यह न केवल एक देश के जीवन स्तर को ऊंचा बनाये रखने के लिए जरूरी है, वरन् इसके बिना कुछ देश तो अपनी जनसंख्या का पर्याप्त मात्रा में पोषण भी नहीं कर पाते। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में कुछ देश कच्चे माल को लेकर बैठे रहेंगे जबकि दूसरे देश खाली मशीनों का दर्शन करते रहेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जैसा कि वाल्टर कोज का कहना है—"अधिक लोगों को जीवित रहने की सुविधा देता है। उन्हें विभिन्न रसों का आनन्द लेने और अपने जीवन स्तर को ऊंचा बनाए रखने की सुविधायें देता है।"[1]

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश की कृषि की स्थिति को बढ़ाने में सहयोग करता है, क्योंकि आवश्यक यन्त्रों एवं खाद आदि वस्तुओं को आसानी से उपलब्ध किया जा सकता है। कृषि उत्पादन अत्यधिक होने पर उसे कमी वाले प्रदेशों में भेज दिया जाता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो कृषि उत्पादन कम करना होगा और देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न उद्योगों पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालता है। एक देश के उद्योग-धन्धे तभी चल सकते हैं जब उनके लिए उपयुक्त कच्चा माल प्राप्त किया जा सके। कच्चे माल के अभाव में उद्योग धन्धों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रमिकों के लिए पर्याप्त महत्व रखता है, इससे उनकी आय अधिक हो जाती है। अनेक देशों के मजदूरों की आय का प्रमुख स्रोत विदेशी व्यापार होता है। श्रमिकों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। आयात और निर्यात का काम सम्भालने के लिए अनेक मजदूरों को रोजगार मिलता है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आयात के कारण देश में रोजगार की सम्भावनायें कम हो जायेंगी, किन्तु यह सोचना सही नहीं है क्योंकि आयात के द्वारा निर्यात का सृजन भी किया जाता है। यदि कोई देश केवल आयात करे और निर्यात न करे तो कुछ समय में ही उसकी अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

---

1. "International Trade permits more people to live, to gratify more varied tests and to enjoy a higher standard of living than would be possibe in its absence."
—Walter Krause, The International Economics, Page—3.

(च) आयात और निर्यात के द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों को लाभ होता है इससे उपभोक्ता लाभान्वित होते हैं क्योंकि उनकी आवश्यकता की अनेक चीजें विदेशों से आयात की जाती हैं। इसके अतिरिक्त यह उत्पादकों के लिए लाभदायक है क्योंकि अनेक यन्त्र, रसायन पदार्थ, विभिन्न प्रकार की धातुएं एवं अन्य अनेक वस्तुएं आयातित की जाती हैं जिनसे उत्पादकों को उत्पादन करने में सरलता होती है।

(छ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही समय-समय पर विभिन्न देशों की सरकारें अपनी आयात और निर्यात की नीति में परिवर्तन करती रहती हैं।

(ज) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तकनीकी विकास को सम्भव बनाता है, इसके कारण जो प्रतियोगिता जन्म लेती है उससे देश में उत्पादित वस्तुओं के गुण एवं मात्रा में वृद्धि हो जाती है। देशी व्यापारी अपनी वस्तु को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। आयात और निर्यात देश को विभिन्न साधनों से सम्पन्न बनाते हैं और इस प्रकार उसकी सुरक्षा को सहारा देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के आर्थिक विकास को संभव बनाता है और जो देश अपने विकास के लिए आवश्यक उपकरणों को स्वयं नहीं बना सकते वे उनका आयात करते हैं। पारस्परिक निर्भरता बढ़ जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन का महत्व आज के राष्ट्रवादी एवं अन्तर्राष्ट्रवादी युग में अत्यन्त बढ़ गया है। प्रो० किंडलेबर्गर के शब्दों में "बढ़ते हुए राष्ट्रवाद की दुनियां में, अथवा बढ़ते हुये अन्तर्राष्ट्रीयतावाद या दोनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ज्ञान और समझौतों का एक महत्वपूर्ण साधन है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियां

(Demerits of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक एवं उपयोगी होते हुए भी अनेक प्रकार से नुकसानदायक बन जाता है। इसके ये विभिन्न दोष, इतने स्वाभाविक एवं अपरिहार्य नहीं हैं। कुछ सावधानी बरतने के बाद इन पर रोक लगाई जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संभावित दोष अग्रलिखित हैं—

---

1. "In a world of rising Nationalism, rising Internationalism or both, International Economics is an important tool of understanding and negotiation."—Charles P. Kindleberger, International Economics, III. Edition, 1963 P. 12.

(१) इसमें प्राकृतिक सम्पदा का दुरुपयोग किया जाता है। जब एक देश केवल अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उत्पादन करता है तो उसके सीमित साधन धीरे-धीरे समाप्ति की दिशा में अग्रसर हो जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण, कोयला, पेट्रोल, मैंगनीज आदि विभिन्न पदार्थों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाता है। इससे इनके शीघ्र समाप्त होने का अन्देशा बढ़ जाता है। खनिज पदार्थ एक बार काम में आने के बाद समाप्त हो जाते हैं। यदि इनका प्रयोग राष्ट्रीय आवश्यकताओं की दृष्टि से ही किया जाएं तो ये इतनी जल्दी समाप्त न हों।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यापारियों को यह लालच देता है कि वें लाभ कमाने के लिए वस्तुओं का निर्यात अधिक करें। इसके परिणाम-स्वरूप देश में वस्तुओं की कमी आ जाती है और कीमतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार देशवासी उन वस्तुओं के उपभोग से वंचित रह जाते हैं। फलतः उनका जीवन स्तर गिरना प्रारम्भ हो जाता है।

(३) विदेशी प्रतियोगिता देश के उद्योग धन्धों को नुकसान पहुँचाती है, इसके कारण नये उद्योग नहीं पनप पाते और पुराने उद्योग भी पूर्ण रूप पाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। विदेशी व्यापार आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों के लिए लाभदायक हो सकता है किन्तु यह विकासशील देशों के लिए हानिकारक होता है। इन देशों के उद्योग धन्धे अपने सीमित साधनों के होने के कारण प्रतियोगिता में टिक नहीं पाते। भारत में कुटीर उद्योग धन्धों का पतन विदेशी प्रतियोगिता का ही एक परिणाम माना जाता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विशिष्टीकरण को जन्म देता है। इसके अनुसार एक देश के द्वारा कुछ विशेष चीजें बनायी जाती हैं किन्तु दूसरी चीजों के लिए उसे अन्य देशों पर निर्भर रहना होता है। इस प्रकार का व्यापारिक केन्द्रीकरण आर्थिक स्थायित्व की दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता। यदि इन प्रमुख उद्योग धन्धों में कोई संकट आ जाए तो सारे देश की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, इसके परिणाम भी भयंकर हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक देश के आर्थिक संकट का अन्य देशों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कई बार हानिकारक वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देता है और इसके परिणामस्वरूप सम्बन्धित देश पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आयातकर्त्ता देश इन चीजों को प्रयोग करने की गलत आदत से, दूषित हो जाता है। उदाहरण के लिए जब भारत से एक बड़ी

हो गए। इन देशों को पश्चिम योरोप से जो निर्यात किया जा रहा था यद्यपि उसकी कुल मात्रा अधिक थी फिर भी उसकी वृद्धि ०·६ बिलियन डालर से केवल १२ बिलियन डालर ही हुई।

सन् १९६४ में अन्य औद्योगिक देशों, (आस्ट्रेलिया, जापान, न्यूजीलैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका) से होने वाले निर्यात भी बढ़े। यहां यह वृद्धि अधिक तीव्र गति से हुई। केन्द्रीय रूप से नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं (Centrally Planned Economies) का निर्यात व्यापार सन् १९६४ में केवल ७ प्रतिशत बढ़ा जो १९६३ की वृद्धि की तुलना में कम था।

पूर्वी योरोप और सोवियत संघ के निर्यातों में जो वृद्धि हुई वह शेष संसार के प्रमुख देशों के बीच वितरित कर दी गई। इस क्षेत्र के देशों के व्यापार का संतुलन १९६४ के दौरान अनुकूल नहीं था। पौलेण्ड ही एक मात्र ऐसा देश था जिसने पूर्वी योरोप के क्षेत्र में रह कर अपने भुगतान संतुलन को सुधारा। इसने यद्यपि १९६३ की अपेक्षा १९६४ में कोयला कम बेचा किन्तु खाद्य सामग्री और पूंजीगत माल का अधिक निर्यात किया।

अधिकांश पूर्वी योरोप के देशों ने अपने कुल व्यापार को बढ़ाया। इनका व्यापार शेष संसार की अपेक्षा केन्द्रीय रूप से नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ अधिक बढ़ा। पूर्वी योरोप के अधिकांश देशों के नियोजनकारी अभिकरणों ने १९६६–१९७० के दीर्घकालीन व्यापार समझौतों के लिए भूमि तैयार की।

विकासशील देशों ने १९६३ की अपेक्षा १९६४ में नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं को ९ प्रतिशत अधिक निर्यात किया। यह वृद्धि १९६०–६१ से अब तक सब से अधिक थी। इतने पर भी व्यापार का कुल आकार कम था। कारण यह था कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ निर्यात की वृद्धि अधिक नहीं रही। विकासशील क्षेत्रों में निर्यातों की कमी दक्षिणी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया में केन्द्रित रही। यहां वृद्धि की दर जो १९६३ में १० प्रतिशत थी अब ३ प्रतिशत रह गई। प्रारम्भ में यहां अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार अधिक था किन्तु बाद में घट गया क्योंकि इन्डोनेशिया और मलेशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्ध कट गये और बर्मा तथा वियतनाम के पास निर्यात करने के लिये पर्याप्त चावल नहीं था।

अफ्रीका से सोवियत संघ और पूर्वी देशों के लिए होने वाला निर्यात पर्याप्त कम हो गया। अफ्रीकी व्यापार के सम्बन्ध में एक मुख्य विकास यह था कि अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए इसके निर्यात बढ़ गये—पश्चिमी योरोप के लिए—१/७, उत्तरी अमेरिका के लिए १/४ से अधिक और अन्य औद्योगिक देशों मुख्यतया जापान के लिए १/५ से अधिक होगये। इस

प्रकार सन् १९६४ में पश्चिमी योरोप अफ्रीका के निर्यात के लगभग ७० प्रतिशत भाग की खपत करता था। मध्य-पूर्व से पश्चिमी योरोप के लिए माल का प्रवाह बढ़ता रहा। इसमें से अधिकांश होने वाली वृद्धि जापान के लिए किये जाने वाले निर्यातों में हुई।

विश्व के निर्यातों की यह समीक्षा और उनका वितरण १९६४ की कीमतों के अनुसार किया गया है। असल में कीमतों की गति ने सन् १९६४ में व्यापार मूल्यों के विकास में १९६३ की अपेक्षा अधिक योगदान किया। १९६३ में कीमत परिवर्तन व्यापार में १ प्रतिशत की वृद्धि के लिए उत्तरदायी थे तो १९६४ में वे २ प्रतिशत की वृद्धि के लिए उत्तरदायी बन गये। आगे दिये गए आंकड़ों के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि सन् १९६० से लेकर १९६७ तक विश्व व्यापार की मात्रा एवं दिशायें क्या रही हैं।

YEAR-WISE DATAS OF INTERNATIONAL TRADE
(IMPORT)

Value in Millions of U. S. Dollars

The Countries	1960	1961	1962	1963	1964	1965	1966	1967
1. Industrial Countries	79500	83460	90070	98640	110590	120540	134010	141550
2. Other developed areas	10250	10680	11310	12870	15010	17260	18310	18770
3. Other Europe	5050	5840	6450	7340	8380	9750	11050	11010
4. Australia. NZS, Afr.	5200	4840	4860	5530	6630	7510	7260	7760
5. Less developed areas	29600	30500	31100	31900	35200	37300	39800	41500
6. Latin America	7720	7970	8100	7810	8590	8820	9720	10100
7. Other Western Hemisphere	1930	2060	2090	2150	2330	2440	2560	2700
8. Middle East	3900	4160	4240	4560	5160	5640	6210	5900
9. Other Asia	9940	10080	10520	11220	12090	12810	13490	14600
10. Other Africa	5800	5870	5690	5790	6470	7020	7140	7500
11. Other Countries	330	360	370	410	510	590	670	670
12. World Total	119400	124600	132400	143400	160800	175100	192100	201800

Source—International Financial Statistics, prepared by Statistical Bureau of I. M. F. Vol. XXI, No. 7, July, 1968, P. 35 and 37

YEAR-WISE DATAS OF INTERNATIONAL TRADE.
(EXPORT)

Value in Millions of U. S. Dollars

The Countries	1960	1961	1962	1963	1964	1965	1966	1967
1. Industrial Countries	7879	83220	87490	95330	107940	118430	130784	137690
2. Other developed areas	7700	8280	8600	9530	10710	11100	12270	13200
3. Other Europe	3630	3810	4100	4400	5110	5600	6320	6780
4. Australia. NZS, Afr.	4070	4470	4500	5130	5600	5500	5950	6420
5. Less developed areas	26900	27100	28600	31200	34000	35900	38300	39400
6. Latin America	7950	8090	8940	9190	9880	10370	11040	11100
7. Other Western Hemisphere	1420	1560	1570	1650	1660	1680	1790	1900
8. Middle East	4860	4880	5350	5830	6620	7140	7770	8400
9. Other Asia	7740	7570	7730	8540	8870	9320	9790	10000
10. Other Africa	4720	4750	5120	5700	6650	7060	7590	7700
11. Other Countries	220	210	200	250	290	290	300	320
12. World Total	113400	118600	124700	136000	152600	165400	181400	190300

Source—International Financial Statistics, Prepared by Statistical Bureau of I. M. F., Vol. XXI. No. 7, PP. 34 and 36.

२

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त

(COMPARATIVE COST THEORY)

"तुलनात्मक लाभ का नियम यह बताता है कि एक देश आर्थिक दृष्टि से तभी सफलता प्राप्त कर सकेगा जब वह अपने उत्पादक प्रयासों को सर्वाधिक तुलनात्मक लाभ या कम से कम तुलनात्मक हानि की ओर मोड़ कर दूसरे देशों से व्यापार करे।"

—वाल्टर क्रॉज

"The law of comparative advantage states that a country stands to gain in an economic sense if it concentrates productive effort along those lines in which it has the greatest comparative advantage or the least comparative disadvantage, and then trades with other countries."

—Walter Krause

स्वतन्त्र व्यापार की स्थितियों में व्यापार की शर्तें एवं व्यापार से प्राप्तियां

(TERMS OF TRADE AND THE GAINS FROM TRADE IN FREE TRADE CONDITIONS)

"निर्यातकर्त्ता देश और आयातकर्त्ता देश के बीच प्राप्ति का विभाजन स्थित व्यापार-शर्तों पर निर्भर करता है। एक देश की व्यापार शर्तें जितनी अनुकूल होती हैं, व्यापार से होने वाली उसकी प्राप्ति का अंश उतना ही अधिक होता है।"

—वाल्टर क्रॉज

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वह देश सर्वाधिक प्राप्त करता है जिसके निर्यातों की सर्वाधिक मांग रहती है तथा वह स्वयं आयातों की अर्थात् दूसरे देशों के निर्यातों की मांग बहुत कम रखता है। जो देश दूसरे देशों के उत्पादनों के लिए सर्वाधिक मांग रखता है उसे सबसे कम प्राप्ति होती है।"

—टॉसिग

"The Division of the gain between the exporting country and the importing country however depends upon the terms of trade which prevail. The more fovourable are a country's terms of trade, the greater will be its share of the total gain from trade."

—Walter Krause

"That country gains more from International trade whose exports are most in demand and which itself has little demand for the things it import, i. e. for the exports of the other countries. The country gains the least which has the most insistant demand for the products of the other countries."

—Taussig

४

संरक्षण का सिद्धान्त

(THEORY OF PROTECTION)

"इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि शिशु उद्योगों ने संरक्षण प्राप्त किया, किन्तु इतिहास ऐसे उदाहरणों से खाली है जिसमें 'शिशु' स्वीकृत मानवीयता के साथ-साथ बढ़ा हो।"

—जी० हेबरलर

"संरक्षण का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण में हस्तक्षेप करता है और इस प्रकार व्यक्तिगत देशों के लिये व्यापार से होने वाली सम्भावित प्राप्तियों को वास्तविक बनने से रोक देता है।"

—वाल्टर क्रॉज

"History is replete with instances of infants that secure protection but history is empty of cases that subsequently grew up to admitted manhood."

—G. Haberler

"Protection is vulnerable on grounds that it interferes with international specialisation, and hence prevents potential gains from trade from actually accuring to individual countries."

—Walter Krause

संरक्षण का सिद्धान्त
(THEORY OF PROTECTION)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संरक्षण की नीति का अपना महत्व है। इस का अर्थ उस सरकारी नीति से है जिसके आधीन एक सरकार विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से गृह-उद्योगों की रक्षा करने के लिए प्रशुल्क (Tariff) द्वारा विदेशी व्यापार पर रोक लगाती है। इस नीति की सर्वप्रथम व्याख्या करने का श्रेय अमेरिकी राजनीतिज्ञ एवं अर्थ-शास्त्री अलेक्जेंडर हेमिल्टन को दिया जाता है। इन्होंने संरक्षण की नीति को देश के उद्योग धन्धों का विकास करने के लिए, देश की सुरक्षा के लिए और अधिक से अधिक लोगों को रोजगार प्रदान करने के लिए स्वीकार किया। बाद में इस सिद्धांत की व्याख्या मि० हैनरी सी० केरे तथा जर्मनी के मि० फ्रेड्रिक लिस्ट द्वारा की गयी। उन्होंने इस विचार के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये। इस प्रकार संयुक्त-राज्य अमेरिका और जर्मनी इस विचार के सृजक माने जा सकते हैं। यहीं से यह विचार अन्य देशों को गया। १७ वीं शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार का अधिक प्रचलन था और उस पर ये सीमाएं नहीं लगाई जाती थी, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतन्त्र व्यापार को प्रतिबन्धित किया जाना प्रारम्भ हो गया, यहां तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक देश ने भी इन प्रतिबन्धों को महत्व देना प्रारम्भ किया।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए अनेक देशों ने प्रशुल्क नीति को अपना कर विदेश-व्यापार को विनियमित किया। यद्यपि इस काल में भी यूरोप के अनेक देश स्वतन्त्र व्यापार का पक्ष ले रहे थे किन्तु २० वीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी में स्वतन्त्र व्यापार प्राय: पूरी तरह नष्ट हो गया। विश्व के अनेक प्रमुख देशों ने पर्याप्त ऊंचे प्रशुल्क लगाए। ग्रेट-ब्रिटेन ने भी अपनी स्वतन्त्र व्यापार नीति को त्याग दिया और अपने देश के उद्योगों का विकास करने के लिए, शुल्क की सौदेबाजी में सुविधा प्राप्त करने के लिए तथा साम्राज्य में प्राथमिक व्यवस्था लागू करने के लिए संरक्षण

की नीति को अपना लिया। इस नीति के अनुसार व्यापार पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाए गये।

संरक्षण की नीति के अन्तर्गत उपभोक्ताओं अथवा उत्पादकों के एक वर्ग को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिये व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। इस नीति के अन्तर्गत प्रतिबन्धों का इतना महत्व नहीं होता जितना उन के उद्देश्यों का होता है। आर्थिक क्षेत्र में प्राय: प्रत्येक सरकारी हस्तक्षेप किसी न किसी के लिए लाभदायक रहता है और उसे प्रतियोगिता में राहत प्रदान करता है। इसी प्रकार व्यापार प्रतिबन्ध भी, चाहे वह किसी भी उद्देश्य से क्यों न लगाया गया हो, किसी न किसी आर्थिक हित को कुछ मात्रा में संरक्षण प्रदान करता है। संरक्षण की नीति या संरक्षणवाद का अर्थ ये आकस्मिक घटनाएं तथा इनसे प्राप्त होने वाला लाभ नहीं हैं वरन् इसमें व्यापार-प्रतिबन्ध की तकनीकों का विस्तार के साथ अध्ययन किया जाता है। संरक्षणवाद का मुख्य रूप प्रशुल्क है और संयुक्त राज्य अमरीका आदि देशों में तो प्रशुल्क तथा संरक्षण को एक रूप ही माना गया है। इतने पर भी इन देशों में संरक्षणवाद को केवल प्रशुल्क तक ही सीमित नहीं किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में संरक्षणवाद का एक लम्बा इतिहास है। कुछ समय पूर्व तक विश्व के विभिन्न देशों में संरक्षण से सम्बन्धित विवाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति का एक महत्वपूर्ण विषय था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धांत में संरक्षणवाद के समर्थन और विरोध में विभिन्न तर्क प्रदान किये जाते हैं। वर्तमानकाल में कुछ अन्य नीतियों का भी विकास हुआ है जो कि संरक्षणवाद के साथ प्रतिद्वन्दिता रखती हैं, उदाहरण के लिये, विनिमय की दरें और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, विदेशी सहायता कार्यक्रम, आर्थिक कल्याण, व्यापार शर्तों का समायोजन आदि।

संरक्षण की नीति के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वाभाविक प्रवाह को रोक दिया जाता है और अनेक कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। ये प्रतिबन्ध आंशिक अथवा पूर्ण हो सकते हैं और ये विशुद्ध रूप से आर्थिक या राजनतिक उद्देश्यों के लिए लगाये जा सकते हैं। जो नीति विदेशी व्यापार की स्वाभाविक गति में बाधा डालती है, वह मूल रूप से संरक्षण की नीति का भाग है। उसका रूप आर्थिक भी हो सकता है और अनार्थिक भी।

संरक्षण के तरीके

(The Methods of Protection)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वाभाविक गति में अनेक तरीकों से प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। इन तरीकों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) **वैधानिक विषेध** (The Legal Prohibition)—इस रीति के अनुसार कानून बनाकर सरकार द्वारा किसी वस्तु के आयात और निर्यात पर रोक लगा दी जाती है। इसे प्रायः तब काम में लिया जाता है जब व्यापार सन्तुलन एक देश के पक्ष में न हो अथवा व्यापारिक दृष्टि से दुखदायी समय हो। ये प्रतिबन्ध प्रायः थोड़े समय के लिए ही लगाए जाते हैं। जिस समय अर्जेन्टाइना के पशुओं में बीमारी फैली थी, उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका ने वहां से मांस मंगाने पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया।

(२) **प्रशुल्क अथवा आयात-निर्यात कर** (The Tariffs)—संरक्षण की यह पर्याप्त पुरानी और प्रचलित प्रणाली है। जब देश के आयात पर संरक्षण की दृष्टि से कर लगाए जाते हैं तो इनको संरक्षण कर कहा जाता है। आजकल निर्यात करों की अपेक्षा आयात करों का महत्व अधिक है। प्रशुल्क कर के अनेक रूप हो सकते हैं—(i) **समान कर प्रणाली** जिसके अनुसार एक देश अन्य सभी देशों की एक जैसी वस्तुओं के प्रति समानतापूर्ण व्यवहार करता है। (ii) **परम्परागत प्रशुल्क प्रणाली** जिसके आधीन एक देश सामान्य कर लगाते समय उन देशों को अलग रखता है जिनके साथ विशेष प्रकार की सन्धियां की हैं अथवा जिसके साथ विशेष परम्परागत सम्बन्ध हैं। (iii) **प्रशुल्क प्रणाली की दरें** अधिकतम या न्यूनतम हो सकती हैं। जिन देशों के साथ विशेष सन्धि की जाती है उनको आयात करों में न्यूनतम तथा बाकी के देशों के लिए अधिकतम दरों में प्रशुल्क लगाने की व्यवस्था थी जाती है। (iv) **विशेषाधिकार युक्त प्रशुल्क प्रणाली** होती है जिसके अन्तर्गत उन देशों को व्यापार सम्बन्धी रियायतें दी जाती हैं जो राजनैतिक, जातिगत या क्षेत्रीय आधार पर परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

करारोपण गणना के आधार पर भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। जो कर वस्तु की भौतिक इकाई पर लगाए जाते हैं उनको विशेष प्रशुल्क कहा जाता है। यदि इन्हें वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाए तो ये मूल्यानुसार प्रशुल्क कहे जाएंगे। जब देशी उत्पादकों को हानि से बचाने के लिए कोई कर लगाया जाता है तो उसे क्षतिपूर्ति प्रशुल्क कहा जाता है।

प्रशुल्क कर लगाने से कई उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इनके परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओं को मंहगा बनाकर उनका आयात घटाने का प्रयास किया जाता है ताकि स्वदेशी उद्योगों का तीव्र गति से विकास होने लगे, देश के रोजगार में वृद्धि हो, मजदूरी की दर बढ़ जाए और देश आत्म-निर्भरता की दिशा में अग्रसर हो। प्रशुल्क का एक खतरा यह होता है कि इससे अन्य देश प्रतिकार के रूप में आयात कर लगाने के लिए

प्रेरित हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में इनका उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और उनके बीच अनबन हो जाती है। इस सबके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवांछनीय दिशाओं की ओर मुड़ जाता है। ये प्रशुल्क राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर ही लगाए जाते हैं और इसलिए प्राय: इनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध किया जाता है।

(३) **आर्थिक सहायता (The Financial Aid)**—इस नीति के अनुसार एक देश की सरकार आयातों एवं निर्यातों पर कोई कर न लगाकर अपने उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए उनको विशेष सहायता देती है। यह सहायता विशेष छूट, ऋण, अनुदान, उपदान (Subsidies) अथवा अधिदान (Bounties) के रूप में हो सकता है। इसे कई बार नकारात्मक कर कहा जाता है और इसके फलस्वरूप आयात तथा निर्यात में वृद्धि होती है।

कुछ दृष्टियों से इस नीति को आयात करों से अच्छा माना जाता है। (१) जब आयात कर लगाए जाते हैं तो उनके फलस्वरूप विदेशी माल की कीमतें बढ़ जाती हैं और उसका आयात कम होने लगता है। इसके फलस्वरूप दूसरे देशों के साथ सम्बन्धों में कटुता आ जाती है। आर्थिक सहायता से ऐसा कोई खतरा नहीं रहता। (२) आयात कर लगाने से उपभोक्ता विदेशी माल का उपभोग करने से वंचित रह जाएंगे। इस प्रकार उनके हितों का बलिदान होगा। विदेशी वस्तुओं का आवागमन कम होने से स्वदेशी व्यापारी मनमानी कीमतें मांगने का प्रयास करेंगे और इसके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। जब आर्थिक सहायता दी जाती है तो उपभोक्ताओं को इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता और उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों को लाभ होता है।

(४) **कोटा अथवा नियतांश प्रणाली (Quota System)**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार द्वारा एक निश्चित समय के लिए अनेक वस्तुओं के आयातों तथा निर्यातों की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। सामान्यत: विभिन्न देश अपने कोटे अलग-अलग से निश्चित करते हैं। किस वस्तु का आयात किस मात्रा में करना चाहिए, इसका निर्णय स्वयं सरकार द्वारा देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाता है। कोटे के दो रूप होते है—एक आयात कोटा और दूसरा तटकर कोटा। आयात कोटा वह कोटा होता है जिसमें वस्तुओं के आयात के लिए एक निश्चित मात्रा निर्धारित की जाती है। तटकर कोटा में वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा पर कर लगाया जाता है और उसके बाद सामान्य आयात-कर लगाया जाता है। संरक्षण की यह एक अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशील प्रणाली है।

रूप—कोटा प्रणाली को कई बार परिमाणात्मक प्रतिबन्ध भी कहा जाता है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध के कई रूप होते हैं—(१) लाइसेंस कोटा प्रणाली, जिसके अन्तर्गत सरकार द्वारा कुछ चुने हुए व्यापारियों को ही आयात करने की अनुमति दी जाती है। कोई व्यापारी यदि आयात या निर्यात करना चाहता है तो उसे इसके लिए सरकार से पहले से ही लाइसेंस लेना होगा। सरकार द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या का निश्चय अपनी नीति के अनुसार किया जाता है। आयात व निर्यात केवल वे ही व्यापारी कर सकते हैं जिनको ऐसा करने के लिए लाइसेंस दिया गया है। (२) एक पक्षीय कोटा प्रणाली, के अनुसार एक देश केवल अपने आयात पर ही प्रतिबन्ध लगाता है, निर्यातों पर नहीं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध के दो रूप हो सकते हैं? एक रूप को सांसारिक कोटा (Global Quota) कहा जाता है और दूसरा आवंटित कोटा (Allocated Quota) कहा जाता है। प्रथम के अन्तर्गत सरकार प्रत्येक वस्तु की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देती है और उतने माल को किसी भी देश से मंगाया जा सकता है जबकि दूसरे में सरकार द्वारा यह तय किया जाता है कि किससे कितना माल मंगाया जा सकता है। (३) कोटा प्रणाली का एक अन्य रूप द्वि-पक्षीय कोटा प्रणाली (**Bilateral Quota System**) कहा जाता है। इसके अनुसार सरकार द्वारा एक देश से निश्चित भाग में ही आयात करने की अनुमति दी जाती है। जब कोई आयातकर्त्ता उस मात्रा से अधिक आयात करता है तो दण्ड-स्वरूप उसे अधिक आयात कर का भुगतान करना होगा।

लाभ—कोटा प्रणाली द्वितीय विश्व युद्ध के समय में अत्यन्त लोकप्रिय थी। इसके अपने कुछ लाभ होते हैं—(१) इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्य देशों के साथ लाभप्रद रूप में सौदे किए जा सकते हैं। (२) यह प्रणाली अत्यन्त लोचशील होती है और आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। (३) इसमें पक्षपात की गुंजाइश कम रहती है और जिस प्रकार आयात कर का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध किया जाता है, उस प्रकार इसका विरोध नहीं किया जाता। (४) जब वस्तुओं के आयात की मात्रा निश्चित हो जाती है तो स्वदेशी व्यापारी आसानी से अपने उत्पादन को व्यवस्थित रूप से नियोजित कर सकते हैं।

दोष—कोटा प्रणाली के अपने कुछ दोष भी हैं—(१) इससे सरकार की आय कम हो जाती है। यह कमी आयात करों के आधार पर आई कमी से कहीं अधिक होती है। (२) इस प्रणाली से वस्तुओं के मूल्यों में अस्थिरता रहती है क्योंकि जब आयात बन्द रहता है तो मूल्य बढ़ जाते

हैं और जब आयात खुल जाता है तो वस्तुओं के मूल्य कम हो जाते हैं। इस कमी और वृद्धि के फलस्वरूप व्यापारियों को पर्याप्त लाभ होता है किन्तु सरकार और उपभोक्ता इससे कष्ट उठाते हैं। (३) कोटा प्रणाली सम्बन्धित अधिकारियों के हाथ में शक्ति सौंपकर भ्रष्टाचार के अधिक अवसर प्रदान करती है। (४) इस प्रणाली के अन्तर्गत विदेशों में वस्तुओं की कीमत गिर जाने पर भी उपभोक्ता लाभान्वित नहीं होता।

(५) **विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)**—कोटा प्रणाली को प्रायः विनिमय नियन्त्रण की नीति के अनुपूरक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है और ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त प्रभावशाली बन जाती है। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार आयात और निर्यात के लिए विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय को नियमित करती है। जब विदेशी-विनिमय की मात्रा निश्चित हो जायेगी तो केवल सीमित आयात किये जा सकेंगे। इस नीति को अपनाते हुए सरकार विनिमय की दर भी निर्धारित कर देती है।

विनिमय-नियन्त्रण की प्रणाली का विकास मुख्यतः आर्थिक मन्दी के समय हुआ। १९३० में जब आर्थिक मन्दी आई तो अनेक देशों ने यह अनुभव किया कि विदेशी विनिमय कोष का होना परम आवश्यक है और इसलिये उन्होंने विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण लगाने की नीति अपनाई। विनिमय-नियन्त्रण की प्रणालियों द्वारा आयातों को प्रतिबन्धित किया जा सकता है। इसके द्वारा एक ओर तो विदेशी मुद्रा कोष सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है और दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओं को देश के बाहर रखने में भी सफलता प्राप्त होती है। इन प्रणालियों के महत्त्वपूर्ण राजनैतिक प्रभाव होते हैं।

(६) **भेदपूर्ण व्यवहार (Preferential Treatment)**—विभिन्न देशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर जब कर लगाया जाता है तो कई बार सरकार भेदपूर्ण व्यवहार भी करती है। ऐसा करते हुए कुछ देशों के सम्बन्ध में कर की दरें कम और अन्य के सम्बन्ध में अधिक कर दी जाती हैं। व्यापार को विनियमित करने का प्रयास किया जाता है।

(७) **आयात-निर्यात का एकाधिकार (Import-Export Monopoly)**–कभी-कभी सरकार आयात और निर्यात के काम को स्वयं अपने हाथ में ले लेती है। ऐसी स्थिति में स्वयं सरकार द्वारा यह निर्णय लिया जाता है कि किन वस्तुओं का किस मात्रा में आयात या निर्यात किया जाएगा ? इस प्रक्रिया द्वारा सरकार स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण देने का प्रयास करती है और विदेशी व्यापार को नियन्त्रित करती है।

विदेशी व्यापार को विनियमित करने तथा स्वदेशी उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करने के उपर्युक्त तरीकों में से किसको प्रमुख माना जाय ? यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है। कोई ऐसा निश्चित मापदण्ड नहीं है जिसके आधार पर इस प्रश्न को तय किया जा सके। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जो आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई उसके फलस्वरूप विभिन्न देशों ने अपने उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए उपर्युक्त में से विभिन्न नीतियों का प्रयोग किया।

संरक्षण की नीति की आवश्यकता एवं महत्व
(The Necessity and Importance of the Policy of Protection)

विदेशी व्यापार में संरक्षण की नीति को अपनाया जाना क्यों आवश्यक है तथा यदि इसे न अपनाया जाए तो क्या कठिनाई उत्पन्न हो सकती है ? इसे जानने के लिए हमें उन तर्कों का अध्ययन करना होगा जो प्राय. स्वतन्त्र व्यापार की नीति के विरुद्ध दिये जाते हैं। संरक्षण की नीति के पक्ष में प्रस्तुत विभिन्न तर्कों को सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वीकार करना सरल होता है किन्तु उनको व्यावहारिक रूप देना कठिन है।

स्वतन्त्र व्यापार के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि इसमें आन्तरिक और वाह्य व्यापार में कोई भेद नहीं होता, अतः यह नीति उचित है; संरक्षण की नीति के सम्बन्ध में कोई ऐसी सामान्य बात नहीं की जाती। संरक्षण की नीति के पक्ष में जो अनेक तर्क दिए गए हैं, उनमें से कुछ वैज्ञानिक हैं, अन्य को आसानी से गलत सिद्ध किया जा सकता है। उनके बीच कई बार असंगतियां दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त जब इन तर्कों को स्वीकार करके क्रियान्वित करने का प्रयास किया जाता है तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। संरक्षण की नीति के समर्थन में दिए गए तर्क निम्न-लिखित शीर्षकों में वर्णित किये जा सकते हैं।

(I) अनार्थिक तर्क
(Non-Economic Arguments)

ये तर्क देश के आर्थिक जीवन से बहुत कम सम्बन्ध रखते हैं। इनमें उल्लेखनीय ये हैं:—

(१) राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आत्म-निर्भरता (National Defence and Self Sufficiency)—कहा जाता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उद्योगों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए राज्य का संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए ताकि वे उद्योग स्वतन्त्र बाजार में प्रतियोगिता का सामना कर

सकें। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सदैव युद्ध की सम्भावनाएं बनी रहती हैं और इसलिए प्रत्येक शासन को राष्ट्रीय सुरक्षा का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। जब तक युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन देश में नहीं किया जाता उस समय तक देश आत्म-निर्भरता का अनुभव नहीं कर सकेगा। संकटकाल में कई वस्तुओं का आयात कठिन बन जाता है और इसलिए ऐसी वस्तुओं के उत्पादन को राज्य का संरक्षण प्रदान करना परम आवश्यक होता है। यदि आत्म-निर्भरता की प्राप्ति के लिए देश को कुछ आर्थिक नुकसान उठाना पड़े तो बुरा नहीं है।

इस तर्क को व्यावहारिक रूप देते समय यह प्रश्न उठता है कि सुरक्षा की दृष्टि से कौन से उद्योग अधिक महत्वपूर्ण हैं जिन्हें संरक्षण दिए जाने चाहिए? आवश्यक उद्योगों में सामान्य रूप से ऐसे उद्योगों को लिया जाता है जिन पर युद्ध सम्बन्धी कार्य पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए सैनिक उत्पादन, सैनिक वायुयान, विस्फोटक पदार्थ, राडार जैसी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग आदि। इस प्रकार के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना परम आवश्यक है। कभी-कभी सुझाव दिया जाता है कि सरकार इन आवश्यक उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की अपेक्षा स्वयं ही चलाए और ऐसा करने में जो खर्चा आता है उसे करों द्वारा प्राप्त किया जाए ताकि सारी जनता उसके भार को समान रूप से सह सके। इस प्रक्रिया में लाभ यह है कि इससे जनता जागृत होती है।

(२) **राष्ट्रीय आचार की सुरक्षा (Preservation of National Ethic)**—संरक्षण की नीति द्वारा एक देश अपने विशेष आचार-विचार को सुरक्षित रख सकता है। यदि इस प्रकार का संरक्षण प्रदान न किया जाए तो ये नष्ट हो जाएंगे क्योंकि विभिन्न देशों के लोग एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आएंगे। यदि राष्ट्र के विशेष गुणों को सुरक्षित रखना है तो इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक निर्भरता को रोका जाना चाहिए।

कुछ व्यवसायों को सुरक्षित रखने के लिए (To Preserve certain Occupations)—कई बार संरक्षण की नीति का प्रयोग जनसंख्या के कुछ वर्गों या व्यवसाय विशेषों को सुरक्षित रखने के लिए भी किया जाता है। स्वतंत्र व्यापार की नीति के अन्तर्गत इन व्यवसायों के समाप्त होने का भय था। राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से इन व्यवसायों एवं वर्गों को संरक्षण दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है, उदाहरण के लिए, कृषक वर्ग को लिया जा सकता है। इस वर्ग के लोग मुख्यतः रूढिवादी किन्तु समाज के प्रति निष्ठावान होते हैं। यदि इनको सुरक्षा प्रदान न करके स्वतंत्र व्यापार

की प्रतियोगिता में छोड़ दिया गया तो इनके समाप्त होने का डर रहता है : कीमतों पर कुछ नियंत्रण किया जाना कभी-कभी आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना कृषि का विकास रुक जाएगा। शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उसके उत्पादन में बाधाएं उत्पन्न होंगी।

(II) आर्थिक तर्क
(Economic Arguments)

संरक्षण की नीति के समर्थन में अनेक आर्थिक तर्क प्रस्तुत किये गए किन्तु इन तर्कों को सही रूप में परिभाषित करना अत्यन्त कठिन था। अनेक ऐसे उद्योग होते हैं जिनका आर्थिक दृष्टि से कोई उपयोग नहीं होता अर्थात् वे देश की आय मे किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करते वरन् अनार्थिक कार्यों से सम्बद्ध रहते हैं उदाहरण के लिए सैनिक महत्व के उद्योगों को यदि संरक्षण प्रदान किया जाता है तो वह आर्थिक दृष्टि से इतना उपयोगी एवं प्रभावशील नहीं माना जावेगा। जो उद्योग राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय सम्पत्ति अथवा सामाजिक उत्पादन की वृद्धि में सहायक बनते हैं, उनको संरक्षण प्रदान करना आर्थिक दृष्टि से उल्लेखनीय होता है। संरक्षण के पक्ष में दिए जाने वाले विभिन्न तर्कों को इसी आधार पर आर्थिक कहा जाता है। इन तर्कों का अर्थ यह है कि कुछ परिस्थितियों में संरक्षण द्वारा सामाजिक उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। विभिन्न आर्थिक तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) अल्पकालीन और दीर्घकालीन तर्क (Short run and Long run Arguments)—संरक्षण की नीति द्वारा अल्पकालीन संक्रमण की स्थिति का सामना किया जा सकता है। इस नीति के समर्थन में दिए गये जिन तर्कों का विवेचन किया जा सकता है वे प्राय: अल्पकालीन होते हैं। दीर्घकालीन तर्क वे हैं जिनके फलस्वरूप आगे चलकर देश के उत्पादन में वृद्धि हो जाएगी।

(२) सन्तुलन तथा असन्तुलन पर आधारित तर्क (Arguments based on Balance and Imbalance)—संरक्षण नीति के समर्थक दीर्घकालीन तर्क सन्तुलन सिद्धान्त पर आधारित रहते हैं। जब एक देश विश्व व्यापार में भाग लेता है तो उसकी अर्थव्यवस्था बाहरी तत्वों से पर्याप्त प्रभावित होती है, उसके सामने अनेक कठिनाइयां आ सकती हैं। इन के प्रभाव को कम करने के लिए संरक्षण की नीति आवश्यक बन जाती है।

(३) एकाधिकारों के विरुद्ध संरक्षण (The Protections Against Monopoly)—स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में एक देश की अर्थ-व्यवस्था पर कई विदेशी उत्पादकों का एकाधिकार हो जाता है। यह ऊंची कीमतों एवं

शोषण को जन्म देता है। अतः संरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक होगा ताकि एकाधिकार उस देश की अर्थ व्यवस्था को अस्त-व्यस्त न कर सकें।

(४) **आर्थिक विकास के लिए संरक्षण (Protections for Economic Development)**—स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में एक देश की गति अनियंत्रित रूप से आगे बढ़ती है। संरक्षण द्वारा उत्पादन तथा विनिमय की क्रियाओं को जब बदल दिया जाता है तब परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ने की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं।

(५) **प्रतिकार के रूपमें संरक्षण (The Protection in Retaliation)**—कहा जाता है कि जब एक देश संरक्षण की नीति अपनाए हुए हो तो उसे स्वतन्त्र नीति का समर्थन नहीं करना चाहिए वरना वह लाभदायक सौदेबाजी की स्थिति में नहीं रहेगा क्योंकि उसके द्वारा पड़ौसी देशों को सुविधा नहीं दी जा सकेगी; परिणामस्वरूप वह सुविधा भी प्राप्त नहीं कर पाएगा। इसके अतिरिक्त एक तरफा स्वतन्त्र व्यापार हानिकारक रहेगा क्योंकि विदेशी प्रतियोगियों द्वारा ऐसे देश के बाजारों का शोषण किया जाएगा।

(III) निरर्थक तर्क

(Non-Sense Arguments)

संरक्षण की नीति के पक्ष में अनेक ऐसे तर्क दिए जाते हैं जो अर्थ की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते फिर भी इस नीति का समर्थन करने के लिए उपयोगी माने जाते हैं। ये निम्न प्रकार हैं—

(१) **रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाना (Maintenance of the Standard of Living)**—संरक्षण की नीति के समर्थन में एक महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि इसके माध्यम से एक देश अपने जीवन-स्तर को बनाए रख सकेगा। संसार में विभिन्न देशों की मजदूरी का स्तर अलग-अलग होता है। विकासशील देशों में मजदूरों को बहुत कम मजदूरी प्रदान की जाती है। कहा जाता है कि एशिया में, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कुछ देशों में श्रमिकों की दैनिक मजदूरी अमेरिका के मजदूरों की प्रति घन्टे मजदूरी से भी कम होती है। स्वयं विकसित देशों के बीच मजदूरी की दृष्टि से भारी अन्तर पाया जाता है। इन अन्तरों को देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि जिन देशों में श्रम की कीमत कम है वहां के आयातित माल पर नियन्त्रण रखा जाय क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया गया तो स्वदेशी उत्पादन संकट में पड़ जाएगा। स्वदेश में श्रमिकों की दर अधिक होने के कारण यह उत्पादन महंगा पड़ता है। विदेशी प्रतियोगिता में स्वदेशी माल पीछे न पड़ जाए इसलिए संरक्षण की नीति को अपनाना परम आवश्यक है।

आलोचना—कहा जाता है कि यह तर्क गम्भीर नहीं है क्योंकि वास्तविक व्यवहार में विश्व-बाजार में अधिक मजदूरी वाले देशों द्वारा उत्पादित वस्तुएं प्रतियोगिता में पूर्णतः टिकती हैं। कई वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनमें मजदूरी की दर अधिक होने से उत्पादन लागत अधिक नहीं आती। जिन देशों में ऊंची मजदूरी होती है वहां श्रमिक की उत्पादन क्षमता भी अधिक होती है। अतः उत्पादन व्यय अधिक नहीं होता। इसके अतिरिक्त संरक्षण का यह तर्क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के साथ भी अनुकूलता नहीं रखता। ऊंची दर वाला श्रम निम्न दर वाले श्रम से आसानी से प्रतियोगिता कर लेता है क्योंकि केवल श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन नहीं है, पूंजी तथा प्राकृतिक साधन भी इसके उपयोग को सम्भव बनाते हैं।

उत्पादन के साधनों की स्थिति के अनुसार ही एक देश विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में रुचि लेता है। जहां पर श्रम सस्ता है वहां वे चीजें उत्पादित की जाती हैं जिनमें श्रम की अधिक आवश्यकता है, दूसरी ओर पूंजी प्रधान देशों में वे चीजें बनाई जाएंगी जिनमें अधिक पूंजी की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं के बीच कोई प्रतियोगिता रहने की अपेक्षा पारस्परिक अनुपूरक सम्बन्ध रहता है।

(२) **गृह बाजार का विकास (Development of Home Market)**-विचारकों का कहना है कि संरक्षण की नीति के सहारे गृह बाजार को विकसित किया जाता है। उसे स्वदेशी उत्पादन के लिए संरक्षित किया जा सकता है। संरक्षण नीति के अमरीकी समर्थकों ने बताया कि देश के उद्योगों को संरक्षण दिया जाना जरूरी है क्योंकि तभी कृषि-उत्पादन के बाजार को सहायता दी जा सकेगी। इन विचारकों का तर्क था कि जब कृषि-उत्पादन को संरक्षण दिया जाता है तभी औद्योगिक वस्तुओं का बाजार विकसित होता है। विदेशी उत्पादकों को गृह-बाजार में अधिक सुविधायें एवं अधिकार प्रदान किए जाते हैं और फलस्वरूप आयातों में कमी की जा जाती है।

आलोचना—आलोचकों का कहना है कि संरक्षण की नीति के पक्ष में दिया गया यह तर्क अधिक महत्व नहीं रखता। हो सकता है कि इस नीति के अपनाने पर तात्कालिक रूप से गृह-बाजार का विकास हो जाए किन्तु यथार्थ में देश का आयात घटने के कारण उसके निर्यात का बाजार भी संकुचित हो जाता है। जब प्रत्येक मांग की पूर्ति का प्रयास घरेलू स्तर पर किया जायेगा तो उत्पादन की मात्रा घट जाएगी क्योंकि विशेषीकरण का सिद्धांत खण्डित हो जाएगा। मि० कीन्स (Keynes) के विचारों के अनुसार संरक्षण के अन्तर्गत लोगों को अधिक काम मिल सकता है, किन्तु निश्चय ही उनकी मजदूरी घट

जायेगी। यह तर्क अमल में व्यापार की पारस्परिक निर्भरता को भुला देना है। संरक्षण की नीति किसी अन्य बाजार की रचना नहीं करती वरन् वह विदेशी-बाजार को गृह-बाजार के रूप में परिणत कर देती है। एक देश के आयात और निर्यात को उसकी प्राप्ति एवं भुगतान कहा जा सकता है। कोई देश अपनी प्राप्तियों में कमी करके अपनी स्थिति को सुधारने की आशा नहीं कर सकता।

(३) धन को देश में रखने के लिए संरक्षण (The Protection to keep money at Home)—संरक्षण की नीति की सहायता से देश के धन को विदेशों में जाने से रोका जा सकता है। देश के आयातों पर रोक लगा दी जाती है तो देशी मुद्रा विदेशों को जाने से रुक जाती है। इस सम्बन्ध में अब्राहम लिंकन का लोकप्रिय कथन उद्धृत किया जाता है। उन्होंने कहा था—"मैं प्रशुल्क के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं जानता हूं। केवल इतना जानता हूं कि जब हम विदेशों से बना माल खरीदते हैं तो हमको माल मिलता है और विदेशियों को धन। जब हम अपने देश में ही बना हुआ माल खरीदते हैं तो हमको माल तो मिलता ही है और धन भी मिलता है।"

आलोचना—यह तर्क भी कुछ अधिक महत्व नहीं रखता। इस मान्यता का आधार यह विश्वास है कि आयातों के कारण मुद्रा की हानि होती है। यह दोष पूर्ण है। वास्तविकता यह है कि आयातों के लिये विदेशों को भेजा गया धन शीघ्र ही स्वदेश में लौट आता है। लौटते समय वह विदेशी धन को भी अपने साथ लाता है।

(४) उत्पादन-लागत में समानता लाने के लिए (To equalize the Cost of Production)—संरक्षण की नीति का समर्थन करने वाले विचारकों का कहना है कि एक वैज्ञानिक आयात-कर उसे कहा जाता है जो उत्पादन-लागत को देश और विदेश में समान कर देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस तर्क को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। इसे पक्षपात-हीन तथा आपत्तिहीन माना गया।

आलोचना—यह तर्क भी अधिक गंभीरता नहीं रखता क्योंकि हम राष्ट्रीय स्तर पर ही प्राय: उत्पादन लागत को समान नहीं कर सकते तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कैसे कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त यदि सभी वस्तुओं में देश-विदेश की वस्तुओं की लागत समान हो गई तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी क्योंकि व्यापार का कारण तुलनात्मक लागतों में अंतर होता है।

(५) क्रय शक्ति का तर्क (The Argument of Purchasing Power)—यह कहा जाता है कि जब संरक्षण की नीति को अपनाया जाता

है तो इससे प्रायः सभी देश लाभान्वित होते हैं क्योंकि उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति बढ़ जाती है और इसलिये विभिन्न उद्योगों का अधिक माल खप सकता है। औद्योगिक संरक्षण के परिणामस्वरूप कृषि-उपज के उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति बढ़ जायेगी और कृषि-उपज के संरक्षण के परिणामस्वरूप औद्योगिक वस्तुओं की क्रय-शक्ति बढ़ जायेगी, फलत. दोनों ही लाभान्वित होंगे।

आलोचना—फ्रेड्रिक बेस्टियट (Frederic Bastiat) ने इस प्रकार के तर्कों का मजाक किया है। उन्होंने संसद से यह प्रार्थना की कि मोमबत्ती बनाने वालों के लिए सूर्य की विनाशकारी प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जाये। उनके इस कथन का अर्थ केवल यही था कि एक व्यवसाय को अन्य व्यवसाय के विरुद्ध संरक्षण दिया जाना न तो सम्भव है और न उपयोगी।

(६) **व्यापार संतुलन का सुधार (Improvement of the Balance of the Trade)**—संरक्षण की नीति के समर्थन में एक तर्क यह दिया जाता है कि इसे अपनाने पर व्यापार सन्तुलन में सुधार हो जायेगा। मुद्रा स्फीति एवं ऐसे अन्य संकटों के समय संरक्षण को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना गया। सन् १९३० की आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप पूर्व और मध्य यूरोप के अनेक देशों ने व्यापार संतुलन को सुधारने के उद्देश्यों से ही प्रशुल्कों की संख्या में वृद्धि की।

आलोचना—आलोचकों के मतानुसार यह तर्क मुद्रा सम्बन्धी एवं विदेशी विनिमय यंत्र को न समझने के कारण दिया जाता है। यह स्वयमेव भुगतान संतुलन में साम्य ला देता है। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क लगाने से कोई लाभ नहीं। आर्थिक मंदी की स्थिति में प्रशुल्क लगाने से जो आयात कम होगा वह आयात-आधिक्य को समाप्त नहीं कर सकता।

(७) **चहुँमुखी संरक्षण का तर्क (The Argument of all Round Protection)**—जब एक वस्तु पर प्रशुल्क लगाने से अन्य की क्रय-शक्ति बढ़ती है और इस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक शाखा को लाभ पहुँचता है तो यह उपयोगी होगा कि प्रत्येक शाखा को संरक्षण प्रदान किया जाए। इस तर्क के अनुसार १८७९ में जर्मनी ने संरक्षण को अपनाते हुए यह नारा बुलन्द किया कि प्रत्येक गांव और देश में राष्ट्रीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाए।

आलोचना—यह तर्क वैज्ञानिक नहीं है। जब उत्पादन की सभी शाखाओं को संरक्षण प्राप्त हो जाता है तो आवश्यक नहीं कि कर-प्रणाली अच्छी हो जाएगी। इसके अतिरिक्त प्रशुल्क प्रणाली जितनी अधिक व्यापक होती है, उससे उस उद्योग को उतना ही कम लाभ मिलेगा जिसके हित में मूल

रूप से प्रशुल्क लगाया गया है। प्रशुल्क की दीवार जितनी अधिक ऊंची होती है, सम्बन्धित देश विश्व अर्थव्यवस्था से उतना ही अधिक कट जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभों से वंचित हो जाता है। परिणामस्वरूप सामाजिक उत्पादन घट जाएगा।

(८) **प्रतिकारात्मक संरक्षण (Retaliatory Protection)**--दूसरे देश द्वारा लगाए गए प्रशुल्कों के हानिप्रद प्रभावों से बचने के लिए जो प्रशुल्क लगाए जाते हैं उनको प्रतिकारात्मक प्रशुल्क कहा जाता है। इस नीति के समर्थन में यह कहा जाता है कि जब एक देश चारों ओर से संरक्षण नीति से घिरा हुआ है तो वह स्वतन्त्र व्यापार नीति का पालन नहीं कर सकता। ऐसा देश सौदेबाजी करने की दृष्टि से भी कमजोर रहता है क्योंकि इस देश के पास संरक्षित देशों को बदले में देने के लिए कुछ भी नहीं होता। जब एक देश द्वारा दूसरे देश के निर्यातों पर रोक लगाई जाती है तो उसकी अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जाती है और बदले में दूसरा देश भी पहले देश पर नियन्त्रण लगा देता है। एक पक्षीय स्वतन्त्र व्यापार हमेशा हानिप्रद रहता है। इस नीति को मानने वाला अकेला देश विदेशी प्रतियोगिताओं के बीच बुरी तरह से फंस जाता है। यदि वह अन्य देशों पर लगाए गए प्रशुल्कों का जवाब नहीं देता तो पर्याप्त हानि उठानी पड़ती है।

आलोचना--इस तर्क के समर्थन में बहुत कुछ कहा गया फिर भी इसके प्रयोग तथा महत्व के सम्बन्ध में अधिक कहना गलत है। आलोचकों का कहना है कि प्रतिकार के रूप में जब एक देश दूसरे देश के निर्यात पर रोक लगाता है तो इससे दोनों देशों को अधिक हानि होगी और प्रतिकार का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। हैबरलर आदि के मतानुसार 'यह विचार बहुत पुराना पड़ चुका है कि विरोधी प्रशुल्क दीवारों से घिरा एक देश अपने भुगतान सन्तुलन को कायम नहीं रख सकता और इसलिए इसे छोड़ देना ही अच्छा रहेगा।''[1]

(iv) कुछ गम्भीर तर्क
(Some Serious Arguments)

इस सम्बन्ध में विचारकों ने कुछ गम्भीर तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। ये निम्न प्रकार हैं--

(१) **शिशु उद्योगों को संरक्षण (Infant Industry Protection)**-संरक्षण की नीति का समर्थन करते हुए कुछ विचारकों ने यह तर्क भी दिया है कि इससे बाल उद्योगों को लाभ प्राप्त होता है। यह तर्क सर्वप्रथम

1. Mr. Habarler : The Theory of International Trade, P. 250.

अलेक्जेंडर हैमिल्टन द्वारा प्रस्तुत किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस विचार का प्रभाव उल्लेखनीय रहा और बाद में फ्रेडरिक लिस्ट द्वारा इसे अपना लिया गया। इन्होंने अपनी पुस्तक (The National System of Political Economy, 1840) में उस तर्क का व्यापक रूप से स्पष्टीकरण किया है। मि० लिस्ट का विचार था कि प्रत्येक देश अपनी आर्थिक प्रगति के लिए विभिन्न दिशाओं में होकर गुजरता है। कुछ देश दूसरों की अपेक्षा अधिक विकास कर लेते हैं किन्तु इसका कारण यह नहीं होता कि वे प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न थे वरन् यह कि अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियां उनके अनुकूल थीं जिन्होंने विकास की गति को बढ़ाया। दूसरे देशों में परिस्थितियां अनुकूल नहीं थी और इसीलिए उनका विकास रुक गया।

अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जो देश शीघ्र ही अपना विकास कर लेते हैं वे विश्व-बाजार में नेता बन जाते हैं जबकि अन्य देश पिछड़ जाते हैं। इन नेता राष्ट्रों द्वारा अन्य देशों के औद्योगिक विकास में रुकावटें डाली जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। छोटे देशों को जीवित रखने के लिए यह जरूरी है कि इन्हें देशी बाजार में संरक्षण दिया जाए। यदि ऐसा न किया गया तो विदेशी प्रति-योगिता उनको समाप्त कर देगी। इस सम्बन्ध में फ्रेड्रिक लिस्ट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अधिक प्रगतिशील देशों के साथ पूर्ण स्वतन्त्र प्रतियोगिता करते समय कम प्रगतिशील देश स्वयं के निजी उद्योगों को कायम नहीं रख सकेंगे चाहे निर्माण की समस्त सुविधाएं उन्हें प्राप्त हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे एक बालक किसी पहलवान के साथ कुश्ती में नहीं जीत सकता और न ही उसका सबल विरोध कर सकता है।

एक नये और अर्द्ध-विकसित देश के उद्योगों की तुलना में विकसित देश के पुराने उद्योगों को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं; उदाहरण के लिए उसे कम मजदूरी पर अनुभवी एवं कुशल श्रमिक आसानी से प्राप्त हो सकते हैं— (i) उसके पास सभी आवश्यक मशीनें सस्ते दामों में उपलब्ध रहती हैं, (ii) उसके क्रय-विक्रय में सर्वाधिक मितव्ययिता होती है, (iii) उसके पास यातायात के सस्ते साधन होते हैं, (iv) वह क्रय-विक्रय में सबसे अधिक मितव्ययिता बरतता है, (v) उसके पास अच्छे औजार और पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध हो सकता है एवं (vi) उसे कम से कम ब्याज पर अधिक से अधिक पूंजी मिल जाती है आदि-आदि। इन्हीं सब कारणों के परिणामस्वरूप प्राचीन फर्मों को नई फर्मों की अपेक्षा प्रायः अधिक लाभ प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि किसी नये उद्योग की स्थापना करने की अपेक्षा स्थापित उद्योग का विकास करना अधिक सरल होता है।

इन सब बातों पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि नवीन उद्योगों की स्थापना तथा विकास करना है तो उनको संरक्षण प्रदान किया जाय। केवल तभी नये उद्योग आगे चलकर स्वतन्त्र बाजार में सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकेंगे। लिस्ट ने कृषि को संरक्षण प्रदान करने का विरोध किया था। उद्योगों के सम्बन्ध में ही वे इस नीति का समर्थन करते हैं। उनका मत था कि जब तक एक देश विकसित न हो जाए तभी तक उसको संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। बाद में संरक्षण को कम करते रहना चाहिए और जब वह पूर्ण रूप से विकसित हो जाए तो संरक्षण को पूरी तरह हटा लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक लोकप्रिय कथन के अनुसार "शिशु का पालन करो, बच्चों की रक्षा करो, किशोर को निर्देशन दो और वयस्क को स्वतन्त्र कर दो।"[1]

मिल की व्याख्या—इस तर्क की अन्य स्पष्ट व्याख्या जे० एस० मिल ने की है। उन्होंने इस तर्क को अधिक ठोस रूप प्रदान किया। वे लिखते हैं—"राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर संरक्षण के लिए लगाए गए करों का समर्थन केवल उसी रूप में किया जा सकता है जब एक नया तथा विकासशील देश विदेशी उद्योगों को स्वदेश में ही स्थापित करने की आशा से उन्हें अस्थाई रूप से लगाता है।" मिल ने अपने विचार प्रकट करते समय यह बताने की चेष्टा की है कि संस्थापक सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त के बीच कोई असंगति नहीं है। मिल संरक्षण की नीति को केवल तब ही उचित मानते हैं जब वह अस्थाई रूप से लगाई गई हो, इसका उद्देश्य विदेशी उद्योगों को प्रभावहीन बनाना हो तथा इस प्रकार के उद्योगों को देश में विकसित करने के लिए सारे साधन उपलब्ध हों। संरक्षण केवल उन्हीं उद्योगों को दिया जाना चाहिए जिनके बारे में यह आशा की जा सके कि वे उपयुक्त समय के बाद बिना संरक्षण के अपना विकास करेंगे और सुचारु रूप से चलते रहेंगे। देश के उत्पादकों को यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि उचित समय के बाद भी यह संरक्षण उनको प्रदान किया जाता रहेगा।

उपयोगिता—शिशु उद्योगों का तर्क सैद्धांतिक दृष्टि से बहुत कुछ सत्य प्रतीत होता है। यह सच है कि विभिन्न देशों के बीच आर्थिक दृष्टि से काफी अन्तर रहता है। यह भी सच है कि जब कृषि प्रधान देशों में औद्योगिक विकास की सम्भावना थी, वहाँ संरक्षण के कारण विकास की गति अधिक हो गई।

---

1. "Nurse the baby, Protect the child, Guide the boy and Free the adult."

इतने पर भी यह मान्यता पूरी तरह सही नहीं थी कि देश के पुराने उद्योगों से प्रतियोगिता के कारण नये उद्योगों के विकास में हमेशा रुकावट आती है। इसी प्रकार देश के नये उद्योगों के लिए स्थापित उद्योगों की प्रतियोगिता भी सदा भयंकर नहीं रही। इसके उदाहरण हमें विश्व बाजार के इतिहास में पर्याप्त मिल सकते हैं।

हानियां—शिशु उद्योगों की रक्षा का तर्क चाहे सैद्धांतिक रूप से कितना ही स्पष्ट एवं मान्य प्रतीत होता हो किन्तु यह व्यावहारिक दृष्टि से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करता है। हम यह आसानी से निर्धारित नहीं कर सकते कि कौनसा उद्योग संरक्षण के उपयुक्त है और कौनसा नहीं। सैद्धांतिक रूप से यह कहा जा सकता है कि संरक्षण केवल उसी देश को दिया जाए जो सम्भवतः प्रारम्भ में कुछ हानि उठाएगा और संरक्षण बिना जिसे स्थापित ही नहीं किया जा सकता। यह बात सैद्धांतिक रूप से सही है किन्तु व्यावहारिक रूप में इस प्रकार के उद्योगों का ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य जटिल प्रश्न यह भी उठता है कि किस उद्योग को कितना संरक्षण प्रदान किया जाए। किसी भी उद्योग के भविष्य को नापने की समस्या जटिल है जिसे आसानी से नहीं सुलझाया जा सकता। यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि कौनसा उद्योग भविष्य में असफल होने की गुंजाइश रखता है और किस उद्योग के सफल होने के अवसर हैं। चयन की समस्या उस समय जटिल बन जाती है जब हम देखते हैं कि प्रत्येक नया उद्योग शिशु उद्योग का तर्क देकर संरक्षण प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है। उसकी इस प्रार्थना को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता क्योंकि वह उद्यम आर्थिक दृष्टि से कितना लाभदायक है इसका निर्धारण तो केवल भविष्य ही कर पाएगा। जब नवीन उद्योग के विकास की सभी आशाएं समाप्त हो जाती हैं तो किसी अन्य तर्क के आधार पर उसके संरक्षण को जारी रखने की सिफारिश की जाती है। फलतः संरक्षण को एक बार प्रदान करने के बाद उसे रोकना असम्भव बन जाता है। इस सम्बन्ध में टायले का यह कहना पर्याप्त महत्वपूर्ण है कि "एक बार यदि संरक्षण के दैत्य को जीवन प्रदान कर दिया गया तो यह कीड़े की तरह आर्थिक शरीर का शोषण करने लगता है और शीघ्र ही अपने निश्चित कार्य को छोड़ कर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"[1]

संरक्षण की नीति के विरुद्ध एक बात यह भी कही जाती है कि इसके फलस्वरूप अनुचित स्वार्थ की भावना को जन्म मिलता है और इससे प्रभावित

1. L. W. Towle, International Trade and Commercial Policy, Page 327.

होकर संरक्षण को हटाने का विरोध किया जाता है। कुछ लेखकों के अनुसार शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की नीति और कुछ नहीं लेकिन अपनी अयोग्यता को ढकने का एक इरादा मात्र है। जब एक उद्योग संरक्षण हटा लेने के बाद भी कायम रहता है तो स्पष्ट है कि संरक्षण उसका मूल आधार नहीं था। संरक्षण के सहारे अनेक असमर्थ फर्मों को जिन्दा रखने का प्रयास किया जाता है जो उसके हटते ही लड़खड़ाकर गिर पड़ती हैं।

(२) **बेरोजगारी कम करने के लिए संरक्षण (Protection to reduce Unemployment)**—संरक्षण की नीति को अपनाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इसके सहारे देश के विभिन्न उद्योगों में फैली हुई बेकारी को दूर किया जाए। जब एक उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु को विदेशों से आयात की गई वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है और इन वस्तुओं की मांग पूर्ण लोचदार नहीं होती तो उद्योग को प्रायः बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आयात की वस्तुओं पर प्रशुल्क लगा-कर उस बेरोजगारी को कम करने का प्रयास किया जाता है। यह आशा की जाती है कि प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उद्योग के उत्पादन का विकास होगा और उसके रोजगार में वृद्धि होगी। स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन करने वाले लोगों ने भी इस तर्क को स्वीकार किया है। यहां सम्भावना यह भी है कि आयात उद्योगों में जितनी बेकारी घटेगी उतनी ही वह निर्यात उद्योगों में बढ़ जाएगी। ऐसी स्थिति में संरक्षण की नीति लाभदायक होने की अपेक्षा हानि-कारक बन जाती है।

बेरोजगारी की स्थिति में अल्पकालीन संरक्षण दीर्घकालीन संरक्षण की अपेक्षा अधिक प्रभावशील होता है। संरक्षण नीति को अपनाते ही एक देश की बेरोजगारी की स्थिति में निश्चय ही सुधार हो जाएगा और आयात की मात्रा कम होने से देशी उत्पादन बढ़ेगा, बेकार लोगों के एक बहुत बड़े भाग को रोजगार प्राप्त होगा। हेबरलर के मतानुसार यह प्रशुल्क का केवल प्रारम्भिक प्रभाव होता है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने इस तर्क का विरोध करते हुए बताया है कि ऐसा संरक्षण कुल बेकारी में कमी नहीं करेगा। उनके मतानुसार आयातों पर प्रतिबन्ध लगने से निर्यातों में कमी हो जाएगी और इसलिए निर्यात उद्योगों में बेरोजगारी बढ़ेगी। संरक्षण के परिणामस्वरूप कुल बेकारी में कमी नहीं लाई जा सकती। यदि अस्थाई रूप से ही प्रबन्ध करने की समस्या हो तो संरक्षण की नीति अपना कर बेरोजगारी को दूर करने का प्रयास किया जा सकता है किन्तु इससे अधिक आशाएं करना गलत होगा।

आलोचकों ने स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों के तर्कों का भी खण्डन किया है। उनके अनुसार यह मानना गलत होगा कि आयातों पर प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप निर्यातों में भी एकदम उतनी ही मात्रा में कमी आएगी। मान लीजिए कमी आती है तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता है कि इससे बेरोजगारी बढ़ेगी, क्योंकि पहले देश के माल की खपत विदेशों में होती थी किन्तु अब निर्यात के घटने से वह स्वदेश में ही होने लगेगी। इस प्रकार विदेशी मांग का स्थान स्वदेशी मांग द्वारा ले लिया जाएगा। विरोधी तर्कों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि प्रशुल्क लगाने से अनेक ऐसे लोगों को रोजगार मिलता है जो अभी तक बेरोजगार थे।

सर्वमान्य मत यह है कि संरक्षण का रोजगार की दृष्टि से अच्छा परिणाम अल्पकालीन होता है। इसका दीर्घकालीन परिणाम जिस रूप में होता है उसे हम तीन भागों में विभाजित करते हैं क्योंकि बेरोजगारी भी तीन प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार की बेरोजगारी संघर्ष से पैदा होती है। दूसरे प्रकार की बेरोजगारी व्यापार-चक्र से उत्पन्न होती है और तीसरे प्रकार की बेरोजगारी स्थाई बेरोजगारी होती है, इन तीनों पर प्रशुल्क लगाने का अलग-अलग प्रभाव पड़ेगा।

(अ) संघर्ष से उत्पन्न बेरोजगारी (Unemployment due to Friction)— ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब प्रबन्धकों की अकुशलता के कारण या मांग के घट जाने के कारण या फर्म के दुर्भाग्य के कारण एक फर्म को अपना कारोबार बन्द करना पड़ता है। परिणामस्वरूप श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं। इसी प्रकार तकनीकी विकास और नयी संस्थाओं तथा नये उद्योगों के विकास के कारण पुराने उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति कमजोर हो जाती है और उनके श्रमिक बेरोजगार होने लगते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी को तकनीकी बेरोजगारी भी कहते हैं। एक काम को छोड़ने के बाद दूसरा काम प्राप्त करने में समय लगता है, वह तत्काल नहीं मिल जाता। कभी-कभी काम की तलाश में दूर प्रदेशों में जाना होता है और इसमें पर्याप्त समय लगता है। परिणामस्वरूप इतने दिनों तक श्रमिक बेरोजगार रहता है। इस प्रकार की बेरोजगारी यद्यपि अस्थाई होती है किन्तु यह प्रायः प्रत्येक अर्थ व्यवस्था में हर समय पर्याप्त मात्रा में रहती है।

विचारकों का कहना है कि इस बेरोजगारी को दूर करने में प्रशुल्क नीति पर्याप्त महत्वपूर्ण है। विदेशों से वस्तुओं की पूर्ति को रोकने के लिए और देशी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए जब आयात कर लगा दिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप उद्योग में फैली बेरोजगारी कम होती है।

इस साधन का प्रयोग केवल कभी-कभी ही किया जा सकता है। यदि प्रत्येक बार प्रशुल्क का सहारा लेकर ही बेरोजगारी को दूर करने का प्रयास किया गया तो इससे देश को स्थाई रूप से नुकसान होगा। अस्थाई बेरोजगारी को दूर करने के लिए जब प्रशुल्क लगाया जाता है तो उन लाभों का मिलना रुक जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के माध्यम से मिल सकते थे। यदि सभी देश इस नीति को अपनाने लगे तो परिणामस्वरूप किसी को भी लाभ नहीं होगा। यह तरीका केवल अस्थाई समायोजन करता है।

(ब) व्यापार चक्र से उत्पन्न होने वाली बेरोजगारी (Cyclical Un-employment)—प्रत्येक पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे व्यापार-चक्र चलता रहता है और इसके परिणामस्वरूप देश मे बेकारी फैल जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी (बेकारी) प्रायः सभी देशों के सभी उद्योगों मे पाई जाती है। हम प्रशुल्क नीति अपनाकर यद्यपि बेरोजगारी को थोड़ा कम कर सकते हैं फिर भी इसमें स्थाई हानि होने की सम्भावना रहती है। संरक्षण की नीति व्यापार चक्रों द्वारा होने वाली बेरोजगारी को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाती है।

(स) स्थाई बेरोजगारी (Permanent Un-employment)—स्थाई बेरोजगारी की समस्या को संरक्षण की नीति द्वारा कुछ मात्रा तक हल किया जा सकता है। स्थाई बेरोजगारी प्रायः मजदूरों की अत्यधिक ऊंची दर के कारण होती है और इसलिए बहुत ऊंचे प्रशुल्क लगाकर ऐसी बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। स्थाई बेरोजगारी को दूर करने के लिए अनेक उद्योगों को संरक्षण देना जरूरी हो जाता है किन्तु इसमें खतरा यह है कि अन्य देश प्रतिकारात्मक उपाय अपना सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले लाभ कम हो जायंगे। संरक्षण की नीति प्रायः उस समय प्रभावशील होती है जब बेरोजगारी निर्यात उद्योगों में हो। जब निर्यात उद्योगों में बेरोजगारी फैलती है तो उसे समाप्त करने के लिए आयात नीति अधिक प्रभावशील नहीं रहती क्योंकि इसके परिणामस्वरूप निर्यातों में कमी होकर बेकारी अधिक बढ़ जाती है।

संरक्षण की नीति और बेरोजगारी के बीच स्थित सम्बन्ध पर विचार करने के बाद निष्कर्ष यह आता है कि यदि बेरोजगारी सामान्य और स्थाई है तो उसे दूर करने के लिए या तो मजदूरी का स्तर गिराया जाए अथवा तकनीकी प्रगति होने तक के लिए प्रतीक्षा की जाए। दूसरे, यदि बेरोजगारी व्यापार चक्र से पैदा हुई है तो कुछ समय बाद वह स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। तीसरे, यदि बेरोजगारी किसी एक उद्योग में है तो उसे दूर करने के लिए अर्थ व्यवस्था के दूसरे भागों की सहायता ली जा सकती है।

(३) **व्यापार कीमतों में सुधार के लिए संरक्षण (Protection to improve the Terms of Trade)**--संरक्षण नीति का समर्थन इसलिए भी किया जाता है ताकि जिन देशों के माल का आयात किया जाता है उन में कीमतों को गिराया जा सके। ऐसा हो जाने पर वह देश अधिक अच्छी शर्तों पर आयात करने में समर्थ हो सकेगा। आयात के मूल्य की कमी उसकी पूर्ति की दशाओं पर निर्भर करती है। जब निर्यातकर्ता देश में वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है तो आयात पर लगाए गए कर के परिणामस्वरूप उनकी कीमतों में बहुत कम कमी होती है अथवा होती ही नहीं है। पूर्ति के बेलोचदार होने पर भी आयात कम होने से कीमतें कम हो सकती हैं।

संरक्षण की नीति अनुकूल व्यापार शर्तों को प्राप्त करने में सहायक होगी, यह निश्चित नहीं है। आयातकर में वृद्धि के परिणामस्वरूप यह भी हो सकता है कि उत्पादन के साधन अनार्थिक उत्पादन की ओर बढ़ जाए अथवा उपभोक्ताओं की सन्तुष्टि कम हो जाए। ऐसी स्थिति में आयात-कर लगाने का लाभ बहुत कम हो जाएगा। यहां एक बात ध्यान में रखने की और भी है—यदि हमने अन्य देशों से होने वाले आयात पर ज्यादा प्रशुल्क लगाया तो इसकी प्रतिक्रिया के रूप में दूसरे देश भी अपने आयातों पर प्रशुल्क लगा सकते हैं।

(४) **सौदेबाजी के लिए संरक्षण (The Protection for Bargaining)**—संरक्षण की नीति के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि इसके माध्यम से एक देश अन्य देश से रियायतें प्राप्त करने में सफल हो जाता है। यदि एक देश ने संरक्षणात्मक कर लगा रखे हैं तो वह इनका प्रयोग करते हुए दूसरे देश को कुछ रियायतें दे सकता है और इस प्रकार उसे अपने अनुकूल प्रभावित कर सकता है, किन्तु जिस देश के पास इन रियायतों के बदले देने के लिए कुछ नहीं रहता उसके लिए विदेशी बाजार बन्द हो जाता है। संरक्षण की नीति के रहने पर ही लेन-देन के समय एक देश द्वारा दूसरे देश के आयात करों में कमी की मांग की जा सकती है।

आलोचकों का कहना है कि इससे प्राप्त होने वाला लाभ या तो केवल स्वतन्त्र व्यापार वाले देशों को होता है अथवा उन देशों को जिनमें आयात कर कम है। सौदेबाजी के लिए लगाए जाने वाले इस प्रकार के करों के फलस्वरूप कुछ निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं जो इन करों का विरोध करते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के संरक्षणों का प्रयोग विदेशों से रियायत प्राप्त करने की अपेक्षा स्वदेशी सरकार से अधिक संरक्षण प्राप्त करने के लिए भी किया जा सकता है।

(५) संकटकाल एवं बाजार की सुरक्षा के लिए संरक्षण (Protection in Emergency and to Ensure the Market)—विचारकों का कहना है कि संरक्षण की नीति उद्योग की किसी विशेष शाखा में आने वाले अस्थाई संकट को कम या समाप्त करने के लिए अपनाई जा सकती है। अनेक बार विभिन्न कारणों से देश में आर्थिक संकट पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि विश्व में कृषि-उत्पादन अच्छा हुआ है और देश में कम तो इससे संकट की स्थिति उत्पन्न होगी। इसका निपटारा करने के लिए करों की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। किसी कारण से जब एक उद्योग के हाथ से विदेशी व्यापार छूट जाता है अथवा आयात की मात्रा बढ़ जाती है तो संकट काल प्रारम्भ हो जाता है। इसे आयात-कर लगाकर कम किया जा सकता है।

आलोचकों का कहना है कि संकटकाल का सामना करने के लिए अस्थाई रूप से जिस संरक्षण की रचना की जाती है उसको बाद में समाप्त करना बहुत कठिन हो जाता है। अतः संरक्षण की स्थापना करते समय पर्याप्त सजगता तथा बुद्धिमता से काम लिया जाए। कई बार यह कहा जाता है कि संकटकालीन संरक्षण लाभ की अपेक्षा हानि का कारण अधिक है और इसलिए इसका प्रयोग पर्याप्त सावधानी से करना चाहिए।

(६) राशिपातन को रोकने के लिए संरक्षण (Protection to Prevent Dumping)—कई बार विदेशी व्यापारी स्वदेशी उत्पादन को नीचा दिखाने के लिए राशिपातन की नीति अपनाते हैं। इसके अनुसार वे विदेश में किसी वस्तु को ऐसे मूल्य में बेचते हैं जो स्वदेशी की अपेक्षा कम होता है। इस प्रकार स्वदेशी उद्योग प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पाते। इस प्रकार का तर्क वे व्यापारी देते हैं जो प्रतिस्पर्धा नहीं चाहते।

इस तर्क के सम्बन्ध में भी कुछ कठिनाइयां हैं--(१) राशिपातन का अर्थ स्पष्ट नहीं है। (२) यदि राशिपातन स्थाई है तो यह नुकसानप्रद होने की अपेक्षा उपभोक्ताओं के लिए लाभदायक हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि राशिपातन की प्रकृति पर विचार करने के बाद ही प्रशुल्क लगाना चाहिए। राशिपातन जब कभी यन्त्रतांत्रिक (Sporadic) होता है तो वह देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर सकता है। दूसरी ओर यह स्थानीय फर्मों के लिए घातक है। राशिपातन के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को प्राप्त होने वाला लाभ अस्थाई और थोड़े समय के लिए होता है किन्तु व्यवसायों पर इसका प्रभाव दीर्घकालीन होता है।

(७) असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के लिए संरक्षण (Protection for an Unbalanced Economy)—असन्तुलित अर्थ व्यवस्था वह होती है

जिसमें निर्मित वस्तुओं के उत्पादन एवं कृषि उत्पादन में पर्याप्त अन्तर रहता है तथा देश के आयात निर्यात के बीच गहरी खाई रहती है। इस असंतुलन को दूर करने के लिए संरक्षण की नीति को अपनाया जाता है। जब कृषि-प्रधान देशों का औद्योगीकरण किया जाता है तो इनके व्यापार संगठन में परिवर्तन आ जाते हैं। यह औद्योगीकरण कई स्तरों में प्राप्त किया जाता है। प्रारम्भ में घटिया स्तर की चीजें बनती हैं जिनमें कुशल श्रम की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसा देश अपरिष्कृत कच्चे माल को मंगाता है और बदले में अर्द्ध-निर्मित वस्तुएं भेजता है। इस प्रक्रिया में यातायात-व्यय बहुत कम लगता है। नये देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ पुराने औद्योगिक देशों में भी तकनीकी विकास चलता रहता है और ऐसी स्थिति में विकासशील देश को उत्तम किस्म की चीजें, यन्त्र आदि का आयात करना होता है। यह कहा जाता है कि पूंजी तथा उत्पादन के साधनों का निर्यात किसी देश की औद्योगिक कमी का प्रयोग नहीं है वरन् यह एक लाभदायक विनिमय है।

कुछ विचारकों का कहना है कि निर्मित वस्तुएं तथा कच्चे माल का आदान-प्रदान एक दिन समाप्त हो जाएगा। यदि कृषि प्रधान देशों ने संरक्षण की नीति अपनाई तो स्वाभाविक विकास की यह गति और भी बढ़ जाएगी। इस प्रकार पुराने औद्योगिक केन्द्र कम निर्यात करने लगेंगे।

(८) **उत्पत्ति के साधनों के आयात के लिए संरक्षण (Protection for import of means of Production)**—संरक्षण द्वारा देश में पूंजी को आकर्षित किया जा सकता है। इसके समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं। इस संरक्षण के परिणामस्वरूप ही संयुक्त राज्य अमेरिका में ब्रिटिश फार्मों ने अपनी शाखाएं खोली। इस प्रकार यह सही है कि संरक्षण को लागू करने पर या उसकी मात्रा बढ़ा देने पर देश में पूंजी का आयात होता है। मि० शूलर ने यह विचार प्रकट किया है कि स्वतन्त्र व्यापार सिद्धांत की यह कल्पना पूर्णतः गलत थी कि संरक्षण द्वारा उत्पादन का सदैव ही अविवेकपूर्ण स्थानान्तरण किया जाता है तथा इसके द्वारा सामाजिक उत्पादन में वृद्धि नहीं की जाती।

शूलर का मत था कि संरक्षण द्वारा उत्पादन के उपलब्ध साधनों को बढ़ाया जा सकता है। संरक्षण की नीति उन साधनों के उपयोग का अवसर प्रदान करती है जो अभी तक बेकार पड़े थे। इसके अतिरिक्त संरक्षण द्वारा उत्पादन के विभिन्न साधनों को विदेशों से आकर्षित भी किया जाता है। शूलर लिखते हैं कि किसी भी देश में श्रम-शक्ति का आकार निश्चित नहीं होता क्योंकि श्रमिकों की संख्या उत्पादन की सुविधा के अनुसार अधिक और कम

होती रहती है । देश के उत्पादन का आकार केवल देश की पूंजी तक ही सीमित नहीं रहता वरन् विदेशों की पूंजी भी आवश्यकता के अनुसार आ सकती हैं किन्तु तभी जबकि देश में उसके अनुकूल वातावरण हो । यद्यपि पूंजी के आवागमन के साथ अनेक कठिनाइयां जुड़ी हुई हैं फिर भी वास्तविक व्यवहार में इसका आयात कुछ सम्भावित मात्रा में होता है ।

कुछ सम्भावित हानियां
(Some Probable Demerits)

संरक्षण की नीति के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों का अध्ययन करने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि यह नीति एक अर्थ व्यवस्था की रक्षा एवं विकास के लिए जरूरी है, इतने पर भी आलोचकों ने इसकी जिन विभिन्न कमियों का उल्लेख किया है उनको ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संरक्षण की नीति कोई आदर्श नीति नहीं है वरन् यह विशेष परिस्थितियों में अपनाई जाने वाली एक मजबूरी का प्रतीक है । इस नीति के विभिन्न लाभों एवं उपयोगों के अतिरिक्त अनेक हानियों का भी वर्णन किया जा सकता है—

(१) इसके द्वारा अधिकतम सामाजिक उत्पादन असम्भव बन जाता है क्योंकि यह देश के उद्योगों को केवल नकारात्मक सहयोग प्रदान करती है । आयात की वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाकर यह स्वदेशी वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा को कम करती है । इसके कारण स्वदेशी उद्योग अपनी कुछ समस्याओं से मुक्ति अवश्य पा सकते हैं किन्तु वे अपने उत्पादन को विधायी रूप से नहीं बढ़ा सकते ।

(२) संरक्षण की नीति दुर्बल उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करती है । यह असमर्थ एवं प्रतिस्पर्द्धा में टिकने की शक्ति न रखने वाले उद्योगों को सहारा प्रदान करके उन्हें जैसे-तैसे बने रहने के लिए प्रोत्साहित करती है । यदि इन दुर्बल उद्योगों से संरक्षण हटा लिया जाए तो ये समाप्त हो जाएंगे । असमर्थ उद्योगों को बनाए रखना निश्चय ही समर्थ उद्योगों के हित के विपरीत है ।

(३) संरक्षण की नीति के फलस्वरूप आयात की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार देश के उपभोक्ताओं की हानि होती है ।

(४) यह नीति देश में विभिन्न प्रकार से भ्रष्टाचार को पनपने का अवसर देती है ।

(५) इसके फलस्वरूप एकाधिकारों की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि प्रतिस्पर्धा में विदेशी व्यापार को पीछे हटा दिया जाता है और देशी

उत्पादन चाहे किसी भी स्तर का और किसी भी कीमत का हो, सामने लाया जाता है। एकाधिकार की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से हानिकारक सिद्ध होती है। इससे स्वदेशी व्यापारियों को मनमानी करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

(६) जब निश्चित लाभ की मात्रा सुरक्षित हो जाती है तो उद्योगों में शिथिलता आने लगती है अर्थात् संरक्षण की नीति को अपनाकर जब विशेष उद्योगों को प्रतिस्पर्धा के तीखे प्रहारों से बचाने का प्रयास किया जाता है तो ये उद्योग स्वयं को आगे बढ़ाने में शिथिलता का अनुभव करने लगते हैं। उनके सामने कोई चुनौती या प्रतियोगिता नहीं रहती जिसके कारण वे अपने उत्पादन के स्तर को उंचा उठाने की सोचें। जब उन्हें यह ज्ञात है कि लाभ की एक निर्धारित मात्रा सरकारी संरक्षण की छाया में उनको मिलकर रहेगी तो वे अपने विकास की चिन्ता करने की तकलीफ नहीं उठाते।

(७) यह नीति अदृश्य करों की मात्रा को बढ़ाकर निर्धन व्यक्तियों के कर भार को कई गुना कर देती है और इस प्रकार समाज में धन वितरण की असमानता बढ़ जाती है।

(८) इस नीति के कारण राष्ट्रों के बीच के सम्बन्ध कटु बन जाते हैं। उनकी प्रतिद्वन्दिता मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में जहर घोल देती है। इन सबके अतिरिक्त संरक्षण की नीति का एक गलत प्रभाव यह भी होता है कि इसके द्वारा विदेशी व्यापार की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि जब एक देश अपने आयात पर प्रतिबन्ध लगाता है तो दूसरे देश में प्रतिक्रिया स्वरूप उसके निर्यात पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं। इन सबका परिणाम यह निकलता है कि विदेश व्यापार की मात्रा घट जाती है।

स्पष्ट है कि संरक्षण की नीति केवल उपयोगी नहीं है वरन् इसका काला पक्ष भी है। यदि इसका अनुचित रूप से प्रयोग किया गया तो यह नीति आर्थिक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अस्त-व्यस्त कर सकती है। निकल्सन (Nicholson) के मतानुसार, "स्वतन्त्र व्यापार ईमानदारी की भांति अभी भी सर्वश्रेष्ठ नीति है।" एगवर्थ (Edgeworth) ने लिखा है कि संरक्षण की नीति कुछ मामलों में उपयोगी हो सकती है यदि वहां की सरकार उनको अलग करने की बुद्धि तथा तदनुसार व्यवहार करने का साहस रखती हो। यह शर्त प्रायः पूरी नहीं हो पाती।"

उपभोक्ता वस्तुओं पर यदि अत्यधिक प्रतिबन्ध लगा दिये जायें तो मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है। आयात की वस्तुओं पर होने वाला व्यय घरेलू अथवा निर्यात योग्य वस्तुओं की ओर मुड़ जाता है। प्रथम से मुद्रा-प्रसार और द्वितीय से विदेशी मुद्रा की आय में कमी हो जाती है। विश्व-व्यापार से

होने वाली प्राप्तियां कम हो जाती हैं और विश्व के आर्थिक कल्याण की क्षति होती है। यदि घरेलू तथा निर्यात योग्य वस्तुओं की पूर्ति पर्याप्त लोचशील है तो मुद्रा-प्रसार अथवा निर्यात में गिरावट नहीं होगी।

आयात-प्रतिबन्धों में यदि समय-समय परिवर्तन आते रहते हैं तो इसके फलस्वरूप आयात-कर्त्ता पहले से ही बहुत बड़ी खरीददारियां कर लेते हैं। इससे न केवल भुगतान संतुलन की समस्या उत्पन्न होती है वरन् निवेश भी उत्पादक उद्यमों से हट जाता है। संरक्षण अपने आप में पर्याप्त नहीं है। यह विकास के लिए अवसर प्रदान करता है। उद्योगों की स्थापना एवं कुशल संचालन द्वारा इन अवसरों का प्रयोग करके ही वास्तव में विकास किया जा सकता है। नये उद्योगों के संचालन के लिए बड़ी पूंजी चाहिए, अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में यह नहीं होती। फलतः संरक्षण की नीति हानिप्रद सिद्ध होती है। रोजगार वृद्धि की दृष्टि से भी ये प्रतिबन्ध अधिक सहायक नहीं होते। इनसे विकसित देशों के भुगतान संतुलन का आधिक्य कम होता है और वे अर्द्ध-विकसित देशों में निवेश नहीं कर पाते

५

प्रशुल्क प्राथमिकताएं
(TARIFF PREFERENCES)

"तटकर के प्रभाव उन अनेक वातावरणों से समरूपता रखते हैं, जिनमें अनुकूल पहलू एक स्थान पर केन्द्रित रहते हैं और स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं जबकि अन्य पहलू अर्थ-व्यवस्था में बिखरे रहते हैं और लम्बे समय तक चलते हैं।"

—जी० हेबरलर

"अधिक कार्य-कुशल उद्योगों से कम कार्यकुशल उद्योगों की ओर उत्पादन के साधनों को बदलकर 'तटकर' उत्पादिता में बाधा डालते हैं और इसलिए पूरे वेतन-स्तर तथा स्वयं जीवन-स्तर को प्रतिबाधित करते हैं।"

—वॉल्टर क्राँज

"शिशु संरक्षण की अपेक्षा शिशु-सृजन को महत्व दिया जाना चाहिये।"

—रेगनर नर्कसे

"The effects of tariff resemble those of many other phenomenon in that the favourable aspects are concentrated in one place and can be seen plainly, whereas the other aspects are more diffused over the Economy and extended over a longer time."

—G. Haberler

"By shifting productive resources from more efficient to less efficient industries tariffs tend to impede productivity and therefore to impare the over all wage level and the standard of living itself."

—Walter Krause

"Infant creation must take precedent over infant protection."

—Ragner Nurkse

प्रशुल्क प्राथमिकताएं
(TARIFF PREFERENCES)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश विभिन्न कारणों से अपने आयात और निर्यात पर कर लगाता है यह कर लगाने की प्रक्रिया स्वतंत्र व्यापार के सिद्धान्त के विपरीत है जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पूर्णतः स्वतन्त्रता पूर्वक संचालित होना चाहिए, उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहे। स्वतंत्र व्यापार की यह नीति आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं ठहरती। आर्थिक प्रतियोगिता में विकसित देशों से अपनी रक्ष करने के लिए एक विकासशील देश संरक्षण की नीति का प्रयोग करता है जिसका विस्तृत वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। प्रशुल्क (Tariff) की प्रक्रिया संरक्षण की नीति का ही एक भाग है जिसे अपनाकर एक देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपना अस्तित्व बनाए रखता है।

प्रशुल्क सिद्धांत का इतिहास
(The History of Tariff Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में लगाए गए प्रशुल्कों का इतिहास ही मूल रूप से प्रशुल्क सिद्धान्त का इतिहास है। इस इतिहास द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि हम आर्थिक सिद्धान्त की नीति को किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं? प्रशुल्क के इतिहास को मुख्य रूप से निम्न भागों में विभाजित किया जाता है—

(१) विरोधी प्रशुल्क प्रवृतियां (१८१५ से १८६०)
(Divergent Tariff Trends)

संयुक्तराज्य अमरीका में १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रशुल्क के लिए शिशु उद्योगों का जो तर्क दिया जाता था वह पर्याप्त प्रभावपूर्ण रहा। इस समय यहां अनेक नये उद्योग प्रारम्भ हुए जिनको विदेशी प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जाना जरूरी था। इसी काल में ग्रेट-ब्रिटेन में प्रशुल्कों की स्थिति कुछ भिन्न थी। यहां इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि

स्थित प्रशुल्कों को कम से कम किया जाए। इस प्रकार एक ओर जहां अमरीका संरक्षण की नीति की दिशा में अग्रसर हो रहा था वहां ग्रेट-ब्रिटेन स्वतंत्र व्यापार की ओर बढ़ रहा था ।

अपने जन्म काल से ही संयुक्तराज्य अमरीका में आयातों पर कर लिए जाते थे। इन प्रारम्भिक प्रशुल्कों का प्रभाव यद्यपि संरक्षणात्मक था किन्तु इनका मुख्य उद्देश्य संघीय सरकार के राजस्व को बढ़ाना था। इन दिनों यहां कोई आयकर नहीं लिया जाता था और इसलिए सरकार को अपने व्यय की व्यवस्था के लिए आबकारी करों पर निर्भर रहना पड़ता था। इनमें प्रशुल्क सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। आयात कर को उगाहना अत्यन्त सरल होता है, इसके लिए केवल पुलिस तथा बन्दरगाहों की आवश्यकता होती है।

सन् १८१५ में एक नये प्रशुल्क कानून का समर्थन किया जाने लगा जिसके द्वारा न्यू-इंगलैण्ड तथा मध्य अटलांटिक राज्यों के नये उत्पादकों की रक्षा की जा सके। अमरीकी कांग्रेस ने ऊनी तथा सूती वस्त्रों पर सन् १८१६ में अधिक कर लगा दिए तथा कांच एवं लोहा आदि पर १८२४ में करों की मात्रा बढ़ा दी।

प्रशुल्क के प्रश्न पर उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के बीच विवाद था। यह विवाद १८२८ में शीर्ष पर पहुंच गया। १८४० में संघीय बजट में अतिरिक्त धन की बहुतायत थी और इसीलिए राजकोष सचिव ने सुझाया कि प्रशुल्क को कम करने पर ही करों से प्राप्त राजस्व को घटाया जा सकेगा। फलतः कर-योग्य आयातों पर लगाए गए कर में २६ प्रतिशत की कटौती की गई। १८४६ तथा १८७५ में संरक्षणात्मक करों को और घटाया गया। इतने पर भी अमरीका इस दृष्टि से योरोप से भिन्न था क्योंकि वहां स्वतंत्र व्यापार (Free Trade) की व्यवस्था थी।

ग्रेट-ब्रिटेन में स्वतंत्र व्यापार का प्रचलन एक प्रकार से कुलीनतंत्र की प्राचीन शक्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। कार्न लाज (Corn Laws) के अनुसार आयातित खाद्यान्न पर लगाये गए प्रशुल्कों का लाभ मुख्य रूप से देहाती कुलीन-वर्ग को प्राप्त होता था। अतः इनके राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त करने का प्रयास किया गया। ग्रेट ब्रिटेन में भी अमरीका की भांति प्रशुल्क नीति एक संवैधानिक प्रश्न बन गई। एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों के विचारों ने स्वतंत्र व्यापार की नीति का समर्थन किया। कार्न लॉज पर होने वाले वाद-विवाद से पचास वर्ष पूर्व ही इन्होंने यह कह दिया कि जो आचरण प्रत्येक परिवार के व्यक्तिगत जीवन में महत्व रखता है उसे राज्य के स्तर पर मूर्खतापूर्ण नहीं कहा जा सकता।

स्वतंत्र व्यापार की नीति का समर्थन बाद में डेविड रिकार्डो (David Ricardo) तथा एडम स्मिथ के अन्य अनुयायियों द्वारा भी किया गया। उनका मत था कि कार्न लॉज़ द्वारा मजदूरों को दो प्रकार का कष्ट पहुँचाया जा सकता है। प्रथम, प्रशुल्क द्वारा खाद्यान्न की कीमतें बढ़ा दी जाएंगी तथा कर्मचारियों की क्रय-शक्ति कम कर दी जाएगी। दूसरे, प्रशुल्क द्वारा व्यापारिक लाभ की कीमत पर भूमि के किराये को बढ़ाया जाएगा। कम लाभ होने से बचत कम होगी, व्यय कम होगा और इस प्रकार श्रम की मांग घट जाएगी।

ग्रेट-ब्रिटेन में स्वतंत्र व्यापार की नीति का प्रारम्भ नेपोलियन के युद्धों से पूर्व ही हो चुका था। विलियम पिट (William Pitt) ने सन् १७८४ में अपने करों को पहले ही कम कर दिया था। इसके बाद टोरी दल की सरकार ने औद्योगिक कच्चे माल पर से करों को घटा दिया। इन कमियों को ब्रिटेन के उत्पादकों का समर्थन प्राप्त हुआ क्योंकि कच्चे माल पर प्रशुल्कों द्वारा उनकी उत्पादन लागत बढ़ गई थी।

स्वतंत्र व्यापार की विजय एवं पराजय (१८६० से १९१४)
(The Triumph and Decline of Free Trade)

स्वतंत्र व्यापार की दिशा में ग्रेट-ब्रिटेन का अगला कदम व्यवस्थात्मक के स्थान पर कूटनीतिक बन गया। १८६० में ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच कोबडिन चिवेलियर (Cobden-Chevalier) की सन्धि हुई जिसके अनुसार दोनों देशों ने प्रशुल्क में पारस्परिक कटौती की। फ्रांसीसी शराब पर से ब्रिटेन ने कर को कम कर दिया। उसके बाद फ्रांस ने अन्य देशों के साथ भी प्रशुल्क सन्धियां की। १८६० और १८७० के बीच में जो व्यापारिक संधियां की गई उनके दो महत्वपूर्ण परिणाम हुए—(१) इसके फलस्वरूप प्रशुल्क में नयी कटौतियां हुई और (२) अब तक प्रत्येक देश द्वारा की गई कटौतियों को सामान्यकृत किया गया।

कालान्तर में जब परिस्थितियां बदलीं तथा लोगों के दृष्टिकोण में अन्तर आया तो स्वतंत्र व्यापार का आन्दोलन ढीला पड़ा। सन् १८७० में योरोप की उपनिवेशवादी नीतियों में भारी परिवर्तन दिखाई दिया। अर्द्ध-शताब्दी तक साम्राज्यवादी भावनाओं का जोर रहा। १८७३ में जर्मनी के बिस्मार्क ने लोहे पर से प्रशुल्क हटा दिया और घोषणा की कि १८७७ तक लोहे से निर्मित वस्तुओं पर से प्रशुल्क पूरी तरह समाप्त कर दिया जाएगा। परिस्थितिवश बिस्मार्क को सन् १८७९ में उद्योगों एवं कृषि को संरक्षण प्रदान करने के लिए नये प्रशुल्क लगाने पड़े।

उच्च प्रशुल्कों की नवीन प्रवृत्ति को शिशु उद्योगों के तर्क द्वारा समर्थित किया गया। इस तर्क की स्पष्ट व्याख्या जर्मनी के मि० फ्रेडरिक लिस्ट ने की जो कि संयुक्तराज्य अमरीका में रहे थे और उच्च प्रशुल्क दीवारों के पीछे द्रुतगति से होने वाले आर्थिक विकास से पर्याप्त प्रभावित थे। जर्मनी लौटने पर उन्होंने इस तर्क का अपने देश में प्रचार किया। उनका कहना था कि स्वतंत्र व्यापार विश्व की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है किन्तु एक राष्ट्र के लिए यह उस समय तक लाभदायक नहीं है जब तक वह अपने राष्ट्रीय उद्योगों को पर्याप्त विकसित न करले। मि० लिस्ट का कहना था कि एक देश केवल तभी सम्पन्न हो सकता है जब वह निर्मित माल का निर्यात करे तथा खाद्यान्न का आयात करे।

फ्रांस ने भी १८९२ में जर्मनी का अनुगमन किया तथा नेपोलियन तृतीय की कम प्रशुल्क की नीतियों को उलट दिया। औद्योगिक विकास के लिए प्रसिद्ध मेलाइन कानून (Meline Law) बनाया गया। १८९० के बाद फ्रांस की अर्थ व्यवस्था तीव्र गति से आगे बढ़ी किन्तु उसकी प्रगति के लिए प्रशुल्क कानून को श्रेय नहीं दिया जा सकता। यहां तक कि इसने लोहे तथा फौलाद के उद्योगों की प्रगति को बाधा पहुँचाई क्योंकि कोयले पर अधिक कर होने के कारण लोहे से निर्मित वस्तुओं की लागत बढ़ गई थी।

सन् १८९० के दौरान जब जर्मनी, रूस, इटली तथा अन्य देशों के बीच प्रशुल्क युद्ध छिड़ा तो संरक्षणवाद की नीति पुनः प्रभाव में आई। १९०२ में जर्मनी ने अपनी प्रशुल्क दरों को सचमुच बढ़ा दिया ताकि उसे सौदेबाजी करने का अधिक अवसर प्राप्त हो सके। संयुक्तराज्य अमरीका के प्रशुल्कों मे योरोप की भांति कमी नहीं आई। १८६० के बाद उनकी दर और भी बढ़ गई। १८६१ में कांग्रेस ने मारिल प्रशुल्क अधिनियम (Morril Tariff Act) पास कर दिया तथा लोहा एवं फौलाद उद्योग को नये संरक्षण प्रदान किए। १८६२ तथा १८६४ में इसने अधिकांश अन्य करों में वृद्धि को भी स्वीकार किया। कर की इन नयी दरों का लक्ष्य अमरीकी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना, इतना नहीं था जितना कि विदेशी उत्पादकों को अमरीकी उत्पादकों के विरुद्ध अनुचित लाभ प्राप्त करने से रोकना था।

१९०० के बाद रिपब्लिकन दल ने अत्यधिक संरक्षणवाद का विरोध किया। १९०८ में दल की ओर से यह घोषणा की गई कि सबसे अच्छा संरक्षण का सिद्धान्त वह है जिसमें देश तथा विदेश की उत्पादन लागत के अन्तरों को समान कर दिया जाता है तथा उचित लाभ की व्यवस्था

की जाती है। इस विचार को पर्याप्त उपयुक्त माना गया तथा १९०९ के प्रशुल्क कानून में यह अभिव्यक्त हुआ। इस अधिनियम द्वारा कुछ प्रशुल्कों में कटौती की गई थी।

(३) पतन एवं पुन: रचना (१९१४–१९३९) (Collapse and Reconstruction)

प्रथम विश्वयुद्ध के समय संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रशुल्क नीति में बड़े परिवर्तन किये। विल्सन के प्रशासन काल में (१९१३ में) प्रशुल्कों में भारी कटौती की गई तथा स्वतन्त्र व्यापार की सूची में लोहा, कोयला, कच्चा अन्न, अखबारी कागज आदि भी शामिल कर लिए गये। विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद प्रशुल्क संरक्षण के लिए जहां-तहां भारी दबाव डाले जाने लगे।

युद्ध एवं उसके बाद किए जाने वाले शान्ति समझौते ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। सामान्य अव्यवस्था के परिणाम-स्वरूप भारी आर्थिक मन्दी आई। यह कहा जाता है कि सन् १९२३ में एक जर्मन गृहिणी बाजार से सामान लाने वाले थैले में धन रखकर ले जाती थी और बदले में खरीदे गए सामान को अपने बटुए में रखकर लाती थी। इस नवीन परिस्थिति से प्रभावित होकर विभिन्न देशों की सरकारों ने नए प्रशुल्क लगाए। केन्द्रीय योरोप के नये देशों ने आयात कोटा (Import Quotas) निर्धारित कर दिए। जर्मनी ने १८२५ में नया कृषि प्रशुल्क लगाया। लेटिन अमेरिका के राज्य भी प्रशुल्कों तथा कोटा का प्रयोग अब युद्ध की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक करने लगे थे। ब्रिटेन ने १९१९ में स्वतन्त्र व्यापार को अन्तिम रूप से छोड़ दिया। १९३१ तक वह एक व्यवस्थित संरक्षण की नीति अपनाने लगा था।

युद्ध के बाद यह आवश्यकता हुई कि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने प्रशुल्कों को घटाले ताकि विश्व के देश अधिक डालर कमा सकें और इसके कर्जे को उतार सकें। इसके विपरीत युद्ध के बाद पहले तो कांग्रेस ने अधिक करों का प्रस्ताव पास किया। १९२२ का फोर्डनी मैकम्बर प्रशुल्क (Fordney Mocumber Tariff) किसानों की सहायता के लिए लगाया गया था किन्तु इसका लक्ष्य रासायनिक उद्योग एवं युद्ध के शिशुओं की सहायता करना भी था। कृषि सुरक्षा की प्रवृत्ति एवं मात्रात्मक व्यापार नियन्त्रण इस दशाब्दी के उत्तरार्द्ध तक बने रहे।

सन् १९२९ में किसानों की सहायता के लिए ही कांग्रेस ने पुन: प्रशुल्क पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया किन्तु तभी गल्ला बाजार विक्षत हो गया तथा अर्थ-व्यवस्था, आर्थिक मन्दी की ओर बढ़ने लगी। एक के बाद एक उद्योग ने रोजगार की व्यवस्था के लिए संरक्षण की मांग की और इसलिए जब नया

प्रशुल्क कानून कांग्रेस के सामने विचारार्थ आया तो अनेक दबाव समूह सक्रिय होकर प्रभाव डालने लगे। विचार-विमर्श के बाद कांग्रेस ने इतने प्रशुल्क स्वीकार किए जिनका उदाहरण इतिहास में प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में दूसरे देशों ने भी बाध्य होकर अमेरिका से होने वाले आयात पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाएं। राष्ट्र-संघ में प्रशुल्क युद्ध-विराम के लिए प्रयास किया गया।

१९३० के प्रारम्भ में व्यापार नियन्त्रणों की नवीन सन्तति को जन्म मिला। आर्थिक मन्दी का प्रसार रोकने के लिए एक के बाद एक देश ने अपने आयात पर प्रतिबन्ध लगाए तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध अपने घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। प्रत्येक प्रयास ने अपने पड़ोसी को निराशा दी क्योंकि एक देश के आयात में गिरावट हुई। जब १९३१ में ग्रेट-ब्रिटेन ने पौण्ड का और १९३४ में अमेरिका ने डालर का अवमूल्यन किया तो फ्रान्स तथा अन्य योरोपीय देशों ने अपनी मुद्रा की रक्षा के लिए आयात नियन्त्रणों का प्रयोग किया।

१९३२ के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका का आयात-कर घटाने लगा। इसका एक कारण वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि था। इसके अतिरिक्त यह घटाव इसलिए भी हुआ क्योंकि नीति में भारी मोड़ आ गया था। रोजगारों की वृद्धि के मार्ग ढूंढते हुए रूजवेल्ट का प्रशासन विश्व बाजारों की ओर मुड़ा तथा व्यापार के बाधकों को हटाने का आन्दोलन प्रारम्भ किया ताकि अमेरिका का व्यापार अधिक से अधिक हो सके। १९३४ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कांग्रेस को ऐसे द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते की वार्ता करने की शक्ति देने को कहा जिसके अनुसार दूसरे देशों के प्रशुल्कों में कटौती कराने के लिए वे स्वयं प्रशुल्क में आधी कटौती कर सकें।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने वायदा किया कि प्रशुल्कों की कटौतियां अमरीकी उत्पादकों पर गलत प्रभाव नहीं डालेंगी, अर्थात् वे प्रतिद्वन्द्वी आयातों के लिए अमेरिकी बाजार को नहीं खोलेंगी। अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को शक्तियां प्रदान की और संयुक्त राज्य अमेरिका ने दूसरी सरकारों के साथ ३१ व्यापार समझौते किए। व्यापार समझौतों के कार्यक्रम के अनुसार प्रशुल्क की विश्व व्यापी वृद्धि पर रोक लगाई गई जिसके कारण विश्व व्यापार कुछ रुक सा गया था। इसके फलस्वरूप अमेरिका को भी अपने प्रशुल्क घटाने पड़े! १९४५ तक औसतन अमेरिकी प्रशुल्क १९१९ के स्तर तक नीचा था।

स्वतन्त्र व्यापार और प्रशुल्क

(Free Trade and Tariff)

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थन में अनेक तर्क दिए गए किन्तु अनेक लेखकों ने उसको स्वीकार नहीं किया। प्रशुल्क नीति के बारे में पिछले ५०० वर्षों में

जो भी लिखा गया है वह एक अच्छे पुस्तकालय की रचना करता है। इन रचनाओं में बहुत कुछ दोहराव हुआ है। प्रशुल्क के सम्बन्ध में जो तर्क किए गए, उनमें प्रमुखता तो आर्थिक तत्वों की रही किन्तु ये भी कम महत्व के नहीं थे।

प्रशुल्क नीति अर्थ-व्यवस्था के किसी न किसी-समूह विशेष को अच्छी लगती है। यदि साइकिलों, नारंगियों या कपड़ों पर से प्रशुल्क हटाने का प्रस्ताव किया जाए तो इन के उत्पादकों एवं निर्माताओं द्वारा इस प्रस्ताव का विरोध किया जाएगा। इन धन्धों के मजदूरों एवं स्वामियों के अतिरिक्त वे लोग भी इसका विरोध करेंगे जो अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं। कभी-कभी एक नगर, राज्य अथवा देश का कोई क्षेत्र इस बात में रुचि लेता है कि प्रशुल्क में कमी न की जाए और एक विशेष प्रशुल्क को बनाए रखा जाए। ये समूह व्यापार के प्रभावों को रोकना चाहते हैं। वे सोचते हैं कि यदि प्रशुल्क में कटौती की गई तो उनके व्यक्तिगत हितों को नुकसान पहुंचेगा।

व्यावहारिक दृष्टि से यह सत्य है कि प्रशुल्क में होने वाली कटौती एक विशेष समूह के हितों का खण्डन करती है और इसलिये प्रशुल्क में कटौती की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी होती है। जो व्यक्ति किन्हीं विशेष प्रशुल्कों से प्रभावित होते हैं वे एक प्रजातंत्रात्मक देश में अपनी स्थिति की रक्षा के लिए पूरी शक्ति के साथ लड़ते हैं। ऐसा करते समय वे उन विभिन्न समूहों के साथ मिलकर एक हो जाते हैं जो प्रशुल्क को बनाए रखना चाहते हैं। जब प्रशुल्क का प्रभाव एक छोटे समूह पर होता है तो वह अत्यन्त मजबूत तथा राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशील बन जाता है।

प्रशुल्क सम्बन्धी वाद-विवाद का सर्वाधिक कठिन पहलू यह है कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हित के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। प्रशुल्क नीति के समर्थक इसका व्यापक औचित्य बताते हैं। वे उसे संकीर्ण आत्म-हित पर निर्भर नहीं रखते। कभी-कभी प्रभावित समूह द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि जो हमारे लिए अच्छा है वह देश के लिए भी अच्छा होगा। प्रशुल्क नीति के विपरीत स्वतन्त्र व्यापार का पक्ष लेने वाले लोगों के तर्क स्पष्ट एवं प्रभावशील हैं। उनके कथनानुसार व्यापार में किया गया हस्तक्षेप भौगोलिक विशेषीकरण की सम्भावनाओं को कम कर देगा और इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार में साधनों को वांछित कुशलता के साथ नहीं लगाया जा सकेगा। प्रशुल्क के समर्थन में अनेक तर्क दिए जाते हैं।

प्रशुल्क सिद्धान्त की मान्यतायें

(Assumptions of Tariff Policy)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त बहुत समय तक क्रियाशील रहा। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित था कि अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार इसलिए होता है क्योंकि उसमें सम्बन्धित दोनों पक्ष लाभान्वित होते हैं। जब तक व्यापार से प्राप्तियों की सम्भावना नहीं रहती तब तक दो देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध कायम नहीं हो पाते। कहा जाता है कि यदि सम्बन्धित दोनों पक्षों को पारस्परिक लाभ होता है तो उनके बीच व्यापार होना अत्यन्त कठिन है। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक पक्ष हमेशा दूसरे पक्ष के विरुद्ध स्वयं लाभ प्राप्त करता है। तुलनात्मक लागत सिद्धांत ने यह स्पष्ट किया कि व्यापार से दोनों पक्षों को लाभ हो सकता है; चाहे उनमें एक पक्ष दूसरे की अपेक्षा उत्पादन की सभी शाखाओं में अधिक कार्यकुशल क्यों न हो। इस प्रकार तुलनात्मक लागत सिद्धांत ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पारस्परिक लाभ की बात कही।

व्यापार द्वारा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है। इसलिए कोई व्यापार न होने की अपेक्षा कुछ व्यापार होना ही श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि यदि व्यापार को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तो कुछ समय बाद व्यापार असम्भव बन जायेगा, क्योंकि प्रत्येक देश के साधन स्रोत सीमित होते हैं और ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक देश की स्वतन्त्रता, आत्म-निर्भरता और ऐसी ही विभिन्न बातों को खतरे में डाल सकता है। इसलिये सुझाव दिया जाता है कि व्यापार पर कुछ नियन्त्रण लगाए जाएं।

प्रशुल्क के द्वारा उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की चेष्टा की जाती है, किन्तु उन उद्योगों को नहीं जो तुलनात्मक रूप से अकुशल होते हैं और विदेशी उद्योगों की प्रतियोगिता में ठहरने की क्षमता नहीं रखते। इसका प्रयोग प्रायः ऐसे उद्योगों की रक्षा के लिए किया जाता है जो प्रतियोगिता की क्षमता रखते हैं किन्तु पर्याप्त मात्रा में नहीं। देश के उद्योग विदेशी उद्योगों की तुलना में अधिक सशक्त नहीं हैं उनको संरक्षण प्रदान करने की नीति लाभदायक नहीं होती। उदाहरण के लिए—यदि अमेरीका कॉफी तथा चीनी के स्वतन्त्र व्यापार के स्थान पर २० प्रतिशत प्रशुल्क लगा दे, तो भी इन वस्तुओं का व्यापार होता रहेगा; क्योंकि इनका कोई स्थानापन्न (Substitute) नहीं है

प्रशुल्क नीति से सम्बन्धित सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित हैं—

(१) इसकी पहली मान्यता प्रतियोगिता से सम्बन्धित है, जिसके अनुसार-यह कहा जाता है कि सापेक्षिक कीमतें वास्तविक अवसरगत लागतों को अभिव्यक्त करेंगी। यदि विभिन्न उद्योगों के बीच प्रतियोगिता की मात्रा भिन्न है तो सापेक्षिक कीमतें तुलनात्मक लागतों को अभिव्यक्त नहीं करेंगी। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र व्यापार एक देश को ऐसे माल के उत्पादन में विशेषी-

करण प्राप्त करने के लिए प्रभावित कर सकता है जिसमें उसे तुलनात्मक हानि हो। इस प्रकार व्यापार विश्व के उत्पादन को घटायेगा।

(२) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यापार से घरेलू उत्पादन की सम्भावनाएं प्रभावित नहीं होंगी। यदि २० प्रतिशत प्रशुल्क हटा दिया गया तो पड़ौसी देश के साथ व्यापार होने लगेगा किन्तु मजदूरों के संघ इस नीति का विरोध कर सकते हैं और अपने असन्तोष को हड़ताल के रूप में जाहिर कर सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक कर्मचारी का प्रति घंटा उत्पादन कम हो जायेगा। ऐसी परिस्थितियों में व्यापार द्वारा दो देशों के कुल उत्पादन को कम किया जा सकता है।

(३) प्रशुल्क सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की धारणा पर आधारित है। अधिकांश लोग इस बात से सहमत हैं कि यदि स्वतन्त्र व्यापार के कारण व्यापक बेरोजगारी फैलती है तो इसे नहीं अपनाया जाय। स्वतन्त्र व्यापार इन मान्यताओं पर आधारित है कि यदि प्रशुल्कों को हटा दिया गया तो प्रति व्यक्ति उत्पादन नहीं घटेगा और बेरोजगारी का स्तर नहीं बढ़ेगा। इन मान्यताओं के सम्बन्ध में बहुत कम व्यावहारिक प्रमाण हैं।

इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार बनाम प्रशुल्कों पर विचार करने के बाद यह कहा जा सकता है कि व्यापार को सम्भव बनाने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति को त्याग कर प्रशुल्क नीति अपनाना उपयोगी रहेगा। दूसरी ओर यह भी सच है कि व्यापार की मात्रा को बढ़ाने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति उपयोगी है।

प्रशुल्क की ऊंचाई का माप
(Measuring the height of Tariff)

यदि हम विभिन्न देशों की अथवा एक ही देश की विभिन्न कालों में प्रशुल्क व्यवस्था का अध्ययन करना चाहते हैं तो उसके लिए उसकी ऊंचाइयों का माप करना परमावश्यक है। एक प्रशुल्क की ऊंचाई मापना पर्याप्त जटिल है। ऐसा कोई सूत्र नहीं है जो स्पष्ट रूप से इसे माप सके। सांख्यिकी कठिनाइयों के अतिरिक्त एक कठिनाई यह है कि प्रशुल्क की ऊंचाई की धारणा अधिक स्पष्ट नहीं है।

प्रतिशत का आधार–प्रशुल्क दीवार की ऊंचाई मापने के लिए प्रतिशत को आधार बनाने का प्रयास किया जाता है। इसके लिए कर योग्य आयातों और स्वतन्त्र आयातों की तुलना की जाती है। इस मापक का दोष यह है कि एक कर जितना प्रतिरोधात्मक होता है वह माप की दृष्टि से उतना ही कम महत्वपूर्ण बन जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक कल्पनात्मक उदाहरण ले सकते हैं—

उदाहरण के लिए यदि एक देश प्रशुल्क व्यवस्था लागू करने से पहले एक सौ वस्तुओं का आयात कर रहा था। अब ९९ वस्तुओं के आयात पर इतना उच्च प्रशुल्क लगा दिया कि इन वस्तुओं का आयात पूर्ण रूप से रोकना पड़ा। १००वीं वस्तु का आयात बिना किसी कर के स्वीकार किया गया। इस स्थिति में प्रशुल्क दीवार की ऊंचाई कुछ भी नहीं है किन्तु वास्तव में प्रशुल्क दीवार इतनी ऊंची है कि वह आयातों को प्रायः पूरी तरह रोक देती है। इस प्रकार प्रशुल्क की ऊंचाई को मापने के लिए प्रतिशत का सूत्र कई बार गलतफहमी का कारण बन जाता है।

औसतन भार—प्रशुल्क की दीवार की ऊंचाई का एक दूसरा माप आयात करों का औसतन भार है। यह औसतन भार वह प्रतिशत है जो समस्त आयातों के कुल मूल्य और संग्रह किये गये कुल आयात करों के बीच निकाला जाता है। इस मापक में यह दोष है कि प्रतिरोधात्मक करों को प्रशुल्क की दीवार की ऊंचाई के सूची-पत्र में पूरी तरह नहीं गिना जाता।

मूल्यों का अनुपात—एक तीसरा मापक वह अनुपात है जो कर-विहीन आयातों और कुल आयातों के मूल्यों के बीच रहता है। इस मापक में भी उपर्युक्त मापक के समान दोष हैं। जो देश कुछ वस्तुओं पर बहुत थोड़ा कर लगा रहा है वह भी ऐसा दिखाई देगा जैसे कि उसने अत्यन्त ऊंची प्रशुल्क दीवार खड़ी कर दी हो। दूसरी ओर जिस देश ने अधिकांश वस्तुओं पर प्रतिरोधात्मक कर लगा दिया है और केवल कुछ वस्तुओं को कर से स्वतन्त्र छोड़ा है, वह ऐसा दिखाई देगा मानो उसकी प्रशुल्क दीवार बहुत नीची है।

करों का औसत--प्रशुल्क की ऊंचाई मापने के लिए एक अन्य मापक आयातों के मूल्य का वह औसतन प्रतिशत है जो चुंगी अधिकारियों द्वारा कर के रूप में संग्रहित किया जाता है। इस मापक में अनेक कठिनाइयां तथा उलझनें हैं।

स्पष्ट है कि प्रशुल्क की ऊंचाई को मापने के लिए विभिन्न मापक हैं किन्तु उन सभी की अपनी कमजोरियां और समस्याएं हैं। इनमें से किस विकल्प को चुना जाय यह तय करने के लिए देखना होगा कि हमारा उद्देश्य क्या है।

प्रशुल्क नीति के लाभों पर विचार करते हुए विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रशुल्क लगाना सामान्यतः एक देश के लिए हितकर होता है। इसके साथ ही यह भी सही है कि विश्व की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यापार एक सर्वश्रेष्ठ नीति है। जब प्रत्येक देश का प्रतियोगितापूर्ण व्यवहार अन्य देशों के लाभ को कम करने का प्रयास करता है तो स्वाभाविक

है कि राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के लिए एक देश द्वारा किए गए प्रयास दूसरे सभी देशों के कल्याण को कम करेंगे। यदि स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति रह सके तो विश्व के साधन स्रोतों का सर्वश्रेष्ठ आवंटन हो सकेगा। स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की सभी समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। इसमें व्यापार अधिक होगा और इसलिए विभिन्न समस्याएं अधिक अनुपात में उठ खड़ी होंगी। इसके लिए सन्तोषजनक अन्तर्राष्ट्रीय मापक तथा रोजगार का स्थाई-स्तर बनाए रखने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की समस्याएं रहेंगी और जब तक इनका समाधान नहीं किया जाता तब तक सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सन्तोषजनक रूप से कार्य नहीं कर सकता।

प्रशुल्क नीति को प्रारम्भ करने वाला देश शुरू में लाभ की स्थिति में रहता है किन्तु जब प्रशुल्क दीवारें चारों ओर बंध जाती हैं तो प्रारम्भकर्त्ता देशों को यह अनुभव होता है कि शुरू में जो लाभ उनको मिले थे वे अब समाप्त हो गये हैं। इतने पर भी ये देश प्रशुल्कों को बढ़ाने में अपने लाभ देख सकते हैं। प्रशुल्क की दीवारें ज्यों-ज्यों उठती हैं, त्यों-त्यों अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में कमी आती है। प्रशुल्क प्रवृत्ति को रोकने के लिए विभिन्न सम्मेलन किए जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय दबावों द्वारा इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयास किया जाता है।

प्रशुल्कों की तीन श्रेणियां
(Three Categories of Tariffs)

प्रशुल्क (Tariff) कर को निर्मित वस्तु पर उस समय लगाया जाता है जबकि वह राष्ट्रीय सीमाओं को पार करती है। राष्ट्रीय सीमाओं को पार करने वाले माल की स्थिति एवं जन्म के अनुसार प्रशुल्क (Tariff) को सामान्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है--आयात कर (Import Duties), निर्यात कर (Export Duties) और पारगमन कर (Transit Duties)। ये तीनों प्रशुल्क एक देश द्वारा इसलिए लगाये जाते हैं ताकि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अपनी स्थिति को सन्तुलित बनाए रख सकें।

(1) आयात कर
(Import Duties)

'आयात कर' प्रशुल्क के तीनों रूपों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा सामान्य है। इसका उद्देश्य राजकोष के लिए धन प्राप्त करना होता है इसके लिए विदेशी व्यापार को एक साधन बनाया जाता है। यदि प्रशुल्क का उद्देश्य केवल राजस्व एकत्र करना हो तो यह कर इस प्रकार लगाना

चाहिये कि विदेशी व्यापार कम न हो। मान लीजिये किसी लोचशील वस्तु पर अधिक आयात कर लगा दिया गया तो निश्चय ही उसकी मांग घट जायेगी और इसलिए उससे प्राप्त होने वाला राजस्व भी कम हो जावेगा। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क कम होना चाहिये और उस वस्तु पर लगाना चाहिये जो अपेक्षाकृत लोचहीन है। यदि आयात कर एक ऐसी वस्तु पर लगाया जा रहा है जिसका उत्पादन देश में भी हो रहा है तो स्वदेशी वस्तु पर भी इतना कर लगाना चाहिये ताकि प्रतिस्पर्धा की शर्तें बराबर हो सकें और राजस्व भी प्राप्त हो सके। यदि ऐसा न किया गया तो वस्तु का आयात लाभदायक नहीं रहेगा और प्रशुल्क से बहुत कम राजस्व प्राप्त होगा।

आयात कर के रूप में प्रशुल्क घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली होता है। इस प्रकार यह देश के विकास के लिए परमावश्यक है। घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगियों के आक्रमणकारी एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध सुरक्षा की आवश्यकता होती है। आजकल व्यापारिक सौदेबाजी के लिए प्रशुल्क का अधिक प्रयोग किया जाने लगा है। जब एक देश अन्य देश से अपने निर्यात के लिए सुविधायें मांगता है तो वह स्वयं भी उसके निर्यात के लिये सुविधायें प्रदान करता है। प्रशुल्क का प्रयोग प्रतिक्रिया के रूप में भी किया जा सकता है। जब एक देश दूसरे देश के निर्यात पर प्रशुल्क लगा देता है तो दूसरा देश भी बदले की भावना से उसके निर्यात पर प्रशुल्क लगा देता है।

आयातकर और मूल्य
(The Import Duties and Prices)

आयातकर एक वस्तु की कीमत एवं उत्पादन पर महत्वपूर्ण प्रभाव रखता है। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि किसी आयातित वस्तु पर जितना आयात कर लगाया जाता है उसकी कीमत उतनी ही बढ़ जाती है। यह मान्यता सही नहीं है क्योंकि सम्भव है वस्तु की कीमत अधिक कम अथवा ज्यों की त्यों रहे। तीनों परिस्थितियां सम्भव है।

यदि लगाया गया कर विदेशी उत्पादकों द्वारा सहन कर लिया जाता है तो वस्तु की कीमत बढ़ाने की आवश्यकता नहीं रहती। यह प्रायः उस समय सम्भव होता है जब निर्यात करने वाला देश उसका उत्पादन एकाधिकार की परिस्थितियों में कर रहा हो और आयात करने वाला देश उसका सबसे बड़ा खरीददार हो। कुछ समय के लिये विदेशी उत्पादक द्वारा लगाये गये कर का सारा भार स्वयं सहन कर सकता है, ताकि वह अपने माल की खपत कर सके। यदि आवश्यक हुआ तो वह कीमत कम भी कर सकता है किन्तु 'ज्यों

ही निर्यात करने वाले देश का माल पूरा होगा त्यों ही वह अपने माल की कीमत बढ़ा देगा।

यदि वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत के नियम के अनुसार हो रहा है तो आयात करने वाले देश में वस्तु की कीमत उतनी ही बढ़ जायेगी जितना कि आयात कर लगाया गया है। जब आयात कर लगाने से वस्तु की कीमत बढ़ जायेगी तो उसकी कुल घरेलू मांग घट जायेगी। यदि यह कीमत इतनी बढ़ जाये कि उस वस्तु की घरेलू लागत से भी अधिक हो जाये तो उसका आयात भी बंद हो जायेगा क्योंकि उसे विदेश से खरीदने पर कोई लाभ नहीं रहेगा। ऐसा होने पर निर्यात-कर्ता देश को शुद्ध हानि होती है। जब सम्बन्धित वस्तु की मांग को घरेलू उत्पादन द्वारा पूरा किया जाता है तो उपभोक्ता तो समान कीमत देता है किन्तु राजकोष को कोई राजस्व प्राप्त नहीं होता।

तीसरी स्थिति में वस्तु की कीमतें आयात कर की मात्रा से कम बढ़ती हैं। यदि लगाया गया आयात कर आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता देशों के मध्य स्थित वस्तु लागत के अन्तरों से अधिक है और उत्पादन स्थिर लाभ के नियमों के अनुसार हो रहा है तो आयात पूर्ण रूप से रुक जायेगा। ऐसी स्थिति में मूल्य वृद्धि केवल उतनी ही होगी जितना आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता देशों के बीच लागत का अन्तर है। यह लागत का अन्तर प्रायः कर की मात्रा से कम होता है। यदि कीमतें इस अन्तर से अधिक बढ़ जाती हैं तो असाधारण लाभ होने लगेगा। इस लाभ के कारण घरेलू उत्पादक अपनी पूर्ति को बढ़ा देंगे और पूर्ति की यह वृद्धि कीमत को गिरा देगी। वस्तु की कीमत लगाये गये कर से कम उस समय बढ़ती है जब उत्पादन और बाजार की शर्तें ठीक वैसी ही हों जैसी कर का सारा भार विदेशी उत्पादक या निर्यात-कर्त्ता देश पर डालते समय होती हैं। इन परिस्थितियों में सारा भार विदेशियों पर डालने की अपेक्षा केवल अंश मात्र ही डाला जा सकता है।

यदि उत्पादन वृद्धिशील लागत के अनुसार हो रहा है तो कर के साथ वस्तु की विदेशी कीमत घरेलू कीमत से भिन्न होगी। यदि वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक होगा तो आयात कम कर दिया जायेगा और इस प्रकार घरेलू कीमत इतनी बढ़ जायेंगी कि मूल्य का अन्तर कर के बराबर हो जायेगा। इस प्रकार स्थाई स्थिति वह होगी जहां विदेशी एवं घरेलू मूल्यों के अन्तर दो कारणों अर्थात घरेलू कीमतें बढ़ने या विदेशी कीमतें घटने से हों।

यदि अन्य बातें समान रहें तो निर्यात-कर्ता देश में वस्तु की मांग जितनी अधिक तथा लोचशील होगी उतनी ही वहां वस्तुओं के मूल्य में कमी होगी और दूसरी ओर आयात-कर्त्ता देश में कीमत उतनी ही बढ़

जायेगी। यदि आयातित वस्तु की कीमत थोड़ी भी कम हुई तो उसकी घरेलू मांग बढ़ जायेगी और इस प्रकार कर द्वारा विदेशी बाजार में जो हानि हुई है उसकी क्षतिपूर्ति हो जायेगी। इस प्रकार निर्यात-कर्त्ता देश अपनी कीमत में थोड़ी ही कमी करेगा। आयात-कर्त्ता देश को अपना घरेलू उत्पादन बढ़ाना होगा ताकि उस मांग की पूर्ति की जा सके जिसे पहिले विदेशी निर्यात कर्त्ता द्वारा पूरा किया जाता था। ऐसी स्थिति में उत्पादन लागत बढ़ जायेगी और आयात-कर्त्ता देश में वस्तु की कीमत भी बढ़ेगी। दूसरी ओर यदि आयात-कर्त्ता देश में मांग बड़ी और लोचशील है तो उसमें वस्तु के मूल्य की वृद्धि अपेक्षाकृत कम होगी और निर्यात-कर्त्ता देशों में मूल्य की कमी अधिक हो जायेगी। यदि मांग लोचशील है तो वस्तु की कीमत थोड़ी बढ़ते ही आयात-कर्त्ता देश में उसकी खपत घट जायेगी। इस स्थिति में आयात-कर्त्ता देश में उत्पादन तथा मूल्य की वृद्धि बहुत कम होगी। जब आयात कर लग जाने से आयात-कर्त्ता देश में अन्य देश के निर्यातों की मांग कम हो जाती है तो निर्यात-कर्त्ता देश में उसका उत्पादन घट जाता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत घटेगी और इसलिये निर्यात-कर्त्ता देश में वस्तु की कीमत घट जायेगी।

यदि अन्य बातें समान रहें तो निर्यात-कर्त्ता देश की पूर्ति जितनी अधिक तथा लोचशील होगी उसमें मूल्य की कमी उतनी ही कम होगी और आयात-कर्त्ता देश में मूल्य की वृद्धि उतनी ही हो जायेगी। कीमतों में कमी होने पर निर्यात-कर्त्ता देश में उनका उत्पादन कम हो जायेगा। आयात में भारी कमी होने पर घरेलू उत्पादन बढ़ाना होगा और इसलिये वस्तु की उत्पादन लागत बढ़ जायेगी। साथ ही आयात-कर्त्ता देश में कीमतें भी बढ़ जायेंगी। इस प्रकार यदि कर लगाने से आयात थोड़ा कम होता है तो इसके परिणामस्वरूप निर्यात-कर्त्ता देश में वस्तु की कीमतें कम हो जायेंगी और आयात-कर्त्ता देश में कीमतें बढ़ जायेंगी। दूसरी ओर यदि आयात-कर्त्ता देश में पूर्ति लोचशील है तो उसमें कीमत की वृद्धि तुलनात्मक रूप से कम होगी और निर्यात-कर्त्ता देश में कीमतें घट जायेंगी।

कभी-कभी वस्तु की कीमतें लगाए गए आयात कर की मात्रा से अधिक बढ़ जाती है। अन्तिम उपभोक्ता के पास पहुंचने से पूर्व वस्तु अनेक बिचौलियों के हाथ से निकलती है। ये सभी लाभ कमाते हैं। ये वस्तु पर अपने लाभ का कुछ प्रतिशत सम्मिलित कर लेते हैं।

अयात-कर के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव

(Some Indirect Effects of Import Duty)

किसी वस्तु पर लगाए गये आयात-कर के परिणामस्वरूप कीमतों में

जो वृद्धि होती है वह उसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसके अतिरिक्त आयात कर के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव भी होते हैं। इन सब का वर्णन करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इनकी सामान्य प्रकृति का उल्लेख किया जा सकता है। किसी एक आयात कर को लगाने की वांछनीयता का अध्ययन करते समय इन प्रभावों को ध्यान में रखना जरूरी हो जाता है।

किसी वस्तु के आयात पर कर लगाया जाता है तो सामान्यतः उसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है और मांग घट जाती है। ऐसी वस्तु से अलग होने वाली क्रय-शक्ति (Purchasing Power) को घरेलू सामान अथवा अन्य आयातित वस्तुओं पर खर्च किया जा सकता है। सामान्यतः इस क्रय-शक्ति को अंशतः घरेलू सामान पर और अंशतः आयातित वस्तुओं पर खर्च किया जाता है। जब क्रय-शक्ति का कुछ भाग आयातित वस्तु से घरेलू वस्तुओं की ओर मुड़ जाएगा तो सम्बन्धित वस्तु को निर्यात करने वाले देश की भुगतानों की सन्तुलन स्थिति बदल जाएगी। भुगतानों के असंतुलन को ठीक करने के लिए निर्यात-कर्त्ता आयातों की मात्रा को घटा देता है। आयातों की यह कमी या तो धन सम्बन्धी यंत्र द्वारा अपने आप ही कर ली जाती है अथवा इसके लिए राज्य स्वयं नीति निर्धारित करता है। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि विश्व व्यापार की मात्रा कम हो जाएगी और दोनों देशों में क्रय शक्ति आयातित-वस्तु से घरेलू वस्तु की ओर मुड़ जाएगी। इससे घरेलू वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा और जिन वस्तुओं का व्यापार किया जाता है उनका उत्पादन घट जाएगा। उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्यों में तुलनात्मक परिवर्तन विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन का कारण बन जायेंगे।

जिस वस्तु पर आयात कर लगाया जाता है उसकी कीमत में होने वाली वृद्धि अन्य वस्तुओं की कीमत को भी बढ़ा देगी। यदि वह वस्तु अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयुक्त की जाती है तो इससे उत्पादन की लागत और उन वस्तुओं की कीमत प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होगी। आयात कर जिस वस्तु पर लगाया गया है यदि वह उपभोग-वस्तु है तो उसकी कीमतों में वृद्धि होने के कारण मजदूर अधिक वेतन की मांग करेंगे ताकि वे (मंहगी वस्तुओं) मंहगाई का सामना कर सकें और इस प्रकार वस्तुओं की कीमत बढ़ जाएगी।

(II) निर्यात कर
(Export Duties)

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल से पूर्व निर्यात करों का प्रयोग एक सामान्य बात थी। इस समय यह लोकप्रिय विश्वास था कि निर्यात करों को

आयात करने वाले देश के उपभोक्ताओं द्वारा सहन किया जाता है। बाद में यह समझा जाने लगा कि निर्यात कर सामान्य रूप से राष्ट्रीय हित में नहीं होता है क्योंकि इससे देश का निर्यात रुकता है।

निर्यात कर लगाने का उद्देश्य भी सामान्यतः राजस्व की प्राप्ति होता है। निर्यात कर प्रायः उन देशों द्वारा लगाया जाता है जो मूलभूत उत्पादनों का निर्यात करते हैं अर्थात् कच्चा माल भेजते हैं। यह निर्मित वस्तुओं पर बहुत कम लगता है। इसका एक कारण यह है कि कच्चे माल का उत्पादन करने वाले देश पिछड़े हुए होते हैं। उन देशों में घरेलू आय, उत्पादन एवं लाभ पर कर लगाने वाला प्रशासकीय तंत्र इतना विकसित नहीं होता जितना कि विदेशी व्यापार पर कर लगाने वाला होता है। इन देशों के लोग अधिकतर अशिक्षित होते हैं और इसलिए वे व्यवस्थित लेखे नहीं रख पाते। इन देशों की जनसंख्या प्रायः देहाती क्षेत्रों में बिखरी हुई होती है। ऐसी स्थिति में आय कर अथवा उत्पादन कर को एकत्रित करने में भारी खर्चा आता है। दूसरी ओर निर्यात करों का संग्रह करने के लिए प्रशासकीय यंत्रों का होना केवल बन्दरगाहों पर ही पर्याप्त होता है तथा इसके लिए केवल थोड़े से ही लोगों की आवश्यकता होती है।

निर्यात कर संरक्षण की नीति का एक हथियार है। इसे प्रायः घरेलू उत्पादकों की रक्षा करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कई बार एक साम्राज्य-वादी देश अपने उपनिवेशों को इस बात के लिए मजबूर करता है कि वे निर्यात कर लगाएं ताकि वह देश अपने घरेलू उद्योगों को उपनिवेशों की प्रतिस्पर्धा से बचा सके। कभी-कभी निर्यात करों का प्रयोग इसलिए भी किया जाता है, ताकि प्राकृतिक साधनों को घरेलू उद्योगों के लिए रखा जा सके। एक देश निर्यात को प्रोत्साहन देने की विभिन्न क्रियाओं में धन खर्च करता है तो इसके बदले वह निर्यात कर लगा देता है। निर्यात कर प्रायः उन वस्तुओं पर भी लगा दिया जाता है जिनकी पूर्ति कम होती है और जिनके लिये एक देश दूसरे देशों से अधिक कीमत प्राप्त करना चाहता है।

निर्यात कर एवं कीमतें
(Export duties and Prices)

आज का संसार एक प्रतिस्पर्धापूर्ण स्थिति में है और इसलिये निर्यात करों का भार स्वयं निर्यातकर्त्ता देश के उत्पादकों द्वारा ही वहन किया जाना चाहिये। विश्व बाजार में निर्यात कर लगाने वाले देश के उत्पादक किसी वस्तु की कीमत उससे अधिक प्राप्त नहीं कर सकते जितनी में अन्य देश उसे आसानी से देने के लिये तैयार हैं। इस प्रकार इन उत्पादकों को अपने निर्यात की कीमत विश्व की कीमत से कम मिलेगी क्योंकि उसमें से

लगा हुआ निर्यात कर घट जायेगा। यह मूल्य की कमी लाभ को कम कर देगी और इस प्रकार उत्पादन तथा निर्यात की मात्रा घट जायेगी।

यदि निर्यात कर लगाने वाला देश उस वस्तु का प्रमुख पूर्तिकर्ता है तथा उस वस्तु की पूर्ति पर्याप्त लोचशील है तो निर्यात कर का एक भाग आयातकर्ता देश के उपभोक्ताओं से वसूल किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उस वस्तु की कीमत बढ़ जायेगी।

विश्व मांग की लोचशीलता जितनी अधिक होगी, दुनियां की कीमतें उतनी ही कम बढ़ेंगी। इस प्रकार कर लगाने वाले देश के उत्पादकों को उतनी ही कम कीमत प्राप्त होगी। जब विश्व की मांग लोचशील है तो कीमतों में थोड़ी सी वृद्धि भी मांग की कमी का कारण बन जाती है। मांग में अधिक कमी होने के कारण कीमतें घट जाती हैं, इसके विपरीत यदि विश्व की मांग लोचहीन है तो मूल्य में वृद्धि अधिक नहीं होगी और इस प्रकार मूल्य प्राय: अधिक प्रभावित रहेगा। ऐसी स्थिति में निर्यात कर का भार घरेलू उत्पादकों के कन्धों पर पड़ेगा।

(III) पारगमन कर

(Transit Duty)

१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में व्यवसायवाद के काल में इस प्रकार के कर अत्यन्त सामान्य थे। उस समय यातायात अत्यन्त धीमा और महंगा था। इसके लिये छोटे रास्ते का होना जरूरी था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए अनुकूल भौगोलिक स्थिति से सम्पन्न देशों ने अपने क्षेत्र में से गुजरने वाले व्यापारियों पर कर लगाये। १९ वीं शताब्दी के दौरान यातायात के क्षेत्र में होने वाले विभिन्न विकासों ने इस कर की सम्भावनाओं को कम कर दिया। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों के बीच जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की भावना पैदा हुई उसके फलस्वरूप भी पारगमन कर समाप्त हो गये। इस प्रकार के करों का भार आयातकर्त्ता देश के उपभोक्ताओं अथवा निर्यात-कर्त्ता देश के उत्पादकों पर पड़ेगा, इसका निश्चय दोनों देशों मे माग और पूर्ति की परिस्थितियों द्वारा होता था। अन्य करों की भांति ये कर विश्व व्यापार के आकार को रोकने का कार्य करते थे।

दो दृष्टिकोण

(Two Approaches)

प्रशुल्कों को विभिन्न भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उनको वर्गीकृत करने के दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं। एक के अनुसार इनके उद्देश्य पर जोर दिया जाता है और दूसरे के अनुसार इनके द्वारा अपनाई गई दर

को महत्वपूर्ण माना जाता है। इन दोनों का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) **करों का उद्देश्यः**—कोई भी प्रशुल्क या तो राजस्व एकत्रित करने के लिए लगाया जाता है अथवा रक्षा की दृष्टि से। जो प्रशुल्क राजस्व की दृष्टि से लगाये जाते हैं उनकी सामान्यतः अपेक्षाकृत कम दर होती है क्योंकि ये आयातों को बाहर रखने के उद्देश्य से नहीं लगाये जाते। ये मुख्य रूप से घरेलू उपभोग की उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जिनका उपयोग व्यापक होता है। दूसरी ओर रक्षात्मक प्रशुल्क वे होते हैं जो विदेशी आयात में कटौती करने के लिये लगाये जाते हैं ताकि घरेलू उत्पादनों को प्रतियोगिता में बचाया जा सके। पूर्ण रक्षात्मक प्रशुल्क आयात को पूर्ण रूप से रोक देते हैं और इस प्रकार का राजस्व प्राप्त नहीं करते। अधिकांश रक्षात्मक प्रशुल्क ऐसे होते हैं जो समस्त आयातों को पूर्णतया नहीं रोकते और इसीलिए वे कुछ राजस्व प्रदान करते रहते हैं। इस प्रकार के प्रशुल्कों में रक्षात्मक और राजस्व दोनों प्रकार के गुण पाये जाते हैं। कई मामलों में तो यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि प्रशुल्क का उद्देश्य क्या है।

(२) **कर की दरें**—कर की दरें या तो विशेष हो सकती हैं अथवा प्रतिशत के हिसाब से हो सकती है। विशेष दरों के अनुसार प्रति भौतिक इकाई पर कर लगाये जायेंगे। जैसे—एक मन गेहूं पर १० पैसे या १० टन लोहे पर दो रुपये आदि। इसके विपरीत वस्तुओं की कीमत के प्रतिशत के हिसाब से भी कर लगाये जाते हैं। उदाहरण के लिए एक मशीन की कीमत पर १० प्रतिशत आयात के बदलने से इस प्रकार के कर की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं आता जब कि विशेष कर की मात्रा कीमतों में परिवर्तन के साथ बदलती रहती है।

प्रशुल्क का भुगतान कौन करता है ?
(Who pays the Tariffs ?)

लगाया गया प्रशुल्क किसके द्वारा अदा किया जाता है–यह एक महत्व-पूर्ण प्रश्न है। इस सम्बन्ध में एक अतिशयपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि प्रशुल्क विदेशी पूर्तिकर्त्ता पर लगाया गया एक कर है जब कि दूसरा अतिशय पूर्ण दृष्टिकोण यह है कि प्रशुल्क का भुगतान अन्तिम उपभोक्ता द्वारा किया जाता है। यद्यपि दोनों दृष्टिकोणों के उदाहरण हैं किन्तु सामान्य रूप से वस्तु स्थिति दोनों के बीच में रहती है। इस स्थिति को सामान्यतः चार मार्गों में विभाजित किया जा सकता है। लगाया गया कर हो सकता है कि घरेलू कीमतों पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाले। यह घरेलू कीमतों

को बढ़ा सकता है किन्तु यह वृद्धि कर की मात्रा से कम या बराबर अथवा अधिक हो सकती है।

(१) कभी-कभी लगाया गया प्रशुल्क घरेलू-कीमतों को बिल्कुल प्रभावित नहीं करता। यह वस्तुएं प्रायः ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति सामान्य घरेलू मांगों को पूरा करने के लिये पर्याप्त होती है तथा निर्यात के लिए भी अतिरेक बच जाता है। इस स्थिति का कारण ऐतिहासिक उदाहरणों के संदर्भ में समझा जा सकता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रति बुशल (Bushal) गेहूं पर ४२ सैन्ट कर लगा दिया ताकि घरेलू कीमतों को विश्व के स्तर तक बढ़ाया जा सके। इस समय अमेरिका में गेहूं का निर्यात किये जाने योग्य नियमित अतिरेक था। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क सम्बन्धी यह कदम असफल होना स्वाभाविक था। यदि घरेलू कीमतें विश्व स्तर से अधिक बढ़ जातीं तो घरेलू उत्पादकों को अपना सारा गेहूं घर में ही बेचने में लाभ था। गेहूं की मांग देश में निश्चित थी और इसलिये व्यापक बिक्री होने के कारण कीमतों को पुनः गिरना होता। कहने का अर्थ यह है कि जब कभी निर्यात योग्य अतिरेक रहता है घरेलू उत्पादक अपने उत्पादन के लिये विश्व कीमत से अधिक प्राप्त नहीं कर सकता—इसके लिए वह चाहे प्रशुल्क लगाये अथवा न लगाये।

(२) उसका कर देय वस्तु का उत्पादन यदि लागत वृद्धि के अनुसार किया जाता है तो उसकी घरेलू कीमत कर की अपेक्षा कम बढ़ती है; क्योंकि इसमें पूर्ति की अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन प्रति इकाई अधिक लागत लगा कर ही किया जा सकता है। स्वतन्त्र बाजार की परिस्थितियों में वस्तुओं की कीमतों के बीच समानता रहती है चाहे उनमें यातायात का व्यय कितना ही अधिक क्यों न किया गया हो? कर लगने पर वस्तु की घरेलू और विदेशी कीमतों में कर के बराबर अन्तर आ जायगा। आयात कर्त्ता देश को जब अधिक कीमत में माल मिलने लगेगा तो वह आयात की मात्रा घटा देगा और घरेलू उत्पादन को बढ़ायेगा। यह कदम तब ही उठाया जायगा जब कि प्रति इकाई लागत की मात्रा अधिक होगी। निर्यात-कर्त्ता देश में इसका प्रभाव यह होगा कि उसका निर्यात घट जायेगा। इससे उत्पादन की मात्रा घट जायेगी, लागत भी घटेगी और सम्भवतः उपभोग बढ़ जायगा। कुल मिलाकर परिणाम यह होगा कि आयात कर्त्ता देश में वस्तु की कीमत पहले से कुछ अधिक हो जायगी किन्तु यह अधिक मात्रा लगाये गये कर की मात्रा से थोड़ी कम होगी।

इस प्रकार के समायोजन को निम्न रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है :—
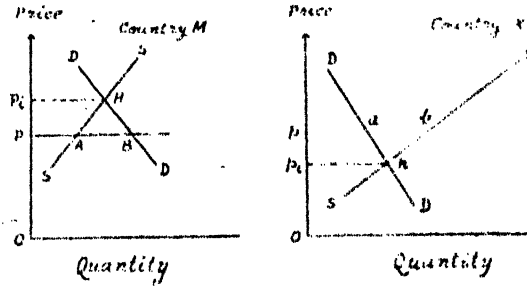
Incidence of a Tariff

उपर्युक्त रेखा चित्र में उस वस्तु की मांग-पूर्ति और कीमत को लिया गया है जो दो देशों में लागत-वृद्धि के नियम के आधीन उत्पादित की जाती हैं। ये देश हैं—'M' और 'X'। व्यापार न करने वाले विश्व में प्रत्येक देश विशेष वस्तु का उत्पादन करता है। 'M' देश PiH की मात्रा को OPi की कीमत पर उत्पादित करता है और X देश Pih की मात्रा को Opi कीमत पर उत्पादित करता है और उपभोग करता है। मान लीजिये व्यापार प्रारम्भ होता है और कीमतें कम होने के कारण X निर्यात करता है और कीमत अधिक होने के कारण M आयात करता है। यहां यदि हम यातायात लागत को सम्मिलित न करें तो दोनों देशों में समान कीमतें रहेंगी। यह कीमतें ऐसी होंगी कि X और M की संयुक्त पूर्ति X तथा M की संयुक्त मांग के बराबर हो जायगी। M की कीमत के स्तर को आड़ी रेखा Pp द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। उसमें ab निश्चय ही AB के बराबर रहेगा अर्थात् X की अतिरिक्त पूर्ति M की अतिरिक्त मांग के बराबर हो जायगी। इस प्रकार व्यापार शुरू होने का प्रभाव M पर यह पड़ेगा कि OPi कीमतें OP पर आ जायेगी और उत्पादन PiH से घट कर PA तक आ जायेगा। दूसरी ओर उपभोग PiH से बढ़ कर PB पर आ जायेगा। आयातों की मात्रा AB हो जायगी। दूसरी ओर X पर प्रभाव यह पड़ेगा कि वह कीमतों को Opi से Op तक बढ़ा देगा। वह उत्पादन को Pih से pb तक बढ़ा देगा और उपभोग को Pih से pa तक घटा देगा; इस प्रकार निर्यात ab(=AB) हो जायगा।

उपर्युक्त परिस्थितियों में यदि M द्वारा आयात कर लगा दिया जाता है और यह पूर्ण रूप से रक्षात्मक है तो परिणामस्वरूप दोनों देशों के

बाजार पृथक हो जायेंगे और वह परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी जो व्यापार शुरू होने से पूर्व थी। ऐसी स्थिति में हम यह कल्पना करते हैं कि लगाया गया कर पूर्णतया रक्षात्मक से कम है। इसमें जो स्थिति उत्पन्न होगी उसे निम्न रेखाचित्र में प्रदर्शित किया गया है :—
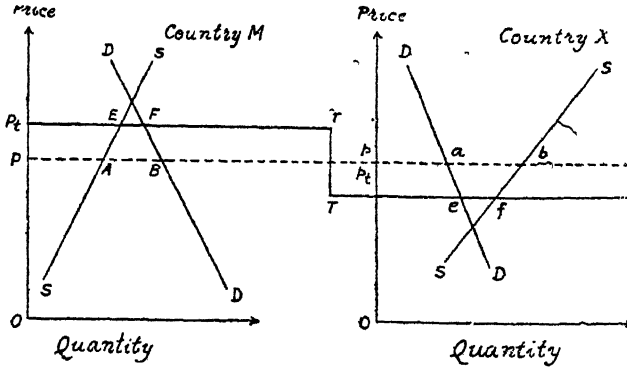
इस रेखा चित्र में कर TT है। यदि M और X देशों के बीच व्यापार होना है तो यह जरूरी है कि M में कीमतें X की अपेक्षा TT से अधिक हों। X के द्वारा अपनी मांग से अधिक जिस मात्रा की पूर्ति की जायगी वह M की घरेलू पूर्ति से अधिक मांग के बराबर होगी। नव स्थापित संतुलन टूटी फूटी रेखा PtTT.pt के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह उस समय तक ऊपर और नीचे होता है जब तक कि EF अन्य ef के बराबर न हो जाय। इस विन्दु पर X के निर्यात M के आयातों के बराबर हो जाते हैं। यहां हम टूटी हुई रेखा Pp को भी जोड़ सकते हैं ताकि स्वतन्त्र बाजार की परिस्थितियों में और प्रशुल्क की परिस्थितियों में बाजार की तुलना की जा सके। यह स्पष्ट है कि M पर प्रशुल्क का प्रभाव कीमतों को OP से OPt पर बढ़ाने का है और उत्पादन को PA से PtE तक बढ़ाने का है, किन्तु इसके आयात AB से EF तक घटा दिये जाते हैं और उपभोग को PB से PtF तक घटा दिया जाता है। X देश पर इसका जो प्रभाव होगा उसके अनुसार कीमतों को Op से Opt तक और उत्पादन को pb से pt तक घटा दिया जायगा। इसके निर्यात ab से ef तक घटा दिये जायेंगे किन्तु इसका उपभोग pa से Pte तक बढ़ा दिया जायगा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आयात-कर्त्ता देश पर प्रशुल्क का प्रभाव यह होगा कि उसकी कीमतें और उत्पादन बढ़ जायेंगे किन्तु आयात और उपभोग घट जायेंगे। निर्यात-कर्त्ता देश में कीमत, उत्पादन और निर्यात

घट जायेंगे तथा उपभोग बढ़ जायगा। यद्यपि दोनों देशों में कीमत का अंतर कर की पूर्ण मात्रा के बराबर है किन्तु फिर भी आयात-कर्त्ता देश में कीमत कर की मात्रा से कम बढ़ती है। उपर्युक्त स्थिति में कीमत-प्रभाव मूल रूप से पूर्ति और मांग के आकार तथा लोचशीलता पर निर्भर करता है।

(३) जिस वस्तु पर कर लगाया जा रहा है यदि उसका उत्पादन स्थिर लागत के अनुसार किया जा रहा है तो प्रशुल्क के कारण घरेलू कीमतें लगाये गये कर के बराबर बढ़ जायेंगी। ऐसी स्थिति में कर लगने के कारण उसकी कीमतें ऊँची होने और आयात की मात्रा घटने पर भी सम्पूर्ण पूर्ति का आयात किया जायेगा।

(४) यह भी सम्भव है कि एक वस्तु की घरेलू कीमत उस मात्रा से अधिक बढ़ जाय जिसमें कर लगाया गया है। यह इसलिये सम्भव है क्योंकि आयातित माल उपभोक्ता के पास सीधा नहीं पहुँचता वरन् बिचौलियों के हाथों में होकर निकलता है। प्रत्येक मध्यस्थ व्यक्ति उसकी कीमत को कुछ न कुछ बढ़ा देता है। इस प्रकार जब वस्तुएं अनेक हाथों में होकर निकलती हैं तो दिया गया कर वास्तविक उपभोक्ता तक पहुंचते पहुंचते कई गुना बढ़ जाता है।

प्रशुल्क के प्रभाव
(Effects of Tariff)

प्रशुल्क का कीमत, उत्पादन और उपभोग पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है जिसका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त प्रशुल्क के कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव भी हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(१) **निर्यातों की मात्रा (Volume of Exports)**—आयातों पर जो कर लगाया जाता है वह निर्यातों को घटा देता है। यह तथ्य पारस्परिक मांग की मान्यता पर आधारित है। एक देश द्वारा लगाया गया प्रशुल्क उसके आयातों को घटा देगा और इसलिये विदेशी निर्यात कर्त्ताओं को विदेशी विनिमय की आमदनी कम हो सकेगी। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क लगाने वाले देश के माल का निर्यात बाजार घट जाता है। जब प्रशुल्क लगाने से एक देश के किसी विशेष घरेलू उद्योग अथवा उद्योगों को प्राप्तियां होती हैं तो बदले में अन्य घरेलू उद्योगों (निर्यात उद्योगों) को नुकसान भी होता है। इस प्रकार सम्भावित निर्यात घट जाने से उत्पादन के तत्व पहले की अपेक्षा कम आमदनी प्राप्त कर पाते हैं।

(२) **व्यापार शर्तें (Terms of Trade)**—प्रशुल्क नीति अपनाने का एक प्रभाव देश की व्यापार शर्तों पर भी पड़ता है। उस देश की व्यापार

शर्तें उस समय सुधर जाती हैं जब कि प्रशुल्क लगाने वाले देश की विदेशी वस्तुओं की मांग अपेक्षाकृत अधिक और लोचशील है। प्रशुल्क के प्रभाव के कारण देश के आयात घट जाते हैं और इसलिए इस देश के माल को खरीदने के लिए विदेशों के पास साधन उपलब्ध नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति में विदेशों को अपनी कीमतें कम करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा, ताकि प्रशुल्क वाले देश को वे पूर्ववत् निर्यात कर सकें और इससे आवश्यक वस्तु खरीदने के साधन प्राप्त कर सकें। यहां प्रशुल्क का प्रभाव यह हुआ कि आयात की कीमतें निर्यात की कीमतों से कम हो गई और इस प्रकार प्रशुल्क लगाने वाले देश की व्यापार शर्तें सुधर गई।

यहां एक बात उल्लेखनीय है कि व्यापार शर्तों में इस प्रकार होने वाला सुधार आयात की मात्रा में कमी के साथ होता है। इस प्रकार एक देश दूसरे देश के दम पर लाभ प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह स्थिति कभी भी चुनौती का विषय बन सकती है। एक देश द्वारा ऐसा कदम उठाये जाने पर दूसरे देश में उसकी प्रतिक्रिया होगी और दूसरे देश भी प्रतिबन्ध लगाने की नीति को अपनाने लगेंगे। इस प्रकार राष्ट्रीय लाभ प्राप्त करने के लिए एक देश द्वारा किये गये प्रयास सभी देशों के लिए हानिप्रद बन जायेंगे, क्योंकि नवीन प्रतिबन्धों के कारण उत्पादन के साधनों का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं हो पायेगा। प्रतिक्रियास्वरूप कदम न उठाये जाने पर भी प्रशुल्क लगाने वाला देश यह अनुभव कर सकता है कि व्यापार की मात्रा घटने के कारण उसे पर्याप्त हानि रही है।

(३) भुगतान संतुलन (Balance of Payments)–प्रशुल्क के अधिक महत्वपूर्ण प्रभावों में भुगतान संतुलन भी एक है। एक देश जो अन्यथा अपने भुगतान संतुलनों में घाटे की स्थिति में रह सकता है, वह प्रशुल्क प्रतिबन्धों के माध्यम से समतुल्यता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से प्राप्त समतुल्यता की अनेक प्रकार से आलोचना की जाती है–(i) यह कहा जाता है कि समतुल्यता व्यापार को सीमित करके लाई जाती है इसलिए व्यापक विश्व व्यापार से होने वाली प्राप्तियों के प्रकाश में यह खराब दीखता है। (ii) समायोजन का यह तरीका एक औपचारिक और बाहरी तरीका है तथा यह असमतुल्यता के मूल कारण पर विचार किये बना ही कदम उठाता है। भुगतान संतुलन की घाटे की स्थिति को दूर करने के लिए और अच्छे तरीके भी होते हैं उन्हें अपनाया जाना अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ है।

दूसरी ओर नये या उच्च प्रशुल्कों का लगाना असमतुल्यता की स्थिति को चिंतनीय बना सकता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने बहुत समय तक निर्यात अतिरेक का अनुभव किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद

अमेरिका में माल और सेवा का निर्यात-आयात से अधिक बढ़ गया। ऐसी स्थिति में भुगतान को संतुलित करने के लिए नये तथा ऊंचे प्रशुल्क लगाये गये। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के आयात प्रतिबन्धित हो गये और यहां से आयात करने वाले दूसरे देश डालर कमाने में कठिनाई का अनुभव करने लगे। यह स्थिति उस समय और भी जटिल हो गई जब एक ऋणदाता के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका विदेशियों से ब्याज, लाभांश और पूंजी के पुनर्भुगतान की मांग करने लगा। इन चीजों का हस्तान्तरण केवल तब ही हो सकता था जब ऋणदाता आयात-अतिरेक स्वीकार करने के लिए तैयार हो। माल की गतिशीलता भुगतान का एक साधन हो सकती थी किन्तु प्रशुल्कों की नीति ने उसके मार्ग को अवरुद्ध कर दिया।

प्रशुल्क के समर्थन में दिये गये तर्क
(The Arguments in favour of Tariff)

प्रशुल्क की नीति के सम्बन्ध में दिये गये तर्क बहुत कुछ वे हैं जो संरक्षण की नीति के समर्थन में दिये जाते हैं तथा जिनका अध्ययन हमने पिछले अध्याय में किया है। ये निम्न प्रकार हैं—(i) इससे सस्ता विदेशी श्रम प्राप्त हो सकेगा। विभिन्न देशों में श्रमिक की मजदूरी अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में मजदूरी इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी की अपेक्षा तीन गुनी, जापान से चार गुनी और भारत से दस गुनी तथा उससे भी अधिक होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मजदूरी की दर इतनी अधिक होने के कारण यहां के उत्पादन उन उत्पादनों से प्रतियोगिता नहीं कर सकते जिनमें सस्ता श्रम लगाया गया है। ऐसी स्थिति मे यदि प्रशुल्क की दीवारें खड़ी न की गयीं तो अमेरिका के उत्पादक गम्भीर स्थिति में आयेंगे। वहां मजदूरी की दर घट जायेगी और रहन-सहन का स्तर कम हो जायेगा। इस प्रकार प्रशुल्क (Tariff) की नीति सस्ते विदेशी श्रम के विरुद्ध अमेरिकी उत्पादकों की सहायता करेगी।

यद्यपि यह तर्क भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है किन्तु राजनैतिक दृष्टि से इसका पर्याप्त समर्थन किया जाता है। विचारकों का कहना है कि विदेशी व्यापार में तुलनात्मक लाभ केवल सापेक्षिक मूल्यों के अन्तर पर निर्भर करता है। यदि एक वस्तु के मूल्यों में दो देशो के बीच अन्तर है तो विशेषीकरण होगा और द्विपक्षीय व्यवहार किया जायेगा। विदेशी व्यापार में यह बात कोई महत्व नहीं रखती कि एक वस्तु के उत्पादन में कितना महंगा या सस्ता श्रम लगा है वरन् महत्वपूर्ण बात तो यह होती है कि विदेशी उत्पादक अपनी वस्तुओं को कितनी अनुकूल शर्तों पर देने को तैयार है। मजदूरी की दर कम होते हुए भी कठोर

व्यापारिक शर्तों के कारण एक वस्तु की कीमत आयात करने वाले देश में ऊंची पड़ेगी ।

मजदूरों को अधिक वेतन केवल इसलिये दिया जाता है क्योंकि उनकी उत्पादन क्षमता अधिक होती है । यह उत्पादन क्षमता कार्यकर्ताओं की कुशलता, शक्ति एवं उद्योग पर निर्भर करती है । जब कुशल और उद्योगशील मजदूरों को पर्याप्त पूंजी प्राप्त होती है तो उनकी उत्पादन शीलता बढ़ जाती है और मजदूरी की दरें अधिक होते हुए भी प्रति इकाई की लागत कम रहती है । जहां मजदूरी की दर कम होती है वहां उत्पादन की क्षमता भी कम होती है । जिन वस्तुओं के उत्पादन में अधिक कुशल श्रम की आवश्यकता होती है उनको ये देश पैदा नहीं कर सकते ।

(ii) प्रशुल्क नीति के समर्थन में एक दूसरा तर्क यह दिया जा सकता है कि इससे शिशु उद्योगों की रक्षा की जायगी । इन विचारकों का कहना है कि जब एक नया उद्योग शुरू किया जाता है तो उसे कुशलता का विकास करने के लिये, नयी तकनीकी सीखने के लिये और योग्यता को बढ़ाने के लिये कुछ समय की आवश्यकता होती है ताकि वह प्रति इकाई लागत कम कर सके । दूसरे शब्दों में प्रारम्भ होने वाले उद्योगों को बड़े, कार्यकुशल और स्थापित विदेशी फर्मों की प्रतियोगिता से बचाना चाहिए । जब तक इस प्रकार का संरक्षण नहीं दिया जाएगा तब तक एक नया उद्योग आगे नहीं बढ़ पाएगा और वह कार्यकुशल बनने से पूर्व ही समाप्त हो जायेगा ।

संरक्षण की आवश्यकता केवल अस्थायी होती है । जब शिशु उद्योग परिपक्व हो जाते हैं वे विश्व-बाजार में प्रतियोगिता कर सकते हैं तब प्रशुल्क को समाप्त किया जा सकता है । यह कहा जाता है कि प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध में दिया गया शिशु उद्योग का तर्क विश्लेषण की दृष्टि से पर्याप्त सही है । यह उन देशों पर बहुत लागू होता है जो औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में हैं और नवीन उद्योगों को विकसित करना चाहते हैं । ऐसे देशों को यह भय रहता है कि नये उद्योगों को विकसित करने के उनके प्रयास जब औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों के स्थापित उद्योगों के मूल्यों की प्रतियोगिता में आयेंगे तो समाप्त हो जायेंगे । इस तर्क को विकसित देशों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता किन्तु विकास की प्रारम्भिक अवस्था में इस पर पर्याप्त जोर दिया जाता था । अलक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) ने इस तर्क का समर्थन किया । उनका यह मत अर्द्धविकसित देशों पर पूरी तरह लागू होता है इस तर्क से सम्बन्धित विभिन्न कठिनाइयों का वर्णन हम यथा-स्थान पीछे कर चुके हैं ।

(३) प्रशुल्क-नीति के सम्बन्ध में एक अन्य तर्क व्यवसाय की शर्तों को अनुकूल बनाने की दृष्टि से किया जाता है। यह कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार के कारण विश्व का उत्पादन अधिक से अधिक हो जाता है किन्तु इस उत्पादन का आश्रित देशों के बीच बराबर का बंटवारा निर्यातकर्त्ता एवं आयातकर्त्ता देशों के मध्य स्थित विनिमय अनुपात पर निर्भर करता है जिसे सामान्यतः व्यवसाय की शर्तें कहा जाता है। एक देश यदि अच्छी व्यापार शर्तें स्थापित करने की क्षमता रखता है तो उसका उत्पादन बढ़ जायगा। अनेक अर्थ-शास्त्रियों का विचार है कि प्रशुल्क द्वारा एक देश दूसरे देशों की कीमत पर लाभान्वित हो सकता है किन्तु यह लाभ अधिक व्यावहारिक महत्व नहीं रखता क्योंकि पहली बात यह है कि प्रशुल्क लगाने वाला देश केवल तभी लाभ में रहेगा जब विदेशों में पूर्ति लोचहीन होगी। इसके अतिरिक्त प्रशुल्क लगाने वाले देश का आकार भी महत्व रखता है। यदि वह देश विश्व बाजार में छोटा है तो उसकी व्यापार की शर्तों को सुधारने के अवसर कम होंगे। दूसरे, अच्छी व्यापार शर्तों से एक देश को जो लाभ प्राप्त होता है वह उस समय समाप्त हो जायगा जबकि विदेशों में भी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रशुल्क लगा दिया जायगा। यह स्थिति ऐसे प्रशुल्कों के युद्ध छेड़ सकती है जिसमें विश्व का व्यापार एकदम घट जाता है तथा विशेषीकरण से होने वाली प्राप्तियां समाप्त हो जाती हैं। साथ ही विश्व का उत्पादन कम हो जाता है। प्रशुल्क से किसी एक देश का लाभ होना कुछ अव्यावहारिक सा प्रतीत होता है।

(४) प्रशुल्क के समर्थन में एक तर्क यह दिया जाता है कि प्रशुल्क द्वारा विभिन्न अनार्थिक लाभ प्राप्त किए जाने का प्रयास भी किया जाता है। इसके माध्यम से कुछ ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है जो लागत से सम्बन्ध नहीं रखते वरन् अपने आप में लक्ष्य होते हैं। उदाहरण के लिए, एक विशेष उद्योग को राष्ट्र की सैनिक शक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस प्रकार का उद्योग यद्यपि अकार्यकुशल है और इसमें प्रति इकाई लागत पर्याप्त ऊंची है किन्तु फिर भी वह देश इन मौलिक चीजों के उत्पादन को बनाए रखने के लिए कुछ भी मूल्य चुकाने को तैयार होगा। कोई भी अर्थ-शास्त्री इन मौलिक उद्योगों के महत्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रायः सभी अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार के उद्योगों को स्वतन्त्र व्यापार का अपवाद माना है। स्वयं एडम स्मिथ (Adam Smith) भी सुरक्षा को पर्याप्त महत्व देते थे। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से कौनसा उद्योग आवश्यक है, इसे तय करना अत्यन्त कठिन होता है। नीति निर्माताओं को विभिन्न उद्योगों की इस आधार पर की गई संरक्षण की मांगों पर ठंडे दिमाग से ध्यान देना चाहिए क्योंकि प्रत्येक उद्योग का स्वामी इस प्रकार के दावे करता है।

प्रशुल्क नीतियों के समर्थन में कुछ अन्य तर्क भी दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि एक विभिन्नतापूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए सुरक्षा प्रदान करने के हेतु प्रशुल्क लगाये जायें। इसके लिए यह भी कहा जाता है कि प्रशुल्क के द्वारा घरेलू व्यवहार की स्थिति को सुधारा जायगा और देश को बेरोजगारी की समस्या में राहत प्रदान की जाएगी। यह सच है कि जिन उद्योगों को आयात से प्रतिस्पर्धा करनी होती है उनमें उच्च प्रशुल्क लगाने से रोजगार की स्थिति बढ़ेगी किन्तु यह प्राप्ति उस समय समाप्त होगी जब निर्यात भी गिर जाएंगे क्योंकि विदेशियों द्वारा या तो प्रतिक्रिया के रूप में प्रशुल्क लगाया जा सकता है अथवा क्रय शक्ति के घटने के कारण ऐसा कदम उठाया जा सकता है। परिणामस्वरूप विश्व व्यापार की मात्रा कम हो जाएगी और विशेषीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के लाभ मिलने से रुक जायेंगे।

इस सम्बन्ध में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि प्रशुल्क लगाकर घर और विदेश में उत्पादन लागत को समान बनाया जाता है ताकि घरेलू और विदेशी उत्पादक बराबर के आधारों पर प्रतियोगिता कर सकें। इस प्रकार के प्रशुल्क देश और विदेशों में सापेक्षिक मूल्यों को समान करके एक प्रकार से विदेश व्यापार के आधार को ही समाप्त कर देते हैं। प्रशुल्क के सम्बंध में जो विभिन्न तर्क दिए जाते हैं वे मुख्य रूप से राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हैं। राष्ट्रीय स्तर पर यद्यपि क्षेत्रीय संघर्ष हो जाते हैं फिर भी सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्र के अन्तर्गत स्वतंत्र व्यापार होना चाहिए। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इतना महत्व नहीं रखता।

प्रशुल्क के उपयोग एवं दुरुपयोग
(Use and misuse of Tariffs)

सामान्य रूप से अर्थशास्त्रियों द्वारा यह विश्वास किया जाता था कि स्वतंत्र व्यापार विश्व के उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ा देता है। इसमें भाग लेने वाला प्रत्येक देश लाभान्वित होता है। आज के अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि स्वतंत्र व्यापार को इतनी प्रशंसा के साथ नहीं देखा जा सकता और इसलिए संरक्षणात्मक नीतियों के सम्बंध में इनके द्वारा विभिन्न तर्क प्रस्तुत किए गए। स्वतंत्र व्यापार सम्पूर्ण संसार की दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकता है किन्तु यह एक देश की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नहीं है। प्रशुल्क एवं अन्य व्यापारिक प्रतिरोधों का व्यापार की प्राप्तियों को एक देश के पक्ष में पुनः वितरित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा घरेलू रोजगार को अच्छा बनाया जाता है तथा आर्थिक विकास की सुविधाएं प्रदान की जाती है।

प्रशुल्क नीति का प्रयोग करते हुए एक देश अपने आपको विश्व बाजार में टिकाए रखता है, वह अपने उत्पादन को विदेशी प्रतियोगियों से संरक्षण प्रदान करता है और इस प्रकार अपनी अर्थ-व्यवस्था को सन्तुलित करने का प्रयास करता है। प्रशुल्क (Tariff) नीति का दुरुपयोग करते हुए कई बार विभिन्न देशों के बीच युद्ध की सी स्थिति बना दी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रशुल्क की नीति द्वारा दूसरे देश के व्यापार एवं अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने का प्रयास भी किया जाता है। यदि एक देश किसी मूल आवश्यकता की वस्तु का उत्पादन कर रहा है तो वह अपने उत्पादन के निर्यात में अन्य देश को हर प्रकार से दबा सकता है तथा निर्यात कर लगाकर आयातकर्त्ता देश के उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य के भार से दबा सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रशुल्क की नीति का दुरुपयोग करते हुए कुछ विशेष उद्योग अपने दूसरे प्रतियोगियों को दबाने का प्रयास कर सकते हैं।

प्रशुल्क नीति का समर्थन करने के लिए दिया गया प्रत्येक तर्क अधिक आयातों करों को न्यायोचित सिद्ध करता है। इनमें से कुछ तर्क तो उन लोगों द्वारा भी दिए जाते हैं जो स्वतंत्र व्यापार के पक्षपाती हैं।

श्रेष्ठतम कर

(Preferential Duties)

श्रेष्ठतम करों द्वारा प्रशुल्क दीवार में प्रवेश के लिए स्थान बनाया जाता है। इसके फलस्वरूप प्रशुल्क के स्तर में कमी आती है जिसे अन्य किसी साधन द्वारा नहीं लाया जा सकता था। श्रेष्ठतम करों का औचित्य स्वतंत्र व्यापार सिद्धान्त के आधार पर ठहराया जाता है। श्रेष्ठतम कर का कम लगाया जाना तथा प्रशुल्क में सामान्य रूप से कमी कर देना बहुत कुछ एक जैसी ही बातें हैं। दोनों के बीच केवल मात्रा का अन्तर है। श्रेष्ठतम कर को उस समय उचित नहीं माना जाता जब इसे अन्य देशों के विरुद्ध कर बढ़ाने के बहाने के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। असल में इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अड़चनों को कम करने के लिए किया जाना चाहिए। इस प्रकार करों को स्वतंत्र व्यापार का समर्थन करने वाले तर्कों के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है।

इन करों की कई प्रकार से आलोचना की गई—(१) यह कहा गया कि प्रत्येक परिस्थितियों में प्राथमिक कटौती कोई भी कटौती न होने की अपेक्षा अच्छी होती हो, यह बात नहीं है। जब दो देशों के बीच भेदभाव लाने या हटाने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता और जोखिम पैदा हो जाती है। (२) यह कहा जाता है कि चाहे कर अधिक लगा दिए जाएं किन्तु वे समान होने चाहिए। जब इस सम्बंध में भेद पूर्ण

नीति अपनाई जाती है तो इससे भ्रम पैदा होता है। यह आलोचना राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से नहीं किन्तु अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखती है।

(३) एक तर्क प्रो० टॉसिग द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका कहना है कि जब 'क' देश द्वारा 'ख' देश के करों में प्राथमिक कमियां की जाती हैं और यदि 'ख' देश इस स्थिति में नहीं होता कि 'क' की समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर सके तो ऐसी स्थिति में करों की कटौती 'ख' के उत्पादकों के लिए 'क' के खजाने से दी जाने वाली एक सहायता मात्र कही जाएगी क्योंकि 'क' के आयातों की कमी 'ख' से पूरी नहीं हो सकती और इसलिए उसे विश्व बाजार की सहायता लेनी होगी। इस प्रकार 'क' देश में स्वदेश वस्तुओं के मूल्य परिवर्तित नहीं होंगे और 'ख' देश को प्राथमिक तर्क की सुविधा देने के बाद भी इसके उपभोक्ताओं से भार कम नहीं होगा।

जिन प्राथमिक करों द्वारा गृह मूल्य को ज्यों का त्यों रहने दिया जाता है वे इन्हें स्वीकार करने वाले देश के व्यापार की मात्रा को नहीं बढ़ाते हैं और न ही इनसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन में वृद्धि होती है। इससे एक देश का आयात नहीं बढ़ता, यही कारण है कि इनको व्यापारिक नीति के रूप में बेकार माना जाता है। प्रशुल्कों (Tariffs) मे की जाने वाली कमी के अनुरूप इन्हें नहीं कहा जा सकता। "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र से इन्हें केवल इसलिए लोकप्रियता प्राप्त हुई क्योंकि ये व्यापार नीति के उदार विचारों के प्रति झूंठी रियायतें दे सकते हैं।"

जिस देश के पक्ष में इस प्रकार के कर लगाए जाते हैं उस देश के अधिक निर्यात कर सकने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय् श्रम विभाजन अधिक तीव्र हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि यदि दो देश एक दूसरे को प्रशुल्क प्राथमिकतायें प्रदान करें तो दोनों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त होगा। ऐसा होने के लिए प्राथमिक करो की द्विपक्षीय स्वीकृति आवश्यक है, इसके अभाव में इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इन करों की एक तरफा स्वीकृति मूल्य में किसी प्रकार की कमी नहीं करती।

६

चुंगी संघ और नियतांश

(CUSTOM UNIONS AND QUOTAS)

"एक चुंगी संघ क्षेत्र वह भौगोलिक क्षेत्र है जिसके अन्तर्गत
वस्तुएं बिना कर आने-जाने के लिए स्वतन्त्र
रहती हैं। एक देश के चुंगी संघ की
सीमाओं का राजनैतिक सीमाओं
के समरूप होना आवश्यक
नहीं है।"

—वॉल्टर क्रॉज

"A Customs area is that geographical area within
which commodities are free to move without
becoming subject to duty. The
customs boundaries of a
country need not be
identical with
its political
frontiers."

—Walter Krause

के समय जब मूल्यों में भारी उतार-चढ़ाव होता है तब कुछ देश अपने आन्तरिक मूल्यों को यथावत बनाए रखने के लिए आयातों पर नियतांश की सहायता से प्रतिबंध लगाते हैं।

(३) नियतांश का प्रयोग व्यावसायिक सौदेबाजी के लिए भी किया जा सकता है। एक देश दूसरे देश में निर्यात करने के लिए नियतांश प्राप्त करने के बदले उस देश को आयात के लिए नियतांश सौंप सकता है। इसके अतिरिक्त नियतांश का प्रयोग उन देशों के प्रतिकार के रूप में भी किया जा सकता है जिन्होंने आयात नियतांश लागू किया है।

(४) नियतांश द्वारा विभिन्न देशों के बीचलेन-देन के व्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय निर्यात समझौतों को क्रियान्वित किया जाता है। इन समझौतों के अधीन प्रत्येक देश नियतांश की एक निश्चित मात्रा का ही निर्यात कर सकता है।

(५) जब एक देश में होने वाले आयात की बहुतायत को रोकना हो तो प्रशुल्क व्यवस्थापन की आवश्यकता होगी किन्तु इसमें समय लगता है। इस संक्रमण काल में आयात को प्रतिबंधित करने का कार्य नियतांश द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के नियतांश अस्थाई होते हैं और प्रशुल्क व्यवस्थापन के होते ही ये समाप्त कर दिए जाते हैं।

(६) निर्यात नियतांश (Export Quotas) का उद्देश्य यह है कि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को खरीदारों के बीच बराबर की मात्रा में वितरित किया जाये। १९३० के दौरान व्यावसायिक संधियों के दायित्वों का निर्बाह करने की दृष्टि से नियतांश प्रणाली को अपनाया गया था। समझौता करने वाले पक्षों ने यह माना कि प्रशुल्क को एक विशेष स्तर से ऊंचा उठाया जाए। इस शर्त का पालन करने में आर्थिक मन्दी के दौरान देशों को कठिनाईयों का अनुभव होने लगा। इस कठिनाई का समाधान उन्होंने नियतांश प्रणाली को अपना कर किया क्योंकि किए गए समझौतों में मात्रा सम्बन्धी प्रतिबंधों का उल्लेख नहीं किया गया था। नियतांश प्राय: संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए होता है। यह प्रभावशील तभी हो सकता है जब उसे तुरन्त लागू किया जाए। नियतांशों को प्राय: कार्यपालिका द्वारा प्रशासित किया जाता है। कार्यपालिका अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करे इसके लिए कभी-कभी विधायी प्रतिबंध भी लगा दिए जाते हैं।

नियतांश का नियतिकरण
(Fixation of Quotas)

नियतांशों को मात्रा या मूल्य अथवा दोनों के योग के रूप में नियत किया जा सकता है। एक नियतांश किस इकाई में नियत किया जायेगा

यह बात सम्बंधित वस्तु की प्रकृति और नियतांश व्यवस्था के उद्देश्य पर निर्भर करती है। यदि कोटा व्यवस्था का उद्देश्य भुगतानों के सन्तुलनों में घाटे की स्थिति को दूर करना है तो आयातों पर मूल्य की दृष्टि से सीमा लगाना अधिक उपयुक्त रहेगा। यदि आयातों को मात्रा की दृष्टि से सीमित किया गया है तो इससे विदेशी विनिमय की आवश्यकता का सही अनुमान लगया जा सकता है किन्तु इससे घाटे की व्यवस्था को नहीं सुधारा जा सकता, क्योंकि मात्रा पर लगाये गए प्रतिबंध का प्रभाव आयातों की आशातीत मूल्य वृद्धि द्वारा महत्वहीन बना दिया जायेगा। यह भी हो सकता है कि इस प्रतिबंध द्वारा आयात की कीमतों को गिरा कर जो चाहिए उससे भी अधिक कर लिया जाए। यदि नियतांश का उद्देश्य आयातों को देश की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रतिबन्धित करना है तो यह उपयुक्त रहेगा कि नियतांश को मात्रा के रूप में नियत किया जाए। मात्रा के रूप में निश्चित नियतांश से घरेलू उत्पादकों को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जायेगा कि विदेशी पूर्ति की मात्रा क्या है ? और उसी के अनुसार वे घरेलू उत्पादन को समायोजित कर लेंगे। मात्रा के स्थान पर यदि आयातों पर मूल्य की सीमाएं लगादी जायें तो इससे आयातकर्त्ता देशों को प्रेरणा मिलेगी।

कभी-कभी नियतांशों द्वारा केवल उन मात्राओं को सीमित किया जाता है जिसका आयात वित्त कर अथवा न्यूनतम कर पर किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई उच्च कर का भुगतान कर सके तो वह असीमित मात्रा में अतिरिक्त आयात कर सकता है। इस प्रकार के प्रबन्धों को प्रशुल्क नियतांश कहा जाता है। ये पूर्ण नियतांशों से भिन्न होते हैं क्योंकि पूर्ण नियतांशों में एक विशेष मात्रा से अधिक की अनुमति किसी शर्त पर नहीं दी जाती। वास्तविक व्यवहार में प्रशुल्क नियतांश के आधीन अतिरिक्त आयात केवल तभी हो सकेगा जबकि प्रशुल्क की उच्च दर उस अन्तर से कम होगी जो निर्यातकर्त्ता और आयातकर्त्ता देशों के बीच उस वस्तु की कीमतों में हैं। जिस प्रकार अतिरिक्त आयात प्रशुल्क नियतांश के अन्तर्गत आते हैं, उसी प्रकार आयातकर्त्ता देश में वस्तु की मांग की कीमत गिरती है और निर्यात-कर्त्ता देश में पूर्ति की कीमतें बढ़ जाती हैं। अन्त में एक स्थिति ऐसी आती है जब आयात कर्त्ता देश में मांग की कीमत और निर्यातकर्त्ता देश में पूर्ति की कीमत सर्वोच्च कर के बराबर हो जाती है। ऐसा होने पर आगे का आयात रुक जाएगा। प्रशुल्क नियतांश उन गरीबों को अलग हटा देते हैं जो कि कर की उच्च दर प्रदान न कर सकें। केवल धनिक लोग ही उस अतिरिक्त आयात का लाभ उठा पाते हैं जिसके लिए कर की ऊंची से ऊंची दर देनी पड़ती है। राज्य द्वारा प्राय: उस नियतांश (Quota) की मात्रा कम से

कम रखी जाती है जिसे कर की कम दर के साथ खरीदा जा सके। ऐसा करने से उसे अधिक राजस्व प्राप्त होता है। इस व्यवस्था में खतरा यह है कि देश के बहुमूल्य विदेशी विनिमय का उन आरामदायक वस्तुओं पर अपव्यय किया जायेगा जिनका भार केवल धनवान लोग ही उठा सकते हैं। इस प्रकार उस माल या सेवाओं के लिये यह विदेशी विनिमय प्रयुक्त नहीं किया जायेगा जो विकास कार्यों को क्रियान्वित करने हेतु आवश्यक होते हैं। प्रशुल्क नियतांश (Tariff Quota) बाजार की शक्तियों को कुछ सीमा तक स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर देते हैं और इस प्रकार अर्थव्यवस्था को एक सीमित मात्रा में लोचशीलता प्रदान करते हैं। जिस दर पर अतिरिक्त आयातों को अनुमति दी जाती है वे इतनी ऊंची होती हैं कि अतिरिक्त आयात को प्राय: रोक देती हैं। कुछ स्थितियों में पूर्ण नियतांश और प्रशुल्क नियतांश के बीच थोड़ा ही अन्तर होता है।

कभी-कभी नियतांश सम्बन्धी कानून आयात कर्त्ताओं पर लागू होने की अपेक्षा घरेलू उत्पादनों पर लागू होते हैं। देश की सत्ता द्वारा यह निर्धारित कर दिया जाता है कि आयातित माल (कच्चे माल) के साथ घरेलू कच्चे माल का कम से कम कितना प्रतिशत प्रयुक्त किया जाना चाहिये ? इस प्रकार के नियतांशों को अप्रत्यक्ष नियतांश कहा जाता है।

नियतांशों का आवंटन
(The Allocation of Quotas)

नियतांश को निर्धारित करने की समस्या के घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दो पहलू हैं। प्रथम में विभिन्न घरेलू आयात-कर्त्ताओं के बीच नियतांश का निर्धारण किया जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विभिन्न निर्यातकर्त्ता देशों के बीच नियतांश का आंवटन किया जाता है।

(१) सांसारिक नियतांश

(Global Quotas)

सांसारिक नियतांश (Global Quotas) के अन्तर्गत नियतांश इस व्यवस्था को लगाने वाला देश उस पूरी मात्रा या मूल्य को निश्चित कर देता है जिसमें एक समय-विशेष के अन्तर्गत सभी देशों से आयात किया जाना चाहिये। इस सीमित आयात की पूर्ति के लिए संसार के सभी देश स्वतन्त्रता पूर्वक प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। आयातकर्त्ता भी किसी देश से आयात करने में उस समय तक स्वतन्त्र होते हैं जब तक वे नियतांश की सर्वाधिक मात्रा तक न पहुंच जायें। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी विशेष निर्यातकर्ता अथवा आयातकर्ता देश का नियतांश निर्धारित नहीं किया जाता। सांसारिक नियतांश

का एक लाभ यह है कि इसमें आयातकर्ताओं को किसी भी स्रोत से आयात करने की अनुमति रहती है और इस प्रकार वे निर्यात के विभिन्न पूर्ति-कर्ताओं के बीच प्रतिस्पर्धा का पूरा लाभ उठाते हैं। इसमें किसी भी निर्यातकर्ता देश के विरुद्ध जानबूझ कर भेद-भाव नहीं किया जाता।

इस नियतांश प्रणाली के कुछ दोष भी हैं :—

(१) जब विभिन्न चुंगी घर बना दिये जाते हैं तो प्रतिदिन यह जानना मुश्किल हो जाता है कि वस्तु की कितनी मात्रा का आयात किया गया। फलत: चुंगी अधिकारी की जानकारी से पूर्व ही कुल आयात प्राय: नियतांश से अधिक पहुंच जाता है।

(२) आयातकर्ता प्रारम्भ में ही यह चाहते हैं कि जितने नियतांश की अनुमति दी गयी है उसका शीघ्र ही आयात करलें। फलस्वरूप माल को रखने में पर्याप्त धन खर्च करना होता है। जो वस्तुएं बिगड़ने वाली हैं उनको रखने में पर्याप्त खर्चा हो जाता है। नियतांश लागू होते ही उच्च मांग के कारण उसकी कीमत बढ़ जाती है और इस प्रकार सांसारिक नियतांश लागू करने वाले देश की व्यापार शर्तें उसके विपरीत हो जाती हैं। नियतांश की मात्रा पूरी न होने तक आयातकर्ता आयात करने की जल्दी में रहते हैं और इस प्रकार वे पूर्ति का सस्ते से सस्ता स्रोत नहीं खोज पाते। इसके अतिरिक्त सांसारिक नियतांश उन देशों के साथ भेदभाव करते हैं जो दूर स्थित हैं। आयात-कर्ता देश के निकटवर्ती देशों का माल अधिक जल्दी पहुंच सकता है। कभी-कभी आयात-कर्ताओं को पर्याप्त हानि उठाकर भी अपने समझौते रद्द करने होते हैं क्योंकि समझौते करने के बाद ज्ञात होता है कि पूरा नियतांश बढ़ चुका है तथा सीमायें अतिरिक्त आयात के लिये बन्द हो चुकी हैं। इस प्रकार का नियतांश कीमतों के उल्लेखनीय उतार-चढ़ाव का कारण बनता है। जब नियतांश की घोषणा की जाती है तो आयातों की बाढ़ आ जाती है और कीमतें बहुत गिर जाती है, किन्तु ज्यों ही नियतांश पूरा होता है त्यों ही माल रखने वाले, कीमतों को बढ़ा देते हैं। इससे उस वस्तु के घरेलू उत्पादकों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जो सांसारिक नियतांश के अनुसार आयातित की जाती हैं। इन वस्तुओं की कीमतें घटने पर घरेलू उत्पादकों को अपना उत्पादन बन्द करना पड़ता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नियतांश का यह रूप घरेलू उत्पादनों की सुरक्षा के लिए कोई अच्छा साधन नहीं है क्योंकि कोई भी संरक्षण तभी सफल हो पाता है जबकि वह नियमित हो।

(२) नीलामी
(The Auction)

नियतांश आवंटित करने का एक दूसरा तरीका नीलामी (Auction) है। इस दृष्टि से नियतांश निर्धारित करते समय अनुज्ञप्तियों (Licences) को खुली नीलामी में उच्चतर बोली लगाने वालों को बेचा जाता है। यह नीलामी सभी के लिये समान शर्तों पर खुली रहती है। इस अवस्था में न कोई घूंसखोरी, पक्षपात, भ्रष्टाचार और न ही व्यापार के अनैतिक होने के अवसर रहते हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था अकुशलता को दूर करेगी। इस व्यवस्था से जिनको अनुज्ञप्तियां प्राप्त होंगी; वे सर्वाधिक कुशल व्यक्ति होंगे क्योंकि उन्होंने अपने कम कुशल प्रतियोगियों को पीछे छोड़ दिया है। इस व्यवस्था के अधीन घरेलू और विदेशी कीमत के बीच जो सीमान्त रहेगा वह कुछ व्यापारियों को धनवान बनाने की अपेक्षा पूरे राज्य को लाभदायक होगा। इस व्यवस्था पर यह दोष भी नहीं लगाया जा सकता कि विभिन्न आयात-कर्त्ताओं के साथ कोई भेदभाव किया गया है।

नीलाम प्रणाली के सफल संचालन के लिए व्यापारियों के बीच पर्याप्त प्रतियोगिता का होना आवश्यक है। अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में आयात-कर्त्ताओं की संख्या थोड़ी सी होती है। वे आपस में मिलकर नीलामी को असफल कर सकते हैं। इस प्रकार उपभोक्ताओं और राजस्व की कीमत पर वे स्वयं लाभ कमा सकते हैं। उससे कीमत का स्तर स्थित नहीं हो सकेगा। जब एक बार अनुज्ञप्ति को नीलाम कर दिया जाएगा तो इसके बाद निर्यात-कर्त्ता कुछ भी कीमत वसूल करने के लिए स्वतन्त्र होगा क्योंकि उसके बाद होने वाले परिवर्तनों से या तो वे पूरी तरह लाभ उठायेंगे अथवा उनसे नुक-सान उठायेंगे। इस प्रकार से नीलामी आयातकर्त्ताओं के दुर्भाग्य और सौभाग्य पर अधिक आश्रित होगी। अपेक्षाकृत किसी नियम अथवा व्यवस्था के यह एक प्रकार से आयातकर्त्ताओं के सामने जोखिम का द्वार खोलता है। इस प्रकार का जोखिम उस व्यवस्था में नहीं रहता जहां घरेलू मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग आदि की व्यवस्था होती है। यहां बिक्री की कीमत आयात की कीमत के साथ आयातकर्त्ता के लिए कुछ बुद्धिपूर्ण सीमान्त जोड़कर तय कर दी जाती है। यह नीलाम का तरीका उन वस्तुओं के आयात पर लागू नहीं हो सकता जिनकी कीमतें कम रखना उपभोक्ताओं या उत्पादकों की दृष्टि से वांछनीय है। उदाहरण के लिए—खाद्य सामग्री, दवाइयां, मशीनें या आवश्यक कच्चा माल आदि। इस तरीके को मुख्य रूप से आरामदायक चीजों के आयात पर ही लागू किया जा सकता है। इसे एक विकासशील व्यवस्था

सहन नहीं कर सकती क्योंकि वहां विकास कार्यक्रमों को चलाने के लिए, आवश्यक वस्तु खरीदने के हेतु भी विदेशी विनिमय की कमी रहती है।

निर्यातकर्त्ता देशों के बीच भी नियतांश का आवंटन किया जाता है। सांसारिक नियतांश में अनेक हानियां रहती हैं। इसलिए नियतांश सम्बन्धी विनिमयों को लागू करने वाला देश आयात की जाने वाली सम्पूर्ण मात्रा को विभिन्न निर्यातकर्त्ता देशों के बीच निर्धारित कर देता है। यह कहा जाता है कि ऐसा करते समय यदि भेदभाव करने से बचना है तो सम्पूर्ण नियतांश को सभी निर्यात करने वाले देशों के बीच बराबर-बराबर बांट दिया जाए। यह प्रणाली दिखने में तो समानतापूर्ण प्रतीत होती है किन्तु इससे बड़े देशों के विरुद्ध छोटे निर्यातकर्त्ता देशों के बीच भेदभाव रहेगा। यह भी हो सकता है कि छोटे निर्यातकर्त्ता देश अपने लिये सौंपे गए पूरे नियतांश का निर्यात न कर पायें और इस प्रकार नियतांश का कुछ भाग बेकार ही रह जाए। ऐसा होने पर आयात की मात्रा निश्चय ही उस मात्रा से कम होगी जो कि आयातकर्त्ता देश द्वारा वांछित समझी गई है।

(३) अनुज्ञप्तियां
(Licences)

नियतांशों को निर्धारित करने में भेदभाव को हटाने के लिए एक अन्य तरीका यह अपनाया जाता है कि आयातकर्त्ताओं को अनुज्ञप्तियां दे दी जायें और जहां से उनको फायदा हो, वहीं से आयात करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिए जाएं। इस व्यवस्था में भी एक खतरा है कि सरकार आयातकर्त्ताओं पर किन्हीं विशेष देशों से आयात करने के लिये छिपे रूप से दबाव डाल सकती है। आयातकर्त्ताओं को अनुज्ञप्तियां प्रदान करते समय यह विचार ध्यान में रखा जा सकता है कि वे विशेष देशों से आयात करेंगे। यदि यह आशा पूरी नहीं होती है तो भविष्य में आयातकर्त्ताओं को अनुज्ञप्तियां प्रदान करने से मना किया जा सकता है।

भेदभाव को दूर करने का एक अन्य तरीका भी है कि नियतांश निर्धारित करते समय देखा जाए कि पहले किसी विशेष समय में देश के सम्पूर्ण आयात का कितना भाग किस देश से प्राप्त होता था? इस विशेष समय का सूत्र नियतांश के निर्धारण में जानबूझ कर किये जाने वाले भेदभाव पर रोक लगा देगा किन्तु किसी विशेष समय का चयन करते समय भेदभाव किया जा सकता है। इस समय को निर्धारित करने का कोई वस्तुगत अथवा निश्चित मापदण्ड नहीं हो सकता। किसी देश से कम से कम आयात का निश्चय करने के लिये उसका इतिहास देखना होगा। यह एक उलझा हुआ तरीका है जिसमें सांख्यिकी तरीकों से पर्याप्त सहायता लेना आवश्यक है।

यह सांख्यिकी सही है अथवा गलत, इसके सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विवाद भी छिड़ सकता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में जानबूझ कर भेदभाव करने के अवसर भी रहते हैं।

एक विशेष समय के सूत्र के आधार पर नियतांश का निर्धारण करना कुछ देशों के लिए अन्यायपूर्ण रहेगा। इसके अतिरिक्त निर्यातकर्ता देशों में यदि उत्पादन में अचानक ही परिवर्तन हो जाएं तो इससे नियतांश व्यवस्था का सरल कार्य संचालन कठिन बन जायगा। यह विशेष रूप से कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के बारे में अधिक सही है जिनका उत्पादन प्रकृति की दया पर निर्भर करता है। जिस देश को अधिक नियतांश सौंपा गया है उसमें यदि फसल बिगड़ जाती है तो वह पूरी निर्धारित मात्रा की पूर्ति नहीं कर सकता। दूसरी ओर जिसको कम नियतांश सौंपा गया है उस देश की फसल अच्छी हो जाती है तो वह अपने लिये निर्धारित नियतांश से अधिक मात्रा की पूर्ति कर सकेगा। इसके अतिरिक्त आयातकर्ता देश के उपभोक्ताओं की रुचियों और फैशनों में परिवर्तन होने के कारण मांग की गयी वस्तुओं की किस्मों तथा गुणों में भी परिवर्तन हो सकता है। हो सकता है कि एक समय जिन वस्तुओं की बहुत मांग थी, थोड़े समय पश्चात् उन वस्तुओं की कोई मांग न रहे और जिनकी पहले कोई मांग ही नहीं थी उनकी अधिक बढ़ जाए। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस आधार पर जिस देश को नियतांश सौंपा गया है उसमें सम्बन्धित वस्तु की कीमतें इतनी बढ़ जाएं कि आयातकर्ता देश के लिये लाभदायक न रहे। फलत: आयातकर्ता देश इस स्रोत से आयात नहीं करेगा और इस प्रकार नियतांश का वह भाग अछूना रखा रहेगा।

जब एक देश के निर्यातकर्त्ताओं को यह ज्ञात हो जाएगा कि वे निर्धारित नियतांश से ज्यादा निर्यात नहीं कर सकते तो वे आपस में मिलकर स्वीकृत सीमित निर्यात की अधिक से अधिक कीमत वसूल करने का प्रयास कर सकते हैं। इस प्रकार आयातकर्ता देश का शोषण होगा और व्यापार शर्तें उसके विरुद्ध चली जायेंगी। यह शोषण उस समय नहीं हो सकता जब आयातकर्त्ताओं को किसी भी स्रोत से आयात करने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है अर्थात निर्यातकर्त्ता देशों के बीच नियतांश निर्धारित नहीं किया जाता। नियतांश सम्बन्धी विनिमयों को सामान्य रूप से अनुज्ञप्ति व्यवस्था द्वारा प्रशासित किया जाता है। नियतांश द्वारा निश्चित की गयी सीमाओं में माल का आयात करने से पूर्व आयातकर्ताओं को एक अनुज्ञप्ति प्राप्त करनी होती है। कुछ देशों में स्वीकृति नियतांश और विभिन्न आयातकर्ताओं के बीच किये गये इसके निर्धारण को पहले से ही प्रकाशित कर दिया जाता है।

कुछ देश आयात किये जाने वाले माल की मात्रा को घोषित नहीं करते और अनुज्ञप्तियों को किसी लोचशील योजना के अनुसार आयात-कर्ताओं को देते हैं। इन्हें देते समय जो मापदण्ड अपनाया जाता है उसकी सार्वजनिक रूप से घोषणा नहीं की जाती। अनुज्ञप्ति के लिए प्रत्येक प्रार्थना-पत्र को उसके स्वयं के लाभ के आधार पर मापा जाता है। सम्बन्धित अधिकारियों को स्वेच्छा की व्यापक शक्तियां प्रदान की जाती हैं। नियतांशों के प्रशासन को अनुज्ञप्तियों के माध्यम से चलाने पर अधिकारियों का कार्य सरल बन जाता है और इससे नियतांशों में कुशलता बढ़ती है। व्यक्तिगत आयातकर्ता के प्रपत्रों को प्रमाणित करना किसी वस्तु के सभी स्रोतों से होने वाले कुछ आयातों की कुल दर को नियन्त्रित करने से अधिक सरल है। अनुज्ञप्ति व्यवस्था आयात को नियतांश के पूरे काल तक बनाए रखती है और इस प्रकार सांसारिक नियतांशों की भांति इसमें कीमतों का उतार-चढ़ाव नहीं होता।

अनुज्ञप्तियों को सामान्य रूप से मान्य आयातकर्ताओं के बीच इस आधार पर वितरीत किया जाता है कि एक विशेष समय में उनके आयात का भाग कितना था। समय गुजरने के साथ-साथ विभिन्न फर्मों का भाग्य बदलता रहता हैं। कुछ फर्मे अपने व्यापार को बढ़ा लेती हैं जबकि दूसरी फर्में उसे घटा लेती हैं। कुछ नयी फर्में जन्म लेती हैं। जब एक समय विशेष को आधार बनाकर अनुज्ञप्तियों को वितरित किया जाता है तो इससे प्रसार करने वाली और स्थापित फर्मों के विरुद्ध भेदभाव होता है तो इसके द्वारा आयात व्यापार में नया खून, जो इसकी कुशलता को बढ़ाने के लिए आवश्यक है, नहीं आ पाता; इसमें कुछ निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं। प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके यह एकाधिकार को महत्व देता है जिसमें अपनी अनेक बुराइयां होती हैं।

अनुज्ञप्तियों को अधिक न्यायपूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए विशेष समय के सूत्र के साथ-साथ होने वाले परिवर्तनों को भी ध्यान में रखा जाता है। विकसित फर्मों को कुछ अधिक और पतनोन्मुख फर्मों को कुछ कम नियतांश सौंपा जाता है। नियतांश का एक भाग नवागन्तुकों के लिए सुरक्षित रख लिया जाता है।

कभी-कभी आयातकर्त्ता देश अनुज्ञप्तियों के वितरण का काम निर्यात-कर्त्ता देशों की सरकारों, उत्पादकों या निर्यातकर्त्ताओं को सौंप देता है। यह प्रक्रिया कई दृष्टियों से उपयुक्त समझी जाती हैं। आयातकर्त्ताओं के बीच नियतांश का निर्धारण करना एक अच्छा खासा सर दर्द होता है। इस कार्य में भेदभाव, पक्षपात और भाई-भतीजेवाद आदि के दोष लगने की सम्भावनाएं रहती हैं। ये दोष न केवल देश के अन्तर्गत ही लगते हैं वरन् विदेशों के द्वारा

भी लगाए जाते हैं। जब नियतांश का प्रशासन निर्यातकर्त्ता देश को दे दिया जाता है तो देश को कई आर्थिक व प्रशासनिक लाभ प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आयात-व्यापार की अपेक्षा निर्यात-व्यापार अधिक केन्द्रीयकृत है तो निर्यात-कर्ता देश द्वारा नियतांश विनिमयों का प्रशासन अधिक कुशल और मितव्ययतापूर्ण रहेगा। नियतांश विनिमयों के प्रशासन में निर्यातकर्ता देशों का योगदान इन देशों के लाभ में रहता है। ये अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने का अवसर पाते हैं और अधिक अनुकूल शर्तों के लिए वार्ता कर सकते हैं। इन विभिन्न कारणों से निर्यातकर्त्ता देश आयातकर्त्ता देशों में नियतांशों के प्रशासन का साथ देने के प्रस्ताव का स्वागत करते हैं। यह व्यवस्था आयातकर्त्ता देश के हित में कम होती हैं। अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए आयातकर्त्ता देश कुछ परिस्थितियों में निर्यातकर्त्ता देश को अनुज्ञप्तियों का अधिकार सौंप देता है। इसमें पहली बात तो यह है कि कुल आयात मान्य नियतांश से अधिक नहीं होना चाहिए। दूसरे, निर्यात को आयातकर्त्ता देश की आवश्यकताओं के अनुसार पूरे नियतांश काल में बिखरा हुआ होना चाहिए। तीसरे, निर्यातकर्त्ता देश वस्तुओं की कीमतों को नहीं बढ़ा सके।

आयात-नियतांशों के रूप

(The Types of Import Quotas)

आयात-नियतांशों को पांच विभिन्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं–प्रशुल्क नियतांश, एक-पक्षीय नियतांश, द्विपक्षीय नियतांश, संयुक्त नियतांश और आयात अनुज्ञप्तियां। इनमें से प्रथम चार रूप आयातों के भौतिक आकार को सीमित रखने का उद्देश्य रखते हैं जबकि आयात अनुज्ञप्तियां प्राय: विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन के साथ प्रयुक्त की जाती हैं। आयात नियतांशों के इन सभी रूपों का अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा।

(१) **प्रशुल्क नियतांश (The Tariff Quota)**—प्रशुल्क नियतांश के अधीन एक निश्चित मात्रा तक किसी वस्तु का आयात कम दर के कर के साथ स्वीकार किया जाता है किन्तु यदि इस निश्चित मात्रा से अधिक आयात किया गया तो इसके लिए अधिक दर से कर प्रदान करना होगा। इस प्रकार प्रशुल्क नियतांश में प्रशुल्क की विशेषतायें भी शामिल होती हैं।

प्रशुल्क नियतांशों का लाभ यह है कि वे प्राय: लोचशील होते हैं। किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा को विशेषत: अनुकूल शर्तों पर आयात करने की आज्ञा होती है किन्तु अतिरिक्त आयात को अस्वीकार नहीं किया जाता, वरन् उसको कम अनुकूल शर्तों पर स्वीकार किया जाता है। इस प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण दोष यह बताया जाता है कि प्रारम्भ में जो दरें

निर्धारित की गई हैं उनके अनुसार अधिक से अधिक लोग शीघ्र आयात करने का प्रयास करेंगे और ऐसी स्थिति में मूल्यों की लोचशीलता अधिक बढ़ जाएगी ।

(२) **एक पक्षीय नियतांश (The Unilateral Quota)**—एक पक्षीय नियतांश के अन्तर्गत एक देश एक निर्धारित समय में आयात-योग्य वस्तु की मात्रा की पूर्ण सीमा निश्चित कर देता है। इस प्रकार का नियतांश या तो सांसारिक (Global) रूप से निर्धारित किया जा सकता है या आवंटित रूप से। सांसारिक नियतांश के अधीन किसी भी देश या देशों से उतने आयातों की अनुमति दी जाती है जो नियतांशों द्वारा निर्धारित की गयी है। इस प्रक्रिया की अनेक आलोचनायें की जाती हैं। सम्भवतः इसकी सबसे महत्व-पूर्ण आलोचना यह है कि इस व्यवस्था में छोटे या कम संगठित पूर्तिकर्त्ता देश नुकसान में रहेंगे। जब तक आयात-कर्ताओं को छोटे पूर्तिकर्त्ता देशों से आयात करने से कोई स्पष्ट लाभ नहीं हैं तब तक वे उनसे आयात नहीं करेंगे।

आवंटित नियतांश के अधीन कुल नियतांश को विभिन्न पूर्तिकर्त्ता देशों में आवंटित कर दिया जाता है। ऐसा करते समय पूर्व अनुभव का लाभ उठाया जाता है। इस प्रक्रिया की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इसमें दुर्भाग्य से न्यायप्रिय और विशेष पूर्तिकर्त्ता देशों के प्रति अन्याय होगा। अतीतकाल में यदि फसल के खराब होने के कारण अथवा अन्य किसी भी कारण से देश सन्तोषजनक मात्रा में निर्यात नहीं कर पाया तो इसके आधार पर उसके वर्तमान महत्व को भी असमर्थ समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में नियतांश आवंटित करते समय जो आधारभूत समय छांटा जाए वह प्रतिनिधित्व करने वाला और अभेदभाव पूर्ण होना चाहिए।

(३) **द्विपक्षीय नियतांश (The Bilateral Quota)**—द्विपक्षीय नियतांश, आयातकर्त्ता और एक विशेष पूर्तिकर्त्ता देश द्वारा निश्चित किया जाता है। एक बार जब इस प्रकार का समझौता सम्बन्धित सरकारों द्वारा कर लिया जाता है तो आयातकर्त्ता देश अन्य देशों को नियतांश निर्धारित करते समय उनके सापेक्षिक महत्व को आधार बनाता है। द्विपक्षीय नियतांश के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि यह एक पक्षीय रूप से निर्धारित नहीं किया जाता और इसलिए यह इतना स्वेच्छाचारी नहीं होता। इसके विपक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि जब निर्यातकर्त्ता समूह समझौते का एक भाग होता है तो वह निर्णय लेते समय अपने विशेष हितों से प्रभावित होगा।

(४) **मिला-जुला नियतांश (The Mixing Quota)**—अनेक देशों में ऐसे विनिमय होते हैं जिनके अनुसार माल को बढ़ाने के लिये घरेलू कच्चे माल का प्रयोग करने के हेतु प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में जो विनिमय बनाए जाते हैं उनके अनुसार आयातों को घरेलू उत्पादन के अनुपात के अनुसार सीमित किया जाता है। इस प्रकार इन विनिमयों का प्रभाव नियतांशों जैसा ही होता है। उदाहरण के लिए, युद्ध से पूर्व जर्मन ने यह नियम बनाया था कि देश में जितना आटा पीसा जाता है, उसमें घरेलू गेहूँ का निश्चित अनुपात होना चाहिये। इसी प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन में भी यह नियम बनाया गया कि घरेलू गेहूं के साथ आयातित गेहूं को एक निश्चित अनुपात में मिलाया जाए। संयोग से सम्बन्धित विनियोग सामान्य रूप से दो उद्देश्य रखते हैं:—

(i) वे घरेलू उत्पादकों की सहायता के लिए स्वीकार किए जा सकते हैं। इस प्रकार के नियमों द्वारा घरेलू उत्पादकों के लिए बाजार का आश्वासन दिया जाता है; चाहे उनका उत्पादन आयातित माल की तुलना में अधिक महंगा और घटिया स्तर का हो तो भी उनका एक निश्चित अनुपात अवश्य बिक जाएगा।

(ii) इस प्रकार के नियम आयातों को कम करते हैं और इसलिए विदेशी मुद्रा की कमी को राहत प्रदान करते हैं। इन नियमों का उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, ये आलोचना से परे नहीं होते। परिणामस्वरूप विश्व के साधन स्रोतों और शक्तियों का उचित प्रयोग नहीं हो सकता। फलत: घरेलू कीमतें बढ़ जाती हैं अथवा उत्पादन का स्तर घट जाता है।

(५) **आयात अनुज्ञप्तियां (Import Licences)**—नियतांशों का परिणाम आयातों की अनुज्ञप्तियों के माध्यम से भी प्राप्त किया जाता है। इस व्यवस्था के आधीन सम्भावित आयातकर्त्ता उपयुक्त अधिकारियों से अनुज्ञप्तियां प्राप्त करते हैं। इन अनुज्ञप्तियों के अनुसार यह निश्चित कर लिया जाता है कि आयातों का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध कैसे होगा? आयात अनुज्ञप्तियां एक प्रकार से आयातों पर लगाए गये अप्रत्यक्ष प्रतिबन्ध होते हैं। इनके द्वारा आयातों को प्रतिबंधित करने की अपेक्षा आयातों का भुगतान करने के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा के प्रयोग को सीमित किया जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व इस व्यवस्था का बहुत कम प्रयोग हुआ था किन्तु युद्धोत्तर काल में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रक्रिया बन गयी। इस प्रणाली की लोकप्रियता के लिए उत्तरदायी मुख्यत: दो कारण हैं:—

(१) आयात अनुज्ञप्तियाँ आयातों को प्रतिबंधित करने में पर्याप्त लोचशील होती हैं। अनुज्ञप्तियों का प्रसार करना एक प्रशासकीय प्रक्रिया है और इसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल तुरन्त समायोजित किया जा सकता है।

(२) आयात अनुज्ञप्तियां प्रसारित करना एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा एक देश अपने निवासियों की मांग को कम विदेशी मुद्रा के अनुकूल ढाल सकता है तथा नियंत्रित कर सकता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के काल में विभिन्न देशों में डॉलर की कमी महसूस की गयी, ऐसी स्थिति में आयात अनुज्ञप्तियों द्वारा डालर क्षेत्रों से आयातों की कटौती कर दी गयी और इस प्रकार आयातों का भुगतान करने के लिए डालर की आवश्यकता न रही।

जब आयात अनुज्ञप्तियों का उद्देश्य विदेशी मुद्रा के अभावग्रस्त स्रोतों को आवंटित करना होता है तो इसके लिए मुख्य रूप से दो तरीके अपनाए जा सकते हैं–प्रथम तरीके के अनुसार कम महत्वपूर्ण चीजों की श्रेणियों की एक सूची बनाई जाती है। अनुज्ञप्ति प्रसारित करते समय इस सूची को आधार बनाया जाता है। इसका एक दूसरा तरीका यह है कि उन वस्तुओं की सूची बना ली जाएं जिनके लिए आयात अनुज्ञप्तियां आवश्यक हैं। इसमें प्राथमिकताओं के क्रम का कोई सन्दर्भ नहीं दिया जाता। आयात की कुल मात्रा उपलब्ध विदेशी मुद्रा की मात्रा द्वारा निर्धारित की जाती है। कुछ देशों में अनुज्ञप्तियां इस प्रकार प्रसारित की जाती हैं कि उनमें विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार भी संयुक्त रहता है। ग्रेट-ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों में इसी प्रकार का व्यवहार है। अन्य देशों में अनुज्ञप्ति प्राप्त करने का अर्थ यह नहीं होता कि आवश्यक विदेशी मुद्रा भी प्राप्त हो सकेगी। यह अनुज्ञप्तियां आयातकर्त्ता को केवल तभी आयात करने का अवसर देती हैं जब उसे विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सके। लेटिन अमरीका में यही व्यवस्था अपनाई जाती है। आयात अनुज्ञप्तियां या तो इकहरे रूप से अपनाई जाती है या विनिमय नियंत्रण के एक भाग के रूप में। प्रो० क्राज के कथनानुसार, "आयात अनुज्ञप्तियां आयातों की मात्रा को नियंत्रित करने का एक शक्तिशाली प्रयास हैं। यह आयात चाहे किसी विशेष वस्तु का हो अथवा कुछ वस्तुओं को मिला-जुला कर। इस व्यवस्था की कुछ अपनी कमजोरियां हैं। इनमें प्रथम उल्लेखनीय कमी यह है कि अनुज्ञप्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए कुछ व्यक्तियों द्वारा इसे प्राप्त करना और अन्य समान रूप से योग्य व्यक्तियों को इससे वंचित रखना, स्पष्टतः अनुचित है। आयातों पर प्रतिबन्ध कुछ व्यापारियों को एकाधिकार प्रदान करता है और वे इसका प्रयोग करते हुए मनचाहा लाभ कमाने का प्रयास कर सकते हैं।"

नियतांश व्यवस्था का समर्थन
(The Case for Quota System)

सामान्यतः यह माना जाता है कि सारे संसार को ध्यान में रखते हुए प्रशुल्क व्यवस्था मात्रागत प्रतिबन्धों से अधिक उच्च है किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से मात्रागत प्रतिबन्ध कई प्रकार से प्रशुल्कों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से मात्रागत प्रतिबन्ध अस्वीकृत हैं किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से उनको पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त होती है। जब तक विश्व की आय को विनियमित करने के लिए कोई अभिकरण नहीं है उस समय तक विभिन्न देश विश्व के व्यापक हित के लिए अपने राष्ट्रीय हितों को नहीं छोड़ सकते। नियतांश व्यवस्था के समर्थन में जो तर्क दिए जाते हैं उनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(१) **अर्द्ध-विकसित देशों के लिए उपयुक्त**—अर्द्ध विकसित देशों में प्रशुल्क प्रभावशील नहीं होते। इन देशों की समस्याएं विकसित देशों की अपेक्षा भिन्न होती हैं। विकसित देशों में आयात को हतोत्साहित करने के लिए घरेलू वस्तु की कीमत में थोड़ी सी भी वृद्धि काफी होती है। दूसरी ओर अर्द्ध-विकसित देशों में उपभोक्ता घरेलू माल से पर्याप्त ऊंची कीमत होने पर भी विदेशी वस्तु को लेना पसंद करता है। यह केवल इसलिए नहीं होता कि उन वस्तुओं के गुणों में कोई मौलिक अन्तर है। ऐसी वस्तुओं के उदाहरण भी हैं जो कि अपने देश में लोकप्रियता नहीं रखती लेकिन अर्द्ध-विकसित देशों में वहां की बनी वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता करती हैं। अर्द्ध-विकसित देशों में घरेलू चीज मूल रूप से अच्छी होने पर भी विदेश उत्पादन से घटिया मानी जाती है। ऐसी स्थिति में आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए उच्च प्रशुल्कों का लगाना आवश्यक है जो न केवल आयातकर्ता देश की अर्थ-व्यवस्था को नुकसान पहुँचाएंगे वरन् निर्यात-कर्त्ता देश की अर्थ-व्यवस्था पर भी बुरा असर डालेंगे।

(२) **तत्काल प्रभावशील**—प्रशुल्कों का प्रयोग जब कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है तो सभी वस्तुओं के आयातों और निर्यातों की मांग तथा पूर्ति की लोचशीलता का ज्ञान जरूरी है। इसके अभाव में जो प्रशुल्क निर्धारित किया जाएगा वह वांछनीयता से कम या अधिक स्तर का हो सकता है। प्रशुल्कों द्वारा आयातों को वांछनीय सीमा तक प्रतिबन्धित किया जा सकता है किन्तु वाँछनीय परिणाम तुरन्त प्राप्त नहीं किए जा सकते क्योंकि बाजार की शक्तियां बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार समायोजित होने में समय लेती हैं। इस प्रकार प्रशुल्क उन देशों के लिए प्रारम्भ में उपयोगी नहीं रहेगा जिनके पास सोने तथा अन्य स्वीकृत मुद्राओं का अपर्याप्त

भण्डार है। इसके विपरीत मात्रागत प्रतिबन्ध इस प्रकार के किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं समझते और वे तत्काल ही प्रभावशील हो जाते हैं।

(३) **सफलता के अधिक अवसर**—'नियतांश' प्रशुल्कों की अपेक्षा अधिक प्रभावशील होते हैं। जहां प्रशुल्क असफल हो सकते हैं वहां नियतांश को सफलता प्राप्त होती है। प्रशुल्क प्रायः आयातों को प्रतिबन्धित करने में उस समय सफल नहीं हो पाते जबकि मांग अथवा पूर्ति की वक्र रेखा तुलनात्मक रूप से लोचहीन होती हैं। यदि राज्य द्वारा अथवा व्यक्तिगत आधार पर निर्यातों को बन्द कर दिया जाए तो प्रशुल्क प्रभावहीन बन जायेंगे। इसी प्रकार जब विदेशी उत्पादक एकाधिकृत रूप से लाभ कमा रहे हैं तो ये एकाधिकार यदि लाभ की मात्रा को कम करदें तो प्रशुल्क को प्रभावहीन बना सकते हैं। प्रशुल्क व्यवस्था का एक नुकसान यह है कि प्रशुल्क बढ़ने के अनुमान से ही आयात को बढ़ाया जा सकता है किन्तु इस प्रकार के आयात की वृद्धि नियतांश व्यवस्थाओं में नहीं होती। संरक्षित घरेलू उत्पादक नियतांश-व्यवस्था में अपने आपको प्रशुल्क-व्यवस्था की अपेक्षा सुरक्षित समझते हैं और इसलिए वे नियतांश द्वारा संरक्षित उद्योग में अधिक धन लगाते हैं।

(४) **व्यावसायिक सौदेबाजी के लिए उपयुक्त**—नियतांश व्यवस्था में आयातों एवं निर्यातों को तुरन्त सीमित किया जा सकता है। इसलिए यह व्यावसायिक सौदेबाजी का श्रेष्ठ साधन है। आवश्यकता के अनुसार तुरन्त कदम उठाने की सुविधा होने के कारण इस नीति को अपनाने वाला देश उपयुक्त शर्तें स्वीकार कराने में सफल हो जाता है।

(५) **नियोजित अर्थव्यवस्था के अनुरूप**--नियतांश व्यवस्था के अन्तर्गत विदेशों से उपलब्ध होने वाले आयात की मात्रा निश्चित होती है और इसलिए तदनुसार योजनायें बनायी जा सकती हैं। विदेशी भी स्पष्ट रूप से जान लेते हैं कि उनके विदेशी बाजार कैसे हैं? और तदनुसार वे अपने उत्पादन को नियोजित कर लेते हैं।

(६) **लोचशीलता**—नियतांशों को सामान्यतः कार्यपालिका सत्ताओं द्वारा क्रियान्वित किया जाता है और इसलिए वे अधिक लोचशील होते हैं। दूसरी ओर प्रशुल्क व्यवस्थापिका के कानून द्वारा निश्चित किये जाते हैं; इसलिए कठोर होते हैं तथा उनको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप नहीं बदला जा सकता।

(७) **कीमत वृद्धि आवश्यक नहीं**—नियतांश व्यवस्था के साथ-साथ जब कीमत नियंत्रण एवं राशन-व्यवस्था को भी लागू किया जाता है तो आन्तरिक कीमतों की वृद्धि आवश्यक नहीं होती। प्रशुल्क प्रायः आन्तरिक कीमतों को बढ़ा देते हैं और इसलिए घरेलू निर्माता उद्योगों की प्रतियोगिता की शक्ति घट जाती है।

भुगतान सन्तुलन तथा समायोजन-यंत्र

(BALANCE OF PAYMENTS AND ADJUSTMENT MECHANISMS UNDER ALTERNATIVE TRADE AND MONETARY SYSTEMS)

"अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को सन्तुलन में रखना और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों के स्थायित्व को बनाये रखना ऐसी समस्यायें हैं जो वर्तमान पीढ़ी के राजनीतिज्ञों और अर्थ-शास्त्रियों के लिए एक चुनौती है।"

—ह्यूग बी० किलॉ तथा
ल्यूसी डब्लू० किलॉ

"जब भुगतान सन्तुलन समतुल्यता के बाहर है तो कुछ न कुछ होना चाहिए, यदि पूर्ण निष्क्रियता की नीति अपनाई जाय तो भी एक समायोजन होकर रहेगा।"

—लॉरी टेरशिस

"The twin problems of keeping international payments in balance and of maintaining stability of international exchange rates constitute a challenge of foremost importance to statesmen and economists of the present generation."

—Killough and Killough

"When the balance of payment is out of equilibirum, something must happen ...even if a policy of complete inaction is adopted, an adjustment will have to take place."

—Lorie Torshis

भुगतान सन्तुलन तथा समायोजन यंत्र

(Balance of Payments and Adjustment mechanisms under Alternative Trade and Monetary Systems)

भुगतान सन्तुलन एक देश के आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है। सन्तुलन की आवश्यकता इसलिए होती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो देशों का होना जरूरी है। ये दोनों बहुत कुछ पारस्परिक रूप से निर्भर होते हैं। प्राचीन काल में यह निर्भरता अपेक्षाकृत अधिक थी जबकि विनिमय का रूप वस्तुओं का लेन-देन (Barter) था। आजकल यह पर्याप्त कम हो गई है क्योंकि लेन-देन में अनेक अदृश्य तत्व आ गये हैं। आजकल नये और अविकसित देश अपने आर्थिक विकास के लिये विदेशी पूंजी पर निर्भर हैं जबकि एक पुराने तथा उन्नत देश को विदेशी विनियोगों से पर्याप्त आय प्राप्त होती है।

भुगतान सन्तुलन को एक आर्थिक बैरोमीटर कहा जाता है जिसका गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण करके किसी देश की बदलती हुई आर्थिक दशाओं का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह एक ऐसा दर्पण है जो किसी भी देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक दृष्टि का प्रतीक होता है। इसके आधार पर ही यह जाना जा सकता है कि विदेशी व्यापार में पारस्परिक निर्भरता कितनी है। जेवन्स (W. S. Jevons) के कथनानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिये भुगतान सन्तुलन का वही महत्व है जो एक रसायन शास्त्री के लिये तत्वों की सामयिक तालिका का है।"

भुगतान के सन्तुलन की समस्या इसलिये उठती है क्योंकि विभिन्न देश विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग करते हैं। ऐसा अपवाद रूप ही कोई देश होगा जिसकी अपनी मुद्रा न हो। इस समय तक कोई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थापित नहीं हो पाई है इसलिये एक देश से दूसरे देश का भुगतान करते समय एक राष्ट्र की मुद्रा को दूसरे राष्ट्र की मुद्रा में बदलना जरूरी होता है। एक देश अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिये अपनी राष्ट्रीय मुद्राओं का प्रयोग

करता है। इसके फलस्वरूप अनेक समस्याएं और कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं प्रत्येक राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय मुद्रा की रचना और नियंत्रण को अपनी सम्प्रभुता का एक मुख्य भाग मानता है और इसलिये किसी भी प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप का उसके द्वारा विरोध किया जाता है।

भुगतान सन्तुलन का अर्थ
(The Meaning of Balance of Payment)

भुगतानों के सन्तुलन का अर्थ विभिन्न लेखकों द्वारा अलग-अलग बताया गया है। प्रो० स्नाइडर ने लिखा है कि "भुगतान सन्तुलन को परिभाषित करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह किसी देश और शेष संसार के निवासियों, व्यापारियों, सरकार तथा अन्य संस्थाओं के बीच एक विशेष समय में किए गये समस्त विनिमयों के मौद्रिक मूल्य और वस्तुओं के हस्तांतरण, सेवाओं के मौद्रिक मूल्य तथा ऋण अथवा स्वामित्व को उचित वर्गीकरण के साथ अंकित करता हुआ विवरण है।"[1]

मि०क्रॉज के मतानुसार "एक देश के भुगतान सन्तुलन उसके निवासियों और शेष देशों के निवासियों के बीच एक विशेष समय में, साधारणतः एक वर्ष में किये गये समस्त आर्थिक लेन-देनों का व्यवस्थित अभिलेख है।"[2] यही विचार जेम्स इन्ग्राम (Ingram) द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। उनका कहना है कि "भुगतानों का संतुलन उन सभी आर्थिक लेन-देनों का संक्षिप्त अभिलेख हैं जो एक देश के निवासियों (व्यक्तियों, फर्मों और सरकारी अभिकरणों)

---

1. "Balance of payment may be defined as a summary of the money value of all exchanges and transfer of goods, services and evidences of debt or owner ship appropriately classified-between the residence, business, and Government and other Institutions of one country and the rest of the world for a given period of time."–Delbert A. Snider : Introduction to International Economics, Page 110.

2. "The Balance of payment of a country is a systematic record of all economic transactions completed between its residents and residents of the rest of the world during a given period of time usually a year."-Walter Krause : The International Economy, Page 43.

तथा शेष संसार के बीच एक निर्धारित समय में किया जाता है।"[1] मि० इन्ग्राम ने आगे बताया कि भुगतान सन्तुलन के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच होने वाले व्यापार के मौद्रिक मूल्य का अभिलेख रखा जाता है। इसमें सभी प्रकार की वस्तुओं की खरीद और बिक्री का अभिलेख रहता है। ये समस्त प्रकार की खरीदी गयी और बेची गयी सेवाओं का अभिलेख रखते हैं तथा शेष संसार से प्राप्त की गयी अथवा उसे दी गयी भेंटों का अभिलेख रखते हैं। असल में एक राष्ट्र की सीमाओं को पार करने वाले सभी विभिन्न प्रकार के लेन-देन उसके भुगतानों के सन्तुलनों में ग्रहण और संक्षिप्त किए जाते हैं।"[2] एक अन्य विचारक मि० ऐल्सवर्थ ने भी कुछ अन्य शब्दों में इसी मत को प्रकट किया है उनके कथनानुसार "भुगतानों का सन्तुलन एक देश के निवासियों और शेष देश के निवासियों के बीच सभी लेन-देन का संक्षिप्त वक्तव्य होता है, इसमें एक निर्धारित समय आता है जो साधारणत: एक वर्ष होता हैं।"[3]

विचारकों द्वारा प्रस्तुत की गयी उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद भुगतान सन्तुलन शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति उसके भुगतान सन्तुलनों के आधार पर जानी जा सकती है क्योंकि इसमें उस देश के समस्त लेन-देनों का व्यौरा होता है। भुगतान सन्तुलन का अध्ययन स्पष्ट रूप से यह बता सकता है कि विश्व अर्थ-व्यवस्था में एक देश कितना भाग ले रहा।

---

1. "The Balance of payment is a summary record of In- economic transactions between residents of one coual try (Individuals, Firms and Government Agencies) and the rest of the world during a given period of time."—James C. Ingram : International Economic Problems, Page 51.
2. "All of the diverse Economic transactions that cross a Nation's border are captured and summarised in its balance of payments." —Ibid.
3. "This is a summary statement of all the transactions between the residents of one country and the rest of the world. It covers a given period of time, usually a year."

   —E. T. Ellsworth : The International Economy, Page 230.

इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। साधारणतः इसके पांच अर्थ अधिक प्रचलित हैं :—(१) इसके प्रथम अर्थ के प्रयोग में किसी विशेष समय में विदेशी मुद्रा की खरीदी और बेची गयी मात्रा आती है। यह शब्द विदेशी मुद्रा की उन मात्राओं की ओर संकेत करता है जिन्हें एक प्रदत्त समय के अन्तर्गत खरीदा या बेचा जाता है। इस अर्थ में भुगतान सन्तुलन के अन्तर्गत सदैव ही साम्य रहता है क्योंकि खरीदी जाने वाली मात्रा बेची जाने वाली मात्रा के बराबर होती है।

(२) इसका प्रयोग एक विशेष समय में विदेशों से प्राप्त और विदेशों को किये गये भुगतान के रूप में किया जाता है। विदेशी भुगतान केवल विदेशी मुद्रा के रूप में ही नहीं किये जाते वरन् विदेशी विनियोगों के हस्तांतरण द्वारा भी किये जाते हैं।

(३) इस शब्द का प्रयोग कभी-कभी आय की खातिर किये गये भुगतानों के सन्तुलन के लिए भी किया जाता है। ब्याज का सन्तुलन और व्यापार तथा सेवाओं का सन्तुलन आदि इसी अर्थ में शामिल किये जा सकते हैं।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय कर्जदारी (International debts) को मापने के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से भुगतान सन्तुलन उन विभिन्न दायित्वों की मात्रा को प्रदर्शित करता है जिन्हें किसी विशेष समय चुकाया तथा प्राप्त किया जाता है।

(५) भुगतान सन्तुलन का एक अर्थ विनिमय दर एवं उसके प्रभाव से सम्बंध रखता है। विनिमय दर को मुद्रा की माँग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित किया जाता है।

मि० फ्रिज मैकलप ने भुगतान सन्तुलन के तीन विभिन्न अर्थों का उल्लेख किया है। ये हैं—(i) बाजार का सन्तुलन अर्थात पूर्ति और माँग का सन्तुलन, (ii) कार्यक्रम का सन्तुलन अर्थात आशाओं और इच्छाओं का सन्तुलन और (iii) लेखों का सन्तुलन अर्थात् जमा-खर्च का सन्तुलन।[1] इनमें भुगतानों का बाजार-सन्तुलन विदेशी विनिमय के बाजार में एक विशेष स्थिति का मॉडल होता है जिसे प्रदत्त विनिमय दर के अनुसार विदेशी विनिमय की प्रभावशील मांग और पूर्ति द्वारा विशेषीकृत किया जाता है। भुगतानों के 'कार्यक्रम सन्तुलन' में आशान्वित अथवा नियोजित विदेशी कोष के स्रोतों तथा प्रयोगों का वक्तव्य होता है। यह वक्तव्य भावी एक वर्ष या अधिक वर्षों के सम्बन्ध में होता है जो एक देश के पूंजीगत एवं उपभोग की मांगों पर

1. Fritz Machlup : International Monetary Economics, Page 69.

आधारित होता है। लेखा सम्बन्धी सन्तुलन उन वास्तविक तथा वित्तीय सभी लेन-देनों का अभिलेख होता है जो एक देश के निवासियों और दूसरे देशों के निवासियों के बीच पिछले एक या अधिक वर्षों के काल में हुआ है। जब कभी यह कहा जाता है कि भुगतानों के सन्तुलन में घाटा है तो इसका अर्थ इन तीनों की मान्यताओं के सम्बन्ध में अलग-अलग होता है, किन्तु यह अर्थ अधिक स्पष्ट नही होता क्योंकि घाटे की व्यवस्था अन्य दूसरी परिभाषाओं पर भी आधारित रह सकती है।

निवासी का अर्थ
(The Meaning of Resident)

भुगतान संतुलन का अर्थ मि. किंडलेबर्गर द्वारा भी वही वर्णित किया गया है जो कि वाल्टर क्रॉज (Walter Krause) ने बताया है। ये मानते हैं कि एक देश का भुगतान संतुलन उस के निवासियों तथा दूसरे देशों के निवासियों के बीच एक प्रदत्त समय के दौरान होने वाले आर्थिक लेन-देन का व्यवस्थित अभिलेख है। उन्होंने यह स्पष्ट किया हैं कि एक देश का निवासी हम किसे कह सकते हैं। उनके मतानुसार जो लोग साधारणत: एक देश में रहते हैं वे ही वहां के निवासी हैं। इस दृष्टि से पर्यटक, कूटनीतिज्ञ एवं व्यावसायिक कर्मचारी, चलते-फिरते विक्रेता, विदेशों में पढ़ने वाले विद्यार्थी आदि को उस देश का निवासी माना जायेगा जहां से वे आये हैं, उस देश का नहीं, जहां वे इस समय हैं। सैनिक कर्मचारियों को भी उसी देश का निवासी माना जाता है, जहाँ की वर्दी वे धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक देश विशेष में कार्य करते हैं उनके कर्मचारियों को उस देश का नागरिक नहीं माना जाता। यदि वे इस देश के साथ कोई लेन-देन करते हैं तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के रूप में अभिलेखित किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि विश्व बैंक के कर्मचारी न्यूयार्क से कुछ खरीददारी करते हैं तो इसे न्यूयार्क के व्यापारियों द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन माना जायगा।

भुगतान संतुलन की परिभाषा में एक देश के निवासियों के अतिरिक्त आर्थिक लेन-देन (Economic Transaction) भी आता है। प्रत्येक आर्थिक लेन-देन में साधारण रूप से माल, सेवा या सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये धन का भुगतान किया जाता है अथवा उन वस्तुओं के बदले धन की प्राप्ति की जाती है। ऐसा होना प्रत्येक मामले में अनिवार्य नहीं है क्योंकि बार्टर व्यवस्था (Barter System) में सामान के बदले सामान का विनिमय भी किया जा सकता है।

भुगतान संतुलनों की बनावट
(The Composition of Balance of Payment)

एक देश के निवासियों और शेष संसार के निवासियों के बीच जो समस्त लेन-देन होते हैं उनसे या तो उस देश के निवासियों का भुगतान प्राप्त करने का दावा जन्म लेता है अथवा भुगतान प्रदान करने का दायित्व बढ़ता है। उदाहरण के लिए, एक व्यावसायिक वस्तु का निर्यात सम्वन्धित निर्यात-कर्त्ता को विदेशी आयात-कर्त्ता से भुगतान प्राप्त करने का अधिकार देता है। दूसरी ओर यदि एक व्यावसायिक वस्तु का आयात किया जाता है तो उसके कारण आयात-कर्त्ता का विदेशी विक्रेयता के लिए भुगतान करने का दायित्व बढ़ जाता है। एक देश के निवासी द्वारा किया गया जो लेन-देन उस देश के भुगतान प्राप्त करने के दावों को बढ़ाता है, उसे जमा पक्ष की ओर लिखा जावेगा और उसके विपरित जिन लेन-देनों के कारण एक देश के निवासी भुगतान करने के लिए उत्तरदायी बनते हैं, उसे ऋण पक्ष की ओर लिखा जायेगा। एक देश के भुगतान सन्तुलन का जमा पक्ष, दूसरे देश के भुगतान संतुलन व्यय पक्ष बन जाता है।

स्पष्ट है कि प्रत्येक देश के निवासियों द्वारा किये जाने वाले सभी लेन-देनों को या तो जमा पक्ष में लिखा जायगा अथवा व्यय पक्ष में। उदाहरण के लिए यदि भारत की एक फर्म द्वारा नेपाल को १००/—का कपड़ा बेचा गया तो उसे दोनों देशों के भुगतान सन्तुलनों में निम्न प्रकार लिखा जायेगा—

भारत का भुगतान सन्तुलन

	जमा	खर्च
निर्यात	रु० १००/—	—

नेपाल का भुगतान सन्तुलन

	जमा	खर्च
आयात	—	रु० १००/—

भेंट अथवा दान में प्राप्त किये गये अथवा दिये गये धन का अभिलेख इस प्रकार नहीं रखा जाता। एक देश अपने भुगतान सन्तुलन में खर्च के मदों की पूर्ति करते समय जिन चीजों का उल्लेख करता है उनमें मुख्य हैं—

विदेशों से प्राप्त की जाने वाली वस्तुएं एवं सेवायें, विदेशियों को दी गई भेंट (जो कि एक पक्षीय परिवर्तन कही जा सकती हैं) तथा विदेशियों से प्राप्त की गई दीर्घकालीन सम्पत्तियाँ आदि-आदि।

जिन चीजों का उल्लेख भुगतान संतुलन के जमा पक्ष की पूर्तियों में किया जा सकता है वे हैं—विदेशियों को दी जाने वाली सेवायें अथवा वस्तुएं,

विदेशों से प्राप्त की गई भेंट, अल्पकालीन और दीर्घकालीन लाभ प्राप्ति आदि। इस सम्बन्ध में कुछ परम्परायें तथा अभिसमय विकसित हो गये हैं उदाहरण के लिए मौद्रिक स्वर्ण को अल्पकालीन सम्पत्ति माना जाता है। लेन-देन यदि एक वर्ष से अधिक का है तो वह दीर्घकालीन और कम का है तो अल्पकालीन माना जाता है। लेखा अधिकारी (Accountant) खर्च को निषेधात्मक तथा जमा को विधेयात्मक मानता है तथा प्रथम के लिए ऋण (–) और दूसरे के लिए धन (+) का प्रयोग करता है।

एक व्यवस्थित वर्गीकरण
(A Systematic Classification)

जमा और खर्च के शीर्षकों के आधीन किये जाने वाले लेन-देनों की एक लम्बी सूची हमें यह बताने में समर्थ रहती है कि एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति क्या है? जमा और खर्च की मदों को विभिन्न प्रमुख श्रेणियों के बीच सम्बन्ध रखना चाहिए। किंडलेबर्गर का कहना है कि, "समतुल्यता के लिए केवल यही वांछनीय नहीं है कि कुल जमा और खर्च के बीच स्वतः ही सन्तुलन हो जाय; किन्तु जमा और खर्च की कुछ श्रेणियों में सन्तुलन रहना चाहिए।"[1] इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि समस्त लेन-देनों को कुछ अर्द्ध-पूर्ण श्रेणियों में समूहीकृत किया जाय। एक समय था जब समस्त लेन-देनों को दृश्य अथवा अदृश्य (Visible or invisible) की श्रेणियों के अन्तर्गत रखा जाता था। दृश्य श्रेणी में वे समस्त लेन-देन रखे गये जिनमें एक देश को छोड़ने वाली या उसमें प्रवेश करने वाली वस्तुएं भौतिक रूप से देखी जाती थी। इनके अलावा अन्य सभी लेन-देन को अदृश्य कहा गया। इस वर्गीकरण के अनुसार व्यापारिक वस्तुएं दृश्य व्यापार कही जा सकती हैं जब कि सेवा और विनियोग लेन-देनों को अदृश्य व्यापार कहा जायेगा। वोल्टर क्राज का कहना है कि "यह वर्गीकरण रुचिकर होते हुए भी एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विश्लेषण करने के लिए विशेष रूप से अर्थपूर्ण नहीं है।"[2]

एक देश के निवासी जब शेष संसार के निवासियों के साथ लेन-देन का व्यवहार करते हैं तो इसका कारण प्राय: यह होता है कि या तो किसी को

1. Kindleyberger : Op. cit. Page 23.
2. "This distinction is perhaps interesting, but it is not particularly meaningful for the analysis of a Country's International Economic Position."

—Walter Krause. Op. cit. P. 51.

किसी से कुछ लेना है अथवा देना है। उदाहरण के लिए जब कोई निर्यात किया जाता है तो निर्यात करने वाला देश आयातकर्त्ता देश से भुगतान प्राप्त करने का अधिकार रखता है। इसके विपरीत जब किसी वस्तु का आयात किया जाता है तो आयातकर्त्ता देश का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह निर्यातकर्त्ता को भुगतान दे। जो लेन-देन एक देश को भुगतान प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करते हैं, **भुगतान सन्तुलन की जमा** कहे जाते हैं। इनके परिणाम स्वरूप एक देश या तो अपने कर्जे से हल्का हो जाता है अथवा वह एक साहूकार देश बन जाता है। दूसरी ओर जिन लेन-देनों के कारण किसी देश पर भुगतान करने का दायित्व आता है उनको भुगतान संतुलन की खर्च अथवा नाम की मदों के अन्तर्गत रखा जाता है। इन लेन-देनों के परिणाम स्वरूप एक देश कम साहूकार अथवा अधिक कर्जदार बन जाता है। वर्गीकरण में जमा और खर्च की श्रेणियां इस आधार पर निधारित होती हैं कि क्या उनको विदेशियों से भुगतान प्राप्त करने का अधिकार मिलेगा अथवा विदेशियों को भुगतान करने का दायित्व बढ़ जायेगा। यहां एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी एक देश के भुगतान सन्तुलन की जमा किसी अन्य देश के भुगतान सन्तुलन के नाम हो सकती है। इस प्रकार व्यापार के सन्तुलन का अध्ययन मूल रूप से भुगतान सन्तुलन के एक भाग का अध्ययन है। इसका कोई विश्लेषणात्मक महत्व नहीं होता। यह केवल दृश्य निर्यात और दृश्य आयात के बीच का अन्तर होता है।

प्रमुख मदें (The Main Items)—भुगतान सन्तुलन में सम्मिलित होने वाली विभिन्न चीजों में से प्रमुख रूप से जिनका नाम गिनाया जा सकता है वे निम्न प्रकार हैं—

(१) वस्तुयें (Commodities)—भुगतान सन्तुलन का सम्बन्ध वस्तुओं से रहता है। एक रकम की सबसे बड़ी मद इसी को माना जाता है। एक देश द्वारा जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उन्हें जमा पत्र की ओर रखा जाता है और आयात की गयी वस्तुओं को नाम पक्ष में लिखा जाता है। यह इसलिए होता है क्योंकि आयात पक्षों वाले लेन-देन कुछ भुगतान करने का उत्तरदायित्व बढ़ाते हैं जबकि निर्यात करने वाले लेन-देन भुगतान प्राप्त करने का अधिकार देते हैं।

(२) सेवायें (Services)—वस्तुओं के अतिरिक्त आज के अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सेवाओं का भी भुगतान सन्तुलन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। वस्तुओं को भेजने अथवा मंगाने के अतिरिक्त एक देश अन्य देशों को सेवायें देता और उनसे प्राप्त करता है। इन सेवाओं के बदले सम्बन्धित देश को मूल्य प्राप्त होता है। ये अदृश्य आयात-निर्यात कही जाती हैं। जो देश सेवायें

प्रदान करता है वह भुगतान प्राप्त करने का अधिकार रखता है जबकि दूसरी ओर जिस देश को सेवायें प्राप्त होती है उसे भुगतान करना होता है। भुगतान करने वाला देश सेवा को खर्च खाते में और भुगनान प्राप्त करने वाला देश उसे जमा खाते में लिखता है। विभिन्न सेवाओं में उल्लेखनीय नाम जहाजी सेवा का लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विदेशी यातायात के लिए प्रबन्ध, उनके भोजन तथा ठहरने की व्यवस्था, बीमा सम्बन्धी और दलाली जैसी सेवायें भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है। एक देश के विशेषज्ञ दूसरे देशों में जाकर कार्य करते हैं। वे वहां पर प्राप्त वेतन अथवा पारिश्रमिक को अपने देश में रहने वाले कुटुम्बियों को भेजते हैं। कर्मचारियों की सेवायें इनके मूल देश से अदृश्य रूप से निर्यात होती हैं तथा जहां वे कार्य कर रहें हैं वहाँ इनका अदृश्य रूप से आयात होता है।

प्रत्येक देश का अन्य देशों में दूतावास भी होता है। जब दूसरा देश एक देश में स्थित अपने दूतावास पर रकम खर्च करता है तो वह इसे अपने भुगतान सन्तुलन में जमा खाते की ओर लिखेगा जबकि जिस देश में यह खर्च किया जा रहा है, वह इसे अपने नाम या खर्च खाते की ओर लिखेगा।

(३) **ब्याज एव लाभांश (Interest and Dividents)**—अधिकांश देशों को उनके विदेशी विनियोग से पर्याप्त लाभ होता है। यह विदेशी विनियोग बैंक के खाते के व्यक्तिगत ऋण के रूप में या निजी विदेशी निगमों में अथवा अन्य किसी भी रूप में हो सकता हैं। इस प्रकार से होने वाली आय या तो ब्याज के रूप में होती है अथवा लाभांश के रूप में। इन विभिन्न विनियोगों द्वारा एक देश को भुगतान प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है। यही कारण है कि इनको उस देश के जमा पक्ष में दिखाया जाता है जबकि दूसरा सम्बन्धित देश इनको नाम पक्ष में लिखता है। कई बार ब्याज तथा लाभांश से सम्बन्ध रखने वाली मदों को भुगतान सन्तुलन में सेवाओं की मदों के साथ ही रख दिया जाता है।

एक देश द्वारा विदेशों में जो भी व्यय किया जाता है वह ब्याज अथवा लाभांश के रूप में प्रतिफल प्रदान करता है। इस प्रकार से कमाया हुआ ब्याज अथवा लाभांश भुगतान प्राप्त करने के दावे को बढ़ाता है और इसलिये वह देश उसे अपने जमा पक्ष में लिखेगा। दूसरी ओर विदेशों द्वारा एक देश में जो व्यय किया जाता है उन सब को वह अपने व्यय पक्ष में लिखेगा क्योंकि इसके द्वारा उस पर भुगतान करने का दायित्व बढ़ जाता है।

भुगतान सन्तुलन सामान्यतः व्यय से होने वाली आय के दोनों पक्षों के आवागमन को प्रदर्शित करते हैं। एक देश के कुछ निवासी विदेशों में किये गये अपने व्यय के कारण लाभांश प्राप्त करने का दावा कर सकते हैं जबकि

उसी देश के अन्य निवासी ब्याज और लाभांश प्राप्त करने के लिए उत्तरदायी हो सकते है। कभी-कभी भुगतान संतुलनों में ब्याज और लाभांश को सेवा से प्राप्त होने वाली आय का ही दूसरा रूप समझ लिया जाता है। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि विदेशों मे पूंजीगत व्यय एक प्रकार की सेवा है और इससे जो ब्याज या लाभांश प्राप्त होता है उसको पूंजी द्वारा प्रस्तुत की गई सेवाओं का ही परिणाम मानना चाहिये।

(४) सौगात (Gifts)—सौगात अथवा भेंट अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्तिगत अथवा सरकारी रूप से की जाती है। इस प्रकार की सौगातों को निर्यातकर्त्ता देश पहले तो अन्य निर्यातों की भांति ही जमा पक्ष मे लिखता है किन्तु इस प्रकार की सौगातें भुगतान प्राप्त करने का अधिकार नहीं देती। अतः शीघ्र ही इनको नाम पक्ष मे लिख दिया जाता है।

एक देश के निवासी जब स्थाई रूप से दूसरे देश मे जाकर बस जाते हैं तो वे अपने परिवारजनों एवं सम्बन्धियों को समय-समय धन भेजते रहते हैं। यह धन जिस देश से भेजा जा रहा है वह इसे अपने नाम के खाते मे लिखेगा और जहां जा रहा है वह उसे जमा के खाते मे लिखेगा, क्योंकि पहले देश का भुगतान करने का दायित्व बढता है जबकि दूसरे देश को भुगतान करने का अधिकार प्राप्त होता है।

(५) दीर्घकालीन निवेश (Long-Term Investment)—इस शीर्षक के अन्तर्गत हम उन निवेशों को लेते है जो एक वर्ष अथवा उससे अधिक समय के लिए होते है। इनमे एक देश के निवासियों द्वारा विदेशों मे खरीदी गयी सम्पत्ति अथवा विदेशी प्रतिभूतियों को शामिल किया जाता है। जिस देश में इस प्रकार का विनियोग किया जाता है वह इन्हें जमा के खाते में लिखता है क्योंकि उस देश मे सम्पत्ति आ रही है और जिस देश के निवासी यह विनियोग करते है वह इन्हे नाम के खाते मे लिखता है क्योंकि वहा से सम्पत्ति जा रही है। जब इन विनियोगों का भुगतान होने लगता है तो विनियोग करने वाला देश इन्हें जमा के खाते मे लिखेगा और जहा निवेश किया जा रहा है वह उन्हें खर्च के खाते में लिखेगा।

(६) अल्पकालीन निवेश (Short-Term Investment)—एक वर्ष से कम की अवधि वाले निवेशों को इस शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है। इनका समय प्रायः तीस या साठ या नब्बे दिन होता है। विदेशों के बेंका में रखी हुई अथवा बांड्स में लगाई हुई रकम को इस प्रकार के विनियोगों में लिखा जा सकता है। लम्बे समय के निवेशों की भांति सम्पत्ति के आने-जाने के अनुसार ही इस प्रकार के विनियोगों के भुगतान के लेखे तैयार किये जाते हैं।

(७) **स्वर्ण की गति (The Gold Movements)**—जिस तरह वस्तुओं के आयात और निर्यात को भुगतान सन्तुलन में लिखा जाता है ठीक उसी प्रकार सोने के आयात और निर्यात को भी लिखा जाता है। जब एक देश का बैंक विदेशों से सोने की खरीद करता है तो विदेशी विक्रेताओं को वह भुगतान करता है और इसीलिए वह इन्हें अपने भुगतान सन्तुलन के नाम पक्ष में लिखता है। दूसरी ओर यदि वह स्वयं सोने का निर्यात करे तो उसे वह जमा पक्ष में लिखेगा। कभी-कभी सोने का आवागमन वास्तविक नहीं होता फिर भी उसे अन्य देश के लिए अलग रख दिया जाता है और दूसरे देश को न भेजने पर भी बही-खातों में स्वामित्व के परिवर्तन कर लिए जाते हैं।

(८) **मुद्रा का आवागमन (The Currency Movement)**—जब एक देश विदेशों के निजी स्टॉक में जमा होने के लिए स्वदेशी मुद्रा भेजता है तो उसे एक प्रकार से पूंजी का आवागमन समझा जाता है और जमा पक्ष में प्रविष्ट किया जाता है। वैसे मुद्रा का यह निर्यात एक देश के द्वारा ही दूसरे देश को किया जाए यह आवश्यक नहीं है क्योंकि विदेशियों द्वारा प्राप्त की हुई सुरक्षा जमा वारन्ट आदि के रूप में रखी जा सकती है। इस प्रकार के लेन देन भुगतान सन्तुलन में बहुत कम महत्व रखते हैं; फिर भी अनेक बार विभिन्न देश इस प्रकार की पद्धतियों को अपनाते हैं।

भुगतान सन्तुलन और व्यापार सन्तुलन
(Balance of Payment and Balance of Trade)

भुगतान सन्तुलन व्यापार सन्तुलन की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। इन दोनों का अन्तर कई बार स्पष्ट नहीं हो पाता; इनको समानार्थक तथा पर्यायवाची मानने लगते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि इन दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर होता है। लोग इस अन्तर को प्रायः ठीक से समझ नहीं पाते और इसलिए उनके विवेचन में विभिन्नता पाई जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को ठीक प्रकार समझने के लिए इन दोनों के अन्तर को समझना आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में विचारकों का यह कहना है कि भुगतान सन्तुलन में हम व्यापार सन्तुलन को सम्मलित कर सकते हैं किन्तु व्यापार सन्तुलन में भुगतान सन्तुलन को सम्मलित नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में इन दोनों मदों के अर्थ को समझना कुछ और भी जटिल हो जाता है।

विषय वस्तु :—व्यापार सन्तुलन में हम केवल दृश्य मदों को ही सम्मिलित कर सकते हैं। ये अदृश्य मदों से भिन्न होती है। एक देश द्वारा जिन विभिन्न वस्तुओं का व्यापार किया जाता है उनको दृश्य और अदृश्य के आधार पर विभिन्न भागों में विभाजित किया जाता है। अदृश्य मदों के अन्तर्गत हम

शिपिंग, बैंकिंग, बीमा आदि विभिन्न सेवाओ को लेते है जिनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यपार करते समय एक देश, दूसरे देश को भुगतान करता है। इतने पर भी सम्बधित बंदरगाहो पर इनका हिसाब-किताब या लेखा-जोखा नहीं रखा जाता। इसी कारण इन्हे अदृश्य मदे कहा जाता हैं। दृश्य मदें वस्तुओ के आयात और निर्यात को कहा जाता है। इन वस्तुओं का लेखा बन्दरगाहों पर रखा जाता है, इसलिए इनको दृश्य मदों का नाम दिया गया है। व्यापार सन्तुलन मे आयात और निर्यात या केवल दृश्य मदों के मूल्य ही आते हैं, दूसरी ओर भुगतान सन्तुलन के खाते में सन्तुलन का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है। इसमें जमा और खर्च से सम्बन्ध रहता है। यह जमा या खर्च, आयात व निर्यात, दृश्य मदों के कारण हो सकता है अथवा अदृश्य मदों के कारण। जब कभी आयात वस्तुओं का मूल्य निर्यात वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है तो इसको प्रतिकूल ऋणात्मक व्यापार सन्तुलन कहते हैं और जब निर्यात वस्तुओं का कुल मूल्य आयात वस्तुओं के कुल मूल्य से अधिक होता है तो उसको अनुकूल धनात्मक व्यापार सन्तुलन कहा जाता है। इस प्रकार व्यापार सन्तुलन दृश्य निर्यात एवं दृश्य आयात के मूल्य का अन्तर है। इसका विश्लेषणात्मक महत्व नही होता। व्यापार सन्तुलन असल में भुगतान सन्तुलन का एक महत्वपूर्ण भाग है।

भुगतान सन्तुलन की गणना करते समय उसमे जमा और खर्च दोनों को सम्मिलित किया जाता है। यही कारण है कि उसकी व्यापकता व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा अधिक है। इतने पर भी व्यापार सन्तुलन को भुगतान का सबसे बड़ा भाग माना जा सकता है। व्यापार सन्तुलन के अतिरिक्त भुगतान सन्तुलन में जो विभिन्न बातें आती हैं उनमें जहाज का किराया, बैंक का शुल्क, बीमा, पूंजी के हस्तांतरण सम्बन्धी व्यय, राजनैतिक शुल्क आदि प्रमुख हैं।

महत्व—भुगतान सन्तुलन को व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए मानते है क्योंकि बाद वाला पहले वाले का केवल एक भाग मात्र है। किसी देश का व्यापार सन्तुलन उस देश के अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकता हैं किन्तु उसका भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल नहीं रहना चाहिए क्योंकि भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल होने का अर्थ यह होगा कि देश की आर्थिक स्थिति निरन्तर बिगड़ती जा रही है। दूसरी ओर व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता हमेशा यह प्रमाणित नही करती कि देश की आर्थिक दशा असन्तोषजनक है। इसी प्रकार अनुकूल व्यापार सन्तुलन की स्थिति से भी देशों की अच्छी-आर्थिक व्यवस्था का पता नही लगता। उदाहरण के लिए, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व की व्यापार की स्थिति को लिया जा सकता है।

विभाजक रेखा—जब व्यापार सन्तुलन भारत के अनुकूल और इगलैंड के प्रतिकूल रहता था तो भी वास्तविकता यह थी कि ग्रेट-ब्रिटेन भारत की अपेक्षा अधिक उन्नत और सम्पन्न देश था। इसका कारण यह था कि ग्रेट ब्रिटेन विभिन्न देशों में लगी हुई अपनी पूंजी से ब्याज प्राप्त करता था और जहाजी किराया आदि के रूप में बहुत आय प्राप्त कर लेता था। इसके फलस्वरूप वह न केवल अपने व्यापार सन्तुलन के घाटे को पूरा कर लेता था वरन् अपने निवासियों की आवश्यकता का भी वह पहले की अपेक्षा अधिक ठीक प्रकार से पूरी कर लिया करता था। दूसरी ओर भारत की स्थिति इसके विपरीत थी। उसको विभिन्न सेवाओं के शुल्क एवं विनियोजित पूंजी के रूप में बहुत सा धन विभिन्न देशों को देना होता था। इस धन की प्राप्ति के लिए उसे अपने आयात से अधिक निर्यात को बढ़ाना होता था। फलतः देशवासियों को अपनी आवश्यकताओं में कटौती करनी पड़ती थी। इस प्रकार यद्यपि भारत का व्यापार सन्तुलन उसके अनुकूल था, इतने पर भी भुगतान सन्तुलन उसके प्रतिकूल था। यही कारण है कि उसकी आर्थिक दशा असन्तोषजनक थी। स्पष्ट है कि व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा भुगतान सन्तुलन की अनुकूलता अधिक महत्व रखती है।

भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है
(Balance of Payments always Balanced)

भुगतान संतुलन और व्यापार संतुलन के मध्य स्थित अन्तरों का यह अध्ययन उस समय तक अधूरा रहेगा जब तक कि एक अन्य प्रमुख तथ्य का उल्लेख न किया जाय जिसके अनुसार भुगतान संतुलन प्रायः सदैव ही संतुलित रहता है। प्रो० क्रॉज (Prof. Krause) के कथनानुसार "एक देश का व्यापार संतुलन हो सकता है कि संतुलित न रहे किन्तु उसका भुगतान संतुलन हमेशा संतुलित रहता है।"[1] किसी राष्ट्र के भुगतानों के संतुलन की तुलना किसी भी आय-व्यय के ब्यौरे से की जा सकती है। जिस तरह आय-व्यय के ब्यौरे में देनदार और लेनदार का हमेशा संतुलन रहता है उसी प्रकार भुगतान संतुलन में भी प्राप्तियों और भुगतानों के बीच हमेशा संतुलन रहता है। जब कभी एक व्यक्ति को अपनी आय से अधिक खर्च करना पड़ता है तो वह कर्जा लेकर अथवा अपनी पिछली बचत में से खर्च करके उस बढ़े हुये व्यय की पूर्ति करता है। ठीक इसी प्रकार जब कभी एक देश के भुगतान संतुलन में व्यय की मात्रा आय की मात्रा से बढ़ जाती है तो इस घाटे की पूर्ति के लिए अनेक उपाय अपनाकर यह प्रयास किया जाता है

1. Walter Krause : Op. cit. P.-52.

कि जमा और खर्च के बीच संतुलन बना रहे। इसके लिए एक देश चाहे तो अपने स्वर्ण का निर्यात कर सकता है और इस प्रकार अपनी जमा रकम की वृद्धि कर सकता है। दूसरे, विदेशों में कमाये गये अपने लाभ को हस्तांतरित करके वह देश के घाटे की व्यवस्था को पूरा कर सकता है। भुगतान संतुलन की स्थापना के लिये विदेशी ऋण भी लिया जा सकता है। तीसरे, घाटे की स्थिति वाला देश विदेशी निवेश कर्त्ताओं को अपने यहाँ पूंजी का निवेश करने के लिये प्रोत्साहित कर सकता है और इससे उसकी जमा रकम बढ़ेगी तथा भुगतानों में संतुलन स्थापित हो जायगा।

यदि उपर्युक्त में से किसी भी उपाय को न भी अपनाया जाय तो भी भुगतान संतुलन स्वतः ही स्थापित हो जायगा। जिस रकम का भुगतान करने में एक देश असमर्थ रहता है वह उस रकम को विदेशी ऋण शीर्षक के अन्तर्गत अपने जमा के खाते में लिख लेता है और इस प्रकार भुगतान संतुलन स्थापित हो जाता है।

जब व्यापारिक माल के निर्यातों का मूल्य उसके आयातों से अधिक बढ़ जाता है तो यह कहा जाता है कि भुगतान संतुलन उस देश के पक्ष में है। दूसरी ओर जब आयातों का कुल मूल्य निर्यातों के कुल मूल्य से अधिक होता है तो भुगतान संतुलन को विपक्ष में माना जाता है।

व्यापार संतुलन की मान्यता व्यवसायवाद के आर्थिक दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है जो १७ वीं शताब्दी में लोकप्रियता के शिखर तक पहुँच चुकी थी। व्यवसायवादी दर्शन के अनुसार एक अनुकूल व्यापार संतुलन से सम्बन्धित देश को लाभ होगा क्योंकि ऐसी स्थिति में उस देश को अधिक स्वर्ण प्राप्त हो सकेगा और वह अधिक सम्पन्न बन जायगा। व्यावसायवाद मूल रूप से एक व्यापारिक दर्शन था जो यह मानता था कि खरीदने की अपेक्षा बेचना अधिक अच्छा है। इस मान्यता की लोकप्रियता मुख्य रूप से इस विचार पर आधारित थी कि जब धन की प्राप्ति एक व्यक्ति को सम्पन्न बना देती है तो उसका देश भी सम्पन्न बन जायगा। यह विचारधारा यह स्वीकार नहीं कर सकी कि समय के वातावरण को देखते हुये व्यवसायवादियों की नीति उचित नहीं थी। स्वर्ण का भण्डार एक ऐसे देश के लिये पर्याप्त उपयोगी रहता है जो निरन्तर युद्ध में लगा हुआ है और सवैतनिक सैनिकों पर आश्रित है।

आज यद्यपि व्यवसायवादी विचारधारा जा चुकी है फिर भी उनके विचार अभी तक कायम हैं। आज भी अनेक विचारक व्यापक निर्यात नीति का समर्थन करते हैं किन्तु आयात को बढ़ाने में पहिले पर्याप्त सजगता बरतने पर जोर देते हैं।

यहां उल्लेखनीय है कि चाहे व्यावसायिक वस्तुओं का आयात व निर्यात संतुलित रहे या न रहे किन्तु भुगतान संतुलन कुल मिलाकर हमेशा संतलित रहता है। ऐसा इसलिये है क्योंकि प्रत्येक व्यवहार के लिए किसी न किसी प्रकार से प्रबन्ध करना होता है। उदाहरण के लिये हम 'क' और 'ख' दो देशों को लेते हैं जो कि अपनी मौद्रिक इकाई के रूप में रुपये का प्रयोग कर रहे हैं। इन परिस्थितियों में हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि यदि 'क' देश में स्थित कोई फर्म 'ख' देश में किसी फर्म से १०००/– रुपये की व्यावसायिक वस्तुओं का आयात करे तो उन देशों के भुगतान सन्तुलनों में उन्हें कैसे लिखा जायगा। दोनों देशों की प्रारम्भिक पूर्तियां कुछ-कुछ निम्न प्रकार की जायेंगी :—

	'क' देश		'ख' देश	
	जमा	खर्च	जमा	खर्च
व्यावसायिक वस्तुओं का व्यापार	—	रु० १०००/–	रु० १०००/–	

'क' देश की व्यावसायिक वस्तुओं का व्यापार उसके खाते में १००० रु० का व्यय दिखाता है, जबकि 'ख' देश के व्यावसायिक वस्तुओं के व्यापार में उतना ही जमा दिखाया गया है। केवल यही सब कुछ नहीं है। 'ख' देश का निर्यातकर्त्ता भुगतान प्राप्त करने की आशा करता है जबकि 'क' देश के आयात को संतोषजनक समझौता कर लेने को तैयार हो जाना चाहिये। समझौते के रूप पर यह निर्भर करता है कि लेन-देन के व्यवहार को किस श्रेणी में रखा जायगा। यदि आयातकर्त्ता रुपये में भुगतान करता है तो यह भुगतान 'क' देश के लिये पूंजीगत आगमन और 'ख' देश के लिए पूंजीगत बहिर्गमन को प्रदर्शित करेगा। इसी प्रकार यदि आयातकर्त्ता व्यवसायिक वस्तुओं पर साख प्राप्त करले तो 'क' देश में ऋण को पूंजीगत आगमन के रूप में और 'ख' देश में इसको पूंजीगत बहिर्गमन के रूप में प्रदर्शित किया जायगा। दोनों स्थितियों में दोनों देशों का भुगतान सन्तुलन निम्न प्रकार रहेगा :—

	'क' देश		'ख' देश	
	जमा	खर्च	जमा	खर्च
व्यावसायिक वस्तुओं का व्यापार		रु० १०००/–	रु० १०००/–	
पूंजी	रु० १०००/–			रु० १०००/–

दूसरे अतिरिक्त साधनों द्वारा भी समझौते को प्रभावित किया जा सकता है। यदि 'क' देश 'ख' से कुछ खरीदता है तो 'ख' देश 'क' देश से कुछ खरीद सकता है। इस प्रकार के प्रत्येक लेन-देन को जमा और खर्च में लिखा जायगा। मूल बात यह है कि प्रत्येक देश के कुल व्यय उसकी कुल जमा के बराबर होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि लेखों की प्रत्येक श्रेणी में सन्तुलन रहे किन्तु चालू खाता, पूंजीगत खाता, स्वर्ण खाता और एकपक्षीय स्थानान्तरण आदि सभी खातों के कुल योग में जमा और खर्च का योग एक जैसा होना चाहिये। यदि एक देश के भुगतान सन्तुलन में कुल व्यय कुल जमा से अधिक हो जाते हैं तो इस स्थिति से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि उस देश ने बिना किसी प्रकार का समझौता किये ही कुछ न कुछ प्राप्त किया है चाहे वह अस्थाई तौर पर ही क्यों न किया गया हो। व्यवहार में कुछ असंगति रह सकती है। कुछ मात्रा को भूल-चूक (Errors and Omissions) के अन्तर्गत रख दिया जाता है। इस प्रकार की असंगतियां इसलिये रहती है क्योंकि हम प्रायः सभी लेन-देनों का उल्लेख करने में अक्षम रहते हैं। यदि हमें समस्त लेन-देनों के सम्बन्ध में पूरी सूचना प्राप्त हो जाय तो कुल व्यय कुल जमा के बराबर होगा।

भुगतान संतुलनों में घाटे और पूर्तियां
(Deficits and Surpluses in Balance of Payments)

उक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट होता है कि एक देश के भुगतान सन्तुलन हमेशा सन्तुलित रहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि किसी देश के भुगतान सन्तुलनों को घाटे की स्थिति में और अन्य देश के भुगतान सन्तुलनों को अतिरेक की स्थिति में क्यों बताया जाता है? उदाहरण के लिये भारत का भुगतान सन्तुलन इस समय घाटे की स्थिति में हैं। इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि घाटे की स्थिति उस समय होती है जब एक देश की कुल भुगतान प्राप्तियां उसके कुल भुगतान दायित्वों का निर्वाह करने के लिए अपर्याप्त रहती हैं और इसलिये लेखों को सन्तुलित बनाने के लिये अतिरिक्त लेन-देन करने होते हैं। इस प्रकार के अतिरिक्त व्यवहार के अन्तर्गत स्वर्ण का निर्यात किया जा सकता है, विदेशों में स्थित बैंक जमा में से रकम निकाली जा सकती है। इसके लिए आयातों में भारी कटौती करना भी आवश्यक बन सकता है। दूसरी ओर अतिरेक (Surplus) उस समय होता है जब निर्यातों से होने वाली प्राप्तियां इतनी अधिक होती हैं कि वे आयातों में किये जाने वाले व्यय के बाद भी बच जाती हैं।

एक देश के भुगतान संतुलनों में घाटे अथवा अतिरेक का रहना एक खतरनाक सूचक माना जाता है। फिर भी जरूरी नहीं कि अपरिहार्य रूप से सावधान होना पड़े। घाटे के अतिरेक के बारे में कोई भी निष्कर्ष निकालने से पहिले हमको स्थिति का अध्ययन करना चाहिये ताकि असंगतियों की दिशा की मात्रा तथा सम्भावित अवधि का पता लगाया जा सके। सामान्य रूप से अतिरेक द्वारा उतने गम्भीर प्रश्न नहीं उठाये जाते जितने घाटे द्वारा उठाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त घाटे की सभी स्थितियां समान रूप से गम्भीर नहीं होती। अस्थाई तौर पर थोड़े बहुत घाटे की स्थितियां प्रायः बनी ही रहती हैं और सामान्यतः वे कोई गम्भीर प्रश्न खड़ा नहीं करती, क्योंकि इनको थोड़ा बहुत हेर-फेर करके ठीक कर लिया जाता है।

फ्रिज मेकलप (Fritz Machlup) ने भुगतान संतुलन के तीन रूप बताये। ये हैं—बाजार संतुलन (Market Balance), कार्यक्रम संतुलन (Programme Balance), और लेखा संतुलन (Accounting Balance)।

इन तीनों प्रकार के संतुलनों में होने वाला घाटा एक सा नहीं होता। जब भुगतानों के बाजार-सन्तुलन में लगातार घाटा बना रहता है, अर्थात् विदेशी धन का विनिमय करने के लिए बहुत अधिक मात्रा में जब घरेलू धन की आवश्यकता बनी रहती है तो सिद्ध हो जाता है कि देश की मौद्रिक, प्रशुल्क और पारिश्रमिक सम्बन्धी नीतियां विदेशी विनिमय दरों के अनुकूल नहीं है। भुगतानों के कार्यक्रम सन्तुलन में लगातार घाटे की स्थिति रहना अर्थात विदेशी सम्पत्ति को कम करते रहने के लिए योजना बनाते रहना, विदेशी निवेश कर्त्ताओं को आकर्षित करने के लिए तथा विदेशी कर्जों का समझौता करने के लिए लगातार योजनाएं बनाते रहना यह प्रदर्शित करता है कि कार्यक्रम बनाने वालों का विश्वास है कि विदेशी राशि प्राप्त हो सकती है और यह प्राप्त करने वाले देश के विकास में, उसकी कृषि के सुधार में, साधनों की उत्पादकता में और रहन-सहन के स्तर में स्थूल रूप से योगदान करेगी। भुगतान सन्तुलन के लेखों में यदि लगातार घाटे की स्थिति रहती है तो इससे यह प्रदर्शित होता है कि देश अतीत काल मे आंशिक रूप से अपनी विदेशी सत्ता पर निर्भर रहा है अथवा विदेशी कर्जों या अनुदानों को प्राप्त करता रहा है।

इन तीनों घाटों के बीच कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। इनमें से किसी भी एक अर्थ में घाटे का होना, उसी समय में किसी दूसरे अर्थ में अतिरेक का होना भी सिद्ध करता है। यह हो सकता है कि एक देश जो अपने कार्यक्रम-भुगतान-सन्तुलन में घाटे की स्थिति में है वह अपने भुगतानों के बाजार-सन्तुलन में अतिरेक की स्थिति में हो, उस देश की सरकार विकास

कार्यक्रमों के लिए विदेशी शक्ति प्राप्त करने को उत्सुक हो सकती है और एक विदेशी मिशन को विकास ऋण की तत्काल आवश्यकताओं के बारे में प्रभावित करने में सफल हो सकती हैं। ये आवश्यकताएं यदि अन्य स्रोतों द्वारा पूरी नहीं की जाती तो कार्यक्रम घाटे की स्थिति की रचना करता है किन्तु सरकार रूढ़िगत प्रशुल्क नीति एवं मौद्रिक नीति को अपनाए रह सकती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय की बाजार माँग घटेगी नहीं। एक प्रदत्त परिवर्तन दर पर बाजार की पूर्ति इस प्रकार की हो सकती है कि मौद्रिक सत्ताओं को अपने विनिमय सुरक्षितों में तत्काल हीं कुछ जोड़ना पड़े। भुगतानों के बाजार सन्तुलन में यह अतिरेक कार्यक्रम सन्तुलन में मान्य घाटे की स्थिति रहने पर भी कायम रह सकता है। यदि सरकार अपनी प्रसार विरोधी नीतियों को कम से कम रखें तो इस कार्यक्रम के लिए आवश्यक विदेशी कोष की पूर्ति खुले बाजार से की जाती है; इसके विपरीत स्थिति भी सम्भव है। यह हो सकता है कि बाजार सन्तुलन में घाटा हो और भुगतानों के कार्यक्रम सन्तुलन में अतिरेक हो। इस प्रकार का अतिरेक सम्भवतः और कुछ नहीं वरन् उन नियोजन कर्त्ताओं या विशेषज्ञों का मत है जिनके अनुसार एक देश जो अन्य की अपेक्षा अधिक धनवान है वह दूसरों की अपेक्षा अधिक बचत कर सकता है किन्तु देश में उस धन के निवेश के पर्याप्त अवसर प्राप्त नहीं होते।

प्रत्येक देश को अपने हित की दृष्टि से लगातार पूंजी का निर्यात करते रहना चाहिये। कई बार ऐसा होता है कि एक देश व्यय की दृष्टि से घाटे की स्थिति में हो और अपनी जमा की स्थिति का प्रसार कर रहा हो एवं कुछ देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया हो तो ऐसी स्थिति में विदेशी मुद्रा की अतिशय मांग बढ़ जायेगी।

कार्यक्रम सन्तुलन में घाटे की स्थिति तथा लेखा सन्तुलन के भुगतान में अतिरेक की स्थिति को आसानी से समझा जा सकता है। यह हो सकता है कि एक देश क्षतिपूर्तियों का भुगतान कर रहा हो अथवा विदेशी कर्जों को चुका रहा हो या देश में राजनैतिक असुरक्षा के कारण विदेशों में भी निवेश कर रहा हो तो वह चालू खाते के सन्तुलन में अतिरेक दिखाएगा। लेख सन्तुलन में घाटा और भुगतान के बाजार सन्तुलन में अतिरेक प्रायः उस देश में पाया जाता है जो विदेशों से कर्ज पा रहा है और जहां विदेशी निवेश किये जाते हैं। विदेशी मुद्रा की पूर्ति को जो विदेशी राशन द्वारा बढ़ाई जाती है, पूंजीगत लेखे में रख दिया जाता है। उसे आंशिक रूप से खुले बाजार में बेचा जाता है। इस प्रकार विदेशी धन की कीमत को उस सीमा तक गिराया जा सकता है कि उसे विनिमय स्थायित्व की नीति द्वारा सहन कर लिया जाए। इसे अंश रूप में मौद्रिक सत्ताओं द्वारा खरीदा जाता है।

इन परिस्थितियों में अमेरिकी डालर की कमी की बात बहुत कम अर्थ रखती है। एक देश के पास डालरों की बड़ी प्रभावशाली मांग केवल तभी होगी जब घरेलू धन की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक है और डालर की कीमत अपेक्षाकृत कम है। लेखा सम्बन्धी अभिलेख डालरों की किसी भी प्रभावशाली मांग के द्वारा इंगित नहीं किये जाते। जब हम डालर की कमी से कष्ट सम्पन्न एक राष्ट्र के लिये कर्जे के लाभों का मूल्यांकन करते हैं तो इसके भुगतान का कार्यक्रम सन्तुलन अधिक महत्वपूर्ण होगा। इसके द्वारा यह बताया जायेगा कि देश प्रार्थना की गई सहायता के माध्यम से क्या प्राप्त करना चाहता है? इस दृष्टि से ऐसे राष्ट्र के भुगतानों का चालू बाजार-सन्तुलन महत्वपूर्ण रहेगा। यदि बाजार के घाटे की व्यवस्था लगातार बनी रहती है तो कर्जों के द्वारा सापेक्षिक कीमतों और विनिमयों की दरों के आवश्यक समायोजनों को टाल दिया जायेगा। डालर की कमी के दो प्रकारों के बीच स्थित अन्तर मुख्य रूप से राजनैतिक हैं। भुगतानों के सन्तुलनों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनमें तुल्यभारिता (Equilibrium) पाई जाती है। इसके विभिन्न कारण कौन-कौन से हैं तथा उनका उपचार करके अतुल्यभारिता की स्थिति को किस प्रकार से सुधारा जा सकता है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है ?

भुगतान संतुलन में तुल्यभारिता व अतुल्यभारिता

(Equilibrium and Disequilibrium in the Balance of Payment)

तुल्यभारिता और अतुल्यभारिता दो ऐसे शब्द हैं जिनका सही अर्थ समझना कठिन है। मि० फ्रिज मैकलप ने यह विचार प्रकट किया है कि तुल्यभारिता और अतुल्यभारिता शब्द ऐसे हैं जिनको अर्थशास्त्र के ग्रन्थों से अलग नहीं किया जा सकता और इसलिये इनको अधिक से अधिक स्पष्ट किया जाना चाहिये।

अर्थशास्त्र में तुल्यभारिता शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न उद्देश्यों के लिये किया जाता है। कई बार एक अर्थ में प्रयुक्त करने के बाद जब इसे दूसरे शब्द के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है तो प्रयोगकर्त्ता प्रायः इसकी सूचना भी नहीं देता और इसलिये पर्याप्त भ्रम पैदा होने की गुंजाइश रहती है। इस शब्द के दुरुपयोग के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के अर्थशास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया है कि तुल्यभारितापूर्ण अर्थशास्त्र का विश्लेषण ही न किया जाये।

इस पद का शाब्दिक अर्थ यह है कि तराजू के दो पलड़ों का भार समान होता है। यह केवल व्यावहारिक रूप से मापने के गुणों से सम्बन्ध रखता है। उदाहरण के लिए, बजट में आय और व्यय, व्यापार सन्तुलन में आयात और निर्यात, भुगतान सन्तुलन में व्यापार मदें और दीर्घकालीन

पूंजीगत हस्तांतरण आदि। यद्यपि इन प्रसंगों में अर्थशास्त्रियों ने मदों को केवल दो पक्षों में रखकर तोलने से ही सन्तोष नहीं किया है वरन् अन्य आर्थिक तत्वों से सम्बन्धित करने का प्रयास भी किया है जिन्हें वे विचारणीय सन्तुलन की तुल्यभारिता या अतुल्यभारिता के लिए अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

अर्थशास्त्र में तुल्यभारिता की मान्यता का प्रयोग प्रायः अमूर्त सिद्धांत में एक प्रक्रिया सम्बन्धी प्रयास के रूप में किया जाता है। यहां तुल्यभारिता को कुछ पारस्परिक सम्बन्धित तत्वों से युक्त मॉडलों के बारे में प्रयुक्त किया जाता है। जब कभी घटनाओं या तत्वों के परिवर्तनों के बीच कारण कार्य के सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है तो यह मानसिक प्रयोग का एक भाग बन जाता है। जब कभी तुल्यभारिता के विचार का प्रयोग किसी मूर्त आर्थिक स्थिति को सन्दर्भित करने को किया जाता है तो यह माना जाता है कि इसके द्वारा एक ऐतिहासिक स्थिति को विशेषीकृत किया जायगा जो बिना महत्वपूर्ण परिवर्तन के एक लम्बे समय तक चलती रहेगी। इस मान्यता का प्रत्यक्ष प्रयोग इसे व्यावहारिक बना देता है।

भुगतान सन्तुलन में अतुल्यभारिता
(Disequilibrium in the Balance of Payment)

भुगतान संतुलन में अतुल्यभारिता की लोकप्रिय परिभाषा के अनुसार यह विदेशी मुद्रा की मांग तथा पूर्ति के बीच असमानता है। थोड़े समय के लिए भी हो सकती है और एक लम्बे समय के लिए भी। असल में भुगतान सन्तुलन एक देश की कुल सम्पत्तियों एवं दायित्वों को दिखाने वाला स्थिति विवरण है। इसकी प्रमुख मदों का जब एक पक्षीय आवागमन होने लगता है तो भुगतान सन्तुलन में असमानता उत्पन्न हो जाती है। एक देश का भुगतान सन्तुलन कई कारणों से अपनी तुल्यभारिता की स्थिति को छोड़ सकता है, जैसे—(१) आयात पूर्ववत् रहें और निर्यात में घटोतरी या बढ़ोतरी हो जावे; (२) निर्यात पूर्ववत् रहे और आयात में बढ़ोतरी हो जाए तथा (३) आयात और निर्यात दोनों ही घटें या बढ़ें किन्तु अलग-अलग अनुपात में। जब कभी स्वदेश में एक वस्तु के लागत मूल्य बढ़ जाते हैं अथवा विदेश में हमारे निर्यातों की मांग की लोच किसी कारण बढ़ जाती हैं तो ऐसी स्थिति में हमारे वस्तुओं के निर्यात कम हो जायेंगे और हमारे आयात अप्रभावित रहेंगे। कभी-कभी आयात घटने की अपेक्षा बढ़ने लगते हैं। इन स्थितियों में भुगतान सन्तुलन की तुल्यभारिता समाप्त हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की भांति व्यक्तिगत जीवन में भी हम पाते हैं कि एक व्यक्ति वह सब नहीं खरीद पाता जो वह खरीदना चाहता है। जब कभी

एक व्यक्ति की आय कम हो जाती है तो उसका जीवन स्तर असन्तोषजनक रूप से गिर जाता है। उसकी बचत समाप्त हो जाती है और उसे कोई ऐसा विक्रेता नहीं मिल पाता जो उसे साख प्रदान कर सके। निश्चय ही वह उसे जानबूझ कर भी कम कर सकता है क्योंकि उसे भविष्य के प्रति अन्देशा होता है कि मजबूर होकर उसे थोड़े समय बाद भी तो कटौती करनी पड़ेगी। वह सस्ती चीजों की ओर उन्मुख हो सकता है। वह अपनी बचत को शीघ्रता-पूर्वक गिरने से रोक सकता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यदि एक व्यक्ति के लेखों में सन्तुलन है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी सभी वांछनीय आवश्यकताएं पूरी हो जावेंगी। व्यक्तिगत जीवन की यह बात समस्त आर्थिक जीवन पर भी लागू होती है। माल और सेवाओं का आयात व्यक्ति की खरीददारी की भांति होता है।

एक देश की अर्थव्यवस्था को यह अनुभव हो सकता है कि उसकी विदेशी मुद्रा की वह आय जो उसे अपने माल और सेवा बेचने पर प्राप्त होती है, सोने या विदेशी मुद्रा के भण्डार के रूप में होती है और दूसरे देशों के साथ उसकी साख कुल मिलाकर इतनी नहीं होती कि वह उन वस्तुओं को खरीद सके जिन्हें वह चाहता है। इसके लिए देश अपने आयातों पर प्रयत्क्ष या कृत्रिम नियंत्रण रखता है अथवा वह अपनी राष्ट्रीय आय में इतनी कमी कर सकता है कि आयातों की माँग स्वाभाविक रूप से घट जाए। यदि मान लीजिए किसी देश के आयात विदेशी मुद्रा की कमी के कारण आवश्यकता से अधिक गिर जाए तो उसका भुगतान सन्तुलन यद्यपि सन्तुलित रहेगा किन्तु सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकेगा। असन्तोषजनक स्थिति ही असमतुल्यता (Disequilibrium) कहलाती है।

एक देश पर्याप्त स्तर तक अपने माल और सेवाओं को उसी समय ला सकता है जबकि वह अपने सुरक्षित कोष का उपयोग करे। इसके लिए उसे अपना सोना बाहर भेजना होगा और विदेशी मुद्रा के संग्रह को कम करना होगा। जब उस देश के भुगतान खाते में यह स्थिति आ जाए तो भुगतान सन्तुलन समतुल्यता से बाहर माना जायेगा। जब यह माना जाए कि देश की सुरक्षित कोष की स्थिति शीघ्र ठीक हो जाएगी और की गयी कमी केवल अस्थाई है तो इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता। इसी प्रकार यदि की गयी कमी सुरक्षित कोष के आकार की तुलना में बहुत थोड़ी है तो असमतुल्यता अधिक महत्वपूर्ण नहीं होगी। हम इसे असमतुल्यता केवल तभी कहेंगे जबकि एक अर्थव्यवस्था लम्बे समय तक अपना सुरक्षित कोष दूसरों को प्रदान करती रहें।

असमतुल्य अर्थ-व्यवस्था की एक निशानी यह है कि सम्बन्धित देश अपने उपयोग का प्रबन्ध प्राय: बड़ी मात्रा में कर्जा लेकर कर पाता है। वैसे यह मापदण्ड अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है क्योंकि यदि एक देश का भविष्य उसके लिए अत्यन्त अनुकूल है तो भारी ऋण भी उचित हो सकता है किन्तु यदि भविष्य उसके प्रतिकूल है तो किसी भी प्रकार का कर्जा अबुद्धिपूर्ण रहेगा। इस सम्बन्ध में प्राय: कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। जब कभी यह मालूम हो कि कर्जा एक बुद्धिपूर्ण मात्रा से अधिक बढ़ रहा है और कर्ज लेने वालों की परिस्थितियों को देखते हुए कर्जा गलत रूप से भारी है तो इसे एक असन्तोषजनक स्थिति कहा जाएगा और उसके भुगतानों का सन्तुलन समतुल्यता के बाहर माना जायेगा।

अर्थ-व्यवस्था की उस स्थिति को भी असन्तोषजनक कहा जाता है जिसमें वह दूसरे देशों की सौगातों और दान पर बहुत कुछ निर्भर रहती हैं तथा उन्हीं के माध्यम से अपने भारी खर्चों को चलाने का प्रयास करती हैं। इस सम्बन्ध में भी परिस्थितियों पर बहुत कुछ अवलम्बित है। यदि यह मालूम पड़ जाए कि सौगात और दान को प्राप्त करने वाला देश अधिक समय तक उन पर आश्रित नहीं रहेगा तो इसे हम उस देश की कमजोरी का प्रतीक नहीं कह सकते किन्तु यदि यह आश्रयता अस्थाई नहीं दिखती है तो निश्चय ही इस स्थिति को असन्तोषजनक कहा जाएगा।

जब एक देश कर्ज या दान प्राप्त करता है और ऐसा लगता है कि इन स्रोतों पर उसकी आश्रयता समाप्त नहीं होगी तो यह असन्तोषजनक स्थिति मानी जाएगी। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह विश्वास नहीं होता कि दान देने वाला और कर्ज देने वाला भविष्य में हमेशा ही देता रहेगा। जब कभी उनके देने की इच्छा समाप्त होगी तभी वह देश पंगु बन जायगा। ऐसी स्थिति में जब हम यह जानना चाहें कि कर्ज लेना या ऋण लेना असमतुल्यता माना जाए अथवा नहीं तो हमको प्रश्न यह पूछना चाहिए कि कर्ज या दान देने वाला जब तक अनिच्छुक बनेगा उस समय तक क्या वह देश आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ सकता है? यदि इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक आता है तो मानना होगा कि स्थिति भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता का परिणाम है। यदि उत्तर "हां" में आता है तो यह माना जाएगा कि अर्थ व्यवस्था को कोई चुनौति नहीं हैं।

असमतुल्यता के स्रोत

(The Sources of Disequilibrium)

भुगतानों के सन्तुलनों में असमतुल्यता अनेक कारणों से पैदा होती है। जब कभी चालू लेखे के विनिमयों की अनुसूची में मांग और पूर्ति के अन्तर्गत

परिवर्तन होते हैं तो इन परिवर्तनों के पीछे काम करने वाली शक्ति ही असमतुल्यता का स्रोत होती है। यह पूर्णतः स्पष्ट है कि एक देश की समतुल्यता को अनेक तत्वों से प्रभावित किया जाता है। जब कभी भुगतानों के सन्तुलनों में असमतुल्यता पैदा होती है तो यह अनेक परस्पर सम्बन्धित तत्वों का परिणाम होती है जिनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भुगतानों के सन्तुलन में आने वाली असमतुल्यता को उसके स्रोतों के अनुसार मि० स्नाइडर (Delbert A. Snider) ने दो भागों में बांटा है—रचना सम्बन्धी (Structural) और चक्रवत तथा मौद्रिक (Cyclical and Monetary)। इन दोनों प्रकार के असन्तुलनों के बारे में कुछ संक्षेप में जानकारी प्राप्त करना उपयुक्त रहेगा।

(A) रचना सम्बन्धी असमतुल्यता (Structural Disequilibrium)

तकनीकी विकास और उपभोक्ताओं की प्राथमिकता के इस युग में प्रत्येक देश को आयात और निर्यात का सहारा लेना होता है। यह आयात और निर्यात जब मांग और पूर्ति की शर्तों के मूल रूप में होता है तो इसे समतुल्यता की अवस्था कहा जाता है किन्तु यदि उत्पादन के साधनों या माल अथवा सेवाओं की सापेक्षिक अन्तर्राष्ट्रीय मांग और पूर्ति में बदलाव आता है तो इससे पूर्व स्थित सन्तुलित सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और इससे रचना सम्बंध असमतुल्यता जन्म लेती है। रचना सम्बन्धी असन्तुलन वर्षों या दशाब्दियों तक बना रह सकता है और इस प्रकार भुगतान सन्तुलन में लगातार असमतुल्यता का स्रोत बना रहेगा। रचना सम्बन्धी असमतुल्यता के अनेक स्रोत होते हैं, इनमें से कुछ ये हैं—

(१) **पूंजीगत हानियां (Capital Losses)**—पूंजीगत भारी हानियों के परिणामस्वरूप रचना सम्बन्धी असमतुल्यता की स्थित पैदा हो सकती है और इसके फलस्वरूप उत्पादिता एवं वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में भी कमी आ जायेगी। जव युद्ध या अन्य किसी कारण से थोड़े ही समय में पूंजीगत हानियां हो जाती हैं तो उनका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। युद्ध के समय पर्याप्त भौतिक संहार और नुकसान होते हैं।

पूंजीगत हानियों के परिणामस्वरूप आयात की मांग असाधारण रूप से बढ़ जाती है क्योंकि देश में पैदा होने वाली उपभोग की वस्तुएं तथा कच्चे माल भी कम हो जाते हैं और पूंजीगत पुनः रचना की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर इस स्थिति में सम्बन्धित देश. निर्यात करने वाले माल, सेवाओं को उत्पादित नहीं कर पाता।

(२) उत्पादन का तरीका (The Pattern of Production)—अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण के आधारों और उत्पादन के साधनों में होने वाला परिवर्तन धीरे-धीरे होता है और यह रचना सम्बन्धी असमतुल्यता का कारण बनता है। विभिन्न देशों के मध्य जिन सापेक्षिक तत्वों का बंटवारा होता है वह स्थाई नहीं होता और उसमें परिवर्तन आते रहते हैं। उनमें आने वाले गम्भीर परिवर्तन निश्चय ही पूर्व स्थित असमतुल्यता को बदल देते हैं।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप भी रचना सम्बंधी गलत समायोजन हो सकता है क्योंकि इससे उत्पादित माल के निर्यात में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है और औद्योगीकृत देशों में बने हुए माल के आयात की मांग घट जाती है।

(३) मांग का रूप (Pattern of Demand)—समुतुल्यता की स्थिति के लिए यह जरूरी है कि उत्पादन के साधनों का निर्धारण इस प्रकार किया जाए कि यह माल और सेवाओं की मांग के रूप के साथ मेल खाता रहे। पूर्ति की दिशाओं में होने वाले परिवर्तन भी असमतुल्यता के कारण बनते हैं। जब प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय में तीव्र गति से वृद्धि होती है या आय के वितरण में परिवर्तन होते हैं तो मांग के रूप में उल्लेखनीय परिवर्तन होने का अवसर मिलता है। यदि उत्पादन के साधन पूर्ण रूप से गतिशील हैं तो वे मांग के बदले हुए रूप के अनुसार शीघ्र ही पुनः निर्धारण कर लेंगे। बहुत समय से अधिकांश देशों में यह एक सामान्य प्रवृत्ति रही है कि श्रम प्राथमिक उत्पादनों (Primary Productions) से निर्मित उद्योगों की ओर बदल रहा है। जब एक देश का जीवन स्तर यहां के उद्योगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है तो विभिन्न वस्तुओं की मांगें साधारण रूप से बढ़ने लगती हैं। इन मांगों की पूर्ति के लिए विदेशों का आश्रय लेना पड़ता है।

(४) व्यापार शर्तें (Terms of Trade)– व्यापार शर्तों का अर्थ आयातों की उस मात्रा से है जो निर्यातों की एक इकाई के लिए प्राप्त की जाती है। जब एक देश के निर्यात की कीमतें अपेक्षाकृत धीरे-धीरे बढ़ती हैं और आयातों के लिए किए जाने वाले भुगतान की मात्रा बढ़ जाती है तो यह माना जाता है कि व्यापार शर्तें अनुकूल नहीं हैं। एक देश की व्यापार शर्तें वहां के आयातों और निर्यातों की मांग तथा पूर्ति में होने वाले सापेक्षिक अन्तरों के कारण परिवर्तित होती रहती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यापार शर्तों में परिवर्तन असमतुल्यता के स्वतंत्र स्रोत नहीं है।

जब कृषि उत्पादनों एवं कच्चे माल की विश्व कीमतें जनसंख्या वृद्धि या उच्च स्तर की आय तथा ऐसी वस्तुओं की लोचहीन पूर्ति के कारण निर्मित वस्तुओं की कीमत से अधिक बढ़ जाती हैं तो कृषि सम्बन्धी सामान निर्यात करने वाले देशों की व्यापार शर्तें सुधर जाती हैं जबकि निर्मित माल

आयात करने वाले देशों की व्यापार शर्त विपरीत हो जाती हैं। व्यापार शर्तें विपरीत होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से एक देश को होने वाली प्राप्ति घट जाती है।

(५) **व्यापार का रूप (Pattern of Trade)**—एक देश की बाहरी समतुल्यता शेष संसार में उसकी आर्थिक स्थिति पर आधारित होती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि किसी भी देश की समतुल्यता की स्थिति का निर्धारण करने के लिए व्यापार में संलग्न-विभिन्न देशों के आर्थिक सम्बंधों का रूप भी प्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण हो सकता है। जब एक देश की समतुल्यता एक विशेष व्यापार के रूप पर आधारित होती है तो वह रूप उस देश के बाहरी आर्थिक सम्बंधों के लिए बहुत महत्वपूर्ण बन जाता है। इसमें होने वाले परिवर्तन संतुलन की पूरी तरह से अस्त-व्यस्त कर देते हैं।

(६) **दीर्घकालीन पूंजीगत प्रवाह में अन्तर (Changes in Long term Capital Flows)**—जब दीर्घकालीन पूंजी के प्रवाह की पूर्ति या दिशा में कोई बदलाव आता है तो उसके परिणामस्वरूप भी रचना सम्बंधी असमतुल्यता पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये एक देश विदेशों से दीर्घकालीन विदेशी राशियों को प्राप्त कर रहा है और यदि इन प्राप्तियों में कोई अन्तर आता है तो निश्चय ही उसकी समतुल्यता में अन्तर आ जावेगा। मि० स्नाईडर के शब्दों में, "पूंजीगत प्रवाह की गति के अचानक रुकने का कारण चाहे कुछ भी हो किन्तु इससे प्राप्तिकर्ता देश के उत्पादन की रचना में असंतुलन आ जायेगा और इसके परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन गम्भीर रूप से असमतुल्य बन जायेगा।"[1]

(७) **संस्थागत परिवर्तन (Institutional Changes)**—रचना सम्बंधी असमतुल्यता के कुछ और भी कारण हैं जो आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक रूप रचना के उन संस्थागत परिवर्तनों में निहित रहते हैं जिनमें कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का संचालन किया जाता है। इस प्रकार की असमतुल्यता के उदाहरण अनेक प्राप्त हो सकते हैं। जब व्यापार करने वाले देश कृत्रिम व्यापार या भुगतानों के अवरोध लागू कर देते हैं तो संस्थागत असमतुल्यता जन्म लेती है। जब एक देश अपने प्रशुल्क को बढ़ा देता है, नियतांश लागू करता है और आयात सम्बंधी प्रतिबंधों को कठोर कर लेता है तो इसके परिणामस्वरूप दूसरे देशों के भुगतान संतुलन में असमतुल्यता पैदा हो जाती है।

---

1. Delebert A. Snider, Op. Cit., Page 131.

चक्रवत और मौद्रिक असमतुल्यता
(Cyclical and Monetary Disequilibrium)

भुगतान सन्तुलन में असमतुल्यता व्यापार चक्र के कारण भी पैदा हो जाती है। इतिहास साक्षी है कि आय और उत्पादन में होने वाली प्रगति वृद्धि शील प्रवृत्तियों का साथ नहीं दे पाती। फलतः अल्पकालीन मुद्राप्रसार या मन्दी की स्थिति पैदा हो जाती है। व्यापार चक्र स्वमेव असमतुल्यता का कारण नहीं बनता वरन् इसके लिए कुछ शर्तें आवश्यक हैं। जैसे—(१) विभिन्न देशों में मुद्रा-प्रसार अथवा मन्दी की व्यापकता भिन्न हो, (२) विभिन्न देशों में चक्र के विभिन्न पहलुओं का समय भिन्न हो, (३) विभिन्न देशों में आयात के लिए मांग की आय लोचशीलता में भिन्न हों, इत्यादि। चक्रवत असमतुल्यता की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सम्पूर्ण चक्र के दौरान भुगतान सन्तुलन समतुल्य बने रहते हैं।

उक्त परिस्थितियों में असमतुल्यता का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(१) अन्य बातें यथावत् हों और व्यापार चक्र 'क' देश में 'ख' देश की अपेक्षा अधिक गहन हो तो 'क' में प्रसार (Boom) के समय प्रभाव की और मन्दी के समय आधिक्य की स्थिति रहेगी। 'ख' देश में इसके विपरीत होगा। प्रसार के समय आय 'क' देश में 'ख' देश की अपेक्षा बढ़ जायेगी। फलतः 'क' के आयातों में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होगी। मन्दी के समय 'क' की आय अपेक्षाकृत अधिक घटेगी और इसलिए उसके आयातों में अधिक कमी हो जायेगी।

(२) चक्र के विभिन्न पहलू यदि अलग देशों में अलग समयों पर होते हैं तो भुगतान सन्तुलन में असमतुल्यता पैदा हो जाती है। इस आधार पर एक देश के आयातों में कमी अथवा वृद्धि हो जाती है।

(३) आयातों के लिए मांग की अन्य लोचशीलताओं में अन्तरों के कारण भी चक्रवत असमतुल्यता पैदा हो जाती हैं। अन्य बातों के यथावत् रहते हुए यदि 'क' देश में आयातों की मांग की आय लोचशीलता 'ख' देश की अपेक्षा अधिक है तो वृद्धि के दौरान 'क' देश घाटे से ग्रस्त बन जायेगा और मन्दी के समय अतिरेक का उपभोग करेगा। आयातों के लिए तुलनात्मक रूप से अधिक लोचशीलता होने के कारण 'क' देश में आयातों के उतार-चढ़ाव अपेक्षाकृत अधिक होंगे।

(४) विभिन्न देशों में मांग की कीमत लोचशीलता में अन्तरों से भी चक्रवत असमतुल्यतायें जन्म लेती हैं। साधारणतः वृद्धि के समय कीमतें बढ़ती हैं और मन्दी के समय घट जाती हैं। अन्य बातों के यथावत् रहने पर यदि

'क' में आयातों के लिए मांग की कीमत लोचशीलता यदि 'ख' से उच्चतर है तो 'क' को वृद्धि के समय अतिरेक प्राप्त होगा और मन्दी के समय घाटे की स्थिति रहेगी। 'क' देश में आयातों के लिए होने वाले उतार-चढ़ाव भी अपेक्षाकृत अधिक होंगे।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण परिस्थितियां भुगतान सन्तुलनों में चक्रवत असमतुल्यता का कारण बनती है। ये सम्पूर्ण परिस्थितियां ही नहीं हैं इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उल्लेखनीय है।

मौद्रिक असमतुल्यता उस समय पैदा होती है जब दूसरे देशों की अपेक्षा एक देश की कीमतों तथा धन के सामान्य स्तर में परिवर्तन आते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि चक्रवत आय और सापेक्षिक राष्ट्रीय कीमत तथा लागत स्तरों में होने वाले परिवर्तन परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बंधित होते हैं। मौद्रिक राष्ट्रीय आय में सामान्य वृद्धि का अर्थ यह है कि माल और सेवाओं की कुल मांग में वृद्धि हुई है। यदि वर्तमान मूल्यों पर माल और सेवाओं की पूर्ति बढ़ी हुई मांगों के लिए पर्याप्त नहीं है तो इसके परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति जन्म लेगी। विश्लेषणात्मक रूप से आय और कीमत के भुगतान सन्तुलन पर पड़ने वाले प्रभावों को अलग किया जा सकता है। एक सीमा तक मौद्रिक राष्ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तन वास्तविक आय परिवर्तनों की अभिव्यक्ति होते हैं। यह भुगतान संतुलन पर आय का प्रभाव है।

दूसरी ओर जिस सीमा तक ये मूल्य स्तर के परिवर्तनों की अभिव्यक्ति, ये भुगतान सन्तुलन पर कीमत का प्रभाव दिखाते है। दोनों प्रभाव एक ही दिशा में कार्य करते हैं। कीमतों और लागतों के राष्ट्रीय स्तर में सापेक्षिक वृद्धि के कारण न केवल आयातों में वृद्धि होती है वरन् निर्यातों में कमी भी हो जाती है। इसी प्रकार राष्ट्रीय कीमत और लागत-स्तर पर होने वाली सापेक्षिक वृद्धि से न केवल आयात गिर जाते हैं वरन् निर्यातों में भी वृद्धि हो जाती है। राष्ट्रीय कीमत एवं लागत स्तर में सापेक्षिक वृद्धि होने के कारण भुगतान सन्तुलन के चालू खाते में घाटे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मौद्रिक असमतुल्यता की एक विशेष स्थिति के रूप में विनिमय दर (Exchange Rate) की असमतुल्यता का नाम भी लिया जा सकता है। किसी देश की विनिमय दर में होने वाली कमी के सापेक्षिक मूल्य स्तरों पर पड़ने वाले प्रभाव घरेलू कीमतों में वृद्धि या विदेशी कीमतों में कमी के बराबर होते हैं। जब कभी आयातों को प्रोत्साहन देकर निर्यातों में कमी करके मुद्रा का अत्यधिक मूल्यांकन किया जाता है तो इसके फलस्वरूप भुगतानों के सन्तुलन में उत्पादन की घाटे की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

स्पष्ट है कि एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का निर्धारण करने में अनेक तत्वों का महत्व है जैसे–उत्पादन के साधनों की सापेक्षिक पूर्ति, आय के वितरण और स्तर, लागतों और कीमतों का स्तर, विनिमय दर आदि-आदि। इनमें से कुछ तत्वों की प्रकृति तो रचना सम्बन्धी है जबकि अन्य में तीव्र गति से परिवर्तन हो सकता है। असमतुल्यता न केवल अन्तर्राष्ट्रीय मांग और पूर्ति की मूल शक्तियों में परिवर्तनों द्वारा ही पैदा हो सकती हैं वरन् चक्रवत आय और सापेक्षिक कीमत परिवर्तनों से भी हो सकती है।

भुगतान सन्तुलन के लेखे
(The Accounts of Balance of Payments)

विभिन्न देशों की सरकारें दूसरे देशों के साथ किए गये वास्तविक भुगतानों का अभिलेख रखती हैं ताकि वे यह जान सकें कि अन्तरर्राष्ट्रीय व्यापार की वास्तविक स्थिति क्या है? भुगतान सन्तुलनों के लेखों में उन कारणों का उल्लेख किया जाता है जिनके लिए भुगतान किए गये हैं। इन्हें देखकर हम यह कह सकते हैं कि भारतवासियों को भारतीय माल की खरीद के लिए, या भारतीय सेवाओं के प्रयोग के लिए कितना भुगतान किया गया? ये लेखे यह भी बता सकते हैं कि भारत के द्वारा विदेशी माल की खरीद के लिए, विदेशी सेवाओं के प्रयोग के लिए और विदेशियों को उधार देने के लिए कितना भुगतान किया गया? जो मद विदेशी मुद्रा की खरीद को आवश्यक बनाती हैं उसे लेखों के नाम पक्ष की ओर लिखा जाता है। दूसरी ओर जो मद बिदेशी मुद्रा की बिक्री को प्रदर्शित करती है उसे जमा खाते की ओर लिखा जाता है।

यह सच है कि विदेशी विनिमय बाजार में खरीदे गये रुपयों की संख्या बेचे गये रुपयों की संख्या के बराबर होनी चाहिये किन्तु यह बात एक विशेष चीज की खरीदारी या बिक्री पर लागू नहीं होती। कभी-कभी आयात के लिये विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के हेतु बहुत से रुपये बेच दिये जाते हैं।

भुगतान सन्तुलन के लेखों के अनेक रूप होते हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—चालू खाता (The Current Account), पूंजी खाता (The Capital Account), एकपक्षीय हस्तान्तरण (Unilateral Transfer), स्वर्ण खाता (Gold Account) आदि। "इनमें से भुगतान सन्तुलन खाते में अधिकांश महत्वपूर्ण विभाजन चालू खाते और पूंजी खाते के बीच होता है। चालू खाते में वे सभी भुगतान आते हैं जो सामान और सेवाओं के माल के खरीददारी के

लिये किये गये हैं।"[1] इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता कि चालू खाते के भुगतानों को क्यों सन्तुलित होना चाहिये ? हो सकता है कि एक देश अधिक आयात करने के लिए अपनी मुद्रा को अधिक बेचे और उसकी यह मात्रा निर्यातों की बिक्री से प्राप्त होने वाली मुद्रा से कम हो। यदि ऐसा है तो देश को कहीं से भी मुद्रा का प्रबन्ध करना होगा और चालू खाते में जो खरीददारी का अतिशय हुआ है उसे पूंजी खाते में होने वाली बिक्रियों की बहुतायत के द्वारा मिलाना होगा। पूंजी खाते में दीर्घकालीन विनियोग, अल्पकालीन विनियोग और चलन के आवागमन की मदें सम्मिलित की जाती हैं। मि० लिप्से और स्टेनियर (Lipsey and Stenier) के कथनानुसार, "पूंजीगत खाते में उस प्रत्येक लेन-देन को रखा जाता है जिसे चालू खाते में नहीं रखा गया है।"[2] पूंजीगत खातों में जिन मुख्य मदों को रखा जाता है उनमें पूंजीगत हस्तान्तरण और बिक्री आदि को लिया जाता है। जब कोई भारतीय नागरिक विदेशों में विनियोग करना चाहता है तो उसे सम्बन्धित देश की विदेशी मुद्रा प्राप्त करनी होगी। उसे रुपये बेचकर विदेशी मुद्रा खरीदनी होगी। इसको भुगतान सन्तुलन में घाटे की दर के रूप में लिया जाता है क्योंकि लेन-देन में डालर का उपयोग किया गया है।

एक पक्षीय हस्तान्तरण में भेंट में दी जाने वाली मदों को शामिल किया जाता है और स्वर्ण खाते में केवल सोने के आवागमन की मदें ही रखी जाती हैं।

भुगतान सन्तुलन के लेखों को अनेक रूपों में देखा जा सकता है। जब विदेशी मुद्रा की बिक्री और घरेलू मुद्रा की खरीद को विदेशी मुद्रा की खरीद और घरेलू मुद्रा की बिक्री के बराबर बना लिया जाता है तो सन्तुलन की स्थापना हो जाती है। इसका एक दूसरा रूप यह है कि वस्तुओं और सेवाओं का समस्त निर्यात तथा समस्त पूंजीगत आयात एक प्रकार से वस्तुओं और सेवाओं के समस्त आयातों और पूंजीगत निर्यातों के बराबर होना चाहिये।

---

1. "The balance of payments on current accounts includes all payments made because of current purchases of goods and services"—Richard G. Lipsey and Peter O. Steiner, Economics, Page 430.
2. "The capital accounts records transactions for every thing other than what is recorded in the current account." —Ibid. Page-431.

जब हम समस्त लेन-देन को दो भागों में विभाजित करते हैं तो निम्न स्थिति पाते हैं—

जमा	नाम
(अ) चालू खाता	
(१) वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात	(३) वस्तुओं और सेवाओं का आयात
(ब) पूंजी खाता	
(२) माल और सेवाओं का निर्यात	(४) माल और सेवाओं का आयात

भुगतान सन्तुलन की स्थिति में १ + २ आवश्यक रूप से ३ + ४ होता है और यदि ऐसा है तो एक खाते के घाटे को दूसरे खाते के उतने ही अतिरेक द्वारा पूरा किया गया है। भुगतान सन्तुलन केवल तभी रह पायेगा जब चालू खाते के घाटे को पूंजी खाते के अतिरेक द्वारा पूरा किया जाये अर्थात इसके लिए या तो विदेशों से कर्जा लिया जाय अथवा घरेलू केन्द्रीय सत्ता द्वारा रखे जाने वाले विदेशी विनिमय अथवा सोने को कम किया जाय। यदि किसी एक वर्ष में आयातों का मूल्य उसके निर्यातों के मूल्य से अधिक हो गया है तो अतिरिक्त आयात करने के लिये आवश्यक विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध कहीं न कहीं से करना होगा। इस प्रकार का प्रबन्ध कम से कम वे लोग तो नहीं कर सकते जो भारतीय माल और सेवायें खरीदने के लिए भारतीय रुपये के हेतु विदेशी मुद्रा दे रहे हैं। इसके लिये या तो किसी से धन उधार लेना पड़ेगा अथवा सरकार अपने विदेशी मुद्रा या स्वर्ण भण्डार में से प्रबन्ध करेगी। यदि विदेशियों द्वारा भारत में धन का विनियोग किया जा रहा है तो वे अपने देश की मुद्रा को देकर भारतीय मुद्रा खरीद लेंगे ताकि भारतीय फर्मों द्वारा प्रसारित स्टॉक एवं बॉण्ड खरीद सकें। इस प्रक्रिया द्वारा भारत अपने निर्यात की अपेक्षा अतिरिक्त आयात की पूर्ति के लिये आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकेगा। एक दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि अमेरिका की केन्द्रीय सत्तायें अपने पास से कुछ विदेशी मुद्रा या सोना उन लोगों को बेच दें जो विदेशी माल खरीदने तथा बदले में रुपये प्राप्त करने के इच्छुक हैं।

चालू खाते में अतिरेक (Surplus) का अर्थ यह होता है कि निर्यातों का मूल्य आयातों के मूल्य से अधिक होगा अर्थात विदेशियों को भारतीय स्रोतों से भारतीय सामान खरीदने के लिये आवश्यक भारतीय रुपये प्राप्त नहीं हो सकेंगे। आयातों की अपेक्षा अधिक होने वाले निर्यात की कीमत को केवल तभी चुकाया जा सकता है जब विदेशी अन्य स्रोतों से रुपया प्राप्त करें। यहां उनके सम्मुख दो सम्भावनायें हैं :—(१) भारतीय रुपया उन निवेश कर्त्ताओं द्वारा प्रदान किया जा सकता है जो विदेशी माल खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के इच्छुक हैं। ऐसी स्थिति में आयातों की अपेक्षा निर्यातों के अतिरेक को विदेशों में भारतीय कर्जे के रूप में सन्तुलित किया जावेगा।

(२) विदेशी सरकारें अपने भारतीय रुपये के खजाने को कम करें और उसे उन लोगों को बेच दें जो अमेरिकी माल खरीदना चाहते हैं। बदले में सरकार घरेलू मुद्रा ग्रहण कर लेती है। चालू खाते में अतिरेक को पूंजी खाते के घाटे द्वारा बराबर बनाया जाता है। इसके लिये या तो विदेशों को कर्ज देना पड़ेगा अथवा विदेशी केन्द्रीय सत्ताओं द्वारा रखे गये सोने और विदेशी विनिमय के सुरक्षित भण्डार को काम में लेना होगा।

चालू खाते का बनाना—चालू खाते को प्रायः दृश्य और अदृश्य व्यापार के रूप में विभाजित किया जाता है। दृश्य व्यापार का सम्बन्ध वस्तुओं से रहता है अर्थात कार, काफी, चाय, लोहा, अल्मूनियम, लकड़ी के लठ्ठे आदि वे सारी चीजें जिनको अन्तर्राष्ट्रीय सीमायें पार करते समय हम देख और छू सकते हैं। अदृश्य व्यापार के अन्तर्गत वे सेवायें तथा चीजें आती हैं जिनको हम छू नहीं सकते। उदाहरण के लिये-बीमा, जहाज का शुल्क आदि। बीमा सेवाओं के लिए भुगतान प्रायः भुगतानकर्त्ता देश की मुद्रा में ही किया जाता है और इसलिये यह प्राप्त करने वाले देश के लिए आयात और भुगतान करने वाले देश के लिए निर्यात है।

पूंजीगत खाते का बनाना--पूंजीगत खाते में विदेशी पूंजी की समस्त गतियों का अभिलेख रखा जाता है। यदि भारतीय निवेशकर्त्ता विदेशों में निवेश करते हैं तो उन्हें भारतीय रुपया देना होगा ताकि विदेशी मुद्रा प्राप्त की जा सके। इस प्रकार यह विदेशी विनिमय के घाटे की स्थिति को सुधारने में योगदान करता है क्योंकि इसमें विदेशी मुद्रा का प्रयोग होता है। भारत में जब विदेशी स्रोतों द्वारा विनियोग किया जाता है तो पूंजी लेखों में अतिरेक पैदा होता है। पूंजी के आवागमन को दीर्घकालीन पूंजीगत आवागमन, अल्पकालीन आवागमन और विनिमय सुरक्षितों के परिवर्तनों आदि के रूप में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार के आवागमन क्यों होते हैं, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। निवेशकर्त्ता जोखिम उठाकर वहां विनियोग करना चाहता है जहां से उसे अधिक से अधिक प्राप्ति हो सके। जिस प्रकार देश के अन्तर्गत पूंजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग में आती-जाती रहती है, ताकि उसका अधिक से अधिक प्रयोग किया जा सके उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी का आवागमन चलता रहता है। इस प्रकार के पूंजीगत आवागमनों का अर्थ यह होता है कि एक देश के रहने वाले लोग तथा फर्में दूसरे देश के उद्योगों में निवेश कर रहे हैं और इनको भुगतान लेखों में दीर्घकालीन आवागमन में दिखाया जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व का तथ्य व्यापारियों को धन का सन्तुलन रखने के लिए बाध्य करता है। व्यापारियों की प्राप्तियां एवं खर्चे

पूर्ण रूप से एक समय नहीं होते फिर भी वे सन्तुलन बनाए रखते हैं। प्रेरकों में थोड़ा और परिवर्तन लाने वाली प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप या सभी प्रकार के वास्तविक या कल्पनात्मक भयों के द्वारा राशियां इधर से उधर आवागमन कर सकती हैं। इस प्रकार की राशियों की बड़ी मात्रा अन्तर्राष्ट्रीय अस्थायित्व का एक सम्भावित स्रोत है क्योंकि जब एक मुद्रा से दूसरी मुद्रा में अल्पकालीन पूंजी की एकदम भीड़ लग जाती है तो विदेशी मुद्रा के लिए माँग और पूर्ति में गम्भीर परिवर्तन हो जाते हैं।

पूंजीगत लेखों में अन्तिम तत्व केन्द्रीय सत्ताओं के पास स्थित सोने और विदेशी विनिमय के सुरक्षित भण्डारों में परिवर्तन हैं। अधिकांश देशों की केन्द्रीय सत्ताएं सोने और विदेशी विनिमय की पूर्ति को इसलिए रखती हैं ताकि वे विदेशी विनिमय के बाजारों में विभिन्न उद्देश्यों के लिए हस्तक्षेप कर सकें। इस दृष्टि से सोने का बहुत महत्व रहता है क्योंकि उसे बड़ी आसानी से और तत्काल किसी भी वांछनीय विदेशी मुद्रा में बदला जा सकता है। यदि एक देश प्राप्त की गयी मुद्रा से अधिक का प्रयोग करता है तो इस घाटे की पूर्ति उसे अपने विदेशी विनिमय और सोने के सुरक्षित भण्डार में कमी करके करनी होगी। संयुक्तराज्य अमेरिका में ये सुरक्षित भण्डार मुख्य रूप से सोने के रूप में रखे जाते हैं और उसे सभी अन्य मदों पर भुगतान सन्तुलन के घाटे को सोने के निर्यात द्वारा पूरा करना होता है।

भुगतान संतुलनों का समायोजन

(Adjustment Mechanisms under Alternative Trade and Monetary Systems)

भुगतान सन्तुलनों में समायोजन करना परम आवश्यक है क्योंकि विनिमय की दर एक ऐसी कीमत होती है जिसे विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति की क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। इसके अलावा विनिमय दर एक ऐसा तत्व भी है जो विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति को प्रभावित करती है। इस प्रकार विनिमय-दर (Rate of Exchange) कारण और कार्य दोनों है। यहां यह विषय महत्व पूर्ण है कि भुगतान सन्तुलनों में विदेशी विनिमय की मांग और उसकी पूर्ति के बीच किस प्रकार सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

समायोजन की आवश्यकता

(The necessity of Adjustment)

भुगतान सन्तुलनों में जब असंतुलितता आ जाती है तो एक देश के माल और सेवाओं का निर्यात उसके आयातों की अपेक्षा घट जाता है। समायोजन की आवश्यकता प्रायः इसलिये होती है क्योंकि एक देश में विदेशी मुद्रा

की पूर्ति संकुचित रहती है। इस सम्बन्ध में किंडलेबर्गर (Kindleyberger) का कहना है कि "ब्रिटिश सरकार जब चाहे तब पौण्ड छाप सकती है अथवा बैंकिंग व्यवस्था के माध्यम से उन्हें बना सकती है किन्तु वह अमेरिकी डालर नहीं बना सकती।"[1] ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि सामंजस्य की किसी व्यवस्था द्वारा भुगतान संतुलन की असमतुल्यता को दूर किया जाय। जब एक देश की विदेशी विनिमय की पूर्ति उसकी वर्तमान आवश्यकताओं को देखते हुये कम रहती है तो उसे अपनी विदेशी विनिमय की प्रतिभूतियाँ (Reserves) और सोने को काम में लेना होता है और इस प्रकार उसकी विदेशी सम्पत्ति कम हो जाती है तथा उसके विदेशी दायित्व बढ़ जाते हैं। ऐसी स्थिति में उसका भुगतान सन्तुलन घाटे की अवस्था में माना जायेगा। दूसरी ओर यदि भुगतानों की प्राप्ति का स्तर भुगतानों के दायित्व से अधिक है तो यह कहा जायगा कि भुगतानों के सन्तुलन में अतिरेक है और समतुल्यता का अभाव है।

भुगतान सन्तुलन में कमी अथवा अतिरेक कोई असाधारण बात नहीं है वरन् यह तो प्रायः होता ही रहता है। वस्तुओं की कीमत के घटने-बढ़ने से अथवा उसकी मांग कम या अधिक होने से भुगतान सन्तुलन आगे-पीछे चलता रहता है।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से देश का भुगतान सन्तुलन बिगड़ सकता है। इनमें प्रकृति का प्रकोप, आर्थिक मंदी, व्यापार चक्र (Business Cycle), युद्धजनित उत्पादनों का जन्म, पुराने उत्पादनों की रचना के नये तरीके तथा अन्य कई कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किंडलेबर्गर के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन की समस्या एक प्रदत्त कीमत पर एक प्रदत्त विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति के बीच स्थित अन्तरों में समझौता करना है।"[2]

---

1. "The British Govt. can print Pounds Sterling any time it chooses (or create them through the Banking System), it can not however, create U.S. Dollars".—Charles P. Kindleyberger, International Economics", Page 63.
2. "The problem of International Adjustment is that of reconciling. The differences between the demand for and the supply of a given foreign exchange at a given price."--C. P. Kindleyberger.

जब एक देश का भुगतान सन्तुलन अस्त-व्यस्त होता है तो उसे किस प्रकार स्थापित किया जाय यह एक समस्या है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त शास्त्रियों ने इस प्रश्न पर बहुत समय पूर्व ही विचार करना प्रारम्भ किया और इस विषय पर पर्याप्त साहित्य मिलता है। इस साहित्य का संक्षिप्तीकरण करते हुये वाल्टर क्रॉज (Walter Krause) ने लिखा है कि स्वतन्त्र व्यापार की स्थितियों में (या तो स्वर्ण मान के अधीन या अपरिवर्तनीय कागज के अधीन) जब विनिमय दरें (Exchange Rates), कीमतों (Prices) और आय (Incomes) में परिवर्तन होते हैं तो भुगतान संतुलन में सामंजस्य स्वत: ही होता रहता है। इसके विपरीत जो देश स्वतंत्र व्यापार की स्थितियों में सामंजस्य नहीं लाना चाहता वह घाटे की स्थिति में अपने अन्तर्राष्ट्रीय लेखों को संतुलित बनाने के लिये विनिमय नियंत्रण (Exchange Control) लागू कर सकता है। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय की मांग को जबरदस्ती इतना घटा देना है कि उसकी मात्रा उपलब्ध पूर्ति से अधिक न होने पाये ।[1] इस सम्बन्ध में मि. हेबरलर का यह कहना पर्याप्त सही है कि "भुगतान संतुलनों का सामंजस्य करने वाले यंत्र से सम्बन्धित सिद्धान्त इतना ही पुराना है जितनी कि स्वयं आर्थिक विचारधारा है ,"[2]

समायोजन की व्यवस्थायें

(The Systems of Adjustment)

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भुगतानों के अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य की स्थापना के लिये विभिन्न प्रक्रियाएं अपनाई जा सकती हैं। सामंजस्य की इन प्रक्रियाओं अथवा व्यवस्थाओं को प्रस्तुतीकरण की सरलता के लिये मि०क्रॉज (Mr. Crause) ने तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है—

(१) स्वर्णमान की स्थितियों के आधीन सामंजस्य (The Adjustment under conditions of the Gold Standard);

---

1. Walter Krause, The International Economy, Constable and Co. Ltd., London, 1955, Page. 85.
2. "The Theory of the adjustment mechanism of the balance of payments is as old as economic theory itself."--Gottfried Heberler, A survey of International Trade Theory, International Finance Section, Deptt. of Economics, Princeton University, 1961, P. 30.

(२) अपरिवर्तनीय कागजी मुद्राओं के आधीन सामंजस्य (Adjustment under inconvertable-paper Currencies) तथा

(३) विनिमय नियंत्रण की व्यवस्थाओं के आधीन सामंजस्य। (Adjustment under Systems of Exchange Control)

प्रो० किंडले बर्गर ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य की ऐसी ही तीन व्यवस्थाओं का वर्णन किया है। उनके मतानुसार इनमें से प्रथम दो की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय है जबकि अन्तिम की राष्ट्रवादी है। उनके द्वारा वर्णित व्यवस्थाएं निम्न प्रकार हैं—

(१) **स्वर्णमान या निश्चित विनिमय दर (Gold Standard or Fixed Exchange Rates)**—इस व्यवस्था का मूल तत्व यह है कि विदेशी विनिमय की दरों को स्थिर रखा जाय और व्यवस्था के अन्य आन्तरिक तत्वों जैसे धन की मात्रा, राष्ट्रीय आय, कीमतों का स्तर तथा बैंकिंग और प्रशुल्क नीति आदि के द्वारा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन में बनाये रखने की आशा की जाय।

(२) **कागजी मान या लोचशील विनिमय दर (Paper Standard or Fluctuating Exchange Rate)**—इस व्यवस्था के आधीन अपनाई गई स्थिति पूर्व वर्णित की अपेक्षा विपरीत होती है। इसमें राष्ट्रीय आय, घरेलू कीमत स्तर, मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति और प्रशुल्क सम्बन्धी व्यवहारों को यथावत् रखा जाता है और विनिमय दरों में परिवर्तन लाकर अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

(३) **विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)**—इस व्यवस्था में उपर्युक्त दोनों व्यवस्थाओं के तत्वों को मिला दिया जाता है। इसमें राष्ट्रीय आय और धन की मात्रा आदि को यथावत् रखा जाता है और एक स्थाई विनिमय दर कायम की जाती है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इसमें आयातों को प्रत्यक्ष रूप मे निर्यात के स्तर पर सीमित कर दिया जाता है या निर्यातों को आयातों के स्तर पर लाया जाता है अथवा दोनों को थोड़ा-थोड़ा बदला जाता है।

इन तीनों व्यवस्थाओं के बीच मूल-भूत अन्तर को निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
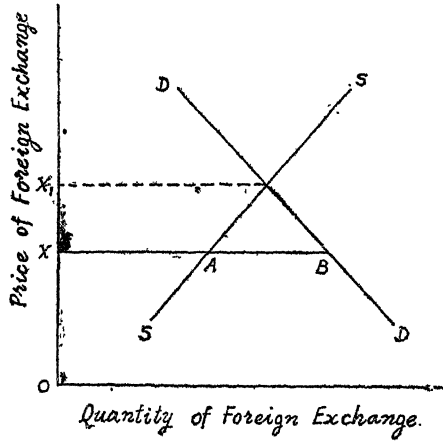
Adjustment under fixed Exchanged Rates, Fluctuating Exchange Rates and Exchange Control.

इस रेखाचित्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि विदेशी मुद्रा की मांग (D, D) विदेशी मुद्रा की पूर्ति (S,S) से अधिक बढ़ जाती है। निश्चित विनिमय दर के आधीन घरेलू नीतियां बदली जायेंगी ताकि पूर्ति और मांग स्वतंत्र बाजार में O, X कीमत पर समतुल्य बनाई जा सके। एक लोचशील विनिमय दर के आधीन घरेलू नीतियों में परिवर्तन को अनावश्यक समझा जायगा और पूर्ति तथा मांग की शक्तियों को समतुल्य कीमत O X_1 लाने की स्वतंत्र अनुमति दी जायगी। विनिमय नियन्त्रण के आधीन O X कीमत को XY मात्रा की मांग करने वाले लोगों में उपलब्ध पूर्ति XA को आवंटित करके बनाये रखा जायगा। इस प्रकार A B द्वारा प्रस्तुत की गई मांग का भाग अपूर्ण बना रहेगा।

स्वर्णमान के आधीन विनिमय दर स्वर्ण-बिन्दुओं की सीमाओं में रह-कर लोचशील होने के लिये स्वतंत्र रहती है। इस प्रकार सामन्जस्य की प्रक्रिया कीमतों और आय में परिवर्तन के द्वारा सम्पन्न की जाती है। आय और क़ीमतों में परिवर्तन व्यापार को और इस प्रकार विदेशी विनिमय की पूर्ति और मांग को प्रभावित करते हैं। भुगतानों के सन्तुलन में समतुल्यता केवल तभी मानी जा सकती है जब विदेशी विनिमय की पूर्ति और मांग दोनों का अनुपात बराबर हो। अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा के आधीन विनिमय की

दर असीमित रूप से लोचशील रह सकती है। इस दर में परिवर्तन एवं कीमतों तथा आय के परिवर्तन मिल कर विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति को बराबर बनाने का प्रयास करते हैं। जो देश स्वतन्त्र बाजार की परिस्थितियों में समायोजन की स्थापना नहीं करता वह विदेशी विनिमय की मांग को उपलब्ध पूर्ति की मात्रा तक सीमित करने के लिये विनिमय नियंत्रण लगा सकता है। यहां विनिमय दर स्थिर बनी रहने दी जाती है। इस प्रकार सन्तुलन बाध्यकारी तरीकों से प्राप्त किया जाता है न कि स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के माध्यम से।

इस प्रकार असमतुल्यता (Disequilibrium) की स्थिति में सामन्जस्य स्थापित करना परमावश्यक होता है। तारशिस (Tarshis) का कहना है कि "जब भुगतान सन्तुलन समतुल्यता से बाहर है तो कुछ न कुछ होना चाहिये। यदि कुछ भी न करने की नीति अपनाई गई तो भी समायोजन होकर रहेगा।" [1] जब जानबूझ कर समायोजन नहीं किया जाता तो जो समायोजन होता है, वह अनिच्छापूर्ण होता है और ऐसी स्थिति में सम्बन्धित व्यक्तियों को अपनी खरीददारी कम करनी पड़ती है।

समायोजन जिन परिस्थितियों में किया जा सकता है उनका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। इन परिस्थितियों में किये जाने वाले प्रयासों का उल्लेख हम पृथक से कर सकते हैं। ये प्रयास समायोजन की परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। जिस समय भुगतानों का सन्तुलन सन्तुलित रहते हुये भी सन्तोषजनक स्तर पर नहीं रहता उस समय सन्तुलन की नवीन एवं आकर्षक स्थिति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इसके लिये सरकार और मौद्रिक संस्थाएं अपनी आय के स्तर को बढ़ाने का लक्ष्य अपना लेती हैं अथवा आय प्रतिबन्धों को छूट दे देती हैं या उन्हें सीमित कर देती हैं अथवा पूंजीगत बाजार को स्वतन्त्र कर देती है। असमतुल्यता की स्थिति को सुधारने के लिये जो विभिन्न प्रयास किये जाते हैं उनको तारशिस (Tarshis) ने तीन समूहों में वर्गीकृत किया है—(१) अपरम्परागत किन्तु अप्रत्यक्ष उपाय (२) परम्परागत किन्तु प्रत्यक्ष उपाय और (३) धीमी गति वाले प्रयास।

---

1. "When the balance of Payment is out of equilibrium, something must happen........even if a Policy of complete inaction is adopted, an adjustment will have to take place." —Lorie Tarshis, Introduction to International Trade and Finance, 1955, P. 300.

इनमें से कुछ प्रयासों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) **निर्यातों में वृद्धि**—असमतुल्यता को दूर करने का एक तरीका यह है कि पहले व्यापार सन्तुलन प्राप्त किया जावे। इसके लिए निर्यातों में वृद्धि की जायेगी और आयातों में कमी करनी होगी। निर्यातों को कई प्रकार से बढ़ाया जा सकता है। यदि उत्पादन लागत को कम कर दिया जाए और उत्पादन के सभी साधनों पर किए जाने वाले व्यय को कम कर दिया जाए तो निर्यातित वस्तु की कीमत घट जाएगी और उसका व्यापार अधिक लोकप्रिय हो सकेगा। निर्यात-कर में कमी करके भी सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त देश के उत्पादकों को आर्थिक सहायता प्रदान करके एक देश अपने निर्यात को बढ़ाने का प्रयास कर सकता है। सरकारी सहायता उत्पादन लागत में कमी कर देती है और इसलिये विदेशों में सस्ता माल बेचा जाता है। फलत: विदेशों में स्वदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ेगी और निर्यात प्रोत्साहित होगा।

(२) **आयातों में कमी**—जब निर्यात को प्रोत्साहन देने के उपाय समतुल्यता की स्थापना नहीं कर पाते तो इसके लिये आयातों में कमी करनी होती है। इस दृष्टि से या तो नये आयात कर लगा दिये जाते हैं या पहले के आयात करों में वृद्धि की जाती है। ऐसा करने से वस्तु की कीमत महंगी हो जायेगी, इसलिये स्वाभाविक रूप से आयात की मात्रा कम हो जायेगी। आयातों को कम करने के लिए आयात नियतांश प्रणाली (Import Quota System) को भी अपनाया जा सकता है। इसके अनुसार आयात करने की अनुज्ञप्ति (Licence) केवल कुछ व्यापारियों को ही दी जाती है। इन व्यापारियों द्वारा केवल उतने ही माल का आयात किया जायेगा जितना सरकार द्वारा निर्धारित किया जायेगा या किया गया है। सरकार द्वारा यह मात्रा देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती है।

(३) **मुद्रा संकुचन या अवस्फीती (Deflation)**—भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता को दूर करने का यह एक अन्य साधन है। इसका अर्थ यह है कि देश में मुद्रा की मात्रा, और वस्तुओं की लागत एवं मूल्यों को कम कर दिया जाये। परिणामस्वरूप देशवासियों की आय कम हो जाएगी। उनको रोजगार की सुविधायें कम मिलेंगी तथा देश का सापेक्षिक उपभोग भी कम हो जावेगा। इस कमी के कारण देशी और विदेशी वस्तुओं की खपत कम होगी। जब आयातित वस्तुओं का उपभोग कम हो जाएगा तो आयात की मात्रा भी घट जाएगी। इसके अतिरिक्त वस्तुओं की लागत और मूल्य कम होने के कारण देशी वस्तुयें अपेक्षाकृत

सस्ती पड़ती हैं और इसलिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग स्वाभाविक रूप से कम हो जाता है। निर्यात की मात्रा बढ़ने लगती है।

यद्यपि मुद्रा अवस्फीती प्रणाली के द्वारा देश के भुगतान सन्तुलन को समतुल्य बनाने में सहायता मिलती है किन्तु फिर भी इस नीति को अपनाना अधिक अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि देश के मूल्य गिर जाने से आर्थिक संकट आ सकता है। इससे उत्पादकों को हानि होती है। मजदूरों का परिश्रम कम होता है और उनके बीच बेरोजगारी की मात्रा बढ़ जाती है। इन सब कारणों से इस नीति का प्रयोग करने में सावधानी बरतनी चाहिये। इसके अलावा यदि दूसरे देश इस नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप अपने देश में मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के मूल्य को कम कर दें तो यह नीति अधिक फलदायक नहीं होगी।

(४) **मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation of Currency)**—यह एक अन्य प्रक्रिया है जिसे भुगतान सन्तुलन में समानता लाने की गरज से प्रयुक्त किया जाता है। अवमूल्यन में एक देश अपनी मुद्रा के बाहरी मूल्य को कम कर देता है जिसके परिणाम-स्वरूप वह मुद्रा पहले की अपेक्षा विदेशों से कम वस्तुयें खरीद पाती है और विदेशी वस्तुओं को खरीदने में पहले की अपेक्षा अधिक धन देना होता है। अवमूल्यन हो जाने से विदेशी मुद्रा पहले की अपेक्षा अब अधिक देशी माल की खरीद कर सकती है इसलिए निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है।

अवमूल्यन का प्रभाव और सफलता बहुत कुछ दूसरे देशों की प्रतिक्रिया पर निर्भर करते हैं। यदि दूसरे देश इससे नाराज होकर अपने आयातों पर कर अधिक या कम कर दें तो इस नीति के सफल होने की सम्भावनायें कम हो जाती हैं। अवमूल्यन की नीति को अपनाने से पहले यह देख लेना चाहिये कि विदेशों में उसकी वस्तुओं की मांग और स्वदेश में विदेशी वस्तुओं की मांग लोचदार है या नहीं। वस्तुओं की मांग के लोचशील होने के कारण मुद्रा का अवमूल्यन करने से कोई लाभ नहीं होता और न ही भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता को दूर करने का लक्ष्य पूरा हो सकता है। इस स्थिति में अवमूल्यन की नीति को अपनाने से पहले भी पर्याप्त सजगता रखनी चाहिये।

भुगतान सन्तुलन में समतुल्यता न होना अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय है और इसलिये कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इसमें सुधार करने का प्रयास करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा इस स्थिति में एक देश की सहायता की जाती है। वह भुगतान सन्तुलन में समतुल्यता लाने के लिये असमतुल्यता,

की स्थिति को दो वर्गों में विभाजित करता है–मौलिक असमतुल्यता (Fundamental Disequilibrium) और अस्थाई समतुल्यता (Temporary Disequilibrium) । इन दोनों स्थितियों में अलग-अलग उपाय बरतने का परामर्श दिया गया है । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों के लिये यह जरूरी है कि वे अपने देश में उत्पन्न असमतुल्यता को दूर करने के लिये कोई भी कदम उठाने से पहले कोष से सहमति प्राप्त करें । कोष द्वारा अपने सभी राष्ट्रों की मुद्राओं का सम्बन्ध स्वर्ण अथवा डालर से स्थापित कर दिया गया है और इस प्रकार उनकी आपसी विनिमय दरें भी निर्धारित कर दी गई हैं । इन विनिमय दरों में यदि कोई परिवर्तन करना हो तो वह कोष की अनुमति लिए बिना नहीं किया जा सकता । जब एक देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तो भी उसे आवश्यक रूप से कोष से पूछना होता है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भुगतान सन्तुलन एक देश की अर्थ-व्यवस्था में मौलिक रूप से महत्वपूर्ण है । इसकी स्थापना के लिए यदि कोई प्रयास न किया जाय तो भी यह स्थापित होकर रहता है किन्तु फिर भी यदि भुगतान सन्तुलन में समतुल्यता नहीं है तो वह देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए एक हानिप्रद बात होगी । उसके परिणामस्वरूप आयातों की मात्रा निर्यातों की अपेक्षा बढ़ जायेगी और जितने धन का आयात किया जाना है उतने का निर्यात नहीं हो पायेगा । परिणाम-स्वरूप अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी । भुगतान सन्तुलन को लाने के लिए या तो जमा पूंजी को काम में लेना होगा अथवा विदेशों से कर्जा लेना होगा । इस प्रकार स्थापित किया गया सन्तुलन अधिक समय तक नहीं चल पाएगा । इसे अस्थाई समायोजन के रूप में ठीक माना जा सकता है किन्तु एक स्थाई विशेषता का रूप नहीं दिया जा सकता । भविष्य की दृष्टि से भुगतान सन्तुलन में समतुल्यता की स्थापना करना परम आवश्यक है ।

८

विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्त

(THEORIES OF EXCHANGE RATE DETERMINATION)

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में खरीददार और विक्रेता कम से कम दो
कीमतों से सम्बन्ध रखते हैं। ये हैं–माल और सेवाओं
की कीमत तथा विदेशी मुद्रा की कीमत।"

—वाल्टर क्राँज

**"In International Trade, however, buyers and sellers
need to concern themselves with no less than two
prices, i. e. the price of the goods and services
and the price of foreign exchange."**

—Walter Krause

विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्त
(THEORIES OF EXCHANGE RATE DETERMINATION)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राष्ट्रीय व्यापार के बीच एक मुख्य अन्तर यह होता है कि राष्ट्रीय व्यापार में केवल एक ही मुद्रा काम में आती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले विभिन्न देशों की मुद्राएं अलग-अलग होती हैं। जब एक देश अपने माल का निर्यात करता है तो बदले में उसे दूसरे देश की मुद्रा प्राप्त होती है। इसका देश में उस समय तक कोई महत्व नहीं होता जब तक कि उसकी विनिमय दरें निश्चित न की जाएं। किसी मुद्रा का विनिमय इच्छित मुद्रा में करने के लिए एक आसान तरीका यह बताया जाता है कि आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता मिलकर इस समस्या को सुलझावें। यह सुझाव अधिक उपयोगी प्रतीत नहीं होता। आयातकर्ता और निर्यात-कर्त्ता एक दूसरे से अन्जान भी रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त हो सकता है कि आयातकर्त्ता को इतनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता न हो जितनी कि निर्यात-कर्त्ता देना चाहता है। इसके अतिरिक्त आयातकर्त्ता देश को मुद्रा-खरीदने का अधिकार पाने के लिए केवल अल्पकालीन साख की जरूरत होती है जबकि निर्यात करने वाला देश इस प्रकार के निर्यात करने के बदले यह चाहता है कि भुगतान तुरन्त किया जावे। संसार में इस समय अनेक मुद्राएं प्रचलित हैं और इसलिए मुद्रा के विनिमय की सफलता के बारे में संदेह-विहीन दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता है। यह बात सम्भव प्रतीत नहीं होती कि आयातकर्त्ता और निर्यातकर्ता देश परस्पर सम्पर्क बनाये रख सकेंगे।

विनिमय की समस्या को सुलझाने के लिए विदेशी विनिमय बाजार की स्थापना की गई है जहां विदेशी मुद्रा के अधिकारों को देशी मुद्रा में खरीदा और बेचा जा सकता है। विदेशी विनिमय के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक विचार हैं। स्नाइडर के कथनानुसार—"जिन साधनों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में किया जाता है उनको विदेशी विनिमय कहते हैं।" एनसाइक्लो-

पीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Brittan'ca) के अनुसार "विदेशी विनिमय एक ऐसी कार्य प्रणाली है जिसके द्वारा व्यापार करने वाले राष्ट्र अपने पारस्परिक ऋणों का भुगतान लेते और देते हैं।"[1] हिंदरस का कहना है कि "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान और कला है।"

विदेशी विनिमय के अनेक साधन होते हैं। किस समय किन साधन को प्रयोग मे लाया जायेगा, यह आयात-कर्त्ता और निर्यात-कर्त्ता की आपसी शर्तों पर निर्भर करता है। इसका एक तरीका तो यह हो सकता है कि आयात के बदले में निर्यात किया जाये, अर्थात् दूसरे देश से जिन वस्तुओं का आयात किया गया है उनका मूल्य चुकाने के लिए उतनी ही कीमत की वे वस्तुएं निर्यात की जाये जिन्हे सम्बन्धित दूसरा देश चाहता है। इस प्रणाली को अधिक सुविधाजनक और सरल नही माना जाता। विनिमय का दूसरा तरीका यह है कि सोने का निर्यात करके मूल्य को चुकाया जाये। आयातित वस्तुओं के बदले विदेशों को सोना भेजने की प्रणाली अधिक खर्चीली और पर्याप्त असुविधाजनक है। तीसरे, भुगतान करने के लिए साख-पत्रों का भी सहारा लिया जाता है। ये साख-पत्र विभिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए विनिमय के बिल (Bill of Exchange), बैंक के ड्राफ्ट (Bank Drafts), तार द्वारा हस्तांतरण (Telegraphic Transfers) आदि-आदि। इनके अतिरिक्त चैक, यात्री चैक और लेटर ऑफ क्रेडिट (Letter of Credit) आदि को भी काम मे लिया जा सकता है।

विनिमय दर का अर्थ
(The Meaning of Exchange Rate)

विनिमय की दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपनी विशेषता है। किसी भी वस्तु के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्रेता और विक्रेता को दो मूल्यों का ध्यान रखना होता है—(१) सम्बन्धित वस्तु या सेवा का मूल्य और (२) विक्रेता देश की मुद्रा का क्रेता देश की मुद्रा मे मूल्य। जो मूल्य विदेशी मुद्रा की एक इकाई के लिए देशी मुद्रा के रूप में दिया जाता है उसे विनिमय की दर कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि अमेरिकी एक डालर के लिए हमें ७·५० रुपये देने होते हैं तो यह कहना होगा कि अमेरिका और भारत के बीच विनिमय की दर एक डालर = ७·५० रुपये है। स्नाइडर के कथनानुसार—"एक विनिमय दर दूसरी मुद्रा के सन्दर्भ में एक मुद्रा की कीमत है।"[2]

1. "The system by which commercial nations discharge their debts, to each other".–Encyclopeadia Brittanica.
2. "An Exchange rate is the price of one currency in terms of another."—Delbert A. Snider, Op. Cit., Page 139.

नारमन क्रम्प (Narman Crump) के कथनानुसार "मुद्रा की वह मात्रा विनिमय दर कहलाती है जो विदेशी विनिमय बाजारों में दूसरी मुद्रा की निश्चित मात्रा के लिए विनिमय में दी जाती है।" ईगर ने माना है कि "जिस अनुपात में एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा के साथ व्यय की जाती है, उसको विनिमय दर कहा जाता है।" एल्सवर्थ (Elsworth) का कहना है कि "विदेशी मुद्रा की एक इकाई का देशी मुद्रा में व्यक्त मूल्य विनिमय की दर कहलाता है।"

विनिमय की दर के अर्थ के सम्बन्ध में अभिव्यक्त उपर्युक्त विचारों का अन्तर बहुत कुछ शब्दों का है मूल भाव का नहीं। निष्कर्ष यह है कि विनिमय दर विदेशी विनिमय की कीमत है। इनका महत्व यह है कि ये व्यापार करने वाले देशों की लागत-मूल्य की बनावटों को प्रत्यक्ष रूप से जोड़ने वाली कड़ियां हैं। विनिमय दर का पर्याप्त महत्व है। किसी विशेष वस्तु का आयात या निर्यात किया जायगा अथवा नहीं किया जायगा यह बात घरेलू मांग और पूर्ति के बीच, सम्बन्धों पर निर्भर करती है। इसके लिए यह तय करना होगा कि उस वस्तु की विश्व कीमत और घरेलू कीमत के बीच क्या अन्तर है। इस बात का निर्धारण विनिमय दर द्वारा ही किया जा सकता है। विदेशी कीमतों को घरेलू कीमतों में बदलते समय यदि दर बहुत ऊँची चढ़ जाती है तो यह कहा जायगा कि विनिमय दर ऊंची है। दूसरी ओर यदि विदेशी वस्तु को कम घरेलू कीमत पर बदला जा सके तो विनिमय दर नीची मानी जाएगी। इस प्रकार एक देश की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और भुगतानों के सन्तुलन की तुल्यभारिता की सफलता प्रत्यक्ष रूप से विनिमय दरों से प्रभावित होती है।

विनिमय दरों के बीच पारस्परिकता का सम्बन्ध रहता है। अपनी प्रकृति के अनुसार विनिमय दर एक ही साथ विदेशी मुद्रा की एक इकाई की घरेलू मुद्रा में कीमत है तथा साथ ही घरेलू मुद्रा की विदेशी मुद्रा में भी कीमत है। दूसरे शब्दों में विनिमय की दर यह निश्चित करती है कि "क" देश की एक मुद्रा के बदले "ख" देश को अपनी मुद्रा की कितनी इकाइयां देनी होंगी। दूसरी ओर इससे यह भी पता लग जाता है कि "ख" देश की कितनी मुद्राओं के बदले "क" देश द्वारा कितनी मुद्राएं प्रदान की जाएंगी।

विनिमय दर का निर्धारण
(Determination of the Exchange Rate)

विनिमय की दर का निर्धारण मुद्रा की मांग और पूर्ति से सम्बन्धित परिस्थितियों द्वारा किया जाता है। विभिन्न विनिमय की दरें परस्पर

सम्बन्धित रहती हैं। यह सम्बन्ध इस बात का प्रमाण है कि विनिमय की दर के निर्माण में कोई न कोई सामान्य सिद्धान्त काम करता है।

विनिमय की दर को निर्धारित करते समय जो विभिन्न तत्व प्रभाव डालते हैं उनके अनुसार वह या तो समान होती है या अधिक होती है अथवा कम होती है। किस देश में विनिमय दर का कौनसा रूप महत्वपूर्ण रहेगा यह विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है। विनिमय की दर का निर्धारण स्वतन्त्र बाजार में विभिन्न शक्तियों द्वारा किया जाता है। एक देश की सरकार प्रायः स्वयं यह निर्धारित कर देती है कि उसके निवासी किस दर पर एक विशेष प्रकार के विदेशी धन को खर्च देंगे तथा देश का कोई व्यक्ति विदेशी मुद्रा को किस दर पर सरकार को बेचेगा।

हो सकता है कि पूंजीगत माल के आयात पर भुगतान के लिए प्रयुक्त डालर की कीमत जमानत की खरीदारी के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले डालरों से भिन्न हो अथवा उन डालरों से भिन्न हों जिन्हें पर्यटकों की यात्रा में काम मे लिया जाता है। इसे हम बहुविनिमय दर-व्यवस्था (Multiple Exchange System) कहते है। इसे सर्वप्रथम १९३० में जर्मनी मे प्रयुक्त किया गया था। आज इस व्यवहार की पर्याप्त निन्दा की जाती है फिर भी कुछ देश इसका प्रयोग करते है। लेटिन अमेरिका के विभिन्न देशों में से चिल्ली (Chili) भी इस प्रणाली का प्रयोग करता है। १९५२ में वहा की मुद्रा पेसो (Peso) और संयुक्त राज्य अमेरिका के डालर के बीच विनिमय दर नौ से कम नहीं थी। यह दर खरीदी जाने वाली वस्तुओं के अनुसार बदलती थी। इस व्यवस्था मे एक ही चीज की अनेक कीमतें बन जाती हैं और लाभ के लिए बहुत से अवसर खुल जाते हैं। कुछ उद्यमी लोग डालर को सस्ता खरीद कर मंहगा बेच सकते है और इस प्रकार वे प्रत्येक लेन-देन पर पर्याप्त लाभ कमा सकते हैं। इस व्यवस्था में यह भय रहता है कि लोगों का शोषण नहीं किया जाएगा। इस व्यवस्था में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों पर नियन्त्रण लागू करना आवश्यक बन जाता है।

विनिमय दर तथा मांग एवं पूर्ति
(Exchange Rate and Demand & Supply)

एक देश की मुद्रा की एक इकाई के लिए दूसरे देश की मुद्रा की कितनी इकाइयां ली जाएंगी, इस प्रश्न का निर्धारण बहुत कुछ मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के आधार पर किया जाता है। एक मुद्रा की मांग और पूर्ति के अनुसार ही विदेशी मुद्रा में उसकी कीमत बदल जाती है। कभी-कभी इस मांग और पूर्ति का मापदण्ड कठिन बन जाता है क्योंकि विदेशी विनिमय की पूर्तियां एवं

मांगें कड़े नियंत्रण के आधीन रखी जाती है। विनिमय दर को निर्धारित करने मे माग और पूर्ति का महत्व केवल तभी हो सकता है जब विदेशी विनिमय बाजारों में विनिमयो का अभाव हो। ऐसी स्थिति मे खरीददार अपनी मांगों को अभिव्यक्त कर सकते हैं और विक्रेता किसी भी कीमत पर यथासम्भव पूर्ति करने का प्रयास करते हैं।

एक मुद्रा की माग और पूर्ति का अपना विशेष अर्थ होता है। माग और पूर्ति द्वारा विनिमय दर के निर्धारण पर डाले जाने वाले प्रभाव की जांच करने के लिए यह जरूरी है कि पहले हम विनिमय की मांग और पूर्ति की अनुसूचियो की प्रकृति तथा रूप का अध्ययन करें।

विनिमय की चालू मांग

(The Current Demand for Exchange)

माल और सेवाओं के चालू आयातों पर नकद समझौते विदेशी विनिमय की कुल माग का बहुत बड़ा भाग होते हैं। इसे हम ग्रहण की गई मांग कहेंगे जो विदेशी माल और सेवाओं की मांग से प्राप्त की जाती है। किसी समय सामान और सेवाओं के चालू आयात के लिए भुगतान की जाने वाली विदेशी मुद्रा विभिन्न तत्वों पर निर्भर करती है-जैसे आय का स्तर एवं वितरण, उपभोक्ताओ की प्राथमिकताएं, विदेशी माल और सेवाओं की कीमत तथा घरेलू माल और सेवाओं की कीमते आदि। विनिमय की दर जितनी कम होती है किए जाने वाले आयात देशी मुद्रा की दृष्टि से उतने ही सस्ते पड़ते हैं। अतः किए जाने वाले आयातों की माग बढ़ जाती है। फलतः किए जाने वाले आयातो की मांग बढ़ने से विदेशी मुद्रा की मात्रा भी अधिक हो जाएगी।

विनिमय के लिए मांग की अनुसूची की दर, माग की लोचशीलता से पर्याप्त सम्बन्ध रखती है। मांग की लोचशीलता का अर्थ उस प्रतिक्रिया की मात्रा से है जो विनिमय की दर मे कमी या बढ़ोतरी के कारण विनिमय की मात्रा में आवश्यक समझी जाती है। माग की लोचशीलता को परिभाषित करते हुए कहा जाता है कि यह विनिमय दर के परिवर्तन के प्रतिशत और वांछित विनिमय की मात्रा में परिवर्तन के प्रतिशत का अनुपात है। उदाहरण के लिए, यदि विनिमय दर में एक प्रतिशत की कमी हो जाए और इसके परिणामस्वरूप विनिमय की मांग की मात्रा मे एक प्रतिशत की वृद्धि हो जाए तो माँग की लोचशीलता एक रूप होगी। यदि मात्रा के परिवर्तन का प्रतिशत 'दर' के परिवर्तन की अपेक्षा अधिक है तो माग अपेक्षाकृत लोचशील होगी अर्थात् वह एक रूप से अधिक होगी। इससे विपरीत स्थितियो में मांग लोचहीन होगी।

विनिमय की चालू मांग की लोचशीलता अनेक तत्वों पर निर्भर करती है। खाद्य सामग्री की मांग प्राय: लोचहीन होती है और इसलिए जिस देश के आयातों में खाद्य सामग्री की मात्रा अधिक होती है उस देश में इनका भुगतान करने के लिए विनिमय की मांग लोच हीन होती है। दूसरी ओर जब एक देश के आयातों में लोचशील मांग वाली बहुत सी वस्तुएं होती हैं या जिनके घरेलू विकल्प होते हैं यदि उनकी विनिमय दर में परिवर्तन किया गया तो वांछित आयातों की मात्रा की प्रतिक्रिया अधिक होगी और विनिमय के लिए मांग की लोचशीलता अधिक हो जायगी।

विनिमय की चालू पूर्ति
(The Current Supply of Exchange)

विदेशी विनिमय की चालू पूर्ति माल और सेवाओं के चालू निर्यात से प्राप्त की जाती है। एक देश को चालू विनिमय की आय वही है जो दूसरे देश उसके सामान और निर्यातों पर चालू खर्चा करते हैं। इस प्रकार विदेशी विनिमय की पूर्ति अनुसूची की लोचशीलता और उसकी स्थिति उस देश की मुद्रा के लिए विदेशी मांग की स्थिति और लोचशीलता पर निर्भर करती है। एक देश के विनिमय की मांग किस प्रकार दूसरे देश के विनिमय की पूर्ति में बदल जाती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त रहेगा कि एक देश में विदेशी विनिमय की चालू पूर्ति की वक्र रेखा उस समय तक बाएं से दाएं की ओर बढ़ती है जब तक कि उसकी मुद्रा की वैदेशिक मांग अपेक्षाकृत लोचशील है।

घटती-बढ़ती दर-व्यवस्था में दर निर्धारण
(Rate Determination in a Freely Fluctuating Rate System)

यदि एक क्षण के लिए हम यह मान लें कि चालू खाते के लेन-देन ही विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति के एकमात्र स्रोत हैं और पूंजी के आवागमन, सोने के बहाव तथा एक पक्षीय हस्तांतरणों का कोई महत्व नहीं होता तो विनिमय की दर चालू खाते की मांग तथा पूर्ति के सम्बन्धों में परिवर्तनों के अनुसार स्वतन्त्र रूप से घटती—बढ़ती रहेगी। चालू अन्तर्राष्ट्रीय खर्चा, चालू अन्तर्राष्ट्रीय प्राप्तियों से अधिक नहीं बढ़ सकता, क्योंकि आयातों का भुगतान करने के लिए हमारी मान्यता के आधीन कोई अन्य साधन नहीं रहेगा। विनिमय के लिए बढ़ी हुई मांग अथवा विनिमय के लिए घटी हुई पूर्ति शीघ्र ही विनिमय दर की वृद्धि का कारण बन जाएगी और यह वृद्धि उस समय तक होगी जब तक कि विनिमय की दरें तथा मांग और पूर्ति बराबर न हो जाएं। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठ

सकता है कि मांग में होने वाली कोई वृद्धि या पूर्ति में होने वाली कोई कमी विनिमय की दर को कितना बढ़ा देती है ? अनुसूचियों की लोचशीलता का इस दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान होता है।

विदेशी विनिमय की पूर्ति जितनी अधिक लोचहीन होती है, बढ़ी हुई मांग के परिणामस्वरूप दर की वृद्धि भी उतनी ही ऊंची हो जाती है।

दर का स्थायित्व
(The Stability of Rate)

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्वतन्त्र रूप से घटने-बढ़ने वाली दर व्यवस्था में विनिमय बाजार का स्थायित्व कितना रहेगा ? यदि आयात-कर्त्ताओं द्वारा दर की वृद्धि को अस्थाई समझा जाता है तो वे अपनी दी गयी आज्ञाओं को उस समय तक रोक देंगे जब तक कि दर गिर न जाए। दूसरी ओर यदि विदेशी आयातकर्त्ता भी उसे अस्थाई मानते हैं तो वे बदली हुई दर का अधिक से अधिक लाभ उठाने की जल्दी में रहेंगे और अपने आयातों को बढ़ा देंगे। जब एक देश की विनिमय दर में वृद्धि होती है तो दूसरे देशों की मुद्राओं की दरों में कमी हो जाती है। इनका दर पर एक स्थायित्व पूर्ण प्रभाव पड़ेगा।

हम एक अन्य स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जिसमें अल्पकालीन पूंजी के आवागमन शामिल होंगे। यह मान्यता गलत है कि विनिमय विक्रेता अपने विदेशी सन्तुलनों मे शुद्ध कमी या बढ़ोतरी करने के अनिच्छुक होंगे। इसके अतिरिक्त जब हम यह मान लेते हैं कि दर की वृद्धि केवल अस्थाई है और शीघ्र ही गिर जाएगी तो उसे स्थिरता देने के लिए अल्पकालीन पूंजीगत प्रवाह अस्तित्व में आ सकता है। विनिमय के सौदागर इस उच्च-दर का लाभ उठाते हुए अपने विदेशी सन्तुलनों को साधारण स्तरों से भी नीचे ले आते हैं। किन्तु जिस देश में दर ऊंची चढ़ गयी है वहां विनिमय के सौदागर अपने विदेशी सन्तुलनों को सामान्य से ऊपर रखेंगे। दरों में स्थायित्व लाने के लिए आयात और निर्यात का समायोजन किया जाता है।

निश्चित विनिमय दरें
(Fixed Exchange Rates)

उपरोक्त स्वतन्त्र बाजार की विनिमय व्यवस्था में दरें स्वतन्त्रता पूर्वक घटती-बढ़ती रहती हैं। इसके विपरीत विनिमय दर की एक निश्चित व्यवस्था होती है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard)

कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विनिमय दरें एक सीमा से आगे नहीं घटती-बढ़ती।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की व्यवस्था में प्रत्येक देश अपनी मौद्रिक इकाई को एक निश्चित स्वर्ण की मात्रा के रूप में कानूनन परिभाषित कर देता है। १९३० में संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैण्ड, दोनों ने स्वर्णमान अपनाये। डालर को २३.२२ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर माना गया और ब्रिटिश पौंड को ११३ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर। स्वर्ण के रूप में मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने के अतिरिक्त स्वर्णमान की व्यवस्था में मौद्रिक सत्ताएं स्वतन्त्रता पूर्वक निर्धारित कीमत पर असीमित मात्रा में सोना खरीद और बेच सकती हैं। इससे बाजार भाव और सोने के सरकारी टंक भाव समान हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के अन्तर्गत दो देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण उनके स्वर्ण भण्डार के अनुपात में होता है। सोने की कीमत का अनुपात उनमें से प्रत्येक देश में एक जैसा रहता है।

स्पष्ट है कि स्वर्णमान वाली मुद्राओं के बीच विनिमय की वास्तविक दर उस व्यय से अधिक नहीं बढ़ सकती जो उनको यहां से वहां ले जाने पर आता है। यदि दर इससे अधिक बढ़ती है तो सौदा करने वालों को आयात या निर्यात करने में बहुत लाभ रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की कुछ विशेषतायें होती हैं एक। महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के संचालन से विनिमय की स्थाई दरें स्वतः ही कायम हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान पर किसी प्रकार का कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाए बिना जिस विनिमय व्यवस्था में स्थाई विनिमय दरें कायम होती हैं उनको स्वर्ण मापक कहा जाता है।

लोचशील विनिमय दरें

(Flexible Exchange Rates)

लोचशील विनिमय दर के अधीन मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य को किसी वस्तु के रूप में निश्चित नहीं किया जाता और न उसे व्यक्तिगत बाजार की शक्तियों की प्रतिक्रिया में स्वतन्त्रता पूर्वक घटने-बढ़ने दिया जाता है। इस प्रकार 'लोचशील दर-व्यवस्था' निश्चित और स्वतन्त्रतापूर्वक घटने-बढ़ने वाली दर-व्यवस्था के बीच की स्थिति है। एक लोचशील दर-व्यवस्था के आधीन विनिमय दर का निर्धारण दिन-प्रतिदिन के स्वतन्त्र बाजार की मांग तथा पूर्ति द्वारा होता है। जब सरकार विनिमय दर को नियंत्रित करती है तो ऐसा करने के लिए उसे व्यक्तिगत बाजार को दबाना या बदलना नहीं होता वरन् उसे प्रयोग में लाना होता है।

लोचशील दर-व्यवस्था को संचालित करने के लिए बाजार में आवश्यक हस्तक्षेप केन्द्रीय बैंक या राजकोष अथवा इसी लक्ष्य के लिए नियुक्त विशेष अभिकरण द्वारा किया जा सकता है। १९३० के दौरान ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस में विनिमय स्थायीकरण कोष रखे गए थे। इस कोष की प्राप्तियों के अनुपात में परिवर्तन होने के कारण मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत बदलती रहती है। जब कभी विनिमय दर को ऊंचा उठाना हो अथवा उसे गिरने से रोकना हो तो कोष द्वारा विदेशी विनिमय को कम दर पर खरीद लिया जाता है। यह कोष अपने कार्यों को गोपनीय रखता है ताकि केवल अनुमानों के आधार पर विनिमय बाजार की कार्यवाइयां संचालित की जाएं।

विनिमय दर को नियंत्रित करने की शक्ति सम्भवतः इस कोष की प्राप्तियों की मात्रा पर निर्भर करती है।

लोचशील दर-व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा अधिक घटाव-बढ़ाव के बिना ही स्वतन्त्र बाजार को रचना को सुगम बनाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं प्रत्येक देश को लोचशील विनिमय दर की नीति अपनाने में सहायता करती है।

मांग और पूर्ति का संतुलन
(Balance of Demand and Supply)

मांग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा विनिमय दर निश्चित की जाती है। इस सन्तुलन में अन्तर के साथ विनिमय दर में भी परिवर्तन आ जाते हैं। विदेशी मुद्रा की मांग जब उसकी पूर्ति के बराबर होती है तो विनिमय की दर में समता आ जाती है। जब विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो, जाती है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊपर आ जाता है और स्वदेशी मुद्रा का मूल्य समता से नीचे गिर जाता है। सी ऐस्थिति में विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए अधिक देशी मुद्रा देनी होगी। जब विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से कम हो जाती है तो उसकी कीमत समता से कम हो जाएगी। ऐसी स्थिति में विदेशी मुद्रा या उसके बिलों का भुगतान करने के लिए हमें पहले की अपेक्षा में कम देशी मुद्राएं देनी होंगी। इस प्रकार मांग या पूर्ति में असन्तुलन होता है तो विनिमय दर की समता ऊपर या नीचे चली जाती है। विनिमय-दर के बढ़ने या घटने की सीमा जानने के लिए विभिन्न मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियों पर अलग से विचार करना होता है। ये निम्न प्रकार है—

(१) जब दोनों देश स्वर्णमान (Gold Standard) पर हों—जब दो देशों में स्वर्णमान होता है तो उनके बीच विनिमय समता प्राप्त करने

के लिए उनके प्रामाणिक सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण से समानता स्थापित की जाती है। इसे टंक समता दर (Mint Par of Exchange) कहा जाता है। इस व्यवस्था में उतार-चढ़ाव उन सीमाओं के बीच होते हैं जो उच्चतम और निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित होती है।

(२) जब एक देश में स्वर्णमान और दूसरे में रजतमान (Silver standard) हो—जब एक देश में स्वर्णमान और दूसरे में रजतमान होता है तो सर्वप्रथम यह ज्ञात करना होगा कि मुद्रा में विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा कितनी है। इसी प्रकार रजतमान वाले देश में विशुद्ध चांदी की मात्रा ज्ञात की जाती है। सरकार द्वारा चांदी के स्वर्ण मूल्य निर्धारित किए जाते हैं और तदनुसार दोनों मुद्राओं का मूल्य अनुपात निकाल लिया जाता है। जब एक देश की मुद्रा स्वर्ण या रजत की है और दूसरे देश की अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा है तो उनकी टंक समता, विनिमय दर को निर्धारित करने के लिए यह देखना होगा कि दोनों देशों की मुद्रायें कितनी-कितनी मात्रा में सोना खरीद सकती हैं। जिस देश में स्वर्णमान होता है वहां सोने की कीमतें देश की सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है, किन्तु जहां अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा मान होता है वहां उस मुद्रा के स्वर्ण मूल्य को ज्ञात कर लिया जाता है। दोनों मुद्राओं के स्वर्ण मूल्य का अनुपात ही उनकी पारस्परिक विनिमय दर की समता होती है।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत विनिमय दर में पर्याप्त उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में स्वर्णमान वाले देश के लिए एक उच्चतम सीमा जरूरी होती है किन्तु कोई निम्नतम सीमा नहीं होती। दूसरी ओर, पत्र मान वाले देश के लिए निम्नतम सीमा होती है किन्तु उच्चतम् सीमा नहीं होती। इस प्रकार जिस देश में स्वर्णमान होता है उसमें केवल स्वर्ण-निर्यात बिन्दु होती है। दूसरी ओर पत्र-मुद्रा-मान वाले देश में विनिमय दर की वृद्धि स्वर्ण निर्यात बिन्दु द्वारा सीमित होती है ; उसकी कमी पर कोई सीमा नहीं होता। दूसरी ओर पत्र मुद्रा मान वाले देश में वृद्धि अथवा कमी दोनों पर कोई सीमा नहीं होती।

(३) जब दोनों देश पत्र-मुद्रा-मान को मान्यता दें—ऐसे देशों के बीच विनिमय दर स्वर्ण बिन्दुओं से मर्यादित नहीं होती है क्योंकि इनका सम्बन्ध एक धातु विशेष से नहीं होता। जिन देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मान होता है उनकी मुद्रा इकाई का मूल्य नाममात्र को ही सोने में बताया जाता है किन्तु असल में वहां सोने का स्वतन्त्र चलन नहीं होता और न ये देश आपस में स्वर्ण का आयात या निर्यात करते हैं।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा में स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का कोई महत्व नहीं होता और इसलिए एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा के

मूल्य के रूप में निकालते समय पत्र-मुद्रा के मूल्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। पत्र-मुद्रा का मूल्य मांग और पूर्ति की परिस्थियों के अनुसार बदलता रहता है। मि० क्रॉज ने लिखा है कि अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा की विनिमय दर विदेशी मुद्रा बाजार में उसकी मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की जाती हैं। जब कभी एक पत्र-मुद्रा की मांग अन्य की अपेक्षा बढ़ जाती है तो उसकी कीमत भी अन्य पत्र-मुद्राओं के अनुपात में बढ़ने लगती है। इस प्रकार की मुद्राओं के अन्तर्गत विनिमय दर मांग और पूर्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है और इस कमी या वृद्धि की अपने आप में उच्चतर या निम्नतर कोई सीमा नहीं होती। जब एक देश में मुद्रा की शक्ति बढ जाती है तो उस देश की मुद्रा के विनिमय की दर भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है। दूसरी ओर यदि क्रय-शक्ति घटती है तो विनिमय दर भी कम हो जाती है। इस प्रकार क्रय शक्तियों की समानता द्वारा विनिमय की दर निर्धारित होती है।

विनिमय दर में परिवर्तन इसलिए होते हैं क्योंकि मुद्रा की मांग अथवा पूर्ति कभी निश्चित नहीं होती। एक विशेष मुद्रा की माँग दूसरे देशों के निवासियों के लिए समय-समय बदलती रहती है। रुचि में परिवर्तन के साथ एक देश के उत्पादनों के प्रति विदेशी मांग बदलती है और इसलिये उस देश की मुद्रा की मांग भी बढ़ सकती है। मांग और पूर्ति के कार्यों में होने वाले परिवर्तन विनिमय की दर के परिवर्तन के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी रहते हैं। सामान्य रूप से मांग में वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमत बढ़ जाती है। इसी प्रकार पूर्ति में वृद्धि होने के कारण कीमतें गिर जाती हैं।

घटती-बढ़ती दरों के लाभ व हानियाँ
(Merits and Demerits of Fluctuating Rates)

दरों के दोनों रूपों की अपनी लाभ और हानियां हैं। घटती-बढ़ती विनिमय दरों का मुख्य लाभ यह है कि वे अन्तर्देशीय क्रियाओं और सुरक्षित भण्डारों को अधिकतम सुरक्षा प्रदान करती है। जब विदेशों में आर्थिक मन्दी होती है तो एक राष्ट्र का निर्यात घट जाता है। जब विनिमय की दर निश्चित होती है और किसी प्रकार के परिवर्तन की परवाह नहीं करती तो निर्यात कम होने के परिणामस्वरूप सुरक्षित भण्डार कम हो जाता है, बेरोजगारी बढ़ती है और आर्थिक मन्दी आ जाती है किन्तु जब विनिमय दर घटती-बढ़ती रहती है तो विदेशी विनिमय की पूर्ति के घटने के साथ ही निर्यात कम होने पर विनिमय दर एकदम घट जाती है। निर्यातकर्त्ता द्वारा जो वस्तु बेची जाती है, उसका मूल्य उसकी स्वयं की मुद्रा में बढ़ जाता है। घरेलू उत्पादकों की आय बढ़ने लगती है क्योंकि उपभोक्ताओं का ध्यान आयातित वस्तुओं की कीमत बढ़

जाने के कारण देश में उत्पादित वस्तुओं की ओर मुड़ जाता है। निर्यात बढ़ने और आयात कम होने से सुरक्षित भण्डार में होने वाली कमी रुक जाती है। घटती-बढ़ती दर का लाभ यह है कि सरकार को विनिमय-दर की रक्षा के लिए ऐसा बाध्य नहीं होना पड़ता जैसा स्थायी व्यवस्था के अन्तर्गत होना पड़ता है।

घटती-बढ़ती दरों के विरुद्ध तथा स्थायी दरों के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि विनिमय दर में अनेक विभिन्नताएं हैं और इन विभिन्नताओं के होते हुए पर्याप्त जोखिम रहता है; इनसे विभिन्न साधनों का संधारण भी प्रभावित होता है और पूंजी की गति पर भी इनका प्रभाव होता है। वैसे इन हानियों में से कुछ को दूर भी किया जा सकता है।

अग्रिम विनिमय बाजार
(Forward Exchange Market)

अग्रिम विनिमय बाजार वह होता है जिसमें विदेशी मुद्रा भविष्य में एक निश्चित दिन को ही देने के समझौते किये जाते हैं। मुद्रा की कीमत समझौते के समय निर्धारित कर दी जाती है। बदले में भुगतान विदेशी मुद्रा देने के समय किया जाता है। अग्रिम बाजार यथास्थान विनिमय बाजार (Spot Exchange Market) से भिन्न होते हैं जिनमें विदेशी मुद्रा तुरन्त भुगतान के लिये दी जाती है।

तदनुसार अग्रिम विनिमय दर वह कीमत है जो भविष्य में निर्धारित समय दी जाने वाली मुद्रा के लिये तय की जाती है। सुविधा के लिये अग्रिम विनिमय वास्तविक कीमत के रूप में नहीं वरन् उनकी प्रीमियम या कटौती के रूप में वर्णित किये जाते हैं जो यथास्थान दर के ऊपर होती है। इस प्रकार ये वास्तविक कीमतें नहीं हैं वरन् यथास्थान दरों पर प्रीमियम या कटौती की दर हैं।

अग्रिम विनिमय सुविधायें अधिकतर बैंकों द्वारा प्रदान की जाती हैं। बैंक इन सुविधाओं के लिये कमीशन लेते हैं। साधारणतः वे इनकी कोई जोखिम नहीं उठाते। अनेक आयातकर्ता भावी जोखिम से बचने के लिये अग्रिम रूप से विनिमय खरीद लेते हैं। इसी उद्देश्य से निर्यातकर्ता उसे बेचते हैं। क्रेता और विक्रेता के मध्य बिचौलियों का कार्य सम्पन्न करने के कारण बैंक कमीशन कमाती है। यदि कोई बैंक किसी आयातकर्त्ता को अग्रिम विनिमय बेचने का समझौता करती है तो उसी समय किसी निर्यातकर्त्ता से खरीदने का समझौता भी कर लेती है। बैंक की खरीद और बिक्री समान होती है इसलिये किसी जोखिम का प्रश्न नहीं उठता। बैंक सट्टेबाजी में न

पड़कर केवल कमीशन से अपना लाभ कमाती है। इसलिये विनिमय दर की कीमत के उतार-चढ़ावों से वह अपने-आपको अलग बनाये रखती है। बैंक अनेक विकल्पों से जोखिम को दूर रखने का प्रयास करती है। आवश्यकता के समय बैंक सट्टेबाजों से विनिमय खरीद लेती है अथवा यदि किसी स्रोत से उसे मुद्रा न मिल सके तो वह अतिरिक्त अग्रिम विनिमय बेचना अस्वीकार कर देती है।

अग्रिम विनिमय दरों का निर्धारण
(Determination of Forward Exchange Rates)

अग्रिम विनिमय दरें अग्रिम विनिमय की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती हे। यदि उनकी 'पूर्ति' मांग की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है तो अग्रिम विनिमय दर यथास्थित विनिमय दर से नीची होती है। दूसरी ओर यदि उनकी 'मांग' पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जाती है तो अग्रिम विनिमय दरें यथास्थान विनिमय दरों (Spot Exchange Rates) की अपेक्षा ऊंची होंगी। अग्रिम विनिमय की मांग मुख्य रूप से आयातों, पूंजी के वहिर्गमन, सट्टेबाजी आदि द्वारा पैदा होती है। विदेशी माल को आयात करने वाला यदि भविष्य में भुगतान करे तो विनिमय दरों में परिवर्तन के जोखिम से बचने के लिये वह अग्रिम रूप से विदेशी विनिमय खरीदने का सौदा कर सकता है। जब सट्टेबाज विनिमय दर बढ़ने की आशा करते हैं तो वे अग्रिम विनिमय खरीदने के लिये समझौता कर लेते हैं। अग्रिम विनिमय की पूर्ति के स्रोत मुख्यतः पूंजी के निर्यातकर्ता, सट्टेबाज, व्यापारिक वस्तुओं के निर्यातकर्ता आदि होते हैं।

अग्रिम विनिमय सुविधाओं का लाभ
(Merits of Forward Exchange Facilities)

अग्रिम विनिमय सुविधायें कई दृष्टियों से लाभकारी होती हैं—(१) विनिमय दरों में परिवर्तन से उत्पन्न जोखिम के विरुद्ध ये व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्रय और विक्रय की कीमतें विभिन्न मुद्राओं के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इसलिये विनिमय दर के परिवर्तन व्यापारियों के समस्त अनुमानों (Expectations) को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। स्वतन्त्र और लोचशील विनिमय दरों की व्यवस्था में ये जोखिम अधिक होते हैं और स्वर्णमान तथा स्थिर विनिमय दरों के अन्तर्गत अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते। (२) विदेशी कर्जदार पहले से ही एक निश्चित दर पर विदेशी विनिमय की आवश्यक मात्रा के सम्बन्ध में समझौता कर लेते हैं। (३) विदेशों में निवेश करने वाले विनिमय दरों की जोखिम से बचने के लिये अग्रिम बिक्री का मार्ग अपनाते हैं।

सीमायें (The Limitations)—अग्रिम विनिमय समझौतों द्वारा जोखिम दूर करने का तरीका कई कारणों से सीमित बन जाता है। (१) इसकी पहली सीमा यह है कि इसमें लागत अधिक आती है। यदि ये लागतें उपयुक्त रूप से कम नहीं है, तो जो निर्यातकर्ता व्यापार जोखिम के साथ-साथ विनिमय जोखिम उठाने के लिये भी तैयार हैं वे निर्यात व्यापार से निकल जायेंगे। इसी प्रकार आयातकर्ता विनिमय जोखिम के विरुद्ध यदि अपना बीमा नहीं करायेंगे तो इससे बीमा करने वालों को भारी हानि होगी। (२) विनिमय दरों में परिवर्तन राष्ट्रीय मुद्रा की उस मात्रा को प्रभावित करते हैं जिसे निर्यातकर्ता अपने निर्यातों के लिये प्राप्त करता है और आयातकर्ता अपने आयातों के लिये भुगतान करता है। (३) विनिमय दर के परिवर्तन निर्यात और आयात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों को राष्ट्रीय मुद्रा की दृष्टि से अधिक बढ़ा देते हैं। यदि व्यापारी इस जोखिम से बचना चाहें तो उन्हें इसके लिये अतिरिक्त भुगतान करना होगा। यदि आयात किये जाने वाले माल की घरेलू कीमत उतनी बढ़ जाती है जितनी राष्ट्रीय मुद्रा में कटौती हुई है तो बीमाहीन आयातकर्ताओं को इसके कारण होने वाली हानि की पूर्ति आयात की जाने वाली वस्तु की घरेलू कीमत की वृद्धि से प्राप्त हुए लाभ द्वारा पूरी करनी होगी। अतः बीमा की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।

ब्याज की दरें और अग्रिम दरें (Interest Rates and Forward Rates)—विभिन्न देशों के मध्य स्थित ब्याज की दरों के अन्तर अग्रिम विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव रखते हैं। उदाहरण के लिये, यदि लन्दन में ब्याज की दर ३ प्रतिशत और भारत में २ प्रतिशत है तो धन भारत से लन्दन की ओर जाने लगेगा। जो लोग भारत से धन को इंगलैंड ले जायेंगे वे अग्रिम रुपये खरीद कर विनिमय जोखिम के विरुद्ध अपनी सुरक्षा कर लेंगे। फलतः अग्रिम रुपये की मांग उसकी पूर्ति से अधिक बढ़ जायेगी। रुपये की अग्रिम दर अधिक और तत्कालीन दर नीची हो जायेगी। ज्यों-ज्यों धन भारत से लन्दन को जायेगा त्यों-त्यों अग्रिम पर कटौती की दर बढ़ती चली जायेगी। इस प्रकार भारत से लन्दन के लिये अतिरिक्त कोष के परिवर्तन की प्रेरणा समाप्त हो जायेगी। इसके अतिरिक्त जब भारत से पूंजी लन्दन की ओर जायेगी तो भारत में ब्याज की दरें बढ़ जायेंगी और लन्दन में कम हो जायेंगी। दोनों देशों के बीच ब्याज की दरों के अन्तर कम हो जायेंगे। अन्त में एक समतुल्य स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जिसमें अग्रिम विनिमय दर कटौती ब्याज की दर के अन्तर के बराबर हो जायेगी और इसलिये पूंजी के हस्तान्तरण की प्रेरणायें समाप्त हो जायेंगी।

पूंजी के आवागमन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है और इसके फलस्वरूप विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति भी प्रभावित होती है।

(४) मुद्रा सम्बन्धी विभिन्न कारणों का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए जब मुद्रा का प्रसार होता है तो पूंजी विदेशों को जाने लगती है। मुद्रा प्रसार (Inflation) होने से उसका अवमूल्यन हो जाता है। परिणामस्वरूप मुद्रा की क्रय क्रय-शक्ति कम हो जाती है तथा विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है। मुद्रा संकुचन (Deflation) का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि ऐसा होने पर विदेशियों द्वारा लाभ के लोभ में देशी मुद्रा खरीदी जाती है।

(५) राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप भी विनिमय दर प्रभावित होती है। उदारण के लिए सरकार की संरक्षण नीति जिसके द्वारा आयात को संकुचित और निर्यात को वृद्धिशील किया जाता है, विनिमय दर पर पर्याप्त प्रभाव डालती है। इस प्रभाव के कारण भुगतान सन्तुलन देश के अनुकूल हो जाता है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। दूसरे, युद्ध, और शांति की स्थितियाँ भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखती हैं। देश में जब शांति रहती है तो सरकार स्थाई, निष्पक्ष एवं कुशल बन जाती है और इससे विदेशियों का उसमें विश्वास बढ़ जाता है। वे अपनी पूंजी देशी उद्योगों के विकास में लगाने लगते हैं। इसके फलस्वरूप विनिमय दर अनुकूल दिशा में प्रभावित होती है। तीसरे, एक देश की वित्तीय नीति भी उसकी विनिमय दर को प्रभावित करने के लिये महत्पूर्ण होती है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार द्वारा उसके बजट में घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनाई जाती है तो इसके फलस्वरूप विनिमय दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा; क्योंकि देश में वही स्थिति उत्पन्न हो जायगी जो मुद्रा-प्रसार के समय होती है। चौथे, सरकार अथवा केन्द्रीय बैंकों द्वारा विनिमय नियंत्रण के विभिन्न साधनों को अपना कर विनिमय दर को प्रभावित किया जा सकता है।

अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय दरें
(Favourable and Unfavourable Exchange Rates)

यदि हम विनिमय दरों की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर विचार करना चाहें तो इसके लिए हमें यह जानना चाहिए कि विनिमय दर स्वदेशी मुद्रा में प्रकट की जा रही है अथवा विदेशी मुद्रा में। जब हम विनिमय दर को स्वदेशी मुद्रा में प्रकट कर रहे हैं तो उसका गिरना या कम होना स्वदेश के पक्ष में होता है और उसका बढ़ना या ऊंचा होना स्वदेश के विपक्ष में

होता है। दूसरी ओर यदि विनिमय दर को विदेशी मुद्रा में प्रकट किया जा रहा है तो बढ़ती हुई विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में और घटती हुई विपक्ष में होती है।

अनुकूल विनिमय दरें विभिन्न व्यक्तियों पर अनेक प्रकार से प्रभाव डालती हैं। इनसे आयात को प्रोत्साहन मिलता है और निर्यात घटता है। इससे आयात कर्त्ताओं तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है और निर्यातकर्त्ताओं एवं उत्पादकों को हानि होती है तथा बेरोजगारी बढ़ती है।

विनिमय दर प्रतिकूल होने पर आयात घट जाते हैं और निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। इससे निर्यातकर्त्ता एवं उत्पादक लाभ में रहते हैं, किन्तु आयातकर्त्ताओं एवं उपभोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है और श्रमिकों का रोजगार बढ़ता है।

विनिमय दर के प्रभावों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विनिमय दर समाज के एक वर्ग पर यदि अनुकूल प्रभाव रखती है तो वह अन्य वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव भी रखती है और इस प्रकार किसी विशेष समय पर विनिमय को अनुकूल या प्रतिकूल कहना एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है। कुल मिलाकर विनिमय दर का उतार-चढ़ाव लाभदायक नहीं होता; इससे व्यापार एवं व्यवसाय को क्षति पहुँचती है। जब विदेशी विनिमय दर बढ़ जाती है तो उसके परिणामस्वरूप होने वाली हानि को भरने के लिए व्यापारी वर्ग इस वृद्धि को ठहराये रखने का प्रयास करता है।

९

विनिमय नियंत्रण

(EXCHANGE CONTROL)

"अधिकांश देशों ने नियन्त्रणों को हटाने के कम प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। असल में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं कि कुछ देश विनिमय नियन्त्रण को न केवल विशेष या अस्थाई परिस्थितियों को वरन् समस्त या अधिकांश विदेशी आदान-प्रदानों को नियमित करने के लिए अपनाते हैं।"

—वाल्टर क्रॉज

"Most countries gave little evidence of being about to terminate controls, in fact, there appeared to be considerable evidence that some countries had come to view exchange control as an instrument, not for regulating temporary or special situations, but for regulating all or most foreign transactions on a continuing basis."

—Walter Krause

विनिमय नियन्त्रण
(EXCHANGE CONTROL)

विनिमय दर का नियन्त्रण आज पर्याप्त महत्व रखता है। वर्तमान युग की योजना, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध और कमी का युग भी कह दिया जाता है। अनेक कारणों से देश की योजनाओं पर दिन-प्रतिदिन आर्थिक नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध बढ़ते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में विदेशी विनिमय बाजारो पर भी सरकार का नियन्त्रण रहना कोई आश्चर्य की बात नही है वरन एक स्वाभाविक बात है। प्रायः प्रत्येक देश इसी प्रकार विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाता है। विनिमय दर का इतिहास अधिक पुराना नही है। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान विभिन्न देशों ने यह महसूस किया था कि उन्हे अर्थ-व्यवस्था पर अधिक से अधिक प्रशासकीय नियन्त्रण बढ़ाना चाहिए। इसी काल मे जर्मन मार्क (German Mark) की कीमत बहुत घट गई। इसके दुष्परिणामो से बचने के लिए अर्थशास्त्रियो ने विनिमय नियन्त्रण के विज्ञान को जन्म दिया। इसकी सहायता से युद्ध के बाद जर्मन सरकार ने कुछ समय तक जर्मनी की विनिमय दर को स्थिरता प्रदान की। दूसरे कुछ देशों ने भी इस प्रणाली को अपनाया। पाल एन्जिग (Paul Einzig) ने लिखा है कि "विनिमय नियन्त्रण की यह प्रणाली विभिन्न देशों के समाजवादियों तथा फासीवादियों का, कोषों के अन्त-र्राष्ट्रीय आवागमन को अपनी राजनैतिक तथा आर्थिक योजनाओ के हित में पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने का स्वप्न था।"

विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन में केन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा नियुक्त किसी भी अभिकरण द्वारा किए गए उन सभी हस्तक्षेपों को लिया

1. "The dream of Socialists and Fascists in various countries secure complete control over the International movement of funds in the interest of their Political and Economic Plan".—Paul, Einzig Exchange Control, Page 8.

जाता है जो विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। प्रो० हैबरलर (G.V. Haberler) के कथनानुसार "स्वतन्त्र आर्थिक प्रभावों के अतिरिक्त विदेशी विनिमय बाजार के नियमन में जो प्रशासकीय हस्तक्षेप होता है वह विनिमय नियन्त्रण है।" यदि किसी देश की सरकार यह अनुभव करे कि मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की हुई स्वतन्त्र विनिमय दर देश के हित में है तो वह किसी प्रकार के विनिमय नियन्त्रण को जरूरी नहीं समझेगी किन्तु यदि सरकार ऐसा नहीं समझती है तो वह देश के हित की दृष्टि से विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में आवश्यक संशोधन करके विनिमय दर को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास कर सकती है। इस दृष्टि से वाल्टर क्राज (Walter Krause) का यह कथन उल्लेखनीय है कि "विनिमय नियन्त्रण एक ऐसी तकनीकी है जिसके द्वारा विदेशी विनिमय की सीमित पूर्ति को एकत्रित करके पुन: वितरित किया जाता है।" इसका यह उद्देश्य होता है कि विदेशी मुद्रा की मांग को उसकी उपलब्ध पूर्ति तक ही सीमित रखा जाए। इस प्रकार विनिमय दर को स्थायी बना दिया जाता है। यद्यपि यह दर मुद्रा के अधिमूल्यित स्तर पर ही हो सकती है।"[१] विनिमय नियन्त्रण को प्रो० स्नाइडर ने एक ऐसी पद्धति माना है जिसमें "स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के स्थान पर सरकारी विनियमों को रखा जाता है।"[२]

यदि कोई देश अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियों (Reserves) को खोता जा रहा है और यदि सरकार अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं करना चाहती है अथवा अपने आंतरिक मूल्यों और आर्थिक क्रियाओं को मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियों से अधिमूल्यित नहीं करना चाहती है तो उसे अपने अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को प्रत्यक्ष रूप से विनियमित करना चाहिए। विदेशी विनिमय की मांग को प्रतिबन्धित किया जा सकता है और इसकी पूर्ति पर राशन लगाया जा सकता है। वैसे तो प्रत्यक्ष नियन्त्रण, अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन करने वाली मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियां आदि सभी में थोड़ा बहुत सरकारी हस्तक्षेप जरूरी होता है। सरकारी हस्तक्षेप के अन्य प्रकारों एवं प्रत्यक्ष नियन्त्रणों के बीच एक मुख्य अन्तर इस प्रकार से सम्बन्धित है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण के आधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारी को यह विचार करना चाहिए कि एक

---

1. Walter Krause, The International Economics, Page 80.
2. Exchange control with the system in which Government regulations are substituted for free market forces. —Delebert A Sinder, Introduction to International Economics, Page 252.

प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन लाभदायक है या नहीं और सरकार को इसकी अनुमति देनी चाहिए अथवा नहीं किन्तु अवमूल्यन या अधिमूल्यन में केवल उसकी लाभदायकता को ही देखा जाता है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

(The Objects of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण सरकार द्वारा इसलिए किया जाता है ताकि विनिमय दर को स्थिर रखा जा सके। सरकार चाहती है कि उसके द्वारा निर्धारित दर पर ही लोग विदेशी मुद्रा खरीदें और बेचें। प्रो० एल्सवर्थ ने माना था कि "विनिमय नियन्त्रण किसी भी देश को प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के विरुद्ध सुरक्षित रखने वाली प्रणाली है।"[1] विनिमय नियन्त्रण द्वारा ऐसी विनिमय दर निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है जो बाजार की स्वतन्त्र शक्तियों के माध्यम से निर्धारित नहीं हो सकती। जब सरकार मांग और पूर्ति की स्वतन्त्र शक्तियो द्वारा निर्धारित विनिमय दर से सन्तुष्ट होती है तो विनिमय नियन्त्रण की कोई जरूरत नही रहती किन्तु जब वह स्वतन्त्र रूप से स्थापित विनिमय दर को न चाह कर स्वयं उसको स्थापित करना चाहती है तो नियन्त्रण रखना जरूरी बन जाता है। विनिमय दर पर सरकारी नियन्त्रण के उद्देश्य क्राउथर के अनुसार तीन हो सकते हैं—प्रथम, स्थित विनिमय दर की अपेक्षा नवीन विनिमय दर स्थापित करना। दूसरे कम विनिमय दर स्थापित करना तीसरे, विनिमय दर की मात्रा को कम या अधिक न करके केवल विनिमय दर में जल्दी-जल्दी होने वाले उच्चावचनों को रोकने का प्रयास करना। इस प्रकार अधिमूल्यन, अवमूल्यन और उच्चावचनों की रोकथाम के लिए सरकारी नियन्त्रण की नीति को अपनाया जाता है।

विनिमय नियन्त्रण के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारण निम्नलिखित हैं–

(१) पूंजी के बहाव को रोकना (To check Capital Flights)– विनिमय नियन्त्रण पूंजी के बहाव को रोकने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। जब जर्मनी, अर्जेन्टाइना और दूसरे कुछ देशों में इसे प्रयुक्त किया गया तो मुख्य रूप से यही उद्देश्य सामने था। विनिमय नियन्त्रण के अधीन सम्बन्धित सत्तायें विदेशी-मुद्रा को बेचने से मना कर देती है और इस प्रकार पूंजी देश से बाहर नहीं जा पाती। पूंजी के व्यापक बहाव को

1. "A Method of Safeguarding a country against adverse balance of payment." —P T. Ellsworth, The International Economy, Page 347.

रोकने के अतिरिक्त आजकल विभिन्न देशों द्वारा विनिमय नियन्त्रण की प्रक्रिया को दिन-प्रतिदिन के पूंजीगत आवागमन को रोकने के लिए भी अपनाया जाता है। इस रूप में विनिमय नियन्त्रण का लक्ष्य यह होता है कि घरेलू बचत को प्रोत्साहन दिया जाय या विदेशों में स्थित पूंजी को वापिस खींच लिया जाय। इस प्रकार के नियन्त्रण विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। ये केवल औपचारिकता से लेकर पूर्ण प्रतिबन्ध तक होते हैं। पूंजी को बाहर जाने से रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण की प्रक्रिया दो कारणों से अपनायी जाती है। प्रथम, यदि पूंजीगत बहाव व्यापक स्तर पर हुआ तो इसके परिणामस्वरूप सम्बन्धित देश के सामने भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयां पैदा हो जायेंगी। इन कठिनाइयों के परिणामों को भुगतने की अपेक्षा एक देश यह सोचता है कि पूंजी के बहाव पर रोक लगाई जाय। दूसरे, कुछ देश विशेषतया पूंजी की दृष्टि से गरीब और अर्द्धविकसित देश व्यापक स्तर के पूंजीगत बहाव पर रोक लगाते हैं। ये देश विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से पूंजी को घर पर रखने का प्रयास करते हैं और स्वामियों को इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं देते कि वे घर में ही पूंजी का निवेश करें।

(२) **मुद्रा की स्थिरता (Stability of the Currency)**—विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यों में से एक यह भी है कि इसके माध्यम से कोई देश अपनी मुद्रा को एक अधिमूल्यित स्तर (Over value level) तक बनाये रख सकता है। यह एक मूल उद्देश्य है और दूसरे उद्देश्य मुख्यतया इस मूल लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करते हैं। विनिमय नियन्त्रण द्वारा विदेशी मुद्रा के उन स्रोतों पर राशन लगा दिया जाता है जो अपेक्षाकृत अभाव की स्थिति में होते हैं। इसके द्वारा कुछ मांगों को अपूर्ण छोड़ दिया जाता है और कुल मांग इतनी रखी जाती है कि वे उपलब्ध विदेशी मुद्रा द्वारा पूरी की जा सकें। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण मांगों में कटौती करके अधिमूल्यित स्तर (Over value level) करने में भी सफल हो पाता है। वैसे भुगतान सन्तुलन को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ दूसरे तरीके भी अपनाये जा सकते हैं किन्तु विनिमय नियन्त्रण की प्रक्रिया को प्राथमिकता प्रदान की जाती है। जब कभी स्थित विनिमय दरें इतनी हो जायें कि उपलब्ध विदेशी मुद्रा तत्सम्बन्धी मांग को पूरा करने में असमर्थ रहे तो विनिमय नियन्त्रण अपनाया जाता है।

(३) **घरेलू कार्यक्रमों की सुरक्षा के लिए (To Safe-guard Domestic Programmes)**—विनिमय नियन्त्रण द्वारा एक देश अपनी मुद्रा स्फीति व विरोधी घरेलू नीतियों को अपनाये रह सकता है और इसका कोई विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम नहीं होता। उदाहरण के लिये यदि एक देश सामान्य

स्फीति को रोकने के लिये पूर्ण रोजगार प्रदान करने के कार्यक्रम को प्रारम्भ करने वाला है तो इसके कुछ परिणाम हो सकते हैं। जैसे–उस देश की आय और कीमतों का स्तर विदेशों की अपेक्षा बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त आयातों में वृद्धि होगी और निर्यात घट जायेंगे। जब व्यापार का प्रवाह विपरीत दिशा में होता है तो घरेलू प्रसार पर निरुत्साहजनक प्रभाव पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में देश की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियां (International Reserves) भी प्रभावित होती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय समायोजन की शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से संचालित होने दिया जाय तो एक देश के घरेलू प्रसार के लिये किये जाने वाले प्रयास रुक जायेंगे। यदि वह देश विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपना ले तो आयातों को तथा दूसरे ऐसे लेन-देनों को नियन्त्रित करने में सफल हो सकता है जो कि उसकी विदेशी मुद्रा की मांग को बढ़ाते हैं। इस सम्बन्ध में विनिमय नियन्त्रण का महत्व यह है कि आयातों के कम होने से विदेशी व्यय कम हो जायगा और देश की आय बहने से बच जायेगी। इसके द्वारा देश की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियों पर अनुचित दबाव पड़ने से रुक जाते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विनिमय नियन्त्रण एक देश की अर्थ-व्यवस्था का कवच होता है जो कि उसे अवस्फीति विरोधी कार्यक्रम अपनाने में समर्थ बनाता है तथा किसी प्रकार का जोखिम नहीं आने देता। एक सुरक्षित साधन होने के कारण ही विनिमय नियन्त्रण उन देशों के युद्धागार का एक महत्वपूर्ण हथियार रहा है जो राष्ट्रीय नियोजन का उद्देश्य लेकर चल रहे हैं।

(४) व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए (To Control Trade)—जब एक देश यह अनुभव करता है कि स्थित विनिमय दर पर उसे सभी सम्भव मांगों की पूर्ति के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा नहीं मिल पायेगी तो वह उपलब्ध पूर्ति को विनिमय नियन्त्रण द्वारा मर्यादित करता है। विभिन्न फर्मों में विदेशी मुद्रा को आवंटित करते समय यदि वस्तुगतता को बनाये रखना है तो इसके लिए कुछ मापदण्ड तथा जागरूक प्रशासन की व्यवस्था परमावश्यक हैं अन्यथा यह खतरा रहता है कि एक विशेष आयातकर्त्ता के साथ उसके प्रतियोगियों की तुलना में पक्षपात किया जायगा और एकाधिकार अथवा अर्द्ध-एकाधिकार स्थापित किया जायगा। विभिन्न देशों के बीच विदेशी मुद्रा को आवंटित करते समय विनिमय नियन्त्रण रहने से कुछ देशों से आयात को अन्य देशों से आयात की अपेक्षा प्राथमिकता दी जायगी। ऐसी स्थिति में आयातों के स्रोत का निर्णय केवल कीमत या वस्तु के गुण पर नहीं वरन् विदेशी मुद्रा की विभिन्न श्रेणियों की सापेक्षिक पूर्ति पर भी निर्भर रहेगा।

विदेशी मुद्रा को आवंटित करने की प्रक्रिया में व्यापार स्वत: ही नियन्त्रित हो जाता है। यह नियन्त्रण आयातकर्त्ता और निर्यातकर्त्ता दोनों के व्यापारों को प्रभावित करता है। आयात करने वाले देश में विनिमय नियन्त्रण द्वारा यह छान-बीन की जाती है कि घरेलू उत्पादन की किन दिशाओं को समुन्नत किया जा सकता है। यदि एक उद्योग विदेशी मुद्रा प्राप्त करने योग्य है तो उसे आयात करने में प्राथमिकता दी जायगी और यदि दूसरा देश इतना योग्य नहीं है तो उसे प्राथमिकता नहीं दी जायगी। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से कुछ उद्योगों को एक प्रकार से सरकारी सहायता प्रदान की जाती है यद्यपि यह सहायता अप्रत्यक्ष होती है। इस सहायता के परिणाम-स्वरूप निश्चय ही यह उद्योग सम्पन्न और विकसित बन जायेंगे और घरेलू साधन स्रोत एवं मानव शक्ति इनकी ओर मुड़ने लगेगी। संक्षेप में विनिमय नियन्त्रण घरेलू अर्थ-व्यवस्था को ढालने का एक साधन माना जा सकता है। यह उस समय विशेष रूप से सच है जबकि घरेलू अर्थ-व्यवस्था आयातित माल पर निर्भर रहती है।

(५) **भुगतान संतुलन सही करने के लिये (To Correct a disequilibrium in the Balance of Payments)**—एक देश के विनिमय नियन्त्रण के प्रयास अन्य देशों को गम्भीर रूप से प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरण के लिये, विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करके एक देश अन्य देशों के साथ अपने व्यापार में भेद-भाव पूर्ण व्यवहार कर सकता है और ऐसा करते हुये वह कुछ मुद्रा वाले देशों को कम उदारता पूर्वक देखे अथवा उन्हें विदेशी विनिमय के लिये पूर्ण रूप से अनुपयुक्त ठहराये। इस प्रकार व्यापारिक भेद-भाव विभिन्न देशों के बीच आर्थिक कड़ी बनाने के लिये अथवा विशेष देशों पर आर्थिक आश्रितता को कम करने के लिये किया जा सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के वर्षों में विनिमय नियन्त्रण लगाया ताकि अपने आयातों को डालर क्षेत्र से पौंड क्षेत्रों की ओर मोड़ सके क्योंकि उस समय डालर क्षेत्र के साथ ब्रिटेन का व्यापार घाटे में चल रहा था और अन्य के साथ वह तुलनात्मक रूप से घाटे की स्थिति में नहीं था।

(६) **घरेलू उद्योगों की रक्षा के लिये (To Protect Domestic Industries)**—विनिमय नियंत्रण द्वारा एक देश विदेशी मुद्रा का आवंटन उत्पादन देख कर करने में सक्षम होता है। इस प्रकार कुछ आयातों को अन्य की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहित किया जा सकता है। जब आयातों को विभिन्नतापूर्ण दृष्टि से देखा जाता है तो जिन वस्तुओं का आयात कम महत्वपूर्ण माना गया है उन पर वही प्रभाव होगा जो प्रशुल्क अथवा नियतांश का होता है। जब विशेष आयातों को बाहर रख दिया जाता है अथवा

उनके प्रवेश पर सजगता के साथ नियंत्रण रखा जाता है तो इससे प्रतियोगी घरेलू उत्पादकों की रक्षा होती है।

घरेलू उत्पादकों की रक्षा के लिये कई कारणों से इस प्रकार का नियंत्रण लगाया जाता है :—

(अ) एक तर्क तो यह दिया जा सकता है कि कृषि सम्बन्धित अथवा औद्योगिक शिशु उद्योगों को यदि विकास का अवसर देना है तो उनकी रक्षा की जानी चाहिये। इस उद्देश्य के लिये विनिमय नियंत्रण का प्रयोग करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिये। इसमें यह देखना चाहिये कि जिन शिशु उद्योगों को संरक्षण के लिये चुना गया है, वे दीर्घकाल में उत्पादक के प्रयासों का गलत आवंटन न कर दे।

(ब) आयातों की मात्रा में कटौती को कभी-कभी घरेलू उत्पादन और रोजगार की कुल वृद्धि का साधन माना जाता है। नियंत्रण की नीति का समर्थन करने वाले लोग इस सम्बन्ध में यह अन्तर नहीं कर पाते कि एक विशेष उद्योग एवं सम्पूर्ण अर्थ–व्यवस्था पर इसका अलग-अलग क्या प्रभाव होगा। यह हो सकता है कि विनिमय नियंत्रण का प्रयोग करने से कुछ उद्योगों में उत्पादन और रोजगार बढ़ जायें किन्तु सम्पूण अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में इसे निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। तथ्य यह है कि व्यापार पारस्परिक होता है और जब आयातों में कटौती करदी जाती है तो निर्यात में भी स्वतः ही कटौती होने लगती है।

कभी-कभी विशेष घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिये विनिमय नियंत्रण के स्थान पर बहुविनिमय दर-व्यवस्था को अपनाया जाता है। यहां भेदभावपूर्ण व्यवहार केवल यही नहीं होता कि कुछ विदेशी मुद्राओं को स्वीकार किया जाय और कुछ को न किया जाय किन्तु इस प्रक्रिया में दो या अधिक विनिमय मुद्रा दरों को भी विदेशी मुद्रा की खरीद या बिक्री के लिये प्रयुक्त किया जाता है। कुछ प्रकार के आयातों को अधिक अनुकूल दरों पर विदेशी मुद्रा प्रदान की जाती है। इसी प्रकार कुछ विशेष प्रकार के निर्यातों को दूसरों की अपेक्षा बिक्री की अधिक अनुकूल दरें प्रदान की जा सकती हैं। आयातों पर कम अनुकूल विनिमय दरें अप्रत्यक्ष प्रशुल्क मानी जायंगी। दो या दो से अधिक बिक्री दरों में अधिक अनुकूल दरों को निर्यात सहायता माना जा सकता है। अर्जेन्टाइना और चिली जैसे अनेक अर्द्धविकसित देशों में 'बहुविनिमय दर' विनिमय नियंत्रण व्यवस्था की सामान्य विशेषतायें हैं क्योंकि ये अपने आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना चाहते हैं।

प्रारम्भ में जब विनिमय नियंत्रण शुरू किया जाता है तो इसका उद्देश्य प्रायः घरेलू वस्तुओं की रक्षा करना नहीं होता। यह उद्देश्य कुछ समय बाद पैदा होता है। एक बार जब विनिमय नियंत्रण प्रारम्भ हो जाता है तो

उसके साथ विभिन्न हित जन्म ले लेते हैं और वे उसे समाप्त होने से रोकते हैं। विनिमय नियंत्रण की सुरक्षा के कारण जो नये उद्योग जन्म लेते हैं वे उसे जारी रखने पर जोर देंगे। इसके अतिरिक्त पहले से ही स्थापित उद्योग जब नियंत्रण के माध्यम से सुरक्षा प्राप्त करने लगेंगे तो वे भी नियंत्रण को हटाने का प्रयास करेंगे। दोनों स्थितियों में ही एक बार विनिमय नियंत्रण के कुछ समय तक लागू होने के बाद उसको हटाना मुश्किल हो जायगा।

(७) राजस्व प्राप्त करने के लिये (To Acquire Revenue)—विनिमय नियंत्रण का एक अन्य उद्देश्य यह भी हो सकता है कि सरकार उसके माध्यम से राजस्व प्राप्त करना चाहे। अर्जेन्टाइना और चिली जैसे अनेक देश विनिमय नियंत्रण का प्रयोग किसी उद्योग के लिये करते हैं। उदाहरण के लिये चिली ने खरीददारी के लिये १२ विनिमय दरों को अपनाया है। सरकार द्वारा इस प्रकार जो राजस्व प्राप्त किया जाता है उसे देश के आर्थिक विकास के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है।

(८) विनिमय दरों को स्थिर बनाने के लिए (To Stabilise the Exchange Rates)—दिन-प्रतिदिन की घटनाओं एवं सट्टेबाजीपूर्ण लेन-देन के कारण विनिमय दरों में गम्भीर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। ये विश्व व्यापार के प्रसार के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है। कुछ देश अपनी विनिमय दरों को एक निर्धारित स्तर पर बनाये रखने के लिए विनिमय नियंत्रण लागू करते हैं।

(९) आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए (To Import Essential Goods)—जिस देश में विदेशी मुद्रा की कमी है वह प्रत्येक वस्तु का आयात नहीं कर सकता। उसे अपने सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करना होगा और इसके लिए नियंत्रण की नीति अपनाना आवश्यक है। आरामदायक और शृंगार की वस्तुओं के आयात को रोक कर आवश्यक वस्तुओं के आयात में अपने साधनों को कोई देश विनिमय नियंत्रण की नीति अपना कर ही लगा सकता है। अधिकांश विकासशील देश विनिमय नियंत्रण की नीति अपनाकर अपने सीमित साधनों का प्रयोग पूंजीगत माल, तकनीकी ज्ञान तथा आवश्यक कच्चे माल की खरीद में कर रहे हैं।

(१०) राष्ट्रीय प्रतिभूतियों की कीमत कम करने के लिए (To lower the prices of National Securities)—कुछ राज्य विनिमय नियंत्रण का प्रयोग विदेशों में स्थिर राष्ट्रीय प्रतिभूतियों को खरीदने पर रोक लगाने के लिए करते हैं। ऐसा करके वे विदेशियों को इन प्रतिभूतियों की कीमत कम करने के लिए दबा सकते हैं।

(११) **विदेशी ऋणों का भुगतान रोकने के लिए (To Pretent the Payment of Foreign Debts)**—कभी-कभी विनिमय नियत्रण की नीति का प्रयोग इसलिए भी किया जाता है ताकि एक देश अपने राष्ट्रिकों को विदेशी ऋणों का भुगतान करने से रोक सके। इस उपलब्ध विदेशी विनिमय का प्रयोग वह माल और सेवाओं का आयात करने के लिए कर सकता है।

(१२) **कर्जदारों से भुगतान प्राप्त करने के लिए (To obtain payment from debtor)**—ऋण दाता राज्य अपने कर्जदारों को प्रभावित करने के लिए विनिमय नियंत्रण का प्रयोग कर सकता है ताकि वे अपने कर्ज का भुगतान कर सकें। इस प्रकार प्राप्त मुद्रा का प्रयोग वह सेवाओं तथा माल की खरीददारी के लिए कर सकता है।

(१३) **सरकारी ऋणों को चुकाने के लिए (To pay governmental Debts)**—विदेशो से सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है उसका भुगतान करने के लिए भी विनिमय नियत्रण की नीति अपनायी जाती है। विदेशी ऋणों का भुगतान न किया जाना एक देश की सरकार के लिए अत्यन्त गम्भीर विषय है। एक बार यदि सरकार समय पर विदेशी ऋण न चुका पाये तो भविष्य के लिए उसकी साख चली जाती है। इसके अतिरिक्त वह देश दुनियां की नजरों में गिर जाता है। अतः सरकार आवश्यक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए विनिमय नियंत्रण लगा देती है।

(१४) **आर्थिक नियोजन के लिए (For-economic planning)**—आयात-निर्यातों की मात्रा तथा कीमतों में होने वाले अप्रत्याशित उतार-चढ़ाव घरेलू नियोजन को खतरे में डाल देते हैं। ये उतार-चढ़ाव किसी भी देश के नियंत्रण से परे हैं। विनिमय नियंत्रण की नीति द्वारा अस्थायी प्रकृति की बाहरी घटनाओं के प्रभावों पर रोक लगायी जा सकती है।

(१५) **व्यापारिक सौदेबाजी**—विनिमय नियंत्रण की नीति को अपना कर एक राज्य भेदभाव पूर्ण व्यवहार कर सकता है। वह उन देशों को विनिमय रियायतें देगा जो उसे देने के लिए तैयार हैं और उनको नहीं जो उसे नहीं दे रहे। इस प्रकार वह प्रभावपूर्ण सौदेबाजी करने की स्थिति में आ जाता है।

विनिमय नियंत्रण के तरीके

(Methods of Exchange Control)

विनिमय नियंत्रण के तरीकों का मोटे रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। दोनों के उप-विभाजनों का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

अप्रत्यक्ष तरीके

(Indirect Methods)

(१) **विदेशी व्यापार नियंत्रण**—इस तरीके में सरकार द्वारा आयात और निर्यात पर कुछ कर लगा दिए जाते हैं। आयात कर का उद्देश्य यद्यपि आयातित वस्तुओं की मात्रा को कम करना होता है फिर भी यह विनिमय नियंत्रण के रूप में प्रतिफलित होता है। आयात कर लग जाने के कारण आयातित वस्तुओं के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा के बदले देशी मुद्रा कम देनी पड़ेगी। यह नीति उस समय असफल हो जाती है जब दूसरे देश भी इसका अनुसरण करने लगते हैं।

(२) **ब्याज की दरों में परिवर्तन**—जब एक देश ब्याज की दरों में परिवर्तन कर देता है तो विनिमय दर प्रभावित होती है। ब्याज की दर अधिक होने पर विदेशी पूंजी आकर्षित होने लगती है ताकि वह अधिक से अधिक लाभ कमा सकें। इसके अतिरिक्त देशवासी भी अपनी सम्पत्ति को स्वदेश में ही रखना चाहते हैं। फलत: देश में मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर ऊंची होने लगती है।

विनिमय नियंत्रण की उपर्युक्त रीतियां विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य को लेकर नहीं चलती वरन् इनका मूल लक्ष्य देश की आन्तरिक स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं पूंजी के आवागमन की परिस्थितियों को प्रभावित करना होता है। विनिमय की दर पर पड़ने वाला इनका प्रभाव प्रासंगिक होता है। यही कारण है कि इनको विनिमय नियंत्रण की परोक्ष रीतियां कहा जाता है। इनका प्रभाव सीमित होता है। आयात अथवा निर्यात को ये केवल एक सीमित मात्रा में ही प्रभावित करती हैं।

प्रत्यक्ष तरीके

(Direct Methods)

विनिमय नियंत्रण के कुछ प्रत्यक्ष तरीके भी हैं जो प्राय: संकटकाल में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में राज्य के हस्तक्षेप का सर्वाधिक अतिशयवादी रूप राज्य द्वारा किया गया व्यापार है। सरकार द्वारा निर्यात और आयात में व्यक्तिगत उद्यमों का स्थान स्वत: ले लिया जाता है। सरकारी अभिकरण घरेलू व्यापारियों के उत्पादनों को देशी मुद्रा का भुगतान करके स्वयं खरीद लेते हैं। वे उन्हें विदेशों में विदेशी मुद्रा के बदले बेचते हैं। इसी प्रकार ये सरकारी अभिकरण विदेशों से माल खरीदकर अपने देश में बेचते हैं।

इस प्रकार के हस्तक्षेप तथा स्वयं आयात-निर्यात के कार्यों को सम्पन्न करने की अपेक्षा सरकार उसकी मात्रा निश्चित करने का काम भी अपने हाथ में ले सकती है। इस कार्य को राज्य प्रत्यक्ष नियमन द्वारा करता है।

प्रत्यक्ष रूप से सरकार द्वारा जितने नियंत्रण रखे जाते हैं उनको ऐसे गैर-सरकारी व्यक्तियों एवं फर्मों पर रखा जाता है जो विदेशी विनिमय के व्यय और प्राप्तियों का कार्य करते हैं। विदेशी विनिमय प्राप्त करने वाले लोग उसे सरकार अथवा इसके अधिकृत अभिकरणों को बेच देते हैं। सरकार द्वारा व्यय योग्य विदेशी विनिमय की मात्रा निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त सरकार मात्रा या मूल्य सम्बंधी प्रतिबध लगाकर विदेशी विनिमय के प्रयोग को निर्देशित करती है। प्रत्यक्ष तरीकों में कुछ महत्वपूर्ण निम्न प्रकार है :—

(१) **हस्तक्षेप करना (Intervention)**—हस्तक्षेप करने की नीति द्वारा विनिमय की दर को प्रायः ऊंची अथवा नीची रखने का प्रयास किया जाता है। प्रायः यह नीति विनिमय दर को ऊंचा रखने के काम आती है। जब इस नीति का उद्देश्य मुद्रा के मूल्य को ऊंचा रखना होता है तो यह ऊंचा टांगने (Pegging up) की नीति कहलाती है।

पहले प्रकार के अन्तर्गत सरकार विनिमय दर को एक उच्च स्तर पर निश्चित कर देती है जबकि दूसरे में विनिमय दर नीचे स्तर पर निधारित करती है। विदेशी विनिमय को ऊंचे स्तर पर बनाए रखने में सरकार तभी सफल हो सकती है जबकि उसकी विदेशी मुद्रा का कोष पर्याप्त सम्पन्न हो। विनिमय दर को ऊंचा टांगना अधिक कठिनाईपूर्ण होता है क्योंकि इसके लिए विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ानी होती है। कई बार विदेशी मुद्रा की पूर्ति विदेशों से कर्जा लेकर की जाती है किन्तु यह तरीका ऋण की मात्रा एवं समय की दृष्टि से अनेक सीमाएं रखता है। इसके अतिरिक्त किसी अनुत्पादक उद्देश्य के लिए ऋण लेना उपयुक्त भी नहीं होता। स्पष्ट है कि एक सरकार विनिमय दर को केवल उतना ही ऊंचा टांग सकती है जितने उसके पास विदेशी मुद्रा के कोष हैं।

विनिमय दर को नीचे अटकाने की सीमाएं इतनी संकीर्ण नहीं होती क्योंकि इसके लिए विदेशी मुद्रा का नहीं वरन् देशी मुद्रा का कोष पर्याप्त होना चाहिए। यह काम अपेक्षाकृत सरल होता है। यद्यपि सीमाएं इसमें भी हैं क्योंकि देशी-मुद्रा को जनता पर कर लगाकर जनता से ऋण लेकर या नये नोट छापकर बढ़ाया जा सकता है। ये तीनों तरीके असीमित नही हैं। यह सच है कि विनिमय दर को नीचे अटकाने की नीति उसे ऊंचा अटकाने की अपेक्षा कम कठिनाई पूर्ण होती है किन्तु यह खर्चीली अधिक होती है।

इसे स्थाई रूप से नहीं अपनाया जा सकता। यह नीति आर्थिक परिणामों की दृष्टि से भयकर और अपने आप में खर्चीली होती है। इसे अपनाते समय पर्याप्त सजगता रखनी होती है।

(२) **विनिमय प्रतिबंध (Exchange Restrictions)**—जब एक सरकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के आकारों और रचना को स्वतंत्र बाजार में निर्धारित होने देने के स्थान पर उसमें स्वयं हस्तक्षेप करने का निर्णय लेती है तो उसे उन प्रश्नों का जवाब ढूंढ़ना होता है जिनको स्वतंत्र बाजार द्वारा स्वयमेव तय किया जाता रहा था अर्थात सरकार को यह तय करना होगा कि कौन-सा माल और सेवाएं आयात की जानी चाहिए? प्रत्येक आयात पर कितना खर्च किया जाए? पूंजी का निर्यात किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाए? इन सबका लेन-देन करने की अनुमति किसे दी जाए? पूंजी का प्रसार किन देशों का किया जाए? आदि-आदि।

कुछ देशों में इन प्रश्नों के समाधानार्थ विदेशी विनिमय का बजट बनाया जाता है। यह बजट प्रत्येक छः या बारह महीनों के बाद बनाया जाता है। अपने सरल अर्थ में विनिमय प्रतिबंध की नीति वह है जिसमें एक देश अपनी मुद्रा की पूर्ति विदेशी विनिमय बाजार में कम कर देता है। जो सरकार विनिमय नीति अपनाती है वह सारे व्यापार को स्वयं अथवा अपने प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रण में रखती है। इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति देशी मुद्रा के बदले विदशी मुद्रा प्राप्त करने का प्रयास करता है तो उसे सरकार की आज्ञा लेनी होती है। प्रतिबंध की यह नीति सबसे पहले १९३१ में आस्ट्रिया-जर्मनी ने लागू की थी। जर्मनी को इस नीति का जनक कहा जाता है।

प्रतिबंध दो प्रकार के हो सकते हैं—मात्रागत और लागत सम्बन्धी। मात्रागत प्रतिबंधों द्वारा विदेशों में खर्च की जाने वाली या वहां से प्राप्त की जाने वाली मुद्रा की मात्रा पर संख्यात्मक सीमायें लगाई जाती हैं। दूसरी ओर, लागत प्रतिबंधों पर विभिन्न लेन-देनों के लिये प्रयुक्त विदेशी विनिमय की अलग-अलग कीमतें वसूल की जाती हैं।

मात्रागत प्रतिबंधों में सरकार यह निश्चित कर देती है कि किन उद्देश्यों के लिये कितने विदेशी विनिमय का प्रयोग किया जायेगा? इसे ज्ञात करने के लिये व्यक्तिगत लेन-देनों पर नियंत्रण रखा जाता है। आयात नियतांश, आयात लाइसेंस या विनिमय लाइसेंस के रूप में हो सकता है। एक नियतांश द्वारा आयात किये जाने वाले उत्पादन की कुल मात्रा की सीमा निर्धारित की जाती है। इसके अनेक रूप होते हैं।

विनिमय प्रतिबंध की नीति के कई रूप हैं। इनमें से अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts) और बहुविनिमय दर (Multiple Exchange

Rate) प्रमुख हैं। अवरुद्ध खाते की नीति में विदेशी मुद्रा की निकासी पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक में जमा की गयी रकम को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित नहीं किया जाता उसको अवरुद्ध कर दिया जाता है। इससे विदेशी ऋणदाताओं को पर्याप्त कठिनाई का अनुभव होता है क्योंकि वे अपनी मुद्रा का प्रयोग और कहीं नहीं कर सकते और मजबूर होकर सम्बंधित देश से ही उन्हें माल खरीदना होता है। खाते को इस प्रकार अवरुद्ध करने वाला देश पर्याप्त लाभ में रहता है। जब हिटलर के आंतकों से तंग आकर यहूदियों ने जर्मनी को छोड़ा तो वहां उनकी करोड़ों की सम्पत्ति रह गयी। जर्मन सरकार ने इस समस्त सम्पत्ति को अवरुद्ध खाते में लिख लिया। यहूदी उसे इंगलैंड में प्राप्त नहीं कर सकते थे। अवरोध की नीति काला बाजारी के अवसर खोलती है। मुद्रा को विदेशों में जाने से रोक दिया जाता है अतः इससे विनिमय की दर में होने वाले उच्चावचन स्वतः ही रुक जाते हैं।

(३) **बहुविनिमय दरें (Multiple Exchange Rates)**—विनिमय प्रतिबंधों का तीसरा रूप बहु-विनिमय दरें हैं। इस प्रणाली के जन्म का श्रेय भी जर्मनी को ही दिया जाता है। स्नाईडर के कथनानुसार "बहुविनिमय दर का अर्थ विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों की विभिन्न प्रकार की विनिमय दरों का प्रयोग करना है। इस प्रक्रिया द्वारा आन्तरिक मूल्य एवं आपके समायोजनों में परिवर्तन किए बिना ही आयातों को नियंत्रित किया जाता है और निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाता हैं। बहु विनिमय के तरीकों को सरल रूप में नियन्त्रित विनिमय बाजार में ही प्रयुक्त किया जा सकता है। आयात तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर अलग-अलग विनिमय दर निर्धारित करके आयातों को न्यूनतम और निर्यातों को अधिकतम किया जाता है ताकि अधिक से अधिक विदेशी विनिमय कमाया जा सके।

जिस देश में बहु विनिमय दरों को अपनाया जाता है वहां लाइसेंस अथवा मात्रागत प्रतिबन्धों की लगाने के आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रणाली का दोष यह है कि इसके कारण विनिमय दरों का रूप अत्यन्त जटिल बन जाता है। इसके अतिरिक्त जब विनिमय दरों अथवा प्रत्येक विनिमय दर पर आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को सदैव बदलते रखा जाता है तो देश में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश और विदेश के साधनों का प्रयोग अनार्थिक रूप से किया जाता है और इसलिये देश के नियोजित विकास में पर्याप्त बाधा पहुँचती है। अनेक वस्तुयें विदेशों से आयातित की जाती है और इसलिये देश आत्मनिर्भर नहीं रह पाता। जिन विभिन्न देशों में इस प्रणाली ोक

अपनाया गया उनको बहुत हानि उठानी पड़ी है। वहां कृषि उत्पादन का विकास अवरुद्ध हो गया है।

(४) विनिमय निकासी समझौते (Exchange Clearing Agreement)—यह अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की अधिक सरल एवं विस्तृत पद्धति मानी जाती है। इसके अनुसार प्रत्येक देश एक समझौता करता है कि वह अपने केन्द्रीय बैंक में एक खाता खोलेगा और इस खाते के माध्यम से वह देश के सारे आयातों एवं निर्यातों का भुगतान करेगा। यह प्रणाली विदेशी विनिमय की परवाह किए बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने का प्रयास करती है। इस व्यवस्था में विदेशी मुद्रा का महत्व समाप्त हो जाता है। इसे १९३० के आर्थिक संकट में अधिक अपनाया गया था। उस समय अनेक प्रतिबन्ध लगाने के बाद भी भुगतान सन्तुलन में विषमता थी और यह विषमता इतनी अधिक थी कि इसे रोकने के लिये किये गये सारे प्रयास प्रभावहीन सिद्ध हो रहे थे। कई देशों ने इस स्थिति से तंग आकर अपने आपको दिवालिया घोषित कर दिया। तात्कालीन परिस्थितियों में विदेशों से ऋण लेने की सम्भावनायें भी समाप्त प्राय: हो चुकी थीं। इन सब कारणों से प्रभावित होकर जर्मनी ने इस प्रणाली का आविष्कार किया।

विनिमय निकासी समझौतों द्वारा लाल-फीताशाही की मात्रा पर्याप्त कम हो जाती है क्योंकि इनके बाद आयात लाइसेंस जारी करना और आयात या निर्यात के मूल्यों का परीक्षण करना आवश्यक नहीं रह जाता।

इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। इसमें एक समृद्ध देश कमजोर देश की कमजोरी का फायदा उठाते हुए उसका शोषण कर सकता है। इसमें आयात केवल उसी देश से किया जा सकेगा जिससे निर्यात किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में सम्भव है कि एक देश को अनावश्यक वस्तुयें भी खरीदनी पड़े। इस प्रकार से किये गये समझौतों का जब पूर्ण रूप से पालन किया जाता है तो विदेशी बाजारों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(५) स्वर्ण नीति (Gold Policy)—सरकार सोने की बिक्री और खरीद पर प्रतिबंध लगाकर तथा उनके नियमन द्वारा विनिमय को नियन्त्रित कर सकती है। अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने १९३३ में विनिमय नियन्त्रण की दृष्टि से स्वर्ण क्रय-कार्यक्रम को कार्यान्वित किया। इस प्रकार के उपायों को अपनाने का स्वर्ण बिन्दुओं पर प्रभाव होता है और इस तरह विनिमय दरें भी प्रभावित होती हैं।

कुछ अन्य तरीके
(Some other Methods)

उपरोक्त प्रणालियों के अतिरिक्त विनिमय नियंत्रण के लिये कुछ अन्य प्रणालियां भी प्रयुक्त की जाती हैं। पाल एन्जिग ने विनिमय नियंत्रण की ४१ विभिन्न रीतियों का वर्णन किया है। उपर्युक्त प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रीतियों के अतिरिक्त जो अन्य रीतियां इस दृष्टि से महत्व रखती हैं वे निम्नलिखित हैं —

(१) **भुगतान समझौते (Payments Agreements)**—भुगतान समझौते के अन्तर्गत साधारण विनिमय के तरीकों को ही काम में लिया जाता है। इनमें एक विनिमय नियंत्रित देश से स्वतन्त्र विनिमय वाले देश को जोड़ा जाता है। ये भुगतान समझौते दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के समझौते ऋण के भुगतान में सहायता करते हैं जबकि दूसरे व्यापार के विकास के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

(२) **यथास्थिति समझौते (Stand-still Agreements)**—यह प्रणाली खाते अवरुद्ध करने की प्रणाली की विकल्प है। इसके अनुसार दो देशों के बीच सम्पति के आवागमन पर रोक लगा दी जाती है। ऋणों के भुगतान को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है और इस प्रकार कर्जदार देश को इतना समय दिया जाता है कि वह अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बना ले। इस प्रकार यह प्रणाली पारस्परिक सहयोग एवं पूंजी के आवागमन पर रोक लगाकर विनिमय दर को नियन्त्रित करने का प्रयास करती है।

(३) **निजी मुआवजा समझौते (Private Compensation Agreement)**—ये समझौते वस्तुओं के आदान-प्रदान की भांति होते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश दूसरे देश को उतनी ही मात्रा एवं मूल्य की वस्तुएं निर्यात करता है जितना वह बदले में सम्बन्धित देश से आयात करता है। इस प्रकार आयातों का भुगतान निर्यातों द्वारा स्वयमेव ही कर दिया जाता है और किसी प्रकार का भुगतान करना शेष नहीं रह जाता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक निर्यातकर्त्ता देश को आयातकर्त्ता और आयातकर्त्ता देश को निर्यातकर्त्ता भी होना चाहिए। इस प्रकार विनिमय दर के बीच साम्य बनाए रखा जाता है।

(४) **अव्यवस्थित भेदक दरें (Disorderly Crossed Rates)**—विनिमय नियंत्रण केवल वहां लागू किया जाता है जहां द्विपक्षीय व्यापार हो रहा है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी विनिमय दरों के मध्य एक व्यवस्थापूर्ण

सम्बन्ध के स्थान पर अव्यवस्थित दरें भी निर्धारित हो जाती हैं। पहले जब विभिन्न देशों की मुद्राएं परिवर्तनशील थीं तो उनकी पारस्परिक विनिमय दरें प्रायः स्थाई होती थीं। उस समय विनिमय दरों में परिवर्तन की प्रवृत्ति को विनिमय का लाभ प्राप्त करने की क्रियाओं द्वारा प्रभावशील होने से रोक दिया जाता था किन्तु अब: विनिमय नियन्त्रण एवं अपरिवर्तनीयता के कारण लाभ प्राप्त करने से सम्बन्धित क्रियाएं प्रायः असम्भव बन गयी हैं। आज मुद्रा की दर सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है और अनेक प्रतिबन्ध लगा कर उसे बनाए रखा जाता है। ऐसी स्थिति में जब तक विभिन्न विपरीत विनिमय दरों को हम व्यवस्थित एवं स्थाई रूप प्रदान न करें तब तक वे अव्यवस्थित रहती हैं। अव्यवस्थित दरों में देश की मुद्रा का मूल्य व्यापार शर्तों की अनुकूलता और प्रतिकूलता के साथ घटता-बढ़ता रहता है।

विनिमय नियंत्रण की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता

(The Advantage and Disadvantages of Exchange Control)

विनिमय नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से कितना उपयोगी है और इसका महत्व क्या है इस प्रश्न के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री बहुत समय से विवाद करते रहे हैं। अमेरिकी दृष्टिकोण के अनुसार विनिमय नियन्त्रण की नीति व्यापार के मार्ग को अवरुद्ध करती है। इसलिए ऐसे नियन्त्रणों को जितनी जल्दी हो सके हटा लेना चाहिये। दूसरी ओर ग्रेट-ब्रिटेन जैसे देशों की मान्यता है कि इस नीति ने अनेक मूल्यवान सेवाएं प्रदान की हैं और इसलिए जब कभी इनको हटाया जाए तो पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए। दोनों ही पक्ष अपने समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(१) विनिमय नियंत्रण द्वारा घरेलू अर्थ-व्यवस्था को बाहरी अशांति से बचाये रखा जाता है। यह व्यवस्था चालू खाते के असन्तुलन को बिना कीमत या आय का अवमूल्यन किए या बिना विनिमय मन्दी का सहारा लिए ही सुधार सकती है। विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से प्रसारवादी मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियां भुगतान सन्तुलन पर विचार किये बिना ही संचालित की जा सकती हैं।

(२) विनिमय नियंत्रण का एक लाभ यह है कि यह स्वचालित अथवा समायोजन से स्वतन्त्र बाजार की प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। नियन्त्रण करने वाली सत्ताएं यह चयन कर सकती हैं कि किस विशेष आयात को कम करना है और किन विदेशी मुद्राओं की सबसे अधिक बचत करनी है? इस प्रकार यह निर्णय लिया जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से उपयोगी अन्य वस्तुओं के अधिक आयात को बनाए रखने के लिए आरामदायक

चीजों के आयातों को हटाया जाय। दूसरी ओर स्वतन्त्र बाजार में आराम-दायक वस्तुओं का आयात बहुत कम प्रभावित होता है।

(३) विनिमय नियन्त्रण द्वारा एक सर्वाधिक, निश्चित और प्रभाव-शील प्रक्रिया प्रदान की जाती है ताकि पूंजी के आदान-प्रदान के असन्तुलन को कम किया जा सके।

विनिमय नियन्त्रण के समर्थकों का कहना है कि स्वतन्त्र बाजार प्रणाली के सभी परिणाम उचित नहीं होते। इन विचारकों का मत है कि विनिमय नियन्त्रण द्वारा अर्थ-व्यवस्था के बाहरी उपद्रवों को चाहे पूरी तरह मिटाया न जा सके किन्तु उनकी विभिन्न समस्याओं का निदान भली प्रकार किया जा सकता है। विनिमय नियंत्रण द्वारा उस पूंजी के आवागमन पर नियन्त्रण रखा जाता है जो भ्रमणशील एवं विषमताओं को बढ़ाने वाली होती है।

विनिमय नियन्त्रण के उक्त लाभों के अतिरिक्त उसकी कुछ हानियां भी हैं। सामान्य रूप से विनिमय नियन्त्रण एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सरकारी बिनिमयों को स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों के स्थान पर रख दिया जाता है। इस व्यवस्था में यह मानकर चला जाता है कि प्रत्यक्ष नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली कार्य करेगा। इसमें अवांछनीय बातें कम होंगी और मूल आय के परिवर्तन या विनिमय दर की विभिन्नताओं के कारण गलत प्रभाव नहीं पड़ेंगे।

विनिमय नियन्त्रण के प्रति सबसे गम्भीर आर्थिक आपत्ति यह की जाती है कि इसके द्वारा अल्प संख्या में स्थित उत्पादन के साधनों के निर्धारण में कार्य-कुशलता नहीं रह पाएगी। सैद्धान्तिक रूप से नियन्त्रण पूंजी की गति की गलत स्थितियों को रोकने के लिए किए जाते हैं किन्तु व्यवहार में इन्होंने उत्पादन और व्यापार के रूप में प्रायः प्रत्येक बार उत्पादन के नियमों को तोड़ा है। स्वतन्त्र बाजार की व्यवस्थाओं में एक देश उस माल और सेवा को खरीदता है जिनकी उत्पदान लागत देश की अपेक्षा विदेशों में कम आती है। इस दृष्टि से उत्पादन के साधनों का अधिक से अधिक निर्धारण करके विश्व की वास्तविक आमदनी को बढ़ा दिया जाता है।

एक स्वतन्त्र विनिमय बाजार आन्तरिक और बाह्य लागनों तथा मूल्यों को जोड़ने वाली कड़ी है। यदि एक कड़ी टूट जाए तो लागत-कीमत की तुलना का आधार और साधनों के विर्धारण का कुशल यंत्र नष्ट हो जाएगा। अधिकांश देशों में विनिमय नियन्त्रण का इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि ऐसी व्यवस्थाओं में यह कड़ी प्रायः टूट गयी है। एक स्वतन्त्र बाजार में व्यापार

की गयी वस्तुओं का मूल्य सभी देशों के अन्तर्गत एक जैसा रहेगा, उनके बीच केवल यातायात की लागत का अन्तर होगा। विनिमय नियन्त्रण की स्थिति मे ऐसा नहीं होता। जब आयात लाईसेंस जारी करके प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं तो कीमतों को समान करने के सभी प्रयास असफल हो जाते हैं।

विनिमय नियन्त्रण की योजना में विनिमय की जो कृत्रिम दर एक देश में निर्धारित की जाती है उसकी अपेक्षा विदेशों में प्रायः सभी वस्तुएं सस्ती होती हैं। देश का निर्यात ऊंची कीमत पर होने के कारण प्रतिबन्धित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिन साधनों को निर्यात करने वाली वस्तुओं के अधिक उत्पादन के लिए प्रयोग में लाया जा सकता था वे अब उन वस्तुओं के उत्पादन की ओर लगाई जाती हैं जो विदेशों में अधिक कुशलता पूर्वक उत्पादित की जा सकती थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रम विभाजन का लाभ प्राप्त नहीं हो पाता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी देश में किए जाने वाले आयात का निर्णय इस आधार पर नहीं किया जाता कि वहां माल सस्ता मिलेगा वरन् इस आधार पर किया जाएगा कि वहां से माल मिल भी सकेगा या नहीं। इसके परिणामस्वरूप व्यापार न केवल कम कुशल रह जाता है वरन् इसका आकार भी कम हो जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से योरोपीय देशों के बीच का व्यापार बहुत कुछ द्विपक्षीय व्यापार एवं भुगतान समझौतों के माध्यम से हुआ, जिनकी संख्या दो सौ से भी अधिक थी। इन पर अनेक व्यापक एवं कठोर विनिमय नियन्त्रण लगे हुए थे। इन्हीं के कारण मुख्य रूप मे यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था न आत्म-निर्भर बन सकी न अपना विकास कर सकी।

यद्यपि विनिमय नियन्त्रण की नीति का विरोध किया जाता है किन्तु यह विरोध तथा की गयी समस्त आलोचनाएं उस समय महत्वहीन प्रतीत होती है जब हमारे सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या इनके स्थान पर स्वतन्त्र बाजार की नीति को अपनाया जाए? आज प्रायः अधिकांश लोग इस बात से सहमत हैं कि यदि किसी देश के भुगतान सन्तुलन की विषमताओं को दूर करना है तो इसके लिए कुछ उपाय अवश्य अपनाए जाने चाहिए। असल में विनिमय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की सेवाएं पर्याप्त महत्वपूर्ण होती हैं।

विनिमय नियन्त्रण का व्यावहारिक रूप

(An applied form of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण से सम्बन्धित मूल सिद्धान्तों, रूपों तथा पक्ष और विपक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों का अध्ययन करने के बाद यह उपयुक्त है कि

किसी देश विशेष में इसके व्यावहारिक अनुभव का अध्ययन किया जाय ताकि सम्बन्धित सिद्धान्तों को समझा जा सके। अपने अध्ययन के लिये हम ग्रेट-ब्रिटेन को चुनते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था की ओर दो कारणों से विशेष ध्यान गया है। पहला कारण यह है कि इस देश की मुद्रा पौंड स्टर्लिंग (Pound Sterling) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त में एक मुख्य स्थान रखती है। ग्रेट-ब्रिटेन की मुद्रा होने के अलावा यह दूसरे अनेक देशों की मुद्राओं का भी सहारा है। ग्रेट ब्रिटेन तथा उसकी मुद्रा से सम्बन्धित दूसरे देशों को मिलाकर पौण्ड क्षेत्र कहा जाता है। इन देशों में विश्व की जनसंख्या का लगभग एक तिहाई भाग रहता है। दूसरे, स्टर्लिंग में किये जाने वाले व्यापार और वित्त की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है। यह विश्व के कुल व्यापार और वित्त का आधा भाग है। जब स्टर्लिंग जैसी किसी मुद्रा के सम्बन्ध में विनिमय नियंत्रण लागू किया जाता है तो इस व्यवस्था का कुछ ज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक गतिविधियों को समझने के लिए परमावश्यक है।

ग्रेट ब्रिटेन तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों में द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में ही विनिमय नियंत्रण लागू कर दिया गया था। यह कदम इसलिये उठाया गया ताकि ग्रेट-ब्रिटेन और राष्ट्रमंडल के देशों पर युद्धकालीन परिस्थितियों का प्रभाव न पड़े अथवा कम से कम पड़े। मूल रूप से ग्रेट-ब्रिटेन ने विनिमय नियंत्रण को इसलिये अपनाया ताकि वह अपने स्वर्ण और डालर के अपेक्षाकृत अल्प कोष को सुरक्षित बनाये रख सके या अपने कोष का अधिकतम प्रयोग कर सके। युद्ध से पूर्व स्टर्लिंग क्षेत्र की जो मुख्य विशेषतायें थीं वे युद्ध के दौरान भी यथावत् बनी रहीं। केवल दो विकास हुये—प्रथम, यह कि स्टर्लिंग क्षेत्र के :सभी देशों ने विनिमय नियंत्रण लागू कर दिया और दूसरे, सभी सदस्य देश अपनी गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्रा और स्वर्ण को लन्दन में रखने को राजी हो गये। इस काल में भारत ने अपनी आवश्यकताओं से अधिक डालर कमाया। उसने इन डालरों को पौण्ड के बदले ग्रेट-ब्रिटेन को दे दिया। इस प्रक्रिया से ग्रेट-ब्रिटेन ने जितने डालर कमाये थे उनसे अधिक उसे मिल गये किन्तु अतिरिक्त डालर प्राप्त करने में उसे भारत को स्टर्लिंग प्रदान करने पड़े। ग्रेट-ब्रिटेन को इस व्यवस्था से यह लाभ हुआ कि वह अब गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र से अधिक मात्रा में आयात कर सकता था।

सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र में विनिमय नियंत्रण को सामान्य बनाने और लन्दन में डालर एवं अन्य गैर स्टर्लिंग क्षेत्रीय मुद्राओं को रखने का परिणाम यह हुआ कि एक व्यापक नियंत्रण-विहीन क्षेत्र व्यापार के लिये खुल गया। किन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाले देशों के साथ विशेष प्रतिबन्ध लगाये गये।

युद्ध के बाद भी स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में विनिमय नियंत्रण की व्यवस्था बनी रही।

विनिमय नियन्त्रण का संचालन

ग्रेट-ब्रिटेन में विनिमय नियंत्रण १९३९ में प्रारम्भ किया गया। इसके बाद के वर्षों में अनेक परिवर्तन व्यापक रूप से किये गये, किन्तु इसकी मूल बातें अपरिवर्तनीय रहीं। १९४७ के विनिमय नियंत्रण अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्न प्रकार थे—

(१) **क्षेत्र (Coverage)**—यह प्रतिबन्ध स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के साथ किये जाने वाले लेन देन पर लागू नहीं होंगे। ये केवल उन्हीं के साथ किये जाने वाले विनिमय पर लागू होंगे जो कि स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर हैं।

(२) **विनिमय दर (Exchange Rate)**—यह व्यवस्था इकहरी दर व्यवस्था (Single Rate System) है जिसमें समस्त लेन-देनों के लिये एक दर निर्धारित करदी गई है।

(३) **प्रशासन (Administration)**—विनिमय नियंत्रण का प्रशासन राजकोष (Treasury) की ओर से बैंक ऑफ इंगलैण्ड (Bank of England) द्वारा किया जाता है। दिन-प्रतिदिन के अधिकांश कार्य कामर्शियल बैंकों द्वारा किये जाते हैं। ये सभी बैंक इन कार्यों को सम्पन्न करने का अधिकार रखते हैं।

(४) **अनुज्ञप्तियां (Licencing)**—विनिमय नियंत्रण के अधीन जब व्यक्तिगत लेखों पर आयात किया जाता है तो उसके लिये आयात अनुज्ञप्ति की आवश्यकता होती है किन्तु सरकारी लेखे पर किये जाने वाले किसी आयात पर अनुज्ञप्तियां जरूरी नहीं होतीं। निर्यात अनुज्ञप्तियां भी होती हैं किन्तु वे विनिमय नियंत्रण से सम्बन्ध नहीं रखती। सभी प्रकार की अनुज्ञप्तियां व्यापार मडल (Board of Trade) से सम्बन्ध रखती हैं।

(५) **विनिमय प्राप्तियां (Exchange Receipts)**—किसी भी विशेष मुद्रा में होने वाली समस्त विनिमय प्राप्तियां एक अधिकार प्राप्त बैंक को बेच दी जानी चाहिये। ये बैंक गैर-स्टर्लिंग क्षेत्रों से प्राप्त मुद्रा के बदले पौण्ड प्राप्त कर लेंगे।

(६) **विनिमय भुगतान (Exchange Payments)**—ब्रिटिश विनिमय नियंत्रण की व्यवस्था वह तरीका है जिसमें वापसी को प्रभावित किया जाता है। बैंकों के माध्यम से किये जाने वाले सभी हस्तान्तरणों को कुछ प्रमुख शीर्षकों में वर्गीकृत किया जाता है और बैंक उनको स्थित विनिमय सम्बन्धी विनिमयों द्वारा संचालित करती हैं। ये प्रमुख शीर्षक है—

(१) निवासी लेखे (Resident Accounts)

(२) गैर-निवासी लेखे (Non-resident Accounts)

इनमें बाद वाले शीर्षक को तीन मुख्य प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। ये हैं—

(१) अमेरिकी लेखे (American Accounts)

(२) परिवर्तनीय लेखे (Transferable Accounts)

(३) द्विपक्षीय लेखे (Bilateral Accounts)

(७) व्यावसायिक वस्तुओं के आयात (Merchandise Imports)—स्टर्लिंग क्षेत्र के दूसरे भागों से किये जाने वाले आयातों का भुगतान स्वतंत्रता-पूर्वक स्टर्लिंग में या स्टर्लिंग क्षेत्र की किसी भी अन्य मुद्रा में किया जा सकता है। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से किये जाने वाले आयातों का भुगतान आयात अनुज्ञप्ति व्यवस्था के माध्यम से स्वीकृति का विषय है।

(८) अदर्शनीय (Invisibles)—अदर्शनीय व्यापारिक मदों का भुगतान करने के लिये एक विनिमय अनुज्ञप्ति देना आवश्यक है। इस प्रकार की अनुज्ञप्तियां बिना किसी भेदभाव के दी जाती हैं।

(९) पूंजीगत स्थानान्तरण (Capital Transfer)—स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाले देशों के लिये किये जाने वाले पूंजी के सभी स्थानान्तरण स्वीकृति की आवश्यकता रखते हैं। स्वीकृति के बाद ही इस प्रकार के स्थानान्तरण किये जा सकेंगे।

(१०) लक्ष्य (Overall Objective)—उपर्युक्त विनिमयों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ण और डॉलर की रक्षा करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ऐसे प्रयास किये गये हैं कि व्यापार डालर क्षेत्र से दूसरी ओर मुड़ जाय तथा उन देशों की ओर प्रवृत्त हो जाय जो स्टर्लिंग क्षेत्र में आते हैं या जिनके बीच स्टर्लिंग सामान्य रूप से परिवर्तनीय है। प्रो० क्रॉज (Prof. Krause) का कहना है कि "ब्रिटेन में विनिमय नियंत्रण का यही मुख्य उद्देश्य था।"

विनिमय नियंत्रण बनाम प्रशुल्क और नियतांश
(Exchange Control Vs. Tarrifs and Quotas)

विनिमय नियंत्रण की भाँति प्रशुल्क और नियतांश भी प्रतिबन्ध के तरीके हैं। उल्लेखनीय है कि भुगतान संतुलन की कुछ मदों पर विनिमय नियंत्रण दूसरे प्रतिबन्धों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक रूप से लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, सैलानियों का व्यय (Tourist expenditure) इस पर केवल तभी कर लगाया जा सकता है जब विदेशों में व्यय की गई

मात्रा ज्ञात हो। यह तब हो सकता है जबकि कठोर विनिमय नियन्त्रण लगाया जाये और विदेशों में व्यय किये धन की स्वीकृति नियन्त्रणकारी सत्ता से ग्रहण की जाये।

प्रतिबन्ध के दूसरे तरीकों की अपेक्षा विनिमय नियन्त्रण विशेषतापूर्ण है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषतायें निम्न प्रकार है—

(१) **लोचशीलता (Flexibility)**—विनिमय नियन्त्रण का प्रशासन आम रूप से कार्यपालिका द्वारा किया जाता है इसलिए यह प्रशुल्कों की अपेक्षा अधिक लोचशील होता है जिनमें व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक होती है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इसका शीघ्र समायोजन किया जा सकता है।

(२) **भेदभाव का उच्चतर साधन (Superior Instrument of Discrimination)**—भेदभाव की नीति को अपनाने के लिए प्रशुल्कों की अपेक्षा विनिमय नियंत्रण अधिक श्रेष्ठ हैं। प्रशुल्कों द्वारा वस्तुओं के केवल मोटे-मोटे वर्गों के बीच ही भेदभाव किया जा सकता है। विनिमय नियंत्रण अधिकारियों द्वारा प्रत्येक लेन-देन की स्वीकृति दी जाती है। अत: वे देशों, वस्तुओं, आयातकर्त्ताओं और निर्यातकर्त्ताओं के बीच अधिक अच्छा भेदभाव बरत सकते हैं। एक विशेष बात यह है कि विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत यह स्पष्ट रहता है कि भेदभाव किया जा रहा है किन्तु इसके अस्तित्व को सिद्ध करने या न करने के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं होता।

(३) **व्यापारिक सौदेबाजी का प्रभावशील साधन (Effective Instrument of Commercial Bargaining)**—विनिमय नियंत्रण प्रशुल्कों की अपेक्षा व्यापारिक सौदेबाजी के लिए अधिक प्रभावशील होता है। इनके द्वारा आयातों को तुरन्त नियमित किया जा सकता है। विनिमय नियंत्रण के समझौते गुप्त रखे जा सकते हैं। प्रशुल्कों में व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण उन्हें गुप्त नहीं रखा जा सकता।

(४) **व्यापक क्षेत्र (Wider Scope)**—विनिमय नियंत्रणों का क्षेत्र नियतांश अथवा प्रशुल्कों की अपेक्षा पर्याप्त व्यापक होता है। इसमें सेवाओं, पर्यटकों के व्यय, कूटनीतिक व्यय, पूंजीगत गतियों इत्यादि को भी शामिल किया जा सकता है जो प्रशुल्कों एवं नियतांश के विषय नहीं होते।

ट्रिफिन योजना
(Triffin Plan)

ट्रिफिन योजना के अनुसार निर्यातकर्त्ताओं एवं आसानी से नियंत्रण योग्य स्रोतों द्वारा कमाई जाने वाली समस्त विदेशी मुद्रा विनिमय की सरकारी

दर पर केन्द्रीय बैंक में जमा की जानी चाहिये। महत्वहीन तथा नियंत्रण से परे स्रोतों से प्राप्त विनिमय को ही स्वतंत्र विनिमय बाजार में खरीदा और बेचा जा सकता है।

विदेशी मुद्रा की आवश्यकता वाले सभी लेन-देनों को समाज के लिए उनके महत्व के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) पूर्ण अनिवार्यतायें और (२) आरामदेह वस्तुएें। प्रथम श्रेणी की वस्तुओं के लिए विदेशी मुद्रा निम्नतम दर पर प्रदान की जानी चाहिए ताकि आम जनता को उच्च कीमतों या उच्च जीवन-स्तर की परेशानी न सहनी पड़े। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद शेष विदेशी मुद्रा को एक या कुछ नीलामी बाजारों में बेचना चाहिए ताकि आरामदेह वस्तुओं के आयात की एवं ऐसी ही दूसरी आवश्यकतायें पूरी की जा सकें।

ट्रिफिन योजना को साधारण अनुज्ञप्ति व्यवस्था की अपेक्षा निम्न कारणों से श्रेष्ठ माना जा सकता है :—

(१) इसमें प्रशासनिक स्वेच्छा के स्थान पर कीमत संयंत्र की स्थापना की गई है और इस प्रकार भ्रष्टाचार, पक्षपात, रिश्वतखोरी एवं व्यापार की अनैतिकता आदि को कम कर दिया गया है। प्रशासनिक स्वेच्छा का प्रयोग विभिन्न श्रेणियों में आयात की जाने वाली वस्तुओं को विभाजित करने के लिए किया जाता है। इसके सम्बन्ध में निर्णय उच्च स्तर पर लिए जाते हैं जहाँ भ्रष्टाचार के अवसर अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते।

(२) यह योजना सरकार को राजस्व प्रदान करती है जिसे समाज के सामान्य कल्याण के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

(३) यह धनवानों की क्रय-शक्ति को घटायेगी जो नीलामी में विदेशी मुद्रा खरीदते हैं। इस प्रकार मुद्रा संकुचन का मार्ग खुल जाता है।

(४) व्यापार और विनिमय नियंत्रण के पीछे नौकरशाही प्रशासन और अन्तर्निहित स्वार्थों का समर्थन रहता है। जो व्यापारी नियंत्रण से पर्याप्त लाभ प्राप्त करते हैं वे उसे जारी रखने में रुचि लेते हैं और प्रशासन को तदनुसार प्रभावित करने के लिए उचित और अनुचित सभी तरीके अपनाते हैं।

यद्यपि ट्रिफिन योजना के उपर्युक्त लाभ हैं फिर भी इसमें सन्देह है कि योजना विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अधिक लाभदायक हो सकेगी। योजना की प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) अर्द्ध-विकसित देशों में पूंजीगत वस्तुओं, तकनीकी ज्ञान और आवश्यक कच्चे माल की खरीद के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है ऐसी स्थिति में ये देश आरामदेह और गैर आवश्यक वस्तुएं नहीं खरीद

सकते। विकास के लिए इच्छुक देश अपने व्यय पर पूरा नियंत्रण रखता है और आवश्यकताओं के बाद बचाये गये एक पैसे को भी विकास कार्यों में लगाता है। जापान, रूस और चीन के विकास का इतिहास यह सिद्ध करता है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए नियंत्रण कितना आवश्यक है। यदि धनवान लोग गरीब और मध्यम वर्ग के लोगों की अवहेलना करके आराम-देह चीजें खरीदने लग जायें तो गरीब लोग आर्थिक विकास के लिए आवश्यक कष्ट सहना अस्वीकार कर सकते हैं और ऊंची मजदूरी की माँग कर सकते हैं। प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देश अपनी अधिकांश विदेशी मुद्रा उन वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त करते हैं जो निर्धन वर्ग के लोगों के परिश्रम का परिणाम है। ये लोग कभी यह पसन्द नहीं करेंगे कि उनके पसीने की कमाई पर धनवान लोग मौज उड़ायें। यदि ये देश आरामदेह और गैर-आवश्यक वस्तुओं का आयात नहीं कर सकते तो नीलामी का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) योजना के कुशल संचालन के लिए आयात कर्त्ताओं में पर्याप्त प्रतियोगिता होनी चाहिये। अधिकांश विकासशील देशों में आयात कर्त्ताओं की संख्या बहुत कम होती है। वे आपस में मिलकर नीलामी के उद्देश्य को निरर्थक बना सकते हैं, वे उपभोक्ताओं और सरकारी राजस्व के हितों को हानि पहुँचाकर अतिशय लाभ कमा सकते हैं।

(३) सरकार योजना का दुरुपयोग करते समय आवश्यक वस्तुओं की श्रेणी से माल को नीलामी की श्रेणी में स्थानान्तरित करके अधिक से अधिक राजस्व प्राप्ति का प्रयास कर सकती है। अर्द्धविकसित देशों में इसकी सम्भावनायें अधिक है क्योंकि वहां सरकारें कमजोर होती हैं और राजस्व एकत्रित करने के ऐसे तरीके तलाश करती है जिनका जनता में कम से कम विरोध हो। इसके फलस्वरूप बहुमूल्य विदेशी मुद्रा का आरामदेह वस्तुओं की खरीदारी में दुरुपयोग होगा।

(४) सभी आयातों को दो अथवा कुछ श्रेणियों में विभाजित करना वैज्ञानिक नहीं है। प्रत्येक आयात की श्रेणी में भिन्न प्रकृति और महत्व के विषय होते हैं। यदि श्रेणियों की संख्या बढ़ा दी जाये तो योजना की सरलता समाप्त हो जायेगी।

(५) विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति के अनुसार नीलामी बाजार में विदेशी विनिमय की दर समय-समय पर बदलती रहेगी और इसलिए कीमत

स्तर अस्थिर बन जायेगा। एक बार विदेशी मुद्रा नीलाम हो जाने के बाद आयातकर्त्ता कोई भी कीमत वसूल कर सकते हैं क्योंकि बाद में कोई कीमत नियन्त्रण नहीं रहता। नीलामी के बाद होने वाले परिवर्तनों के सारे लाभ अथवा हानि का दायित्व उन्हीं पर रहता है। इस प्रकार आयातकर्त्ताओं का जोखिम बढ़ जाता है।

(६) जहां तक भ्रष्टाचार का सम्बन्ध है, यह अनुज्ञप्ति प्रणाली का अन्तर्निहित भाग नहीं है। यह सरकारी यन्त्र के दोषों का परिणाम है। इन दोषों को दूर करने की अपेक्षा अनुज्ञप्ति प्रणाली का ही बहिष्कार करना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता।

१०

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमन
(INTERNATIONAL CAPITAL MOVEMENT)

"पूंजी के आवागमन का अर्थ है कि जिन देशों के पास पूंजी की कमी है, वे विदेशी पूंजी पर निर्भर रह सकते हैं।"

—चार्ल्स पी० किंडलेबर्गर

"As it is, the mobility of capital means that countries which are short of capital can rely on foreign capital."

—Charles P. Kindleberger

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमन

(Internaticnal Capital Movement)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विषय माल (Goods), सेवाएँ (Services) और पूंजी (Capital) होती हैं। पूंजी का आवागमन अनेक प्रकार से वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार से भिन्नता रखता है। जब लाभपूर्ण व्यापार में एक देश के वर्तमान उत्पादन और गतिशील माल की खरीद तथा बिक्री की जाती है तो दूसरी ओर प्रतिभूतियों (Securities) का व्यापार स्वामित्व और कर्जदारी के प्रमाणों से सम्बन्ध रखता है। जब माल को जहाज में भर कर एक देश से दूसरे देश में ले जाया जाता है तो उसके प्रभाव तत्कालीन और प्रत्यक्ष होते हैं। निर्यातकर्ता देश की दृष्टि से जहाज में माल लादने का अर्थ है कि उसके देश में माल कम रह जाएगा और आयातकर्त्ता देश की दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि उसकी मांगों को पूरा करने के अधिक साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

परिचयात्मक

(Introductory)

पूंजी के आवागमन का प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन की उस मात्रा पर प्रभाव नहीं पड़ता जो कि एक देश के निवासियों को प्राप्त हो सकती है। जो प्रतिभूतियां एक देश द्वारा दूसरे देश को बेची जाती हैं उन्हें दूसरे द्वारा किसी अन्य प्रकार से खाया अथवा प्रयोग में नहीं लिया जा सकता। इस बिक्री के कारण पूंजी का आयातकर्त्ता देश ऐसी किसी चीज से वंचित नहीं रहता जो उसके प्राप्त उत्पादन को बढ़ा सकती है। दूसरी ओर उनकी खरीद पूंजी निर्यातकर्ता देश के निवासियों के माल तथा सेवाओं की पूर्ति के लिए लाभदायक नहीं होती। यद्यपि इस प्रकार के लेन-देन से माल के बाजार प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होते किन्तु विभिन्न देशों के साख बाजारों पर इनका असर पड़ता है। जब कभी पूंजी का आवागमन होता है तो साख

की कीमत या दूसरे शब्दों में ब्याज की दर प्रभावित होती है। इन प्रभावों के परिणामस्वरूप अन्य महत्वपूर्ण फल भी सामने आते हैं।

पूंजी के आवागमन और व्यापारिक आवागमन के बीच एक अन्य मुख्य अन्तर यह है कि व्यापारिक आवागमन के लेन-देनों में भविष्य के लिए कोई वांछनीयता स्थापित नहीं की जाएगी जबकि प्रथम प्रकार के लेन-देनों में की जाती हैं। जब एक देश दूसरे देश की प्रतिभूतियां प्राप्त करता है तो विक्रो-कर्त्ता देश कर्ज का पुनः भुगतान करने के लिए बाध्य होता है। कुल मिलाकर जब एक देश के निवासी विदेशी प्रतिभूतियों को प्राप्त करते हैं तो भविष्य में उनका कुछ उत्तरदायित्व बढ़ जाता है जिसे विक्रीकर्त्ता देश को पहचानना चाहिए। जब विदेशी बॉण्ड एक देश के निवासियों द्वारा लिए जाते हैं तो व्ययकर्त्ता देश साधारणतः यह आशा करता है कि उसे कुछ धन प्रतिवर्ष ब्याज के रूप में मिले। पूंजीगत आवागमन में कुछ भविष्य के उत्तरदायित्व निहित होते हैं और पूंजी का आयातकर्त्ता देश इन उत्तरदायित्वों का सम्मान करता है। यदि हम माल के व्यापार (Trade of Commodities) और प्रति-भूतियों के व्यापार (Trade of Reserves) के बीच स्थित अन्तरों का संक्षेप में उल्लेख करना चाहें तो यह कहना होगा कि प्रथम द्वारा माल के बाजारों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जाना है जबकि दूसरे द्वारा साख बाजारों (Credit Markets) को किया जाता है। दूसरे, प्रतिभूतियों का व्यापार कुछ दावों की स्थापना करता है अथवा यूं कहिए कि इससे एक देश के निवासियों को दूसरे देश के निवासियों के विरुद्ध स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होते हैं। माल के व्यापार में ऐसा कुछ भी नहीं होगा।

विदेशी पूंजी द्वारा विश्व के अधिकांश देशों में विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया जाता है। मि० आर्थर लेविस (W. Arthur Lewis) के कथनानुसार "करीब-करीब प्रत्येक विकसित देश को उसके विकास के प्रारम्भिक स्तरों पर स्वयं की अल्प-बचतों को सहायता देने के लिए विदेशी सहयोग प्राप्त हुआ। इंगलैण्ड ने १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में हॉलैण्ड से उधार लिया और १९ वीं तथा २० वीं शताब्दी में इसने विश्व के प्रायः सभी देशों को उधार दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका आज दुनिया का धनिकतम् देश है। उसने १९ वीं शताब्दी में बहुत उधार दिया। इस शताब्दी में वह प्रमुख ऋण दाता देश बन गया है।" विश्व में केवल जापान और सोवियत रूस ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने बिना किसी महत्वपूर्ण विदेशी पूंजी के अपना विकास किया। जापान में कुछ अनुकूल तत्व होने के कारण बिना विदेशी पूंजी के उसका विकास सम्भव हो सका, यह अनुकूलता सभी देशों में नहीं रह पाती।

दुनियां के विभिन्न भागों में श्रम, खनिज, जलवायु और तकनीकी ज्ञान आदि साधनों की भिन्न-भिन्न मात्राएं हैं। यही कारण है कि वहां जिस साधन की कमी रहती है उसे उस स्थान से पूर्ण किया जाता है जहां इसकी अधिकता रहती है। इसके कारण पूंजीगत आवागमन सम्भव बनता है। विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के जीवन-स्तर के बीच पर्याप्त अन्तर रहते हैं। ये अंतर विश्व शान्ति के लिए एक चुनौती कहे जा सकते हैं। स्थाई विश्व शान्ति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अर्द्ध-विकसित देशों का तीव्र गति से विकास किया जाए। अर्द्ध-विकसित देशों के घरेलू साधन इतने नहीं होते कि वे अपना तीव्र गति से विकास करें। इन देशों में बचत की दर अत्यन्त अल्प होती है। यदि बचत करनी है तो इसके लिए जीवन को और भी नीचे गिराना होगा जबकि वह पहले से ही नीचा है। इस प्रकार इन देशों के द्रुत गति से विकास के लिए विदेशी पूंजी परम आवश्यक है।

यदि 'घरेलू बचत' विकास की दर को सन्तोषजनक बनाए रखने के लिए पर्याप्त है तो भी भुगतान सन्तुलनों की घाटे की स्थिति को दूर करने के लिए विदेशी पूंजी काम में आ सकती है। विकास की तीव्र गति सामान्यत: भुगतान सन्तुलन में घाटे की स्थिति ला देती है। यह इसलिए होता है क्योंकि विकास कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए तकनीकी ज्ञान, पूंजीगत माल और आवश्यक कच्चे माल का पर्याप्त आयात करना होता है। इसके अलावा पहले जिन चीजों का निर्यात किया जाता था अब उन्हें नव-निर्मित घरेलू उद्योगों द्वारा उपभोग का विषय बनाया जा सकता है। मूल्य और कीमत के प्रभाव भी भुगतान सन्तुलन को घाटे की स्थिति में लाने का उल्लेखनीय कार्य करते हैं।

शताब्दियों से अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-दान प्रगतिशील देशों की विदेशी आर्थिक नीति का मूल तत्व रहा है। यही कारण हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के सिद्धान्त और व्यवहार के बारे में पर्याप्त विचार किया जाता है। अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी के योगदान के सम्बन्ध में अर्थ-शास्त्रियों के बीच विभिन्नता है। इस सम्बन्ध से दोनों प्रकार के मत प्रकट किये जाते हैं। कुछ लोग विदेशी निवेश के नियंत्रित और प्रतिबंधित प्रसार पर जोर देते हैं जबकि दूसरे लोग इसे शुद्ध रूप से राष्ट्रवादी प्रश्न बना लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के योगदान में सम्बंधित विभिन्न विचार न केवल राज-नैतिक विभिन्नताओं का परिणाम हैं वरन् ये अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन के सिद्धान्तों में निहित भ्रम को अभिव्यक्त करते हैं।

पूंजी के आयात का अर्थ भौतिक मुद्रा का एक देश से दूसरे देश में स्थानान्तरण नहीं होता और न ही इसका अर्थ हमेशा भौतिक पूंजी का

मशीन या साधनों के रूप में आयात होता है। पूंजी के आयात के दो रूप हो सकते है-(१) मौद्रिक स्थानान्तरण (Monetaiy Transfer) और (२) वास्तविक स्थानान्तरण (Real Transfer)। मौद्रिक स्थानान्तरण के अन्तर्गत ऋण लेने वाले देश को ऋण देने वाले देश में खरीददारी करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ऋण देने वाला देश अपनी बचत की हुई पूंजी को ऋण लेने वाले देश मे व्यय करता है। यह निवेश केवल तभी हो सकता है जब ऋण लेने वाला देश उधार में प्राप्त कोष को ऋण देने वाले देश में माल, सेवाओं तथा सोने की खरीद के लिए खर्च करता है। पूंजी के आयात का दूसरा स्तर वास्तविक स्थानान्तरण है जो माल, सेवाओं और स्वर्ण का आयात है। पूंजी के आयात मे यह दूसरा स्तर कुछ समय के बाद ही आता है। कभी-कभी यह तुरन्त आ सकता है किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि माल और सेवाओं का अन्तिम स्थानान्तरण ऋण के सम्बन्ध में समझौता हो जाने के बहुत समय बाद होता है।

पूंजी के आयात और वस्तुओं तथा सेवाओं के आयात के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इन दोनों के बीच स्पष्ट कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त कठिन है। पूंजीगत आयात वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन देते है इसका विपरीत असर भी सही है। असल में दोनों का सम्बन्ध पारस्परिकता का हे।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमनो के लिए आर्थिक साहित्य में पर्याप्त अमूर्त विचारधाराएं प्रतिपादित की गयी हैं। एक महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि पूंजी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी की उत्पादिता के सीमान्त के निम्न-स्तर वाले देशों से उच्च-स्तर वाले देशों की ओर गति करती है। ऐसी स्थिति में सीमांत उत्पादिता को विश्व भर में समान करने की प्रवृति जागृत होती है। इसे एक स्वस्थ प्रवृति माना जाता हे क्योंकि इससे पूंजीगत साधनों के अधिकतम उपयोग को प्रोत्साहन मिलता है। वैसे सत्य तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन की गत्यात्मकता इतनी जटिल है कि वह इस सम्बन्ध मे किये गये किसी भी अमूर्त और सरल विश्लेषण के औचित्य को असत्य बना देती है। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमनों को विभिन्न देशों के ब्याज या लाभ की दर के अन्तर के रूप में ही परिभाषित नही करना चाहिए वरन् इमे ऋणदाता और ऋण लेने वाले देशो मे पारस्परिक लाभों के रूप में भी परिभाषित करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन का इतिहास

(History of International Capital Movements)

मि० स्नाईडर के कथनानुसार "१९वीं और २०वीं शताब्दी के प्रथम १५ वर्ष गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यय से सम्बन्धित क्रियाओं के सुनहरी युग माने जा सकते हैं।" यह अनुमान लगाया जाता है कि १९१४ तक प्रमुख व्यापारी देशों के दीर्घकालीन विदेशी व्यय का कुल योग ४१ हजार मिलियन डालर था। व्यक्तिगत दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का प्रवाह उस समय के बाद से १९१४ के पूर्व की स्थिति तक आज भी नहीं पहुँचा है।

१९१४ से पूर्व प्रमुख व्ययकर्ता देशों में ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी प्रमुख थे। ग्रेट-ब्रिटेन के व्यय की मात्रा कुल योग का ४० प्रतिशत थी। इस काल में संयुक्तराज्य अमेरिका की स्थिति पर्याप्त आलोचनात्मक थी। वह विदेशों में अपने दीर्घकालीन व्यय की दृष्टि से चौथे नम्बर पर आता है। १९१३ में संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशी सम्पत्ति ६.८ मिलियन डालर थी और इसके परिणाम-स्वरूप वह शुद्ध रूप से एक कर्ज देने वाला नहीं वरन् कर्ज लेने वाला था।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में अधिकांश पूंजीगत निर्यात जर्मनी और आस्ट्रेलिया जैसे विकसित देशों की ओर प्रेरित थे। इस काल में आकर जर्मनी एक पूंजी निर्यातकर्त्ता देश बन गया। यह उम्मीद की जा सकती थी कि पश्चिमी यूरोप के विकसित देश उन देशों को कर्जा देंगे जिन्हें मुख्य रूप से इसकी आवश्यकता है किन्तु उस समय के अनुभव ने इस मान्यता का समर्थन नहीं किया। पूंजी का आवागमन विकसित और अर्द्ध-विकसित देशों के बीच होने की अपेक्षा केवल विकसित देशों के बीच होने लगा। व्यापार करने वाले देश केवल सन्तुलन की स्थिति में ही व्यापार करते थे। यद्यपि उन्होंने दूसरे देशों को सम्पत्ति का निर्यात किया किन्तु साथ ही दूसरे देशों से सम्पत्ति के आयात को भी आकर्षित किया। विदेशी पूंजी प्रायः उन देशों की ओर गयी जिनकी आबादी कम थी और प्राकृतिक साधन बहुत थे। ये देश अपने व्यापारिक निर्यात को आसानी से बढ़ा सकते थे। पूंजीगत आयातों से अन्य देश, विशेष रूप से सुदूर पूर्व और अफ्रीका के देश बहुत प्रभावित हुए। संयुक्त राज्य अमेरिका १९१४ से पूर्व वर्षों से ऋण लेने वाला देश रहा किन्तु १९१४ के पांच वर्ष बाद उसकी स्थिति उल्लेखनीय रूप से परिवर्तित हो गयी।

फ्रांस और जर्मनी १९वीं शताब्दी के अन्त तक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय ऋणदाता नहीं बन पाए। इसके अतिरिक्त फ्रांस द्वारा दिए जाने वाले कर्ज

राजनीतिक दृष्टि से बहुत प्रभावित होते थे। यही बात जर्मनी के विदेशी व्यय के सम्बन्ध में थी। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की एक अध्ययन-कर्त्ता संस्था ने यह विचार प्रकट किया कि युद्ध से पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यय की प्रकृति को एक वाक्य में संक्षिप्त किया जा सकता है। फ्रांस और जर्मनी द्वारा राजनैतिक एवं सैनिक उद्देश्यों से दिए जाने वाले कुछ ऋणों के अतिरिक्त व्यय का मुख्य भाग अविकसित देशों की ओर संचालित था जो प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करते थे। इनमें प्रमुख कर्ज लेने वाले वे थे जो कि सर्वोच्च प्रतिदान दे सकें।[1]

प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान पूंजी का आवागमन
(Capital Movements during the First World-War)

प्रथम विश्व-युद्ध ने प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को पूर्ण रूप से बदल दिया। युद्ध में हुए खर्चे को पूरा करने के लिये प्रायः सभी प्रमुख कर्जदाता देश समुद्र पार के अपने व्यय के अधिकांश भाग को बेचने के लिये बाध्य हो गए। इस प्रकार स्नाइडर का यह कहना सही है कि प्रथम विश्व-युद्ध अनेक देशों की अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन लाया। इसने पूंजीगत आवागमन के इतिहास में एक नये युग को प्रारम्भ किया। युद्ध का तत्कालीन प्रभाव यह पड़ा कि संयुक्तराज्य अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक कर्जदार की स्थिति से ऊपर उठकर कर्जदाता बन गया। अधिकांश यूरोपीय देशों का विदेशी व्यय पर्याप्त घट गया। यहां तक कि जर्मनी आदि देशों में तो यह इतना घटा कि वे कर्ज ग्रहण करने वाले देश बन गये। फ्रांस के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय व्यय कम हो गए तथा युद्ध के विध्वंश के कारण उनमें से अनेक मूल्यहीन बन गए; इनमें से अनेक बाद में होने वाली क्रांति एवं सामाजिक परिवर्तनों द्वारा जब्त किये गये। अनुमान है कि इस काल में फ्रांस को लगभग चार मिलियन डालर की हानि उठानी पड़ी।

संयुक्तराज्य अमेरिका की स्थिति अब अच्छी हो गयी। युद्धकालीन अतिरिक्त आयातों की वित्तीय व्यवस्था के लिए मित्र राष्ट्रों को अपने व्यय संयुक्तराज्य अमेरिका में करने पड़े। संयुक्तराज्य अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने तक ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस आदि का कर्ज केवल व्यक्तिगत स्रोतों तक ही सीमित था। उसके बाद अमेरिकी सरकार ने युद्ध के अपने

1. Royal Institute of International Affairs, the Problems of the International Development, London : Oxford University Press, 1937, Page 120.

साथियों को युद्ध सम्बन्धी कर्ज दिए। संयुक्तराज्य अमेरिका ने अनेक उन अमरीकी प्रतिभूतियों को वापस खरीद लिया जो कि व्ययकर्त्ताओं ने ग्रेट-ब्रिटेन या फ्रांस में लगा रखी थी। संयुक्तराज्य अमेरिका ने युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद राहत रूप में जो सहायता प्रदान की वह करीब दस मिलियन डालर थी। युद्ध के बाद जर्मनी ने क्षतिपूर्ति देने का वायदा किया। यदि वह इस वायदे के अनुसार सारी क्षति पूर्ति मित्र राष्ट्रों को दे देता तो पश्चिमी यूरोप के देश संयुक्तराज्य अमेरिका के उस कर्जे को चुका सकते थे जो कि उन्होंने युद्ध के काल में लिया था।

युद्धोत्तर दशाब्दि
(The Post War-Decade)

युद्ध के कारण न केवल युद्ध करने वाले देशों की अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की स्थितियों में गम्भीर परिवर्तन आए वरन् इससे भावी अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी आवागमन भी प्रभावित हुआ। युद्ध के परिणाम-स्वरूप विदेशों को कर्ज देने की क्षमता पुनः विकसित की गयी और अब दीर्घकालीन पूंजीगत परिवर्तन का मुख्य स्रोत ग्रेट-ब्रिटेन से हटकर संयुक्तराज्य अमेरिका बन गया। इन सबके अलावा युद्ध के बाद दिए गए कर्जों की प्रकृति और विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर उनके प्रभाव युद्ध-पूर्व की अपेक्षा पर्याप्त भिन्न थे।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की प्रथम दशाब्दी में संयुक्तराज्य अमेरिका के विदेशी दीर्घकालीन कर्ज मुख्यतः दो प्रकार के थे। प्रथम में, उन बड़े ऋणों को सम्मिलित किया जा सकता है जो राहत और पुनर्वास के उद्देश्य से दिये गये थे। इन देशों में पूंजी की कमी अस्थाई प्रकृति की थी। इनमें से अधिकांश देश दीर्घकालीन कर्जे की अपेक्षा विदेशी विनिमय की पूर्ति चाहते थे, ताकि युद्ध के बाद की संकटपूर्ण स्थिति का मुकाबला कर सकें। दूसरे प्रकार का महत्वपूर्ण कर्ज दीर्घकालीन पूंजीगत आवागमन के उद्देश्य से दिया गया था। ये कर्जे उन देशों को दिये गये जो कभी जर्मनी को छोड़कर, कर्जदाता देश रह चुके थे।

युद्धोत्तर काल के प्रारम्भ में संयुक्तराज्य अमेरिका से लिया गया अधिकांश विदेशी कर्ज मुख्य रूप से पुनर्वास के लिए था। १९१९ में पूंजी के प्रवाह के अन्तर्गत बहुत कुछ भाग अमेरिकी सरकार द्वारा इसी उद्देश्य के लिए दिए गए कर्जे से पूर्ण था। १९२२ तक अमेरिकी सरकारी अभिकरण विदेशी ऋण के व्यापार से अलग हटा दिये गये और इसके बाद पूंजीगत आवागमन व्यक्तिगत लेखों पर किया गया। इस काल में सबसे भारी व्यक्तिगत ऋणदान १९२४ से लेकर १९२६ तक हुआ। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे।

इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अल्पकालीन पूंजीगत आवागमनों का सम्पूर्ण लेन-देन में उल्लेखनीय योगदान रहा। सन् १९२० में अन्य देशों को जो फ्रांसिसी सम्पत्ति निर्यात की गई थी वह अल्पकालीन प्रकृति की थी। ये अल्पकालीन आवागमन इतने महत्वपूर्ण थे कि अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन जैसे प्रमुख पूंजी निर्यातकर्त्ता देशों ने भी अल्पकालीन लेखों पर भारी कर्जा लिया। कहा जाता है कि १९२४ से १९२७ तक अल्पकालीन पूंजीगत प्रवाह अमेरिका में एक बिलियन से भी थोड़ा ज्यादा था। ग्रेट ब्रिटेन में इसकी मात्रा और भी अधिक थी। यद्यपि पूंजी को अल्पकालीन आधार पर उधार में लिया गया था किन्तु कुछ देशों ने इसे अपने दीर्घकालीन विकास में प्रयुक्त किया। इसके परिणामस्वरूप पर्याप्त अस्थिरता आ गयी।

जब एक बार महान् आर्थिक मन्दी ने वित्तीय बाजारों को प्रभावित किया तो उधार लेने वाले देशों में व्यक्तिगत ऋण-कर्त्ताओं को सम्बन्धित देशों द्वारा घरेलू कठिनाइयों के कारण इस बात के लिए प्रभावित किया गया कि वे विदेशों से अपनी सम्पत्ति को वापिस ले लें। अल्पकालीन वायदों को समाप्त करने के लिए कहा गया। इन सबके परिणामस्वरूप उधार लेने वाले देशों मे अनेक आर्थिक उलझने आ गयी। १९३० के दौरान दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की मात्रा एवं प्रभाव बढ़ा। प्रायः संसार का प्रत्येक देश इस प्रकार के ऋण से प्रभावित था; किन्तु कुछ देश तुलनात्मक रूप से अधिक प्रभावित थे। कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेटाइना आदि देश दीर्घकालीन कर्जदारी मे प्रमुख थे किन्तु चीन, भारत, जर्मनी और ब्राजील भी प्रमुख कर्जदार थे।

१९३० के पूंजीगत आवागमन

(Capital Movements in the 1930)

१९३० के दौरान स्थिति पहले की अपेक्षा असाधारण बन गयी। इस काल की आर्थिक मन्दी ने विश्व की अर्थ-व्यवस्था पर भयानक प्रभाव डाला। द्वितीय विश्व-युद्ध से एक दशाब्दी पूर्व की इस विश्व व्यापक आर्थिक मन्दी ने आर्थिक सम्बन्धों को पर्याप्त असन्तुलित बना दिया और आने वाले युद्ध के लिए आधार भूमि तैयार की। १९३० में दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन अपनी अन्तिम सीमा तक पहुंच गये। आगे के कुछ वर्षों में बेरोजगारी बढ़ी, अवमूल्यन हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार घटा। इसके परिणामस्वरूप अन्तराष्ट्रीय मौद्रिक यन्त्र का विघटन हुआ, व्यापार और विनिमय का नियंत्रण किया जाने लगा, प्रशुल्क एवं अन्य विभिन्न बाधायें सामने आने लगी और इन सबके परिणाम-स्वरूप राजनैतिक

अस्थिरता बढ़ी। इन सभी विकासों के कारण नवीन दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यय प्रायः रुक गये।

आर्थिक मन्दी के काल में विभिन्न कर्जदाता देश भी कर्जदार बन गए। उदाहरण के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका ने १९३४–१९४४ के बीच लगभग ६ बिलियन डालर का कर्ज लिया, जबकि इस काल में ग्रेट-ब्रिटेन ने १½ बिलियन डालर का कर्ज लिया। स्विट्जरलैंड ने पूंजी का न तो आयात किया, न ही निर्यात। १९३० से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी में विदेशी कर्जदारों ने ब्याज और मूलधन का भुगतान नहीं किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान पूंजी का आवागमन
(Capital Movements During the Second World-War)

यह कहा जाता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान आर्थिक क्षेत्र में कई प्रकार से प्रथम विश्व-युद्ध की बातों को दोहराया गया है। यूरोप के कर्जदार देशों ने, विशेष रूप से ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने विदेशी व्यय के अधिकांश भाग को समाप्त कर दिया। यूरोपीय देशों में जो विदेशी विनिमय स्थित थे वे या तो सैनिक कार्यवाही द्वारा अथवा केन्द्रीय एवं पूर्वी यूरोप में होने वाले राजनैतिक विकासों द्वारा नष्ट कर दिए गए। एशिया में किये गये व्यय के कारण भी इनको हानि उठानी पड़ी। इन सबका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि अधिकांश यूरोपीय देश जो कि युद्ध के मध्यकाल में प्रमुख ऋणदाता थे वे अब शुद्ध रूप से कर्जदार बन गए। उदाहरण के लिए, पहले ब्रिटेन ने भारत, मिस्र और कुछ लेटिन अमेरिकी देशों को कर्जा दे रखा था किन्तु अब वह स्वयं एक कर्जदार देश बन गया।

युद्ध के कारण संयुक्तराज्य अमेरिका की स्थिति में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं आया किन्तु विदेशों में उसके दीर्घकालीन व्यय बढ़ गए। संयुक्तराज्य अमेरिका को छोड़कर प्रायः सभी युद्ध करने वाले देशों में धन का विनाश हुआ था। इससे न केवल कल-कारखाने एवं प्रसाधन और कच्चे माल तथा अन्य कार्य करने वाली पूंजी के विदेशी भण्डार ही नष्ट हुए वरन् विदेशी व्यय भी प्रभावित हुए।

यह जरूरी समझा गया कि यदि यूरोप अपनी उत्पादन क्षमता को बनाए रखना चाहता है और युद्ध के पूर्व के अपने जीवन स्तर को प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपने पूंजीगत साधन बढ़ाने चाहिये। इस समय पूंजी का एक मात्र स्रोत संयुक्तराज्य अमेरिका था, जिसकी उत्पादन क्षमता न केवल युद्ध से अप्रभावित रही वरन् असल में वह बढ़ गयी। यह माना जाता था कि जितने डालर का कर्ज यूरोप के लिए जरूरी था, उसके लिये वह पुनः भुगतान नहीं कर सकेगा क्योंकि युद्ध के बाद प्रारम्भिक काल में लिये गये

कर्ज का अधिकांश भाग पूंजीगत पुनः रचना में लगाना था। युद्ध के बाद क्योंकि पूंजी की एक बड़ी मात्रा की आवश्यकता थी और इसमें से अधिकांश पूंजी उपहार के रूप में दी जाती थी, इसलिये इस काल में पूंजी के निर्यात प्रायः सरकारों के बीच हुए।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पूंजी का आवागमन
(Capital Movements Since the Second World-War)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जो राजनैतिक असुरक्षा पैदा हुई, उसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत पूंजी के आवागमन पर्याप्त नहीं हो सके। जो भी आवागमन हुये वे मुख्य रूप से अमेरिकी सरकार द्वारा विभिन्न यूरोपीय देशों को दिये जाने वाले कर्ज और अनुदान के रूप में थे। व्यक्तिगत व्यय अन्य देशों में जिस क्षेत्र में हुआ था, उसमें मध्य पूर्व के विभिन्न क्षेत्रों की तेल कम्पनियों का नाम लिया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का आवागमन प्रथम विश्व-युद्ध द्वारा स्थापित राजनीतिक अस्थायित्व के पूर्व किस प्रकार होता था। उसके पश्चात् १९२० की असुरक्षाओं में, अन्य महायुद्ध के समय में और १९४० की अस्थायित्वपूर्ण परिस्थितियों में पूंजी का आवागमन किस प्रकार हुआ? प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व करोड़ों डालर के पूंजी के निर्यात उस समय की पर्याप्त संख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि ये निर्यात प्राथमिक अर्थ-व्यवस्थाओं (Primary Economies) की ओर संचालित नहीं थे, जिन्हें विदेशी पूंजी की सबसे अधिक आवश्यकता थी, वरन् इन्होंने पर्याप्त स्रोतों वाले और अपेक्षाकृत सुरक्षित एवं स्थायी राजनैतिक दृष्टिकोण वाले देशों को अपना विकास शीघ्र करने के लिये प्रोत्साहित किया। इससे अन्य देशों को भी विकास का अवसर मिला।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जो अस्थायित्व आया और आर्थिक मन्दी के साथ कर्ज लेने और देने वाले के बीच जो सम्बन्ध स्थापित हुये उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कारण पूंजी का आवागमन ही था। जो देश पूंजी की सख्त आवश्यकता महसूस कर रहे थे उनको यह अनुभव हुआ कि इसे प्रदान करने वाला कोई नहीं है। जो देश पहले दूसरे देशों को कर्ज देने की क्षमता रखते थे वे अब विदेशी कर्ज प्राप्त करने में अनिच्छा प्रदर्शित करने लगे। पूंजीगत आवागमनों ने इन वर्षों में प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक विकास के क्षेत्र में बहुत कम योगदान किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद व्यवहारी दिवालियेपन की स्थिति आई। इस काल में जो कर्ज दिये गये उनका आधार अर्द्ध-शताब्दी पूर्व दिए गए कर्जों से भिन्न था। गैर,सरकारी कर्जों का कोई महत्व नहीं रहा। इस

प्रकार वर्तमान काल में पूंजी के आवगमन की दिशा को स्थापित करने में राजनैतिक विचार-विमर्श भी पर्याप्त प्रभाव डालने लगे। पिछला इतिहास यह सिद्ध करता है कि विभिन्न क्षेत्रों का आर्थिक विकास, पूंजी के आवागमन की मात्रा, दिशा एवं प्रकृति पर निर्भर करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की गतिशीलता के कारण
(Reasons of International Capital Movement)

पूंजी की गतिशीलता का क्या कारण है और एक देश से दूसरे देश में पूंजी का आयात और निर्यात क्यों होता है? यह प्रश्न पर्याप्त महत्व रखता है। इस प्रश्न का जवाब देने के बाद ही हम पूंजी के आवागमनों की वास्तविक प्रवृतियों के बारे में कुछ निर्णय ले सकते हैं और तभी हम इस बात का मूल्यांकन कर पाएंगे कि सर्वाधिक वांछनीय किसे माना जाए।

माल और सेवाओं का व्यापार इसलिए होता है क्योंकि इससे खरीददार को आयात करने में लाभ रहता है। जब एक देश को दूसरे देश में स्थिति पूर्ति के स्रोत से सस्ता माल प्राप्त हो सकता है तो वह उसी विदेशी माल की मांग करेगा और इस प्रकार व्यापार का जन्म हो जाएगा। एक समय था जब पूंजी का आवागमन इसलिए होता था क्योंकि खरीदार विदेशी प्रतिभूतियों को प्राप्त करने के सम्बन्ध में स्वयं ही एक विधेयात्मक और सक्रिय निर्णय लेता था। ऐसी स्थिति में वह अपने स्वार्थों को देखने के बाद स्वतंत्रता पूर्वक कोई निर्णय लेता था।

पूंजी के आवागमन सरकारी और गैर-सरकारी दोनों प्रकार के होते हैं और इनके लिए उत्तरदायी कारण भी प्रायः अलग-अलग होते हैं, अतः इनका अलग-अलग अध्ययन किया जाए तो अधिक उपयुक्त रहेगा।

पूंजी के गैर-सरकारी आवागमन के कारण
(The Reasons of Private International Capital Movement)

पूंजी के आवागमन में जिन प्रतिभूतियों का नाम लिया जाता है, उनका एक व्यापक अर्थ है, इसमें न केवल बाण्ड्स एवं स्टाक ही आते हैं वरन् अल्पकालीन नोट, जमा लेखे और विदेशों में स्थित वास्तविक सम्पत्ति आदि भी आती है। जिस प्रकार विदेश में स्थित सम्पत्ति की खरीदार को पूंजी का निर्यात माना जाता है, उसी प्रकार देश में स्थित विदेशी पूंजी की खरीददारी को भी पूंजी का निर्यात माना जाएगा यदि एक व्यक्ति लंदन में स्थित अमेरिकी रेलवे कम्पनी के बान्ड्स खरीदता है तो वह सम्पत्ति उसके स्वयं के देश में स्थित रहते हुए भी पूंजी का निर्यात कही जाएगी। आयात के प्रसंग में यहां यह बात मुख्य है कि खरीदारी दूसरे देश के निवासियों से की

जा रही है। दूसरी ओर विदेशों में स्थिति स्वदेशवासियों से यदि किसी सम्पत्ति को खरीदा जाता है तो इसे पूंजी का निर्यात नहीं कहा जायगा। यहां विदेशी प्रतिभूति से हमारा अर्थ ऐसी प्रतिभूति से है जो अपने पूर्व-स्वामित्व के कारण विदेशी होती है। केवल विदेशों में स्थित होने के कारण ही हम इसको विदेशी नहीं कह सकते।

विदेशी प्रतिभूतियों को कुछ उदेश्यों की पूर्ति के लिए खरीदा जाता है। जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि एक अमेरिकन व्ययकर्त्ता किसी कनाड़ावासी या अंग्रेज या-पर्शिया निवासी से प्रतिभूतियां क्यों खरीदता है तो हम पाएंगे कि यह निर्णय उसने कीमतों के आकर्षक होने के कारण लिया है। पूंजी का बहुत कुछ आयात-निर्यात कीमतों के बीच पाए जाने वाले अन्तर के कारण होता है।

पूंजी के आवागमन से सम्बन्धित व्यापक सहमति के लिए हम एक उदाहरण पर विचार कर सकते हैं। इसमें सबसे पहले हम एक पूर्णतः सुरक्षित बाण्ड पर विचार करें। इस प्रकार का बाण्ड प्रत्येक वर्ष एक निश्चित धन के भुगतान का वायदा करता है। मानलीजिए यह ५०० रुपये हैं, इसके परिपक्व होने पर वह मूल धन का भुगतान करेगा। मानलीजिए वह दस हजार रुपए हैं। वर्त्तमान समय में दी गयी ब्याज की मात्रा को कितना महत्व दिया जायगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि ब्याज की दर क्या है? यदि ब्याज की दर नीची है तो भविष्य में चुकाये जाने वाले धन की मात्रा पर्याप्त मूल्यवान बन जाएगी और यदि ब्याज की दर ऊंची है तो उसको कम महत्व दिया जाएगा। ब्याज की दर जितनी ऊंची होगी प्रति-भूति का मूल्य उतना ही नीचा होगा और दर जितनी नीची होगी उसकी कीमत उतनी ही ऊंची होगी।

पूंजी के आयात-निर्यात का न होना ब्याज की एक जैसी दर का आवश्यक परिणाम नहीं है। एक देश में ब्याज की दरें बहुत कुछ उन नीतियों पर आधारित रहती हैं जो उस देश के बैंकों तथा मौद्रिक संस्थाओं द्वारा अपनाई गयी हैं। इन नीतियों को राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित किया जाता है। इनको कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता निर्धारित नहीं करती, यह हो सकता है कि एक समय में एक देश धन से सम्बन्धित सरल नीति अपनाएं। ऐसी स्थिति में उस देश में ब्याज की दर कम होगी। दूसरा देश उसी समय प्रतिरोध की नीति अपना सकता है और इसलिए वहां ब्याज की दरें अधिक होंगी।

यदि एक स्थिति में दो देशों के समस्त व्ययकर्त्ताओं को एक जैसा जोखिम उठाना पड़ता है तो ब्याज की दर में किसी प्रकार का अन्तर भी अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन का कारण बन जाएगा। ब्याज की उच्च-दर

वाला देश, दूसरे देश से पूंजी का आयात करेगा और उस समय तक करता रहेगा जब तक कि परिस्थितियां न बदल जाएं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूंजी को उस देश में आकर्षित किया जाएगा जहां वह उच्च ब्याज की दर कमा सकें।

कुछ लेखकों का कहना है कि उपर्युक्त स्थिति पर्याप्त अवास्तविक है। यदि पूंजी के प्रवाह को बिना प्रतिबन्ध लगाए रखा गया तो दो देशों में ब्याज की दर एक जैसी बन जाएगी क्योंकि पूंजी के निर्यातकर्त्ता देश के बैंकों का सुरक्षित भण्डार धीरे-धीरे कम होता चला जाएगा और इसलिए वे भी कुछ समय बाद ब्याज दर बढ़ाने के लिए बाध्य होंगे। दूसरी ओर पूंजी के आयात करने वाले देश के बैंकों का सुरक्षित भण्डार बढ़ जाएगा, इसके फलस्वरूप वह देश ब्याज की दर बढ़ाने के लिए चाहे बाध्य न हो किन्तु फिर भी इस दृष्टि से सोच सकता है।

जोखिम—जिन बॉण्डस् को प्रत्येक देश द्वारा पूर्ण रूप से सुरक्षित माना जाता है, उनके सम्बन्ध में भी दृष्टिकोण का अन्तर रह सकता है। व्ययकर्त्ता के जोखिम का सम्बन्ध न केवल प्राप्त किए जाने वाले ब्याज से रहता है वरन् इससे भी रहता है कि यदि भविष्य में कभी वह अपने बॉण्ड को बेचना चाहे तो उसको क्या कीमत मिल सकेगी ? यह हो सकता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार द्वारा प्रसारित बॉण्ड के प्राप्तिकर्त्ता ब्याज के भुगतान और मूलधन के पुनर्भुगतान में पूर्ण रूप से सुरक्षा का अनुभव करें किन्तु वे उस बॉण्ड के परिपक्व होने से पहले किस कीमत पर बेच सकते हैं। इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत हो सकते हैं। कुछ व्ययकर्त्ता यह सोच सकते हैं कि भविष्य में बाजार अपरिवर्तित रहेगा और कल भी यही भाव रहेगा जो आज है। इस प्रकार भविष्य में कीमतों की वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है अतः व्ययकर्त्ताओं का दृष्टिकोण एकरूप नहीं होता। उनके मध्य स्थित विभिन्नता के कारण पूंजी के आवागमन में अन्तर आ जाता है।

कीमतें—जब पूंजी का आवागमन कीमतों के अन्तर के कारण होता है तो ऊंची कीमतें एक विक्रेता को प्रतिभूति छोड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। पूंजी के आवागमन को जारी रखने के लिए विक्रेता देश की दृष्टि से कीमतें निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिए। दूसरी ओर खरीददार देश की दृष्टि से कीमतों को कम से कम होना चाहिए। इस प्रकार विक्रेता देश में कीमतों के बढ़ने और खरीददार देश में कीमतों के घटने की प्रवृत्ति रहती है तभी उनके बीच पूंजी का आवागमन हो पाता है। जब कीमतें एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाती हैं और सस्ता खरीदने और महंगा बेचने से प्राप्त होने वाले लाभ के अवसर कम हो जाते हैं तो पूंजी का आवागमन रुक जाता है।

दृष्टिकोण का परिवर्तन—उक्त विचार-विमर्श के बाद हम इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हम ऐसी समतुल्य स्थिति से प्रारम्भ करें जिसमें कि पूंजी का कोई आवागमन नहीं हो रहा है तो मौद्रिक नीति में अथवा व्ययकर्त्ताओं के दृष्टिकोण में किसी प्रकार का भी परिवर्तन होने से पूंजी का आवागमन प्रारम्भ हो जाएगा। यदि एक देश के व्ययकर्त्ता अधिक आशावादी दृष्टिकोण अपना लें और विदेशों से प्रतिभूतियां खरीदने पर उनके ऊपर कोई प्रतिबन्ध न हो तो वे पूंजी के आवागमन को सम्भव बना देंगे। पूंजी का निर्यात केवल उन्हीं देशों को किया जाता है जिनके व्ययकर्त्ता अधिक आशावादी होते हैं। दूसरे देशों से पूंजी का केवल आयात किया जाता है; पूंजी का आवागमन इसलिए भी प्रारम्भ होता है क्योंकि बैंक व्यवस्था की नीति के परिणामस्वरूप एक देश में ब्याज की दर कम हो जाती है और दूसरे में वे ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। इस प्रकार के पूंजीगत आवागमन से उस देश से पूंजी का निर्यात किया जाएगा तथा उस देश में प्रतिभूतियों का आयात किया जाएगा जिसमें ब्याज की दरें कम हैं।

भविष्यवाणियां—कीमतों के परिवर्तनों के सम्बन्ध में भविष्यवाणियां पर्याप्त महत्वपूर्ण होती हैं। सट्टेबाज इस दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखते हैं। वे आज इस आशा में व्यापार करते या खरीददारी करते हैं कि कल वे ऊंची कीमतों से बिक्री कर सकेंगे। इस प्रकार के व्ययकर्त्ताओं को उनसे भिन्न माना जाएगा जो प्रतिभूतियों की प्राप्ति केवल आकर्षक ब्याज अथवा लाभांश के कारण करना चाहते हैं। वैसे अनेक व्ययकर्त्ता सट्टेबाजों की मनोभावना से प्रभावित रहते हैं।

प्रतिभूतियों के प्रकार—अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जिन प्रतिभूतियों का व्यापार किया जाता है उनका प्रकार भी पर्याप्त महत्व रखता है। इस दृष्टि से बाण्डस् का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त स्टाक, प्रमाण-पत्र आदि भी महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। यदि एक व्यापारी किसी स्टाक के एक सौ अंश खरीदता है तो वह अपनी खरीददारी ब्याज की आशा से नहीं करता क्योंकि वह अपना धन उधार नहीं दे रहा है वरन् वह एक फर्म के स्वामित्व को खरीद रहा है। उसको मिलने वाला प्रतिदान ब्याज के रूप में नहीं वरन् लाभांश के रूप में होगा। यहां मूलधन के लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार की प्रतिभूतियों से होने वाली आय, बॉण्डस् से प्राप्त होने वाली आय से सुरक्षित होती है क्योंकि लाभांश की दर के सम्बन्ध में कोई गारन्टी नहीं दी जाती वरन् यह कुछ प्रतिबन्धों के साथ निर्देशकों के निर्णय पर निर्धारित होती है।

प्रतिभूतियों के बीच स्थित पर्याप्त अन्तर भी पूंजी के आवागमन का

कारण बनता है। एक देश में प्रसारित प्रतिभूतियाँ दूसरे देश में प्रसारित प्रतिभूतियों से भिन्न हो सकती हैं। हो सकता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका में प्रसारित प्रतिभूतियों तथा किसी भी अर्द्ध-विकसित देश की प्रतिभूतियों के बीच महान् अन्तर हो। यह अन्तर प्रतिभूतियों की स्वीकृति में पर्याप्त महत्वपूर्ण बन जाता है। उनकी दर चाहे कुछ भी हो किन्तु इस अन्तर के कारण कई बार प्रतिभूतियां स्वीकृत या अस्वीकृत बन जाती हैं। अमेरिका के व्ययकर्त्ता इस प्रकार की विदेशी प्रतिभूतियों को प्राप्त करने में प्रायः रुचि नहीं लेते।

पूंजी के आवागमन की दृष्टि से यह प्रश्न पर्याप्त महत्व रखता है कि व्ययकर्त्ता की भावनाओं में परिवर्तन कैसे आ सकता है? विभिन्न विकास व्ययकर्त्ता की आकांक्षाओं को परिवर्तित कर देते हैं। इनको दो शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम भाग के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को लिया जा सकता है जो विदेशी व्यय से होने वाली कुछ प्राप्तियों से होते हैं और दूसरे भाग में वे परिवर्तन आते हैं जो देश में वैकल्पिक व्यय के फलस्वरूप होने वाली प्राप्तियों से होते हैं।

पूंजी के आवागमन को प्रभावित करने वाले अनेक कारणों में से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं :—

(१) राजनैतिक विकास (Political Development)—राजनैतिक विकासों का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। यदि एक देश में राजनैतिक स्थायित्व को चुनौती प्राप्त होती है तो दूसरे देश के व्ययकर्त्ता को उस देश की प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में निराशापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा। उदाहरण के लिए, उसे यह भी डर हो सकता है कि उसकी प्रतिभूतियों को जब्त कर लिया जाएगा। सम्भवतः यह सबसे बड़ी बाधा है जिसके कारण वर्तमान समय में कुछ अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजी का भारी निर्यात नहीं किया जाता। इन देशों में पूंजी के आयात का स्तर बहुत नीचा होता है। इसके परिणामस्वरूप राजनैतिक अस्थिरता के खतरे और भी अधिक गम्भीर बन जाते हैं। इस प्रकार के आयातों के बिना देश का आर्थिक विकास अत्यन्त धीमा हो जाता है। इससे भारी असन्तोष पैदा होता है और सम्भावित व्ययकर्त्ता के लिए कम आकर्षक वातावरण तैयार होता है। इस प्रकार के विकास के कारणों को रोकने के लिए जब तक कुछ नहीं किया जाता स्थिति निरन्तर बदतर होती जाती है।

(२) मत परिवर्तन (Shifts in Opinion)—इस दृष्टि से एक अन्य महत्वपूर्ण बात विदेशी बाजारों से सम्बन्धित मतों के परिवर्तन से

सम्बंध रखती है। उदाहरण के लिए, जब एक देश के लोगों में यह भावना बढ़ती है कि दूसरे देश की मुद्रा के दाम गिर रहे हैं तो उस देश के व्यय-कर्त्ता अपने व्यय में कमी कर देते हैं; दूसरे देश के विनिमय की बदतर स्थिति भी एक देश के मूल्यों को गिरा देती हैं और इस प्रकार उनके बीच पूंजी का आवागमन रुक जाता हैं। इस स्थिति में यह भय बढ़ जाता है कि व्यय-कर्त्ता को अपने धन का उचित प्रतिदान नहीं मिल पाएगा और उसका व्यय निष्फल रहेगा। यदि इस प्रकार का डर व्यापक बन जाए तो इसके परिणाम-स्वरूप एक देश दूसरे देशों को अपनी सम्पत्ति का निर्यात नहीं करेगा। दूसरे देशों में भी जब इस प्रकार का भय उत्पन्न हो जाएगा तो वे पूंजी का आयात नहीं करेंगे।

(३) **साधन स्रोतों की खोज (The Discovery of Resourees)**—जब अन्य देशों में साधनों की खोज की जाती है तो भी एक देश के व्यय-कर्त्ताओं को पर्याप्त लाभ प्राप्त होता है। विदेशों में व्यय करने से लाभ की सम्भावनाएं प्रायः उस समय बढ़ जाती हैं जब दूसरे देशों के साधनों की खोज से लाभ उठाने की नीति को जाना जा सके। उदाहरण के लिए जब पश्चिमी कनाड़ा में सबसे पहले पैट्रोल के सुरक्षित भण्डारों का पता लगाया गया तो अमेरिकी व्ययकर्त्ताओं को पर्याप्त आशा बन्धी और उन्होंने कनाड़ा की प्रतिभूतियां खरीदने में रुचि प्रदर्शित की।

(४) **विश्व मांग में परिवर्तन (Changes in World Demand)**—जब विश्व की मांग में परिवर्तन होते हैं और इनके स्थायी रहने की आशा रहती है तो इनसे विभिन्न देशों पर पड़ने वाले प्रभावों का कुछ अनुमान लगाना सम्भव होता है तो उससे पूंजी का आवागमन भी प्रभावित हो सकता है क्योंकि इससे उत्पादन की आकांक्षाओं की प्रवृत्तियां प्रभावित होती हैं। जब एक लम्बे समय तक सैनिक उत्पादन की मांग पर्याप्त उच्च बनी रहती है तो तांबा, यूरेनियम, टिन आदि साधनों से सम्पन्न देशों की कुछ फर्मों को अधिक लाभ प्राप्त होता है और तब इन उद्यमों में धन लगाना बुद्धिपूर्ण समझा जाएगा।

(५) **भण्डार के बाजार (The Stock Market)**—एक देश के भण्डार में होने वाले विकास भी दूसरे देशों के व्ययकर्त्ताओं के दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। बाजार चाहे गिरे अथवा उठे, प्रवृत्ति हमेशा यह रहती है कि परिवर्तन को संख्यागत होना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि लन्दन में बाजार उठ रहा है तो अमेरिकी व्यापारी यह सोच सकता है कि वहां अधिक से अधिक प्रतिभूतियां खरीदी जाएं। जब एक बार शीर्ष के स्तर को प्रभावित कर दिया जाए तो अन्य दिशाओं में भी यह प्रवृति बढ़ती है।

(६) **कर नीतियों में परिवर्तन (Changes in Tax Policies)**—जब कर नीतियों में परिवर्तन किया जाता है और इस परिवर्तन द्वारा भेदभाव की नीति को अपनाया जाता है तो इससे विदेशी व्ययकर्त्ता का मार्ग या तो अवरुद्ध हो जाता है या सुगम बन जाता है। ऐसी स्थिति में पूंजी का आवागमन पर्याप्त बदल जाता है। यदि एक देश व्यापार के समस्त लाभों पर एक सी दर से कर लगाता है तो वह उन नियमों के लाभों पर भी कर लगाएगा जो कि विदेशियों द्वारा नियन्त्रित है। वह उन लाभांशों पर भी कर लगा देगा जो गैर निवासियों को मिलने वाले है। ऐसा करने से विदेशी व्ययकर्त्ताओं की आशाओं पर पानी फिर जाएगा और वे उस देश में अपने व्यय से होने वाले लाभों के सम्बन्ध में पुनः विचार करेंगे।

(७) **घरेलू स्थिति (Domestic Situation)**—जब घरेलू स्थिति कम अनुकूल रह जाती है तो इसके परिणामस्वरूप देश में प्रतिभूतियों की खरीददारी के सम्बन्ध में निराशावादी दृष्टिकोण का प्रभाव हो जाता है। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर विदेशी व्ययकर्त्ता भी प्रतिभूतियां नहीं खरीदते। जब घरेलू नियमों पर कर की दर की वृद्धि दूसरे देशों की बढ़ी हुई दरों से काफी आगे हो तो इसके परिणामस्वरूप पूंजी का निर्यात होगा क्योंकि जब इस देश में करों की मात्रा अधिक है तो विदेशी निगम के भंडार अधिक आकर्षक बन जाएंगे।

(८) **कुछ अन्य कारण (Some other Reasons)**—पूंजी के आवागमन को कुछ अन्य कारणों द्वारा भी प्रोत्साहन दिया जाता है। वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार के साथ पूंजीगत आवागमन स्वतः होने लगता है। जब एक देश में कोई आयात करता है तो उसे कुछ न कुछ निर्यात करने का भी प्रवन्ध करना होगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो उसे खरीदी गई चीजों के दाम देने पड़ेंगे। संभवतः यह भी हो सकता है कि वह निर्यातकर्त्ता से साख प्राप्त करले अथवा अपने बैंक से ही आवश्यक विदेशी विनिमय या सोना प्राप्त करले। प्रत्येक स्थिति में पूंजी का आयात करना पड़ेगा। जब एक देश अपने निर्यात को बढ़ाएगा तो उसका आयात भी स्वाभाविक रूप से बढ़ जाएगा। व्यापार से सम्बन्धित आयात बढ़ने पर पूंजी का आवागमन जन्म लेता है और उसे कोई भी प्रतिबन्ध नहीं रोक सकता।

जिस प्रकार माल और सेवाओं के व्यापार में सन्तुलन स्थापित करने के लिए पूंजी के आवागमन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार दूसरे देशों से प्रतिभूतियों की खरीददारी एवं बिक्री भी आवश्यक बन जाती है। जब एक देश के व्ययकर्त्ता दूसरे देश की प्रतिभूतियां खरीदने की ओर प्रेरित होते

हैं तो ऐसा करने के लिए या तो उनको अपने देश के विदेशी विनिमय भण्डार कम करने होते है अथवा अपने देश की मुद्रा दूसरे देश के निवासियों के हाथ मे देनी होती है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि ये खरीददार या तो इन प्रतिभूतियो के लिए भुगतान करेगे अथवा नही करेगे। यदि वे भुगतान करते है तो किसी न किसी प्रकार पूंजी का आवागमन होकर रहेगा और यदि वे भुगतान को भविष्य के लिए छोड़ देते है तो भी पूंजी का आवागमन होता है, यद्यपि यह आवागमन भिन्न प्रकार का होता है। एक देश माल, सेवाओ एवं प्रतिभूतियो का निर्यात करते समय भी पूंजी के आवागमन को प्रोत्साहन देता है।

उक्त प्रकार के पूंजी के आवागमन एक प्रकार से सन्तुलन स्थापित करने के लिए होते हैं। यदि एक देश के आयात उसके कुल निर्यात से आगे बढ़ जाते है तो उनके बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए पूंजी का आयात किया जाता है। यदि सम्बन्धित देश पूंजी के आयात की अनुमति न दे तो विदेशों से खरीद करने के इच्छुक आयातकर्त्ताओं को यह महसूस होगा कि वे भुगतान करने मे असमर्थ है। ऐसी स्थिति मे आयातो का अतिशय, उनकी पूंजी के आयात द्वारा सन्तुलित करना चाहिए।

कभी-कभी सुविधा की दृष्टि से भी सन्तुलन करने वाले पूंजी के आवागमनों का रूप निर्धारित किया जाता है। उदाहरण के लिए एक देश के निर्यातकर्त्ता यह मान सकते है कि उनको विदेशी उपभोक्ताओं की आज्ञाएं उस समय तक प्राप्त नही होंगी जब तक कि वे अपनी साख को यथार्थ मे प्रसारित न करे। इस प्रकार आयातकर्त्ता देश के लिए यह आवश्यक बन जाता है कि वह अपने विदेशी विनिमय और सोने के सुरक्षित भण्डारों को काम में लाए। यदि इसे निर्यातकर्त्ताओं की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि वे इस साख को आयातकर्त्ताओं तक प्रसारित करने का प्रबन्ध करते हैं। उनके द्वारा जब पर्याप्त बाजारों को ढूंढने के लिए भी कठिनाई का अनुभव किया जायेगा तो वे भुगतान की तारीख को बदल देंगे। आयात-कर्ता को खरीददारी करने के लिये सुविधाजनक साख की शर्तों का प्रबन्ध करना पड़ता है और इस प्रकार निर्यातकर्त्ता अथवा बैंक द्वारा अल्पकालीन पूंजी के आवागमन को प्रारम्भ किया जाता है। दूसरी ओर आयातकर्त्ता भी समय-समय पर निर्यातकर्त्ता को साख की सुविधाएं प्रदान करता है। निर्यातकर्त्ता भी अपने उत्पादन की लागत को पूरा करने के लिये धन उधार ले सकता है। यदि आयातकर्त्ता वस्तु के प्राप्त होने से पहले ही भुगतान कर देता है तो इसे भी पूंजीगत आवागमन समझा जायेगा।

पूंजीगत आवागमन कभी-कभी स्वेच्छापूर्ण होते हैं जब कि दूसरे समय में वे इतने स्वेच्छापूर्ण नहीं होते। एक देश के व्यापारी समय-समय पर यह अनुभव कर सकते हैं कि जिस देश में उन्होंने व्यय किया है वहां से वे उस धन को वापिस न ले पाएंगे और न ही वे अपनी प्रतिभूतियों के ब्याज का भुगतान प्राप्त कर पाएंगे। इस प्रकार की स्थिति १९३३ के बाद जर्मनी में पैदा हुई थी। उस समय जिन अमेरिकियों के पास जर्मनी की प्रतिभूतियां थी, उनको यद्यपि जर्मनी की मुद्रा (Mark) में ब्याज लगातार मिल रहा था किन्तु फिर भी वे इस मुद्रा को अमेरिकी डालर में परिवर्तित करने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे। ऐसी स्थिति में इन अमेरिकी व्यापारियों को जितना ब्याज प्रतिवर्ष प्राप्त होता था उतना ही वे जर्मनी को कर्ज में दे देते थे। इस प्रकार ये कर्ज इच्छापूर्ण नहीं वरन् बाध्यकारी थे। यद्यपि ये व्यापारी चाहते थे कि प्राप्त की गई जर्मन मुद्रा को डालर में बदल दें किन्तु वे ऐसा करने में असफल थे।

कभी-कभी व्यापारिक विचार-विमर्श की अपेक्षा दबावों के कारण भी पूंजी का आवागमन सम्भव बनता है। एक कर्ज लेने वाला देश अपने कर्ज का एक भाग किसी निश्चित तारीख को चुकाने के लिये सहमत होता है और जब समय आता है तो वह उनका निर्यात करने के लिए बाध्य होता है किन्तु इस प्रकार का निर्यात आय प्राप्ति की आशाओं से या पूंजी प्राप्त करने अथवा व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए नहीं किया जाता वरन् उसकी मजबूरी होती है।

ऊपर पूंजी के जिन आवागमनों का वर्णन किया गया है उनकी प्रकृति गैर-सरकारी है किन्तु आधुनिक समय में अनेक पूंजीगत आयात-निर्यात सरकार द्वारा संचालित किये जाते हैं।

पूंजी की सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय गति के कारण
(The Reasons of the Official International Capital Movement)

सरकार द्वारा जिस पूंजीगत आवागमन की पहल की जाती है वह १९४५ के बाद के व्यक्तिगत पूंजीगत आवागमन की अपेक्षा बड़े आकार का है। यद्यपि व्यक्तिगत लेन-देन को प्रभावित करने वाली शक्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया जा सकता है किन्तु सरकार द्वारा प्रेरित तथ्यों के बारे में अधिक कुछ कहना अत्यन्त कठिन है।

सरकारी नीति के निर्धारण की कठिनाइयां—सरकार की नीतियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करना सरल नहीं है। जिस प्रकार हम व्यक्ति-

गत व्ययकर्ता के बारे में कहते हैं कि वह आर्थिक प्राप्ति चाहता है, सरकार के उद्देश्यों को इतनी निश्चितता के साथ हम नहीं कह सकते, यद्यपि उनका महत्व भी कुछ कम नहीं होता, लाभ और हानि की मान्यताएं बहुत कुछ निश्चित होती हैं और इनको आसानी से समझा जाता है किन्तु सामान्य कल्याण जो कि सरकारी व्यय का एक उद्देश्य बताया जाता है, उतना निश्चित नहीं होता। सामान्य कल्याण के अन्तर्गत जो विभिन्न बातें आती हैं उनको पृथक से न तो जाना जा सकता है और न ही उनकी व्याख्या की जा सकती है। इसके अन्तर्गत हम जनसंख्या के आर्थिक कल्याण, आक्रमण से सुरक्षा और राजनैतिक स्थायित्व आदि बातों को ले सकते हैं किन्तु इनमें से प्रत्येक उद्देश्य अपने आप में जटिल है। जनता के आर्थिक कल्याण में हम सभी के लिये उच्च आमदनी, आय की दर में उपयुक्त वृद्धि, आय का न्यायपूर्ण वितरण और बेचे गए माल का उपयुक्त प्रकार आदि बातों को सम्मिलित कर सकते हैं। ये सभी उद्देश्य अपेक्षाकृत सामान्य हैं और इनको संक्षिप्त रूप से इंगित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सरकार की क्रियाओं के सम्बन्ध में ये विभिन्न स्पष्टीकरण अधिक सार्थक प्रतीत नहीं होते। सरकार द्वारा जिस पूंजी के आवागमन को प्रोत्साहित किया जाता है, उसके पीछे कई कारण होते हैं और इनको समझने के बाद सम्भवतः विषय अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

सरकारी ऋण के कारण
(Causes of Public-debts)

सरकार के द्वारा जब दूसरे देशों को ऋण प्रदान किए जाते हैं तो इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं। उदाहरण के लिए, उस सरकार को यह डर रह सकता है कि यदि ऋण न दिया गया तो दूसरा देश उसके उत्पादन को नहीं खरीद पायेगा। एक देश की सरकार अपने देश के उत्पादन का आयात करने के लिए दूसरे देशों को प्रोत्साहित करती है। आर्थिक मन्दी के समय सरकार द्वारा बाजार के आकार को बढ़ाने में विशेष रुचि प्रदर्शित की जाती है क्योंकि इससे देश के उत्पादन, आय, लाभ और रोजगार में वृद्धि होती है। यह तर्क न केवल आर्थिक मन्दी के समय वरन् साधारण समय में भी महत्व रखता है, यद्यपि सम्पन्नता की स्थिति में बाजारों की रचना इतनी अधिक तत्कालिक नहीं होती, किन्तु फिर भी आने वाले भविष्य में इसका पर्याप्त महत्व होता है।

सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक प्रकार के ऋण दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए, १९३४ में स्थापित अमेरिकी आयात-

निर्यात बैंक का प्रारम्भ में उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए निर्यातों को बढ़ावा दें।

कभी-कभी एक सरकार अपने निर्यात को बढ़ाने के लिए केवल इस लिए कर्जा नहीं देती कि इसे बाजार की आवश्यकता है वरन् इसलिए देती है कि ऋण लेने वाले देश को आयात करना चाहिए। उदाहरण के लिए, वह राजनैतिक या सैनिक कारणों से उधार लेने वाले देश की आर्थिक शक्ति को उच्च बनाने का प्रयास कर सकती है। इसके अतिरिक्त जब एक बार कर्ज लेने वाला देश विकास के सन्तोषजनक स्तर पर पहुंच जाएगा तो वह कर्जदाता देश के लिए कच्चे माल तथा अन्य सामग्रियां आसानी से भेज सकेगा।

पूंजी के निर्यात करने की स्थिति में रहने वाली सरकार मित्रतापूर्ण विचारों अथवा अतीत के लाभों से प्रेरित होकर भी पूंजी का निर्यात कर सकती है। एक देश की सरकार को कभी-कभी यह भी डर लगता है कि यदि दूसरे देश में स्थित सरकार का पतन हो गया तो उसके स्थान पर आने वाली सरकार कम मैत्रीपूर्ण हो सकती है, अतः वह उसका समर्थन करके उसे पतनोन्मुख होने से बचाती है।

कभी-कभी एक सरकार दूसरे देश को इसलिए भी पूंजी भेजती है कि यदि उसने ऐसा नहीं किया तो दूसरे देश द्वारा ऐसे आर्थिक निर्णय लिए जा सकते हैं जो उसके लिए नुकसानदायक होंगे। वे सम्भवतः सम्भावित कर्जदारों पर बुरा प्रभाव डालेंगे। एक देश के सामने ऐसी स्थिति उपस्थित हो सकती है कि वह आवश्यक आयातों के लिए भुगतान न कर सके। ऐसा करने के लिए उसे या तो अपनी मुद्रा का मूल्य घटाना होगा अथवा कम महत्वपूर्ण आयातों की संख्या को एकदम कम करना होगा। इस प्रकार के प्रयास दूसरे देशों के लिए कष्टदायक होते हैं और इसीलिए वे सफलता प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु दूसरे देश भी बदले की ऐसी नीतियां अपना सकते हैं और ऐसा होने पर ये नीतियां फलहीन बन जायेंगी। जब इस प्रकार की गर्दनतोड़ प्रतिद्वन्द्विता विभिन्न देशों के बीच कायम हो जायेगी तो किसी देश को लाभ नहीं होगा। इस प्रवृत्ति के प्रारम्भ होने से पहले ही रोकने के लिए पूंजी के आवागमन का सहारा लिया जायेगा।

विकास और विनिमय स्थायित्व के उद्देश्यों के बीच बहुत कम अन्तर रहता है। १९४५ के दौरान संयुक्तराज्य अमेरिका ने ग्रेट-ब्रिटेन को जो कर्जे दिये हैं वे इन दोनों की ही पूर्ति करते थे। अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों को युद्ध के बाद जो सहायताएं प्रदान की वे भी इस प्रकार के योगदान के उदाहरण हैं। ये विभिन्न कर्जे इन अर्थ-व्यवस्थाओं की पुनः रचना में सहायता करने के उद्देश्य से दिये गये। ई०आर०पी० (European

Recovery Programme) के अन्तर्गत सम्बन्धित देशों की अर्थ-व्यवस्था को पुनः सुधारने के लिये भारी मात्रा में धन की व्यवस्था की गई, क्योंकि युद्ध अथवा सैनिक कार्यवाही के कारण इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर्याप्त बिखर चुकी थी।

सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रेरणाओं के बीच अन्तर—सरकारी व्ययकर्ता की रुचि एवं व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता की रुचि के बीच उद्देश्यों की विभिन्नता होती है। व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता कभी-कभी तो सरकार द्वारा प्रेरित होते हैं किन्तु प्रायः उनको सरकार से कोई प्रेरणा नहीं मिलती। कभी-कभी व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के हित परिस्थिति की आवश्यकताओं के ठीक विपरीत सिद्ध होते हैं। एक सरकार को जिस बात का भय रहता है उसी बात को प्रेरित करने के लिये कई बार व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता अपनी नीतियों को संचालित करते हैं।

एक सरकार के कार्यों की प्रेरणाएं वे भी हो सकती हैं जो कि व्यक्तिगत व्ययकर्ता की नहीं होती। एक देश अपनी सरकार के माध्यम से एक ऐसे देश में पर्याप्त पूंजी भेज सकता है जिसकी मुद्रा अवमूल्यन के नजदीक पहुंच गयी थी। यदि अवमूल्यन से एक देश को कोई भय नहीं है तो भी वह सम्बधित देश की सहायता कर सकता है।

कई कारणों से एक सरकार व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के हाथ में निर्णय की शक्ति छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही पूंजी के आवागमन के सम्बन्ध में निर्णय लेती है। उदाहरण के लिए, यदि एक देश आर्थिक संकट का अनुभव कर रहा है जिसे वह विदेशों में अपने बाजार का प्रसार करके दूर कर सकता है तो इस तथ्य की जानकारी के बाद उसके पड़ौसी देशों के व्ययकर्त्ता उसे ऋण प्रदान करके बाजारों की रचना का प्रयास नहीं करेंगे क्योंकि इसमें जोखिम है।

सरकार जब पूंजी के आवागमन को प्रोत्साहन देती है तो उसका स्पष्ट उद्देश्य यह नहीं होता कि वह केवल लाभ प्राप्ति के लिए ऐसा करे। दूसरी ओर व्यक्तिगत व्ययकर्ता हमेशा सम्पन्नता और लाभ को ध्यान में रखकर ही आगे बढ़ता है। सरकार राजनैतिक मित्रता के लिए तथा दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धि का निर्वाह करने के लिए भी पूंजी के आवागमनों में रुचि ले सकती है। सरकार के सामने ऐसी अनेक परिस्थितियां आ जाती हैं जबकि उसे पूंजी के आवागमन का प्रबन्ध करना होता है। यदि वह इन परिस्थितियों में इस कार्य को व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के हाथ में छोड़ दे तो इसके फलस्वरूप कोई कार्य नहीं किया जाएगा क्योंकि उपर्युक्त प्रेरणाओं के अभाव में व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता कोई रुचि नहीं लेंगे।

सरकार जिस प्रकार के पूंजीगत आवागमन में भाग लेती है उसके कई रूप हो सकते हैं। कभी-कभी इसका रूप प्रत्यक्ष कर्जा होता है। इस प्रकार के कर्जे प्रायः दीर्घकालीन होते हैं और सरल शर्त पर प्रदान किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब अमेरिकी आयात-निर्यात बैंक ने पुनः रचना के लिए कर्जे दिये तो कर्जा लेने वालों को पुनः भुगतान के लिए २० या ३० वर्ष की छूट दी गई तथा उनसे बहुत कम ब्याज की दर (३%) प्राप्त की गयी।

कर्ज और अनुदान दो अलग-अलग चीजें हैं और इनके बीच पर्याप्त अन्तर होता है। अनुदान प्राप्त करने वाला देश उसके ब्याज या मूलधन का भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक सरकार इन शर्तों पर पूंजी का निर्यात क्यों करती है? सरकार धन को पूरी तरह से छोड़ने की अपेक्षा उसे वापिस लेने का प्रयास क्यों नहीं करती? इन प्रश्नों का उत्तर उस देश के भावी स्वार्थ में पाया जाता है। अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि यदि एक देश की आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं है और विदेशी कर्ज का भुगतान करने का भार भी उसके ऊपर डाल दिया जाए तो वह पर्याप्त कमजोर हो जायगा। जब युद्ध के दौरान दो देश सैनिक दृष्टि से मित्र होते हैं तो वे अपनी मित्रता को सैनिक लक्ष्यों के अतिरिक्त अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भी प्रयुक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए बीमारियों के प्रसार को रोकने के लिए ये परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार को पूंजी का निर्यात करने की अपेक्षा अन्य प्रकार के प्रबन्ध को भी अपना सकती है। पूंजी का निर्यात करने वाले देश की सरकार स्वयं कर्जा देने की अपेक्षा अपने देश के व्यय-कर्त्ताओं को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। इसके लिए वह कर्जदाताओं को यह गारन्टी प्रदान करेगी कि कर्ज लेने वाले अपने घरेलू वित्तीय बाजार पर दबाव डालकर दूसरी सरकार की आवश्यकताओं को पूरी करने की वांछनीयता पर जोर दे सकती है।

कभी-कभी सरकारों के बीच कर्जे का प्रबन्ध अन्य तरीकों से भी किया जाता है। एक सरकार पुनः रचना और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction & Development) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के माध्यम से प्रतिभूतियां खरीद सकती है अथवा अनुदान दे सकती है। यह अभिकरण दूसरे देशों को धन उधार देगा। इसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण व्यक्तिगत व्ययकर्ताओं से धन प्राप्त करके उन्हें किसी सरकार को देने की अपेक्षा व्यक्तिगत उद्यमों में ही

लगा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकारों के बीच पूंजी का आवागमन कई प्रकार से प्रभावित हो सकता है। पूंजी उधार देने वाली सरकार संकीर्ण आर्थिक, राजनैतिक या युद्ध कौशल सम्बन्धी विभिन्न कारणों से प्रभावित हो सकती है। इसके अतिरिक्त अनेक मानवीय कारण भी इस पर प्रभाव डालते हैं। आजकल व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं की अपेक्षा सरकार की पहल द्वारा किए गये पूंजी आवागमन अधिक दिखाई देते हैं। इस प्रकार का विकास कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि व्यक्तिगत लाभों की अपेक्षा सरकारी व्ययकर्त्ता की प्रेरणा के स्रोत अनेक होते हैं। व्यक्तिगत व्ययकर्त्ता के सामने रण-कौशल सम्बन्धी राजनैतिक या मानवीय आदि विभिन्न कारण नहीं होते।

पूंजीगत आवागमन का वर्गीकरण
(Classification of Capital Movement)

पूंजीगत आवागमन के कई रूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, इसमें एक देश दूसरे देश का कर्जदार बन सकता है अथवा एक देश को कुछ वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त हो सकता है। पूंजीगत आवागमन का जन्म साधारण व्यापारिक लेन-देन से भी हो सकता है अथवा इसलिए भी हो सकता है कि कुछ लोग इसमें अपना लाभ देखते हैं। इसके द्वारा विभिन्न सरकारों के बीच अथवा गैर-सरकारी व्यक्तियों के बीच अथवा अर्द्ध-सरकारी व्यक्तियों के बीच के प्रबन्धकों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दो पूंजीगत आवागमनों के बीच विभिन्नता के अनेक कारण हैं और उनके अनुसार वे कई प्रकार से वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

पूंजीगत आवागमन के कुछ वर्गीकरण सैद्धान्तिक रूप से अपेक्षाकृत स्पष्ट होते हैं फिर भी कभी-कभी उनको लागू करना कठिन होता है। इस प्रकार के वर्गीकरणों की व्याख्या प्रत्यक्ष रूप से की जाती है। पूंजीगत आवागमन को कई आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है।

(१) प्रथम आधार समय की लम्बाई है जिसके लिए ऐसे आवागमन किए गये हैं—जब एक कर्जा दिया जाता है तो इसके साथ ही यह भी निर्धारित किया जाता है कि यह कितने समय में वापस लिया जाएगा। हो सकता है कि एक कर्जे का भुगतान करने का प्रबन्ध ६० दिन की अवधि में हो। इस प्रकार का कर्जा अल्पकालीन कर्जा कहलाता है और जब यह राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ जाता है तो इसको अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन कह देते हैं। दूसरी ओर जो कर्जा एक वर्ष से पहले चुकाना नहीं होता उसे दीर्घ-कालीन पूंजीगत आवागमन कहते हैं।

पूंजीगत आवागमन को अल्पकालीन या दीर्घकालीन के रूप में वर्गीकृत करना अधिक उपयोगी सिद्ध इसलिए नहीं होता क्योंकि हम खरीदी गयी वस्तु को देखकर ही निश्चित रूप से यह पता नहीं लगा सकते कि खरीददार का वास्तविक इरादा क्या है? खरीददारी और विक्रेताओं के वास्तविक इरादों को जानने के पश्चात् ही निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि पूंजीगत आवागमन दीर्घ-आवागमन को वर्गीकृत करेगा तो वह केवल यह देखेगा कि अगर प्रतिभूतियां एक वर्ष से कम समय में परिपक्व हो जाती हैं तो वे अल्पकालीन हैं वरना वे दीर्घकालीन हैं। इस प्रकार के आंकड़ों की व्याख्या करते समय हमको पर्याप्त सजगता रखने की आवश्यकता है क्योंकि इससे स्पष्टत: पूंजीगत आवागमन का काल ज्ञात नहीं हो पाता।

(२) पूंजी के वर्गीकरण का एक अन्य आधार यह है कि भाग लेने वाले देशों के बीच एकरूपता रहती है। पूंजी की गतिशीलता या आवागमन प्रायः गैर-सरकारी व्यक्तियों या व्यापारिक फर्मों के बीच होता है। कुछ अन्य पूंजीगत आवागमनों में सरकारी निकाय जैसे केन्द्रीय बैंक आदि भी हो सकते हैं। पूंजीगत आवागमनों को हम सम्बन्धित-पक्षों की प्रकृति के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं।

(३) इसका तीसरा आधार पूंजी का आयात करने वाले देश द्वारा अपनाये गए उत्तरदायित्वों की प्रकृति है। यदि वह देश विदेशों को बाण्डस् बेचता है तो वह सामयिक रूप से ब्याज का भुगतान करेगा और समय पूरा हो जाने पर मूल-धन को वापिस करेगा। ऐसा भी हो सकता है कि सम्बन्धित देश को समय-समय पर भुगतान करने की आवश्यकता न पड़े अथवा मूल-धन को लौटाने की जरूरत न पड़े क्योंकि किए जाने वाले भुगतान की मात्रा उस लाभ के आकार पर निर्भर करेगी जो सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा कमाया जाता है। इस प्रकार यह उत्तरदायित्व कम कठिन है। वैसे कभी-कभी भुगतान किये जाने वाले धन का आकार इतना अधिक हो जाता है जो मूलधन से भी आगे निकल जाता है।

पूंजी के आवागमन के विभिन्न रूपों को हम निम्न प्रकार वर्णित कर सकते हैं—

(१) दीर्घकालीन पूंजीगत आवागमन
(Long Term Capital Movements)

पूंजी के दीर्घकालीन आवागमन सरकारी, गैर सरकारी या मिलेजुले किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। इनमें स्वामियों की समानता या जमा कर्त्ताओं के दावे भी निहित रह सकते हैं। इस प्रकार के लेन-देनों की कुछ अन्य विशेषताएं भी होती हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि इस अर्थ-

व्यवस्था के व्यक्तिगत उद्यम में एक देश का निगम दूसरे देश के वित्तीय बाजारों में बॉण्ड्स का व्यवसाय करता है। इस प्रकार का व्यवसाय प्रायः देश के वित्तीय केन्द्र द्वारा संचालित किया जाता है। जो बॉण्डस् विदेशी बिक्री के लिए प्रसारित किए जाते हैं वे खरीदने वाले अथवा उधार लेने वाले देश की मुद्रा में भी अभिव्यक्त होते हैं।

यद्यपि अधिकांश महत्वपूर्ण दीर्घकालीन गैर-सरकारी पूंजी के आवागमन राष्ट्रीय सीमाओं के पार प्रतिभूतियों की बिक्री का रूप धारण करते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त एक ऐसा रूप भी है जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है और जिस पर अधिक विचार करना उपयुक्त है। तकनीकी रूप से इस प्रकार की खरीदारी प्रतिभूतियों की खरीददारी से भिन्न होती है किन्तु आर्थिक दृष्टि से दूसरा महत्व समान होता है। इस प्रकार के प्रबंध को प्रत्यक्ष व्यय कहते हैं जिसमें वित्तीय बाजार की अवहेलना की जाती है। एक देश के निवासी दूसरे देश में स्थित वास्तविक सम्पत्ति या व्यापारिक फर्म को खरीद लेते हैं और उसका प्रबंध या तो वे स्वयं करते हैं या अपने एजेन्टों द्वारा करवाते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान अमेरिकी फर्मों ने दूसरे देशों में अपनी अनेकों शाखाएं खोली। अनेक कारणों से इस प्रकार का व्यय दूसरे व्यय की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगता है। यद्यपि इस प्रकार का व्यय कुछ उद्योगों अथवा देशों तक ही सीमित रहता है फिर भी संयुक्तराज्य अमेरिका के द्वारा अधिकांश गैर-सरकारी व्यय इसी प्रकार से किया गया। इस प्रकार के पूंजीगत आवागमनों का अभिलेख रखना अत्यन्त कठिन होता है। जब तक ये सम्पत्तियां बाजार की प्रतिभूतियों का रूप धारण न करलें उस समय तक इनको रजिस्टर में लिखना कोई सरल काम नहीं है।

(२) सार्वजनिक पूंजीगत आवागमन
(Public Capital Movements)

पूंजीगत आवागमन केवल गैर-सरकारी व्यक्तियों, निगमों या बैंकों के बीच होने वाले लेन-देन का परिणाम ही नहीं हैं। कई बार एक सरकार द्वारा अन्य सरकार को भी ऋण प्रदान किया जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से बहुत महत्वपूर्ण बन गये हैं। कभी-कभी इस प्रकार के कर्जें थोड़े समय के लिए होते हैं किन्तु प्रायः ये दीर्घकालीन कर्जें होते हैं। यदि हम अल्पकालीन पूंजीगत आवागमनों का उदाहरण लेना चाहें तो हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे जहां कि एक देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा दूसरे देश के केन्द्रीय बैंकों को थोड़े समय के लिए कर्जा दिया जाता है। न्यूयार्क का संघीय रिजर्व बैंक, इंगलैण्ड के बैंक के लिए डालर के रूप में

ऋण दे सकता है। ऐसा होने पर इंगलैण्ड का बैंक न्यूयार्क के संघीय रिज़र्व बैंक से उतने ही डालर निकाल सकता है जितने उसे कर्ज में प्रदान किये गये थे।

सरकारों के बीच जो प्रबन्ध होते हैं वे प्रायः दीर्घकालीन प्रकृति के होते हैं। ये कर्जे २५ वर्षों अथवा उससे भी अधिक समय के हेतु लिए जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है वह प्रायः वही होती है जो व्यक्तिगत वित्तीय लेन-देनों में अपनाई जाती है। एक सरकार दूसरे देश के राजकोष से प्रत्यक्ष कर्जा प्राप्त कर सकती है और तब कर्जदार देश के सामान्य बजट में उस कर्जे में ली गयी राशि को रखा जाता है। कर्जे लेने वाले देश का राजकोष या तो अपने ही खाते के अनुसार चल सकता है और या इस प्रकार लिए गये कर्जों की वित्तीय व्यवस्था का स्वयं प्रबन्ध कर सकता है अथवा अपने देश की जनता को कर्ज में ली गयी प्रतिभूतियों को वह बेच सकता है।

कुछ समय से संयुक्तराज्य अमेरिका विश्व का आर्थिक केन्द्र बन गया है। यह विश्व के अधिकांश देशों को ऋण देता है। इस कर्ज का रूप या तो राजकोष के लिए होता है अर्थात अमेरिकी राजकोष प्रत्यक्ष रूप से दूसरे देश के राजकोषों को धन कर्ज में देता है अथवा वह कर्जदान ऐसी संस्थाओं के द्वारा भी किया जा सकता है जिन पर सरकार का स्वामित्व है तथा सरकार द्वारा ही जो प्रारम्भ की गयी हैं। इस प्रकार के कर्ज प्राय: उन सरकारों को दिये जाते हैं जिनके बॉण्ड्स गैर-सरकारी बाजार के लिए अपेक्षाकृत कम आकर्षक होंगे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एक नये प्रकार का सरकारी तथा गैर-सरकारी पूंजीगत आवागमन अस्तित्व में आया है। इनका एक श्रेष्ठ उदाहरण पुनर्रचना एवं विकास के लिए विश्व बैंक द्वारा किये जाने वाले प्रबन्धों में प्राप्त होता है। इसका कार्य यह है कि अपने सदस्यों को कर्ज लेने में सुविधा प्रदान करे। इसके लिए यह बैंक सरकारों को पुनः भुगतान की गारंटी प्रदान करता है। इस प्रकार के पूंजीगत आवागमनों में कुछ विशेषतायें सरकारी होती हैं और कुछ गैर-सरकारी होती हैं और इस प्रकार न तो वे पूर्ण रूप से व्यक्तिगत होते हैं और न अव्यक्तिगत।

(३) अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन
(Short Term Capital Movement)

अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन भी सरकारी, गैर-सरकारी या मिले जुले तीनों प्रकार के हो सकते हैं। इनका सम्बन्ध सम्पत्ति के स्वामी की अपेक्षा प्राय: विभिन्न दावों अथवा ऋण से रहता है। यह इसलिए होता है क्योंकि

वास्तविक सम्पत्ति की सारी बिक्री को दीर्घकालीन पूंजीगत आवागमन के रूप में वर्गीकृत कर दिया जाता है। अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन द्वारा जो विभिन्न दावे किये जाते हैं उनके अनेक रूप हो सकते हैं। सामान्य रूप से एक देश के निवासियों के अल्पकालीन कर्जों में किसी प्रकार की वृद्धि जो अन्य देश के पक्ष में होती है, उसका अर्थ यह होगा कि प्रथम प्रकार के देश ने पूंजी का आयात किया था। इसी प्रकार दूसरी ओर यदि एक देश के निवासियों द्वारा लिया गया अल्पकालीन कर्ज थोड़ा बहुत घटता है तो इसका अर्थ यह होगा कि दूसरे देश ने अल्पकालीन पूंजी का आयात किया है। इसी प्रकार यदि एक देश के आयातकर्त्ता विदेशों से की जाने वाली अपनी खरीददारी को बढ़ा देते हैं और इस कार्य के लिए वे निर्यातकर्ता से अधिक साख प्राप्त करके वित्तीय व्यवस्था करते हैं तो आयातकर्त्ता देश भी पूंजी का आयात करता है।

अल्पकालीन पूंजीगत आयात और निर्यात का एक अन्य रूप यह भी है कि एक देश का केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा के अपने भण्डार को घटा लेता है। इसी प्रकार जब एक देश के व्यावसायिक बैंक दूसरे देश के बैंकों में अपनी जमा रकम घटा लेते हैं तो प्रथम देश को अल्पकालीन आधार पर पूंजी का आयातकर्त्ता माना जाएगा। इन विभिन्न रूपों में पूंजी का आयात व निर्यात अल्पकालीन आधार पर होता रहता है।

अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन कई कारणों से अस्तित्व में आता है। यह कहा जाता है कि वस्तुओं के लेखे में होने वाले सभी लेन-देन अल्पकालीन पूंजीगत आवागमन को प्रोत्साहन देते हैं। उदाहरण के लिए, जब एक आयातकर्त्ता विदेशों से कोई माल प्राप्त करता है तो निश्चय ही उसे उसकी कीमत चुकानी होगी। इसके लिए या तो वह प्रत्यक्ष रूप से भुगतान कर सकता है अथवा निर्यातकर्त्ता से साख प्राप्त कर सकता है। यदि वह प्रत्यक्ष रूप से भुगतान करना चाहता है तो इसके लिए उसे विदेशी मुद्रा चाहिए अथवा वह निर्यातकर्त्ता को, या निर्यातकर्त्ता देश के किसी व्यक्ति को उसके लिए राजी करेगा कि वह आयातकर्त्ता देश की मुद्रा ग्रहण करे। इन विभिन्न सम्भावनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि या तो आयातकर्त्ता देश को अपने विदेशी विनिमय का भण्डार कम करना होगा अथवा निर्यातकर्त्ता देश को अपना भण्डार बढ़ाना होगा। यह भी हो सकता है कि निर्यातकर्त्ता देश आयातकर्त्ता देश के लिए अतिरिक्त साख प्रदान करे। आयातकर्त्ता देश की दृष्टि से इनसे प्रत्येक लेन-देन अल्पकालीन पूंजीगत आयात की रचना करता है। माल अथवा सेवाओं का प्रत्येक आयात अल्पकालीन पूंजी आयात के लिए एक अवसर बन जाता है।

यद्यपि वस्तुओं एवं सेवाओं का व्यापार अल्पकालीन पूंजीगत आवागमनों के लिए एक महत्वपूर्ण अवसर है किन्तु फिर भी यही एक मात्र कारण नहीं है। आधुनिक समय में अधिकांश महत्वपूर्ण पूंजी-आवागमन कुछ भिन्न कारणों से अस्तित्व में आए हैं। उदाहरण के लिए, जब एक फ्रांसीसी अपनी मुद्रा के बदले डालर खरीदता है तो यह जरूरी नहीं कि वह अमेरिकी कार खरीदने के लिए ही ऐसा कर रहा है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह उसके धन को अमेरिकी बैंक में जमा के रूप में अधिक सुरक्षित समझे। इस प्रकार अल्पकालीन पूंजी आवागमन अस्तित्व में आ गया, किन्तु भिन्न कारणों से।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हो सकती हैं जो व्ययकर्त्ता को अपने धन को दूसरे धन में बदलने के लिए प्रेरित करती हैं। कुछ प्राप्त करने की आशाएं कभी-कभी कुछ खोने के डर की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन जाती हैं। यदि हम अभीवर्णित परिवर्तनों का प्रबन्ध कर दें तो प्राप्ति के अवसर बढ़ जाते हैं। जब हम यह देखते हैं कि हमारे देश की अपेक्षा अन्य देशों में ब्याज की दर अधिक है तो हम उस देश को अधिक धन उधार देने में लाभ का अनुभव करेंगे।

पूंजी के आवागमन के अभिलेख की कठिनाइयां

(The difficulties of recording capital movement)

यह कहा जाता है कि वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यापार की व्याख्या करना पूंजी के आवागमन की व्याख्या करने से अधिक कठिन होता है। यह कहना सत्य है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पूंजीगत आवागमन की सही मात्रा का अभिलेख रखना एक अत्यन्त कठिन काम है। जब कोई माल अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके निकलता है तो उसका पता आसानी से लगाया जा सकता है क्योंकि प्राय: अधिकांश देशों में उनकी सीमाओं पर चुंगी कर प्रशासन सक्रिय रहता है जो प्रत्येक वस्तु के आने और जाने को पंजीकृत करता रहता है। जब हम सीमाओं के पार सेवाओं की गति का अनुमान लगाने का प्रयास करते हैं तो मापने का कार्य अधिक कठिन हो जाता है। व्यापार के ये अपरिहार्य भाग इस प्रकार की प्रकृति के होते हैं कि इनको रोकना कठिन होता है। जहाज से सम्बन्धित सेवाएँ कुछ आसानी से मापी जा सकती हैं क्योंकि जहाज की कम्पनियां अपेक्षाकृत कम होती हैं और जो जहाज सेवा प्रदान करते हैं उनको देखा जा सकता है तथा आसानी से उन पर नजर रखी जा सकती है किन्तु विदेशों में यात्रियों द्वारा यात्रा पर कितना खर्च किया जाता है इसका अनुमान लगाना बड़ा कठिन है यद्यपि

यात्रियों की संख्या अधिक नहीं होती फिर भी उनके द्वारा किया जाने वाला व्यय कुछ ऐसा जटिलतापूर्ण होता है जिसका अनुमान लगाना सम्भव नहीं होता।

इसी प्रकार ब्याज के भुगतान को गिनना और भी कठिन होता है क्योंकि हो सकता है कि वे सीमाओं को पार भी न करें और किसी विदेशी बैंक में प्राप्तिकर्त्ता के खाते में जोड़ दिए जाएं। जब कभी उनको डाक द्वारा एक देश से दूसरे देश को भेजा जाता है तब भी वे अवरोध से बच सकते हैं। इस प्रकार दो देशों के बीच जो सेवाओं का लेन-देन होता है उसका अनुमान लगाना कठिन है फिर भी वे कठिनाइयां उन कठिनाइयों से अत्यन्त अल्प होती हैं जो पूंजी के आवगमन का सही-सही अनुमान लगाने मे उत्पन्न होती है। इस प्रकार के अनुमान बहुत सावधानी के साथ लगाने चाहिये। पर्याप्त सावधानी बरतने के बाद भी अनेक कारणों से ये अनुमान पूर्ण-रूपेण सही नही हो सकते।

पूंजीगत आवागमन के अनुमान के तरीके
(Methods of Estimating Capital Movement)

पूंजी की गतिशीलता का अनुमान लगाने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरीकों को काम में लाया जा सकता है। जब प्रत्यक्ष तरीके को अपनाया जाता है तो यह वास्तविक पूंजी के लेन-देन का अभिलेख रखता है। इस प्रकार के पूर्ण अभिलेख मे विभिन्न बाधायें आती है। कुछ देशों मे इस बात पर कोई प्रतिबंध नही लगाया जाता कि एक देश के निवासी विदेशों में कितनी प्रतिभूतियां प्रसारित करते है। अधिकाश देश उस धन का अनुमान लगाने में पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करते हैं जो कि उन्होने विदेशों में स्थित अपनी सम्पत्ति पर लगाया हुआ है। अधिकाँश देश इस बात का भी सही-सही अनुमान नही लगा पाते कि उनके घरेलू बैंकों मे विदेशियों की जमा के अन्तर्गत क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं, ऐसे अनेक तरीके हैं जिन्हें अपना-कर पूंजी एक देश से दूसरे देश में सांख्यिकी अधिकारी की नजरों से बच कर जा सकती है। असल मे जब सरकार इस प्रकार के आवागमन को रोकना चाहती है तो उसके द्वारा साख्यिकी अधिकारियो के स्थान पर पुलिस अधिकारी नियुक्त कर दिये जाते हैं। इन अधिकारियों की पर्याप्त सजगता के बाद भी काली पूंजी का आवागमन चलता रहता है। इस प्रकार पूंजी के आवागमन का अनुमान लगाने के प्रत्यक्ष तरीके अनेक सीमाओं के विषय होते हैं।

अनुमान के कुछ अन्य तरीके भी हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता है और जिनके आधार पर अधिक सही परिणामों तक पहुँचने

की कोशिश की जाती है। इनको हम अप्रत्यक्ष तरीकों का नाम देते हैं। अप्रत्यक्ष अनुमान इस तथ्य पर आधारित होते हैं कि जब एक देश निर्यात की अपेक्षा अधिक माल और सेवायें आयातित करता है तो इस अन्तर का स्पष्टीकरण ऋण के आधार पर किया जा सकता है जो कि वह देश अन्य देशों से ग्रहण करता है। दूसरी ओर, जब एक देश आयातों की अपेक्षा अधिक माल और सेवाओं का निर्यात करता है तो वह देश आवश्यक रूप से एक कर्जदाता या अन्य देशों को पूंजी का निर्यातकर्त्ता बन जाएगा। जब हम एक देश के चालू खाते में यह पाते हैं कि उसने पाँच लाख रुपये का निर्यात और चार लाख रुपये का आयात किया है तो इससे यह सिद्ध होता है कि उस देश ने उस काल में एक लाख रुपये की पूंजी का निर्यात किया होगा। ये अप्रत्यक्ष तरीके प्रत्यक्ष तरीकों की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं प्रभावशील होते हैं।

उपयोगिता होते हुए भी पूंजी के आवागमन लगाने के अप्रत्यक्ष तरीके की सीमायें हैं। इनके द्वारा वह सब कुछ नहीं जाना जाता जो हम जानना चाहते हैं। इनके द्वारा पूंजी के आवागमन के रूप का उल्लेख नहीं किया जाता। इनमें यह नहीं बताया जाता कि पूंजी का आवागमन अल्पकालीन है या दीर्घकालीन, वह सरकारी है अथवा गैर-सरकारी।

पूंजी के आवागमन का अनुमान लगाने के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों ही तरीकों की सीमाओं के कारण इनके अनुमान में सामान्य रूप से यह सिद्धान्त अपनाया जाता है कि पूंजी के जिस आवागमन के सम्बन्धों में अधिक निश्चित आंकड़े आसानी से प्राप्त किए जा सकें, उनके लिए प्रत्यक्ष अनुमान का प्रयोग किया जाए और अन्य पूंजीगत आवागमनों के लिए अप्रत्यक्ष तरीके का प्रयोग किया जाए।

१९३० की महान् आर्थिक मन्दी से पहले पूंजी के आवागमन का अनुमान लगाने की कठिनाइयां विशेष रूप से महत्वपूर्ण थीं। इस सरलता के युग में कोई भी व्यक्ति अपनी मुद्रा को इच्छानुसार किसी भी विदेशी मुद्रा में बदलने के लिए स्वतन्त्र था। उस पर न कोई प्रतिबन्ध था और न ही उसको किसी को सूचना देनी पड़ती थी किन्तु उस समय भी पूंजी के आवागमन के सही आंकड़े प्राप्त करना असम्भव था। आर्थिक मन्दी और उसके बाद के काल में अधिकांश देशों में विनिमय-नियंत्रण की किसी न किसी प्रणाली को अपना लिया गया। आज अधिकांश देशों में वहां के निवासियों को विदेशी प्रतिभूतियां अथवा सम्पत्ति खरीदने से या तो रोक दिया जाता है अथवा उनकी खरीददारियों को सरकार द्वारा अभिलेखित किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक खरीददारी का अभिलेख रखा

जाएगा फिर भी अधिकांश आवागमनों पर नियंत्रण और प्रतिबन्ध लगाए जाएगे। परिणामस्वरूप आजकल पूंजीगत आवागमन के अनुमान पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सही बन गए हैं फिर भी सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि आज भी पूंजी के आवागमनों के अनुमान पर्याप्त अनिश्चितता रखते है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन का मूल्यांकन

(An Appraisal of International Capital Movements)

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के आवागमन से सम्बन्धित उपर्युक्त विचार-विमर्श के बाद यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है। इसके द्वारा विश्व के उत्पादन की मात्रा को बहुत कुछ बढ़ा दिया जाता है। इसे अपनाकर ऐसा प्रयास किया जाता है कि विभिन्न देशों के बीच पूंजी का अधिक से अधिक वितरण हो सके। विभिन्न देशों के बीच पूंजीगत कोषों को किस प्रकार वितरित किया जाय? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे कई अन्य प्रश्न भी उठते हैं जैसे क्या अर्द्ध-विकसित देशों को सम्पूर्ण पूंजी का केवल एक भाग मात्र ही प्रदान किया जाए? क्या पश्चिमी योरोप तथा उत्तरी अमेरिका को सबसे बड़ा भाग प्रदान किया जाए? दूसरा प्रश्न यह भी है कि विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजी के आयातों की कीमते ऊंची रखी जाए और विकसित देशों में इन्हें नीचा रखा जाए? इन प्रश्नो का उत्तर ढूंढना पूंजीगत आवागमन के वास्तविक मूल्यांकन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जो कर्जे दिए जाते है वे प्राय: दो उद्देश्यों की पूर्ति करते है:—(१) वे उपभोक्ताओं को वह सब खरीदने के योग्य बना सकते है जो वे अन्य प्रकार से नहीं खरीद सकते क्योंकि उनकी आय सीमित होती है। (२) इनके द्वारा उत्पादन में सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकते है तथा उत्पादन कम कीमत पर और अच्छा हो सकेगा। यदि हम कर्ज को उपभोक्ताओं की दृष्टि से देखें तो यह कहना होगा कि सबसे अच्छा निर्धारण उस समय प्राप्त किया जा सकता है जब समस्त उपभोक्ता एक जैसी कीमत का भुगतान करें। कर्ज का सर्वश्रेष्ठ वितरण वह होता है जिसमें प्रत्येक कर्ज लेने वाला उपभोक्ता समान शर्तों के ऊपर कर्ज ले सके। यदि सभी उपभोक्ता कर्जदारों के लिए ब्याज की दर बराबर न हो तो इसका अर्थ यह होगा कि कुछ उपभोक्ताओं को अन्य की अपेक्षा खरीदे गये माल के लिए अधिक भुगतान करना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपभोक्ता वस्तुओं का उपभोक्ताओं के बीच वितरण इतना कुशल नही होता जितना कि यह होना चाहिए। यदि

माल सभी उपभोक्ताओं को समान मूल्यों पर प्राप्त कराया जा सके तो कल्याण मैं वृद्धि होती है। यही बात व्यापारिक उद्यमों पर भी लागू होती है। यदि हम यह चाहते हैं कि व्यापारिक उद्यमों के बीच पूंजीगत कोषों को अधिक से अधिक मात्रा में निर्धारित किया जाए तो इसके लिये यह आवश्यक है कि सभी व्यापारिक उद्यमों के लिए पूंजीगत कोषों की कीमत एकसी होनी चाहिए।

विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजी का आदर्श-वितरण वह माना जाएगा जिसके अन्तर्गत कुछ मूलभूत मापदण्डों को आधार मान कर चला जाए। विभिन्न देशों में धन की जो आवश्यकता होती है उसकी व्यापकता के आधार पर ही धन का वितरण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों में ऋण लेने से सम्बन्धित जोखिम की मात्रा को भी ध्यान में रखना होगा। उसके आधार पर ही ब्याज की दर को निर्धारित किया जाएगा। ब्याज की दरों में समय-समय पर परिवर्तन भी किया जा सकता है। जब आय का छोटा सा भाग कुछ देशों को जाय और दूसरे देश उससे बहुत कुछ कमाने लग जाएं तो ब्याज की दरों में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी अनेक तत्व हो सकते हैं। कुछ देशों में ऐसी चीजें अधिक उत्पादित की जाती हैं जिनका सामाजिक मूल्यांकन बाजार के मूल्यांकन की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा या तो सहायता दी जाती है अथवा अधिक कर लगाए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रायः ऐसा ही होता है। जिस देश में उपयुक्त उत्पादन किया जा सके उस देश के लिए कर्जा विशेष रूप से आसान शर्तों पर दिया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कर्जों द्वारा एक देश के आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है। यदि कर्जा शीघ्र किसी रचना करने के उद्देश्य के लिए दिया जाता है तो कर्ज लेने वाले देश की अर्थ-व्यवस्था को इससे अनेक लाभ प्राप्त होंगे। जब ऐसी स्थिति बनाली जाती है जिसमें ब्याज की दरें समान हों तो इसके परिणामस्वरूप एक अर्थ-व्यवस्था का प्रसार पर्याप्त प्रोत्साहित रूप से होता है। ब्याज की एक दर विभिन्न देशों के बीच पूंजी के वांछनीय वितरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। यह दर प्रायः हमेशा एक-रूप नहीं होती वरन् इसके विपरीत यह देशों के बीच विभिन्नता भी स्थापित करती है।

११

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक एवं उसकी संयुक्त संस्थायें

(THE INTERNATIONAL MONETARY FUND, WORLD BANK AND ITS AFFILIATES)

"अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में
अधिक व्यवस्थित आचरण को प्रोत्साहित करना था और इस
प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद उस अव्यवस्थित मुद्रा
और विनिमय दर की स्थिति को दोहराने से
रोकना था जो युद्ध के बीच के काल की
विशेषता थी।"

—वाल्टर क्रॉज

"महत्व इस बात का नहीं है कि बैंक स्वयं क्या उधार देता है
किन्तु उन तरीकों का है जिनमें यह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय
रूप से निवेश के विकास को प्रोत्साहित कर सकती है।"

—यूगेन आर० ब्लैक

"The IMF was intended to promote more orderly
conduct in the international monetary field,
and thereby to prevent a repetition in the
post world-war II years of the Chaotic
Currency and exchange rate
conditions which had charac-
terized the inter-war
years."

—Walter Krause

"The emphasis...............is not on what the Bank
itself can lend, but on ways in which it can
stimulate the growth of investment natio-
nally and internationally."

—Eugene R. Black, President of the IBRD

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक एवं उसकी संयुक्त संस्थायें

(International Monetary Fund, World Bank and its Affiliates)

द्वितीय विश्व-युद्ध और प्रथम विश्व-युद्ध के मध्यवर्ती काल से संसार के देशों ने यह महसूस किया कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग जरूरी है। इसके अभाव में एक देश अपना समुचित आर्थिक विकास करने में प्रायः असमर्थ रहता है। १९३९ में युद्ध छिड़ने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के क्षेत्र में अस्तव्यस्त स्थिति उत्पन्न हो गयी थी और इसलिए यह अनुभव किया गया कि विश्व बाजार में आई हुई कठिनाईयों को दूर करने के लिए कोई महत्वपूर्ण कार्य किया जाए। इस काल में संसार के देशों ने अपनी आर्थिक अस्थिरता एवं अन्य गम्भीर परिस्थितियों से छुटकारा पाने के लिए अनेक सम्मेलन बुलाए। तात्कालीन परिस्थितियों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रारूप तैयार करने में महत्वपूर्ण प्रभाव ड़ाला।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की पृष्ठभूमि

(Background of International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का जन्म जिस पृष्ठभूमि का परिणाम है, उसने इसके प्रारूप को निश्चित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। १९३० की आर्थिक मन्दी के परिणाम-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत कुछ कम हो गया था क्योंकि विश्व के विदेशी विनियम बाजारों में विभिन्न मुद्राओं की मांग और पूर्ति के सम्बन्ध में गम्भीर परिवर्तन हो गये थे। मुद्राओं की मांग पूर्ति की असन्तुलित परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए सरकारों ने इन तीन में से किसी एक को अपनाया—

(१) जिस देश में पर्याप्त सोने और विदेशी मुद्रा का भण्डार था उसने इन्हीं के रूप में बड़े-बड़े भुगतान किए ताकि स्थायी विनिमय दर को प्राप्त किया जा सके,

(२) विनिमय दरों को मन्द एवं लोचहीन बनने दिया जाए, और

(३) विनिमय की खरीद और बिक्री पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। इन तीनों प्रक्रियाओं को क्रमिक रूप से काम में लिया गया। जब सुरक्षित भण्डार समाप्त होने लगता था तो विनिमय दरों को लोचशील होने दिया जाता था अथवा विनिमय प्रतिबन्ध लगाए जाते थे।

अनुकूल परिस्थितियां:—(१) जिन देशों में सोने अथवा विदेशी विनिमय के भण्डार अधिक थे, उनकी स्थिति काफी मजबूत थी इसलिए उनकी विदेशी विनिमय की दर में स्थायित्व बना रहा। संयुक्तराज्य अमेरिका और फ्रांस आदि को ऐसे देशों का उदाहरण माना जा सकता है। इन देशों के अतिरिक्त दूसरे देशों में विदेशी विनिमय की दरों का स्थायित्व नहीं रह सका। यही कारण है कि विभिन्न देशों को यह महसूस होने लगा कि मुद्रा के बड़े भण्डार न केवल राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए वरन् संकटकालीन स्थिति में देश को विदेशों की असाधारण मांगों का सामना करने के लिए तथा विनिमय दरों को स्थाई बनाने के लिए भी महत्वपूर्ण बन जाते हैं। समय-समय पर इन सुरक्षित भण्डारों की सहायता के लिए विदेशी कर्ज और साख की भी सहायता ली जाती है किन्तु इस सहायता का पहले से अधिक महत्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्था की आवश्यकता महसूस की गयी।

(२) दूसरी परिस्थिति यह थी कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विभिन्न देशों ने आर्थिक स्थिरता और रोजगार के क्षेत्र में जो नीति अपनाई वह स्वर्ण मान (Gold Standard) के अनुकूल नहीं थी। युद्ध के कारण विभिन्न देशों के स्वर्ण कोष कम हो जाने से अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा को प्रारम्भ किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप मूल्यों में भारी उतार-चढ़ाव आने लगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर्याप्त असुविधाजनक बन गया। ऐसी स्थिति में विभिन्न देशों द्वारा पारस्परिक समझौतों के माध्यम से मुद्राओं की दरें तय की गयीं। उदाहरण के लिए, सितम्बर, १९३६ में अमेरिका, फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन ने एक दूसरे की सहमति के बिना अपनी विनिमय दरों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया।

(३) आर्थिक अस्थिरता की स्थिति में विभिन्न देशों के बीच गला काट प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी। जब कोई देश मुद्रा का अवमूल्यन करके अपने निर्यात में वृद्धि करने का प्रयास करता था तो दूसरे देश द्वारा उसके उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए आयातकर लगा दिए जाते थे। इसके परिणाम स्वरूप भी विनिमय दर पर्याप्त अस्थिर बन गयी और सभी देशों का विदेशी व्यापार घटने लगा।

(४) द्वितीय विश्व-युद्ध ने विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था को और भी खराब बना कर स्थिति को बदतर कर दिया।

(५) युद्ध के कारण पुनर्वास एवं पुनर्निर्माण की जो गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हुईं उनको सुलझाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग आवश्यक था। विदेशी व्यापार के सन्तुलित विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के सन्तुलित प्रवाह द्वारा ही ये समस्याएं सुलझाई जा सकती थीं।

१६३० की आर्थिक मन्दी से छुटकारा पाने के लिए विभिन्न देशों ने विदेशी विनिमय की बिक्री और खरीद पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए। इनका उद्देश्य विनिमय का स्थायित्व प्राप्त करना एवं राशन व्यवस्था के माध्यम से मूलभूत आयातों के लिए विनिमय प्रदान करना था। विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धों केपरिणाम स्वरूप कुछ देशों के माल के प्रति स्वाभाविक रूप से असमानता स्थापित हो गयी। जिनके पास विदेशी मुद्रा की कमी थी उनके विपक्ष में व जिनके पास नहीं थी, उनके पक्ष में नीतियां अपनाई गयीं। इन प्रतिबन्धों द्वारा घरेलू उद्योगों की रक्षा भी की जा सकती थी तथा राजनीतिक एवं अन्य प्रकार के लक्ष्यों की साधना भी। विनिमय पर लगाए गये प्रतिबन्ध इतने दोषपूर्ण थे कि उनके स्थान पर अन्य प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय उपाय की आवश्यकता महसूस करना स्वाभाविक था; यद्यपि किसी भी अन्य उपाय द्वारा समस्त बुराइयों को दूर करने की आशा नहीं की जा सकती थी।

१६३० के दौरान विभिन्न देशों मे यह व्यवहार अपनाया गया कि लेन-देनों के लिए अलग अलग विनिमय दरें लागू करने की पद्धति अपनायी गई। कुछ मूलभूत आयातों के लिए उपयुक्त दरें और आरामदायक वस्तुओं के लिए अनुपयुक्त रखी गयीं। इस प्रक्रिया में भी अनेक बुराइयों के पैदा होने की सम्भावना थी। इनको अपनाने से व्यापार में पर्याप्त जटिलता पैदा हो गयी और एक जैसी दर पर आधारित स्वतंत्र विनिमय व्यवस्था पर लौटना असम्भव बन गया।

१६३० के परवर्ती काल में प्रशुल्कों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनेक नये प्रतिबन्ध और सीमाएं लगाई गयीं। व्यापार की समस्याएं विभिन्न आर्थिक समस्याओं का एक रूप बन गयीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १६३० के दौरान जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटा और उसमें विभिन्न समस्याएं आई तथा उन समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न सरकारों ने जो तरीके अपनाए उनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान यंत्र के उपयुक्त कार्य की आवश्यकता स्पष्ट हो गयी। भुगतान सन्तुलन की गलत व्यवस्था के कारण और कुछ मुद्राओं की अपरिवर्तनीयता के कारण भी विश्व उत्पादन और व्यापार कम हुआ। जब भुगतानों की समस्याओं के फलस्वरूप

माल का व्यापार कठिन हो गया तो उसका उत्पादन भी अनावश्यक समझा गया। जब कोई एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की इकाई नहीं थी तो भुगतानों की बहुल व्यवस्था को जरूरी समझा जाने लगा। निर्यातकर्त्ताओं एवं व्यय-कर्त्ताओं को आश्वासन दिया जाना जरूरी था कि वे बिना अधिक कठिनाई के विभिन्न कोषों को अपनी मुद्रा में परिवर्तित कर सकें। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक व्यापारी को ऐसी मुद्रा प्राप्त होती है जिसे वह अपनी मुद्रा में परिवर्तित नहीं कर सकता तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रति उसकी अभिरुचि कम हो जाएगी। ऐसी स्थिति में एक ऐसे वित्तीय यंत्र की स्थापना को आवश्यक समझा गया जो अन्तर्सरकारी सहयोग एवं संयुक्त कार्यवाही पर आधारित हो।

ब्रेटनवुडस् सम्मेलन
(Brettonwoods Conference)

द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त के क्षेत्र में असन्तोषजनक स्थितियों को देखने के बाद विभिन्न विचारकों ने स्थिति को सुधारने की दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचारने की आवश्यकता का अनुभव किया। संयुक्तराज्य अमेरिका ने युद्ध से पूर्व ही अन्य देशों की सरकार के साथ मिलकर नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की रचना के बारे में ऐसी योजनाएं बनाना प्रारम्भ कर दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं व्यय के अधिक एवं स्वतन्त्र प्रवाह के लिए-रचना प्रस्तुत कर सकें। संयुक्तराज्य अमेरिका में मि० हैरी डी० ह्वाइट (Harry D. White) तथा मि० हल (Hull) आदि के नेतृत्व में पुनर्रचना एवं विकास के लिए बैंक जैसे विभिन्न विषयों पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया।

जिस समय संयुक्तराज्य अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक एवं वित्तीय समस्याओं पर विचार-विमर्श चल रहा था उसी समय ये समस्याएं भी ग्रेट ब्रिटेन में विचार का विषय बनी हुई थी। अगस्त १९४२ में वाशिंगटन स्थित ब्रिटिश दूतावास में राज्य एवं कोष विभागों को एक योजना की प्रतिलिपियां वितरित की गयीं जो एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ के प्रस्तावों से सम्बन्धित थी। ये प्रस्ताव जॉन मे नार्डकीन्स (John May Nard Keyns) द्वारा तैयार किए गए थे इसलिए इनको कीन्स योजना (Keyns Plan) के नाम से जाना गया। संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रस्तावों को ह्वाइट योजना (White Plan) के नाम से जाना गया। इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में अमेरिकी एवं ब्रिटिश तकनीकी विशेषज्ञों के बीच अनेक विचार-विमर्श हुए। इन दोनों योजनाओं के अतिरिक्त एक कनाडा द्वारा चलाई गयी कनेडियन योजना भी थी। इन तीनों में प्रथम दो महत्वपूर्ण थी।

कीन्स योजना (Keynes Plan)—लार्ड जे० एन० कीन्स ने ८ अप्रेल, १९४३ में अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ (International Clearing Union) के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। इन प्रस्तावों में एक ऐसी प्रणाली को स्थापित करने को कहा गया जिसके आधार पर स्वर्ण एक सामान्य मापक के रूप में कार्य करे और आवश्यकतानुसार विभिन्न देशों की मुद्राओं का सापेक्षिक मूल्य मालूम किया जा सके। दूसरे, जो विनिमय अवमूल्यन प्रति-स्पर्द्धा के कारण हानिप्रद होता है उसे दूर करने के लिए एक ऐसा व्यवस्थित एवं सर्वसम्मत तरीका निकाला जाए जिसके आधार पर विभिन्न देशों की मुद्राओं का सापेक्षिक मूल्य निर्धारित किया जा सके। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग की पद्धति को अपनाकर दीर्घकालीन पूंजी के विनियोग की व्यवस्था की जाये।

व्हाइट योजना (White Plan)—इस योजना द्वारा अमेरिकी सरकार का दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया गया। मि० व्हाइट मौद्रिक शोध के राजकोष विभाग के सम्भाग के सदस्य थे। इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के बाद दिसम्बर, १९४१ में एक स्मृति पत्र प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था "संयुक्त राष्ट्र स्थायित्व कोष के लिये अमेरिका के सुझाव" (U. S. Proposals for a Stabilization Fund of United and Associated Nations)। इस योजना को १० जुलाई, १९४३ में प्रकाशित किया गया। इसमें पुनर्रचना और विकास बैंक की योजनायें तथा व्यापारिक नीति एवं वस्तु समझौतों से सम्बन्धित प्रस्ताव सम्मिलित थे।

उपर्युक्त दोनों योजनाओं में अनेक समानतायें हैं किन्तु कुछ महत्वपूर्ण मामलों में वे भिन्न भी हैं। दोनों का मुख्य लक्ष्य विनिमय दरों को स्थायित्व प्रदान करना था। दोनों ने इस बात पर जोर दिया कि विनिमय दरों में जो भी परिवर्तन किए जांय वे प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के बाद ही किये जाने चाहिये। इन योजनाओं के अन्तर्गत व्यक्तिगत देशों को उनकी आन्तरिक वित्तीय एवं प्रशुल्क सम्बन्धी नीति निर्धारित करने की स्वतन्त्रता को मान्यता दी गयी।

दोनों योजनाओं के अन्तर्गत सोने के रूप में परिभाषित एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा इकाई की व्यवस्था की गयी। कीन्स योजना में इसे बैंकर (Bancor) और व्हाइट योजना में इसको यूनीटास (Unitas) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को उसके आर्थिक महत्व के आधार पर नियतांश देने की बात कही गयी। प्रस्तावित संगठन के स्रोत क्या हों और सदस्यों को ये किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे, इस सम्बन्ध में दोनों योजनायें भिन्न-भिन्न

थी। अमेरिकी योजना में एक योगदान के रूप में कोष प्रदान करने की व्यवस्था की गयी जिसमें प्रत्येक सदस्य अपने दिये गये नियतांश के आधार पर साधनों का अंश प्रदान करेगा। यदि किसी सदस्य के सामने भुगतानों के सन्तुलन में घाटे की अस्थाई स्थिति उत्पन्न हो जाये तो उसका मुकाबला करने के लिये कुछ शर्तों के अधीन इन स्रोतों को काम में ले सकता था। दूसरी ओर, ब्रिटिश योजना का आधार भिन्न था और इसमें यह कहा गया कि व्यापार करने वाले देश चालू अन्तर्राष्ट्रीय खाते पर अपने कर्जदारों से समाशोधन संघ की किताबों पर साख सन्तुलन प्राप्त करेंगे जो नवीन मुद्रा इकाई (Bancor) के रूप में होगा। बैंकर को सभी सदस्य देशों द्वारा स्वीकार किया जाना था और वे उसे आसानी से हस्तान्तरित कर सकते थे। इस दृष्टि से एक कर्जदार देश अपने आयातों के लिये संगठन की पुस्तक में अपने विरुद्ध ऋण सन्तुलन के द्वारा भुगतान कर सकता था। अपने मौलिक रूप में ब्रिटिश प्रस्ताव ने व्यापारिक देश द्वारा प्रसारित साख की मात्रा पर कोई सीमा नहीं लगाई। इस प्रस्ताव का संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा विरोध किया गया। उसके सुझाव ग्रेट-ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिये।

कीन्स योजना (Keynes Plan) के अनुसार जिस साख सन्तुलन को कुछ समय तक काम में नहीं लाया जाता वह अपने आप ही रद्द हो जाता है। इस प्रकार यदि एक देश अपने चालू खाते में आयात की अपेक्षा भारी निर्यात करता रहेगा तो उसके पास साखों का संग्रह होता रहेगा किन्तु उसे यह साख एक निश्चित तारीख से पूर्व खर्च कर देनी चाहिये नहीं तो वह इनको खो देगा। इसका कारण यह बताया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय लेखों को सन्तुलित बनाये रखने के लिए समायोजन का भार कर्ज देने वाले पर पहिले की अपेक्षा ज्यादा डाला जाना चाहिये। संयुक्तराज्य अमेरिका ने कीन्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

उपर्युक्त दोनों योजनाओं के अन्तर्गत जो प्रमुख भेद थे उनको मिलाने के लिये १९४४ में दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच कई बैठकों का आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त लगभग बीस अन्य देशों के प्रतिनिधियों से भी विचार-विमर्श किया गया। इस सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की योजना बनाई गयी ताकि एक मौद्रिक संस्था तथा सम्भवतः एक बैंक के बारे में सहमति प्राप्त की जा सके। अमेरिका और ग्रेट-ब्रिटेन ने यह माना कि यदि इस प्रकार के सम्मेलनों को वे सफल बनाना चाहते हैं तो उन्हें स्वयं सभी प्रमुख मसलों पर समझौता करना होगा। फलतः दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच वाशिंगटन में अनेक बैठकें हुईं। ब्रिटिश दल का विश्वास था कि प्रस्तावित संस्था के एक सदस्य को यह अधिकार होना

चाहिये कि वह अपने नियतांश के अनुसार संस्था से धन ले सकें। ब्रिटिश दल का नेतृत्व लार्ड कीन्स ने किया था। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका का यह विश्वास था कि संस्था को समस्त लेनदारियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये ताकि यह देखा जा सके कि साधनों का प्रयोग सही उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है अथवा नहीं।

दोनों देशों के बीच अन्य विचारणीय विषयों में एक देश का अपनी ओर से विनिमय दर को बदलने का अधिकार, स्वर्ण में भुगतान योग्य नियतांश की मात्रा, कोष से लिये जाने वाले ऋण का पुनर्भुगतान आदि-आदि थे। ग्रेट-ब्रिटेन तथा अन्य देश संयुक्तराज्य अमेरिका में आर्थिक मन्दी और व्यापक बेरोजगारी से भयभीत थे। उन्होने यह अनुभव किया कि यदि वे अपनी मुद्रा को स्वर्ण अथवा डालर से जोड़ देंगे तो वे आर्थिक मन्दी का विरोध करने में असमर्थ बन जायेंगे और इस प्रकार वे अपनी आय को अमेरिकी पतंग की पूंछ से बांध लेंगे। इसी कारण उन्होंने विनिमय दरों को बदलने के सम्बन्ध में लोचशील उपबन्धों की इच्छा प्रकट की।

संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन और अन्य कुछ प्रमुख देशों के बीच समझौता अप्रेल, १९४४ में हुआ। इसको अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बारे में विशेषज्ञों का संयुक्त वक्तव्य (The Joint Statement by expert on the establishment of an International Monetary Fund) कहा जाता है। इसमें उस योजना की रूपरेखा थी जिसे बाद में ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) में पूरी तरह से क्रियान्वित किया गया। जुलाई, १९४४ में आयोजित किये गये एक सम्मेलन के लिये राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ४४ देशों को प्रतिनिधि भेजने के हेतु आमंत्रित किया। यह सम्मेलन संयुक्त वक्तव्य पर आधारित एक योजना पर विचार करने के लिये ब्रेटन वुड्स, न्यू हेमिस्फियर में होने वाला था। इससे पूर्व ही सत्रह देशों के प्रतिनिधि कुछ अनसुलझे प्रश्नों पर विचार करने के लिये अटलांटिक नगर में मिले। ब्रेटेन वुड्स सम्मेलन में विभिन्न देशों ने यथासम्भव अधिक नियतांश प्राप्त करने में विशेष रुचि दिखाई क्योंकि नियतांश द्वारा ही ऋण लेने के अधिकारों एवं मत देने की शक्ति का निर्धारण किया जाना था। नियतांश का आकार एक देश के आर्थिक महत्व का मापदण्ड बन गया और इसलिये राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न बना दिया गया।

दो सप्ताह तक विभिन्न प्रकार के मतों में समझौते के प्रयास किये जाते रहे और अन्त में सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समझौते के अनुच्छेद तैयार किये। इन अनुच्छेदों ने कोष का मूल चार्टर तैयार किया। इनके प्रभावशाली होने से पूर्व व्यवस्थापिका निकायों की औपचारिक स्वीकृति

आवश्यक थी। जुलाई, १९४५ को अमेरिकी कांग्रेस ने इस कोष में संयुक्त-राज्य अमेरिका के सम्मिलित होने की स्वीकृति प्रदान कर दी। २७ दिसम्बर, १९४५ को तीस देशों द्वारा इन अनुच्छेदों पर हस्ताक्षर कर दिये गये। बाद में अन्य देश भी इसमें सम्मिलित हो गये और इस प्रकार कोष औपचारिक रूप से अस्तित्व में आया। ब्रेटन वुड्स के सम्मेलन में दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं की रचना की गयी। प्रथम तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण तथा विकास बैंक अथवा विश्व बैंक थी। यंग (Young.) के कथनानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का विकास भी कोष के साथ-साथ हुआ और इसके समझौते के अनुच्छेदों पर हस्ताक्षर भी उसी समय हो गये।"[1] इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष दिसम्बर, १९४५ को अस्तित्व में आया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लक्ष्य

(The Objects of I. M F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कई उद्देश्यों को लेकर चला। उसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार की सन्तुलित प्रगति को समायोजित करना था। साथ ही इसे विनिमय की अस्थाई दरों के कुप्रभावों से बचाना और विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धों को ढीला करना था। इसके अतिरिक्त यह प्रत्येक देश में वास्तविक आय एवं रोजगार के उच्च-स्तरों की स्थापना के लिए भी प्रयत्नशील था।

समझौते के अनुच्छेद—१ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विभिन्न लक्ष्यों को स्पष्ट किया गया। इसमें मुख्यतः तीन लक्ष्यों को मान्यता प्रदान की गई है।

(१) विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय प्रबन्धों की स्थापना करना और प्रतिस्पर्धापूर्ण विनिमय मन्दी की स्थिति को दूर करना।

(२) सदस्यों के बीच चालू लेन-देन में भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना में सहायता करना तथा साथ ही विदेशी विनिमय के

1. "The International Bank ......was developed along-side of the fund and its articles of Agreements were signed at the same time."

—J P. Young, The International Economy, 1951, P. 455.

उन प्रतिबन्धों को समाप्त करना जो विश्व व्यापार की प्रगति को रोकते हैं।

(३) पर्याप्त सुरक्षाओं के आधीन सदस्यों को कोष के साधनों को उपलब्ध कराना और इस प्रकार उनमें निश्वास की भावना जागृत करना। इस प्रकार विभिन्न देशों को राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता के लिए हानि पहुँचाने वाले प्रयासों को अपनाए बिना ही उनके भुगतान सन्तुलनों की अव्यवस्था को सुधारने का अवसर देना।

मुद्रा कोष द्वारा उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति के अतिरिक्त भुगतान सन्तुलन की विषमता को दूर रहने के लिए, असन्तुलन की अवधि व अंश को कम करने के लिए, लाभदायक उद्योगों में दीर्घकालीन पूंजी की सहायता प्रदान करने के लिए, अल्पकालीन मौलिक सहायता प्रदान करने के लिए तथा ऐसे ही अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रयास किए जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मूल सिद्धान्त

(Basic Principles of I. M. F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। इन सिद्धांतों का अध्ययन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

(१) कोष के सभी सदस्य-देश अपनी विनिमय दरों को यथासम्भव स्थाई रखने का प्रयास किया करते हैं। वे विनिमय दरों के परिवर्तनों को एक संकीर्ण सीमा के अन्तर्गत करते हैं जो उनके द्वारा स्पष्ट कर दी जाती है। वे उस समय तक अपनी दरों में कोई परिवर्तन नहीं करते जब तक कि यह परिवर्तन एक मौलिक असमतुल्यता को सुधारने के लिए आवश्यक न हो।

(२) एक विनिमय दर का किसी भी प्रकार का समायोजन कोष से विचार विमर्श किए जाने के बाद ही किया जाना चाहिए। छोटे-मोटे परिवर्तनों के अलावा यदि दरों का समायोजन करना है तो वह केवल कोष की सहमति के बाद ही किया जाना चाहिए।

(३) सदस्यों की मुद्राओं के मूल्य सोने के रूप में अभिव्यक्त किए जाते हैं। लेखों को सुलझाने के लिए सदस्यों द्वारा स्वर्ण को स्वीकार किया जाता है।

(४) कोष के पास वित्तीय स्रोत होते हैं जो सदस्यों द्वारा दिए गये योगदान पर आधारित रहते हैं। यह योगदान उनके लिए सौंपे गये

नियतांश पर आधारित होता है। ये स्रोत कुछ सुरक्षा पूर्ण शर्तों के अन्तर्गत किसी भी सदस्य को प्रदान किए जाते है ताकि वह विनिमय की अपनी अस्थाई कमी को पूरा कर सके।

कोष के स्रोतों को लेने के लिए एक सदस्य अपनी मुद्रा को वांछित विदेशी मुद्रा में बदल लेता है। कोष के स्रोतों का लक्ष्य एक देश की सहायता करना है ताकि वह अपने चालू अन्तर्राष्ट्रीय खातों में अस्थाई घाटे की व्यवस्था का सामना कर सके और इस प्रकार विदेशी विनिमय के स्थायित्व को बनाए रख सके। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि एक देश की फसल खराब हो जाने के कारण उसका कृषि सम्बन्धी निर्यात कम हो जाए। ऐसी स्थिति में उस देश के पास पर्याप्त विदेशी विनिमय के स्रोत नही रहेंगे जिनसे वह अपने आयातों का भुगतान कर सके। कोष उस सदस्य देश को विदेशी मुद्रा की कुछ मात्रा खरीदने की अनुमति दे देगा। वह सदस्य-देश अपनी मुद्रा के बदले में डालर, पौंड या फ्रांक आदि बदल सकता है।

कोष के साधनों का उद्देश्य यह नही है कि वे विनियोग के लिए पूंजी प्रदान करें अथवा अन्य दीर्घकालीन उद्देश्यों के लिए पूंजी दें वरन् वे सदस्यों को इसलिए दिये जाते हैं ताकि चालू लेन-देनों में भुगतान करने के लिए सदस्यों की सहायता की जा सकें। इन स्रोतों द्वारा भुगतानों के सन्तुलन में चालू या गैर-सरकारी पूंजी के मदों में परिवर्तन की व्यवस्था की जाती है। मुद्रा कोष के स्रोतों में से कर्ज लेने का एक सदस्य का अधिकार उसके नियतांश के प्रकार से सम्बन्ध रखता है। असाधारण परिस्थितियो को छोड़ एक सदस्य एक वर्ष के अन्तर्गत अपने नियतांश से २५ प्रतिशत से अधिक नही ले सकता और न ही कोष में एक सदस्य देश की मुद्रा उसके नियतांश के २०० प्रतिशत से अधिक रखी जा सकती है।

कोष से उधार लिए गये धन पर ब्याज दिया जाता है। यह ब्याज ऋण की मात्रा और भुगतान के समय के अनुसार बढ़ता है। इस प्रकार प्राप्त धन से कोष अपने कार्य संचालन के खर्च का निर्वाह करता है।

(५) कोष का एक प्रमुख उद्देश्य यह है कि विनिमय के लेने-देनों पर से-प्रतिबन्धों को समाप्त करें, भुगतानों की अपेक्षा ऐसी स्वतन्त्र बहुपक्षीय व्यवस्था कायम करें जहाँ किसी भी मुद्रा को आसानी के साथ दूसरी मुद्रा में बदला जा सके। यही कारण है कि सदस्य-देश इस सम्बन्ध में सहमत होते हैं कि वे समझौते की शक्ति के बिना या कोष की स्वीकृति के बिना चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों के भुगतानों पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लागू नही करेंगे। युद्ध के बाद संक्रमण काल में उन विनिमय प्रतिबन्धों को बने रहने

की अनुमति दी गयी जो पहले स्थित थे, किन्तु यह कहा गया कि इनको ज्यों ही मौका मिले त्यों ही समाप्त कर देना चाहिए। पूंजीगत हस्तांतरणों पर प्रतिबन्धों की स्वीकृति दी गयी। यदि कभी एक विदेशी मुद्रा की मांग बहुत अधिक बढ़ जाए और कोष उसकी पूर्ति में अपने आपको असमर्थ पाए तो वह औपचारिक रूप से उस मुद्रा की कमी की घोषणा कर सकता है। ऐसा होने पर सदस्य देश अस्थाई रूप से उस कम घोषित मुद्रा में लेन-देनों पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं।

(६) सदस्य-देश उस बात पर सहमत थे कि वे कोष में अपनी मुद्रा की मन्दी नहीं आने देंगे। इस प्रकार वे कोष के द्वारा अपनाई गयी अपनी मुद्रा के स्वर्ण-मूल्य को बनाए रखने के बारे में सहमत होते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त मात्रा की पूर्ति भी कर सकते हैं।

(७) कोष केवल सरकारों एवं उनके अभिकरणों से ही सम्बन्ध रखता है उसका विदेशी विनिमय बाजारों के साथ कोई प्रत्यक्ष-सम्बन्ध नहीं होता।

(८) कोष को १४ कार्यपालिका निर्देशकों द्वारा प्रशासित किया जाता है। ये निर्देशक कोष के मुख्य कार्यालयों में निरन्तर अधिवेशन करते रहते हैं। इनमें से पांच की नियुक्ति उन देशों द्वारा की जाती है जो सबसे अधिक नियतांशों से युक्त हैं अर्थात् संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और भारत। शेष का चुनाव अन्य सदस्यों द्वारा किया जाता है। गवर्नरों के मण्डल में एक गवर्नर तथा एक उसका विकल्प होता है। इनकी नियुक्ति प्रत्येक सदस्य द्वारा की जाती है। ये वार्षिक बैठक करते हैं।

उपर्युक्त विचार-विमर्श के बाद संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना करके, एक ऐसी संस्था की स्थापना और ऐसी परिस्थितियां पैदा करने का प्रत्यन किया गया जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार बढ़ सके और घरेलू सम्पन्नता तथा पूरा रोजगार प्राप्त किया जा सके। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व जो नीति सम्बन्धी विवाद एवं राष्ट्रीय प्रयास अपनाए जाते थे उनके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग एवं विचार-विमर्श की स्थापन की गयी। मुद्रा कोष द्वारा विनिमय स्थायित्व का सामान्य नियम बनाने का प्रयास किया गया और जब असन्तुलन को सुधारने के लिए किए गये अन्य प्रयास देश की सम्पन्नता या व्यापार की स्वतन्त्रता के प्रयास को चुनौती प्रदान करने लगे तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत एवं समन्वित विनिमय दरों के समायोजनों की स्वीकृति दी गयी।

मुद्रा कोष का संगठन एवं प्रबन्ध
(The Organisation and Management of I.M.F.)

कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी संचालकों की समिति (Board of Executive Directors), प्रबन्ध संचालक (Managing Directors) एवं अन्य स्टॉफ की सहायता से किया जाता है। गवर्नरों के मण्डल में प्रत्येक सदस्य-देश की ओर से एक गवर्नर होता है। कार्यकारी संचालकों की समिति के २० संचालकों में से ५ उन देशों के होते हैं जिनका सबसे अधिक नियतांश होता है शेष १५ देशों के प्रतिनिधि निर्वाचित किए जाते हैं। प्रबन्ध संचालक को कोष के दिन-प्रतिदिन के कार्य के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है। वह कार्यकारी संचालकों की समिति का अध्यक्ष होता है। प्रत्येक सदस्य देश २५० मत देने का अधिकार रखता है। संचालक मण्डल द्वारा कार्यकारी संचालकों के लिए महत्वपूर्ण शक्तियां हस्तांतरित नहीं की जा सकती; जैसे नये सदस्यों की भर्ती करना, नियतांश का संशोधन करना, सभी सदस्यों की मुद्राओं के मूल्य में परिवर्तन करना, किसी सदस्य को निकालना आदि-आदि।

कोष में सभी सदस्यों को समान मत दने का अधिकार नहीं है, जैसे कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में हुआ करता है। कोष में सदस्यों को साभार मत प्रदान करने का अधिकार होता है। २५० मत प्रदान करने के अतिरिक्त प्रत्येक १ लाख अमेरिकी डालर के लिए एक अतिरिक्त मत प्रदान करने का अधिकार और भी मिल जाता है। इस मत प्रणाली के परिणामस्वरूप मुख्यत: दो देशों के हाथ में शक्ति का केन्द्रीयकरण हो गया है जो सबसे अधिक नियतांश वाले हैं। ये हैं—ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका। ये देश जिस किसी प्रस्ताव के बारे में सहमत होते हैं उसे आसानी से पास करा सकते हैं क्योंकि कुल मतदान शक्ति के ४० प्रतिशत पर इनका अधिकार रहता है।

INTERNATIONAL MONETARY FUND ORGANISATION

(As on Jan. 15, 1970)

(A) Members and Governors

Member Countries	No. of Governors	No. of Alternatives	Governor from India	Alternate from India
115	115	115	L. K. Jha	J. J. Anjaria

(B) Board of Executive Directors

Chairman	No. of Executive Directors	No. of Alternates	No. of Countries for whom the Directors use casting vote
Pierre-paul Schweitzer	20	20	107

(C) Management and Senior Officers

S. No.			S. No.		
1.	Managing Directors.	1	5.	Directors of Various Deptts. and Institutes.	15
2.	Dy. Managing Directors.	1	6.	Secretary for Secretary's Department.	1
3.	The General Counsel.	1	7.	Treasurer for Treasurer's Department.	1
4.	The Economic Councellor.	1			

Source—International Financial Statistics, I.M.F. Volume XXIII, No. 2 Feb., 1970, P.P. IV–V.

कोष की सदस्यता एवं नियतांश प्रणाली
(The Membership and Quota System of I.M.F.)

कोष का सदस्य बनने के लिए प्रत्येक उस देश को उपयुक्त माना गया है जो कि इसके समझौते-पत्र (Articles of Agreement) को स्वीकार करता है। कोष के सदस्यों को सामान्य सदस्य और मौलिक सदस्य दो भागों में विभाजित किया गया है। जो देश ब्रेटन वुड्स के सम्मेलन में उपस्थित थे और जिन्होंने ३१ दिसम्बर, १९४५ से पहले ही संघ का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था, उन्हें कोष का मौलिक सदस्य माना जाता है। इनके अतिरिक्त जो सदस्य बने हैं, उनको सामान्य सदस्य की संज्ञा प्रदान की जाती है। १९६५ तक कोष के सदस्यों की कुल संख्या १०३ हो गयी। जब कोई सदस्य-देश कोष से अलग होना चाहता है तो वह इसके लिए लिखित रूप में सूचना देता है। कोष को यह अधिकार नहीं है कि वह त्याग-पत्र को अस्वीकार कर दे। इसके अतिरिक्त जब कभी एक देश कोष के नियमों का उल्लंघन करता है तो स्वयं कोष भी उसको सदस्यता से वंचित कर सकता है।

सोवियत रूस इस कोष का सदस्य नहीं है। कोष की समस्त पूंजी उसके सदस्यों के नियतांशों के कुल योग के बराबर होती है। सदस्यों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों कोष की पूंजी भी बढ़ती है। एक व्यवस्था के अनुसार कोष के द्वारा प्रति पांचवें वर्ष सदस्य देशों के अभ्यंशों के बारे में विचार किया जाएगा और यदि वह आवश्यक समझे तो उनमें पुनर्विचार का प्रस्ताव कर सकता है। इसी प्रावधान के अनुसार कोष ने १९५८ की अपनी दिल्ली बैठक में सदस्यों के अभ्यंशों की ५० प्रतिशत की वृद्धि का निर्णय लिया। इस वर्ष कोष की कुल राशि १५ बिलियन डालर थी। १९६६ में जब पुनः विचार किया गया तो प्रत्येक सदस्य-देश के नियतांश में २५ प्रतिशत की वृद्धि करके कुल मात्रा को २१ बिलियन डालर कर दिया गया। प्रत्येक देश को अधिकार है कि वह अपने अभ्यंश में आवश्यकता के अनुसार कमी या वृद्धि कर ले। एक देश कमी की अपेक्षा वृद्धि करने में ही अधिक रुचि लेता है।

अभ्यंश अथवा नियतांश कोष की कार्यवाही तथा संगठन की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखते हैं। नियतांशों के आधार पर ही यह निश्चित किया जाता है कि एक सदस्य-देश कोष के साधनों में कितना योगदान करेगा? इस प्रकार कोष के साधनों की कुल मात्रा का निर्धारण किया जाएगा। यदि कोष के साधनों की मात्रा को बढ़ाना है तो इसके लिए सदस्य देशों के नियतांश में

वृद्धि करनी होती है। नियतांशों का एक अन्य दृष्टि से भी महत्व है और वह इसलिए है क्योंकि इन्हीं के आधार पर यह तय किया जाता है कि कोई भी सदस्य-देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कितनी रकम कितने समय में निकाल सकेगा ? साथ ही एक सदस्य के मताधिकार का निर्धारण भी सदस्य के नियतांश की मात्रा द्वारा किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रधान कार्यालय उस देश में होता है जो इसमें सबसे अधिक नियतांश प्रदान करे। आजकल यह संयुक्तराज्य अमेरिका में है। इस कोष की शाखाएं किसी भी सदस्य देश में खोली जा सकती हैं। कोष के कुल स्वर्ण का आधा अमेरिका में रखा जाता है तथा शेष ४० प्रतिशत उन अन्य चार देशों में जिनका नियतांश सबसे अधिक है और बाकी का स्वर्ण अन्य देशों में जमा किया जाता है।

नियतांशों का निर्धारण कई आधारों पर किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मूल्य, व्यापार का संगठन एवं विभिन्नता, कर्जदाता एवं कर्ज लेने वाले की स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रतिभूतियों का आकार, राष्ट्रीय आय, विदेशी व्यापार का सापेक्षिक महत्व, राजनैटिक स्थिति एवं अन्य ऐसे ही अनेक तत्व। विभिन्न सदस्य देशों के नियतांशों का निर्धारण करने के लिए जिस सूत्र को काम में लिया जाता है --क घोषणा कभी भी कोष द्वारा नहीं की गयी।

मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली
(The Working System of I. M. F.)

मुद्रा कोष के समझौते पर दिसम्बर, १९४५ में हस्ताक्षर किए गए और १९४६ के बसन्त से कोष ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। कोष को अपने विषयों की दृष्टि से कई महत्वपूर्ण कार्य करने थे। जैसे—

(१) **समता दरों का निर्धारण (Establishment of Par Values)**—स्नाईडर के कथनानुसार "कोष के इतिहास में प्रथम प्रमुख कदम इसके सदस्यों की मुद्राओं के प्रारम्भिक समता दरों पर कोष एवं सदस्यों के बीच सहमति थी।"[1] आगे की कार्यवाही करने से पहले यह जरूरी था कि सदस्य देशों की मुद्राओं को प्रारम्भिक समता दरों पर निर्धारण.

1. "The first measure step in the fund's History was the agreement between the fund and its members on the initial par values of its members' currencies."
—Delebert A. Snider, Op. cit. Page-39.

कर दिया जाता। यह कार्य जितना आवश्यक था, उतना ही कठिन भी था। विश्व युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अस्त-व्यस्त कर दिया था और तत्कालीन परिस्थितियों में विभिन्न देश विनिमय दरों को समायोजित करने के लिए तत्पर नहीं थे। इन दरों को अवास्तविक मान लिया गया था। कुछ लोगों का यह विश्वास था कि यदि दरों में किसी प्रकार का समायोजन कर दिया गया तो इससे पुनर्रचना के कार्य में सहायता मिलेगी। अवमूल्यन की प्रणाली राजनीति की दृष्टि से बदनाम हो चुकी थी। यह विश्वास किया जाता था कि अवमूल्यन से जो राजनीतिक अव्यवस्था पैदा होती है, वह साम्यवादी सरकार की रचना का मार्ग प्रशस्त करती है। कोष के सम्मुख यह कोई सरल समस्या नहीं थी क्योंकि कोष अभी नवयुवक था और उसकी सत्ता अपरीक्षित थी। कोष ने यह माना कि कुछ समायोजन होना चाहिए फिर भी इसने उन सभी समता दरों को स्वीकार कर लिया जो इसके सम्मुख प्रस्तुत की गई थीं। इस सम्बन्ध में कोष के सम्मुख दो विकल्प थे प्रथम, कोष द्वारा इस प्रकार के विनिमय दरों का निर्धारण किया जाना ताकि सभी सदस्य देशों के भुगतान सन्तुलन दीर्घकाल में साम्य की स्थिति में आ जांए, यह उस समय सम्भव नहीं था। दूसरे, कोष उस समय स्थित विनिमय दरों को स्वीकार कर लेता और ऐसी व्यवस्था कर लेता कि भविष्य में जरूरत के अनुसार वे परिवर्तित की जा सकें। कोष ने बाद वाले विकल्प को अपनाया।

दिसम्बर, १९४६ में कोष ने विनिमय दरों को प्रारम्भिक स्वीकृति प्रदान की। इस समय ३२ देशों की विनिमय दरों में निर्धारण किया गया। एक देश जब कोष का सदस्य बनता है तो वह अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में अथवा अमेरिकी डालर में व्यक्त करता है। अब तक प्रारम्भिक विनिमय दरों में अनेक समायोजन किए गए हैं। सदस्य देशों का यह दायित्व होता है कि वे सब जब कभी अपनी दरों को समायोजित करें तो कोष के साथ विचार-विमर्श करें और यदि परिवर्तन एक विशेष मात्रा से अधिक है तो उस पर कोष की स्वीकृति भी प्राप्त करें। कुछ अपवादों को छोड़कर विभिन्न देशों ने इस नियम को अपनाया है। कोष द्वारा स्वर्ण के क्रय-विक्रय के लिए एक अधिकतम और निम्नतम सीमा निर्धारित की जाती है। इस सीमा के बीच कोई सदस्य अपनी मुद्रा का अवमूल्यन या अधिमूल्यन कर सकता है। इस प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप विनिमय दरों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं हो पाते और अवमूल्यन का डर भी मिट जाता है।

सितम्बर, १९४९ में जो प्रमुख अवमूल्यनों ने कोष के यन्त्र को एक कसौटी पर रख दिया ; उस समय जब पौण्ड स्टार्लिंग एवं अन्य अनेक मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ तो कोष के साथ विचार-विमर्श किया गया और कोष के

साथ विचार करने के बाद कोष को इसके सदस्यों के साथ निकट रहकर कार्य करना पड़ा। इस सम्बन्ध में जो भी निर्णय होता था वह सदस्यों की राय से होता था। कोष का कार्य तो केवल उस निर्णय को स्वीकृति प्रदान करना था। इस समय एक साथ ही अनेक अवमूल्यनों की घोषणा की गयी किन्तु फिर भी वे अवमूल्यन बहुत कुछ व्यवस्थित रूप में हुए। यदि कोष नहीं होता तो वे इतने व्यवस्थित रूप में कदापि नहीं हो सकते थे। अवमूल्यन के समय और दर के चयन के समय कोष का जो महत्व अनुभव किया गया, उससे भी अधिक वह अवमूल्यन के बाद किया गया। नये सदस्यों के सम्बन्ध में कोष ने कई बार ऐसी समता दरों को मान्यता प्रदान नहीं की है जो उसे अनुपयुक्त लगी। इस सम्बन्ध में सदस्यों के बीच पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ और तब अन्तिम निर्णय लिया गया।

स्पष्ट है कि वास्तविक व्यवहार में कोष द्वारा समता दरों से सम्बन्धित किसी भी ऐसे प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता जो सदस्यों द्वारा सुझाया गया है। असल में कोष विनिमय दरों के स्थायित्व को अधिक महत्व देता है। विनिमय दरों की रचना की उपयुक्तता को इतना अधिक महत्व नहीं देता।

(२) **अल्पकालीन सहायता (Short-term Assistance)**—१९४७ के मार्च में प्रारम्भ होने के बाद मुद्रा कोष उन सदस्यों के साथ मुद्रा के लेन-देन की ओर उन्मुख हुआ जहां भुगतान संतुलन की कठिनाइयां थी। प्रारम्भ से लेकर जून, १९५४ तक इसने अपने २९ सदस्य-देशों को ११४८.९ डालर मिलियन की मुद्रा बेची। इस बिक्री में मुख्य भाग अमेरिकी डालर का था और बैल्जियम के फ्रांक, ग्रेट-ब्रिटेन के पौण्ड आदि की भी कम मात्रा में बिक्री की गई। कोष की मुद्रा की बिक्री का एक बड़ा भाग १९४७, १९४८ और १९५३ में पूरा हुआ। तीनों वर्षों में सदस्यों द्वारा की गई कुल खरीद की मात्रा क्रमशः ४६८, २०८ तथा २२९ मिलियन डालर थी। १९४९ के दौरान खरीददारी केवल १०० मिलियन डालर ही बढ़ी।

भुगतान संतुलनों के घाटे की व्यापकता और काल पर विचार करते हुए यदि कोष द्वारा प्रबन्धित मुद्राओं के लेन-देन पर विचार किया जाय तो भारी अल्प रूप में दिखाई देगा। मुद्राओं के लेन-देन की मात्रा अधिक नहीं थी; इसके लिये तीन कारण उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं:—

(१) कोष के अधिकारियों ने सदस्यों को स्रोत उपलब्ध कराने में प्रतिबन्धों से काम लिया। मौलिक अभिप्राय यह था कि अस्थाई भुगतान संतुलन के घाटे का अनुभव कर रहे सदस्यों को स्वतः ही कोष के स्रोत प्राप्त हो जायेंगे। थोड़े समय बाद ही कोष के अधिकारियों ने सदस्यों के मुद्रा

लेने के अधिकार पर निकट का पर्यवेक्षण प्रारम्भ कर दिया । मुद्रा की बिक्री केवल तब तक ही की जाती थी जब पहले कार्यपालिका निर्देशक सम्बन्धित परिस्थितियों की निकट से परिक्षा करें. और यह सिफारिश करें की सदस्य देश थोड़े ही समय में अपनी भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयों से पार पा लेगा। अधिकारियों द्वारा कोष के स्रोतों पर जो कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था उसक कारण सदस्यों के पास इसके अलावा कोई चारा नहीं रहता था कि वे अनिश्चित काल तक विनिमय प्रतिबन्ध लगाये रखें।

(२) संयुक्तराज्य अमेरिका विभिन्न देशों को व्यापक रूप से डालर की सहायता देने के लिए इच्छुक था और इसलिए कोष पर से अतिक्ति बोझा हलका हो गया। उदाहरण के लिए, पश्चिमी यूरोप के भुगतान संतुलन के घाटों को दूर करने के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका ने मार्शल योजना प्रारम्भ की जिसके माध्यम से १९४८-५१ के काल में करोड़ों डालर की सहायता प्रदान कर दी गई। मार्शल योजना में भाग लेने वाले देश अपनी डालर की आवश्यकताओं को अमेरिकी ऋण और अनुदानों से पूरा कर सकते थे इसलिए यह कहा गया कि ये देश कोष से अमेरिकी डालर की खरीद के लिए केवल अपवाद रूप में अथवा अकल्पित परिस्थितियों में ही प्रार्थना करें। मार्शल योजना ने १९४९-५२ के वर्षों में सर्वाधिक सहायता प्रदान की थी और इसी कारण ये वर्ष कोष द्वारा की जाने वाली मुद्रा की बिक्री के लिए सबसे कम महत्वपूर्ण थे। कोष द्वारा इन वर्षों में बहुत कम मुद्रा बेची गई।

(३) युद्धोत्तर काल में संतुलन के घाटे बढ़े भी थे। अतः निरन्तर ऐसी स्थिति में कोष के साधनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। कोष के साधन केवल तब ही प्रयुक्त किये जा सकते थे जब सम्बन्धित देश के सामने भुगतान संतुलन की घाटे की स्थिति अस्थाई हो। १९४७ और ४८ में कोष के स्रोतों का जो व्यापक प्रयोग किया गया वह इसी आधार के विश्वास पर किया गया था कि कठिनाइयां केवल अल्पकालीन प्रकृति की हैं किन्तु १९४९ तक ये अस्थाई प्रकृति की दिखने वाली कठिनाइयां दीर्घकालीन प्रकृति की दिखाई देने लगी। कोष के सिद्धांत के अनुसार दीर्घकालीन घाटे की स्थिति का मुकाबला मुद्रा का अवमूल्यन करके करना चाहिये न कि लगातार कोष से मुद्रायें खरीद कर। युद्धोतर वर्षों में भुगतान संतुलनों में घाटे की स्थिति रहने के कारण विनिमय नियन्त्रण लगाना आवश्यक बन गया और इसलिये कोष से मुद्राओं को खरीदने की आवश्यक कम हो गई।

कारण चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु परिणाम यह है कि कोष ने जो आशायें की थीं वे पूरी न हो सकीं। कोष का लक्ष्य था कि वह अपने सदस्यों की विनिमय नियन्त्रण हटाने में सहायता करेगा और इस प्रकार वह उनको

बहुपक्षीय आधार पर व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित करेगा जिसमें मुद्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध न हों। कोष अपने प्रयासों के बावजूद भी इस उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल नही हो सका।

(३) **विनिमय दर समायोजन(Exchange Rate Adjustment)**—कोष द्वारा विनिमय दर के समायोजन की दृष्टि से भी कार्य किया जाता है। इस दृष्टि से कोष ने जो कार्य किये उनमें दो मामले उल्लेखनीय हैं :—प्रथम, १९४८ में फ्रांस ने फ्रांक का अवमूल्यन कर दिया। दूसरे, १९४९ में ग्रेट-ब्रिटेन ने पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया।

(१) द्वितीय विश्व-युद्ध के तुरन्त बाद फ्रांस की बढ़ती हुई अवस्फीति के कारण उसकी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। दूसरे देशों की अपेक्षा यहां कीमतों का स्तर बढ़ा तो निर्यात घटे और इसलिए मुद्रा विनिमय नियन्त्रण के होते हुये भी अत्यन्त अल्प रह गई। ऐसी स्थिति में देश को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। इसके अतिरिक्त इसने भेद-भाव पूर्ण बहुल विनिमय दर अपनाई। यह इसलिये किया गया था ताकि डालर क्षेत्र से आयात को हतोत्साहित किया जा सके और निर्यात को प्रोत्साहित किया जा सके। कोष ने मुद्रा के अवमूल्यन का तो विरोध नहीं किया, किन्तु भेद-भाव पूर्ण विनिमय दर का विरोध किया, क्योंकि इससे अन्य देशों को भी ऐसा ही कदम उठाने की प्रेरणा मिल सकती थी। कोष द्वारा अधिकृत रूप से मना करने पर भी फ्रांस ने जनवरी, १९४८ में अवमूल्यन कर दिया तो कोष ने तुरन्त ही यह घोषणा की कि फ्रांस अपनी मुद्रा में अनाधिकारी परिवर्तन करने का दोषी है।

फ्रांस में अवमूल्यन के दो परिणाम हुये। प्रथम, संयुक्तराज्य अमेरिका से आयात घटे और निर्यातों को प्रोत्साहन मिले। दूसरे, इसके कारण एक अव्यवस्थित भेदक दरों की स्थिति पैदा हो गई जिसके कारण अमेरिकी खरीदार ब्रिटिश माल को उस समय अधिक सस्ता खरीद सकते थे जबकि वे सीधे ग्रेट-ब्रिटेन से न खरीद कर फ्रांस के माध्यम से खरीदते। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रेट-ब्रिटेन और अन्य देशों की डॉलर की आय मारी गई और वे डॉलर के स्थान पर फ्रांक (Francs) खरीदने की स्थिति में आ गये।

(२) कोष के जन्म के बाद दूसरा महत्वपूर्ण अवमूल्यन ब्रिटिश पौण्ड स्टर्लिंग का हुआ। २८ गैर-डॉलर देशों और प्रदेशों की तुलना में स्टर्लिंग का मूल्य बदल दिया गया। यह अवमूल्यन मुद्रा कोष की स्वीकृति के बाद हुआ था १९४८ में संचालक मंडल को प्रस्तुत किये गये मुद्राकोष के प्रतिवेदन में यह कहा गया था कि ब्रिटेन को गैर-डालर क्षेत्रों में कीमतें बढ़ा लेनी चाहिये, ताकि एक संतुलन स्थापित हो सके और डालर की कमी को पूरा किया जा

सके । ब्रिटेन, कनाड़ा तथा अमेरिका के अधिकारियों में विचार-विमर्श होने के बाद १८ सितम्बर, १९४९ को पौण्ड का ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया गया। उसके बाद विभिन्न देशों में अवमूल्यन हुये। ये देश विश्व व्यापार के कुल योग का लगभग ६५ प्रतिशत थे। इस कदम को उठाये जाने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का तरीका अधिक संतुलित हो गया। वैसे भुगतान संतुलन की स्थिति को सुधारने में दूसरे कुछ तत्वों ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया है।

(४) **कोष के स्रोत का प्रयोग (The Use of Fund Resources)**— कोष के पास जो भी साधन स्रोत होते हैं उनका प्रयोग विभिन्न सदस्य देशों द्वारा किया जाता है ताकि वे अपने भुगतान संतुलन में पैदा हुई अस्थाई घाटे की व्यवस्था को पूरा कर सकें। यदि कोष द्वारा ऐसी स्थिति में सहायता न दी जाए तो वह विनिमय दर में कमी करने अथवा विनिमय नियन्त्रण के उपाय अपनाने के लिए बाध्य हो सकता है। कोष के साधन स्रोतों का प्रयोग किस प्रकार किया जाए? इस प्रश्न पर पर्याप्त वाद-विवाद रहा है। जब एक देश कोष के साधन स्रोतों को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करता है तो उस पर किन मापदण्डों का प्रयोग करना चाहिए इस प्रश्न पर अलग-अलग मत प्रकट किये गये।

युद्धोत्तर वर्षों में जो विशेष अस्त-व्यस्तता कायम हुई, उसमें कोष के साधन-स्रोतों को कितना प्रयुक्त किया जाना चाहिए? यह अब तक विवाद का प्रश्न बना रहा। एक पक्ष का यह कहना था कि सहायता के मापदण्ड उदार होने चाहिये और सदस्यों को सहायता प्राप्त करने का अधिकार बिना किसी शर्त के होना चाहिये। तर्क दिया गया कि एक सदस्य को सहायता प्राप्त करने का अधिकार अपनी मुद्रा की प्रतिभूति का ही एक भाग मानना चाहिये। यह कहा गया कि कुछ कम से कम मापदण्ड ऐसे निर्धारित कर देने चाहिये जिनके आधार पर बुराइयों के विरुद्ध कोष की रक्षा की जा सके, किन्तु फिर भी कोष के साधन स्रोत सामान्य रूप से सभी सदस्यों के लिए मुक्त होने चाहिये, क्योंकि सदस्य देश ही समझौते-पत्र द्वारा निर्धारित सीमाओं में अपनी मांग को निश्चित कर सकता है। व्यक्तिगत रूप से कोष से मुद्रा निकालने पर कोष को बहुत कम स्वेच्छा प्रदान की जानी चाहिए।

इस सम्बन्ध में दूसरे समूह का कुछ भिन्न विचार है। संयुक्तराज्य अमेरिका आदि विभिन्न देशों का विचार है कि भुगतानों के सन्तुलन की व्यापक एवं स्थाई अव्यवस्था में कोष के साधनों का प्रयोग पर्याप्त सावधानी के साथ करना चाहिये ताकि साधन स्रोत समाप्त न हो जायें और कोष की प्रवाहशीलता बनी रहे। इस विचार को ध्यान में रखते हुये ही धन निकालने

के समस्त प्रार्थना-पत्रों की सावधानी से छानबीन करनी चाहिये और यह देखना चाहिये कि क्या वे समझौते-पत्र द्वारा प्रस्तावित मापदण्डों को पूरा करते हैं ? इस प्रकार संयुक्तराज्य अमेरिका ने केवल अस्थाई सहायता का समर्थन किया।

जब समझौते-पत्र का प्रारूप बनाया गया तो यह नहीं सोचा गया कि सदस्य-देश अपने भुगतानों के सन्तुलन में लगातार भारी घाटे की स्थिति में रहेंगे। यह माना गया था कि सन्तुलन की स्थापना के लिए तुरन्त व्यवस्था की जायेगी और अस्थाई संकटकालीन स्थिति के लिये आवश्यक सहायता प्रदान की जायेगी। यदि कोई मौलिक असमतुल्यता है तो उसके लिये उपयुक्त समायोजन, जैसे, अवमूल्यन आदि किया जायेगा और कोष के साधन स्रोतों का प्रयोग नहीं किया जायेगा। इसके अतिरिक्त घाटे की व्यवस्था का मुकाबला करने के लिये विनिमय प्रतिबन्धों द्वारा आयातों की कटौती जैसे प्रयासों को भी उपयुक्त नहीं समझा गया था। युद्ध के बाद विभिन्न देशों में घाटे की व्यवस्था उत्पन्न होती रही। इसका कोई मौलिक उपचार करने की अपेक्षा अधिक से अधिक आयात नियन्त्रण लगाये गये।

उस समय आयातों एवं निर्यातों को बहुत कुछ सरकारों द्वारा विनियमित किया गया था। आर्थिक मन्दियों को बहुत कुछ सरकारी निर्णयों पर आधारित कार्यक्रमों का परिणाम माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि कोष के साधन स्रोत समस्त सरकारों के लिये खोल दिये जाते तो विभिन्न देशों की सरकारें उन्हें उस समय तक प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहती जब तक कि वे समाप्त न हो गये होते। भुगतान सन्तुलन में स्थित घाटे की व्यवस्था संकटकालीन प्रकृति की नहीं होती जो अल्पकालीन हो और जिसे अतिरिक्त धन द्वारा सुलझाया जा सके। किन्तु कभी-कभी तो इसे सन्तुलन की स्थापना के लिये जान-बूझकर चुना अथवा अपनाया जाता है। विभिन्न देश अपने सन्तुलित लेखों की अपेक्षा आयात कार्यक्रमों को अधिक महत्व प्रदान करते हैं ताकि मन्दी की व्यवस्था के लिये धन का प्रबंध किया जा सके। जब कभी घाटे की स्थिति बहुत संकटकालीन बन जाती है तो आयात-नियन्त्रणों को कठोर कर दिया जाता है क्योंकि ऐसा करना अवमूल्यन की अपेक्षा सरल होता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कोष के सामने प्रमुख समस्या यह थी कि उस समय की परिस्थितियों में वह कैसे कार्य करे ? ये परिस्थितियां उनसे भिन्न थी जिनकी कल्पना समझौते के पत्र को स्वीकार करते समय की गई थी।

कोष ने सदस्यों के लिये अपने साधन स्रोत केवल सीमित रूप में ही उपलब्ध कराये। धन को निकालने की अनुमति केवल उन्हीं सदस्यों को दी गई जिन्हें विशेष आवश्यकता हो या जो रचनात्मक कदम उठाने वाले हों अथवा जो घाटे की स्थिति को कम करने में तत्पर हों। ये विभिन्न प्रयास आयातों में प्रतिबन्ध से कुछ अधिक थे। यद्यपि कोष ने काफी सहनशीलता से कार्य किया और विभिन्न सदस्यों को पर्याप्त सहायता प्रदान की फिर भी जो धन निकाला गया वह अपेक्षाकृत कम था और इसलिये कुछ देश असन्तुष्ट हुये। बाद में कोष की उपयोगिता बढ़ाने के लिये तथा इसके बेकार स्रोतों का अधिक से अधिक प्रयोग करने के लिये कोष ने तत्कालीन परिस्थितियों में अपने साधन स्रोतों से सम्बन्धित समस्याओं पर पर्याप्त ध्यान दिया। वैसे अभी तक कोष किसी ऐसे समाधान पर पहुँचने में सफल नहीं हो सका है जो सभी सदस्यों के लिए सन्तोषजनक हो।

कोष के साधन स्रोतों के सन्तोषजनक रूप से प्रयोग करने के मार्ग में अनेक प्रश्न उठते हैं। उदाहरण के लिए, कोष द्वारा जो ऋण दिया जाता है उस पर ब्याज कितना लिया जाए और वह किस प्रकार उगाया जाय ? इसके अतिरिक्त दुर्लभ मुद्रा के सम्बन्ध में क्या प्रबन्ध किया जाय ? पूंजी के आवा-गमन के लिए क्या व्यवस्था की जाय ? आदि–आदि।

कोष के ऋण पर ब्याज :

सदस्य देशों द्वारा जब कोष के साधनों का प्रयोग किया जाता है तो वह उसके लिए कुछ ब्याज के रूप में वसूल भी करता है ताकि अपना खर्चा चला सके। कोष द्वारा संग्रह किए जाने वाले खर्चों तथा ब्याजों को कई भागों में वर्गीकृत किया जाता है। जब एक देश अपनी मुद्रा के बदले में कोष से दूसरे देश की मुद्रा खरीदता है तो कोष उस मुद्रा के एक प्रतिशत का ३/४ भाग ब्याज के रूप में प्राप्त करेगा। कोष को यह शक्ति दी गई है कि वह इस ब्याज को एक प्रतिशत तक बढ़ा सके अथवा आधे प्रतिशत तक घटा सके। जब कोष से सोना खरीदा अथवा बेचा जाता है तो भी सम्बन्धित देश से इसका मेहनताना प्राप्त किया जा सकता है। प्रमुख ब्याज की दरें निम्न प्रकार हैं :—

(अ) यदि ऋण की मात्रा नियतांश के २५ प्रतिशत तक है तो उस पर प्रथम तीन मास तक कोई ब्याज नहीं लिया जावेगा। आगे नौ मास के लिये प्रतिवर्ष आधे प्रतिशत के हिसाब से लिया जायेगा और उसके बाद प्रतिवर्ष आधा प्रतिशत ब्याज बढ़ता जायेगा।

(ब) जब लिया गया ऋण नियतांश के २५ और ५० प्रतिशत के बीच

में है तो आने वाले प्रत्येक वर्ष में आधा प्रतिशत अतिरिक्त ब्याज लिया जायेगा।

(स) नियतांश से अधिक लिये जाने वाले धन की मात्रा जितनी अधिक है उसमें प्रत्येक २५ प्रतिशत अधिकता पर प्रथम वर्ष आधा प्रतिशत और आने वाले प्रत्येक वर्ष में अतिरिक्त आधा प्रतिशत ब्याज लिया जायेगा।

इस प्रकार ब्याज की दर ऋण की मात्रा एवं उसके काल दोनों पर निर्भर करती है। ज्यों-ज्यों मात्रा एवं काल में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों ब्याज की दर भी बढ़ती जाती है। ब्याज ५ प्रतिशत तक लिया जा सकता है। यह कहा गया है कि जो सदस्य-देश कोष के साधनों का उपयोग करता है वह अपने द्वारा खरीदी गयी विदेशी मुद्रा का जल्दी से जल्दी भुगतान कर दे। यह पुनर्भुगतान तीन साल से लेकर पांच साल के बीच में हो जाना चाहिये। पुनर्भुगतान न होने की दशा में ब्याज की दर बढ़ती चली जाती है। जब यह दर चार प्रतिशत हो जाती है तो कोष सदस्य-देश से पुनर्भुगतान की प्रार्थना मात्र करता है। इस प्रार्थना की अवहेलना होने पर कोष द्वारा उस देश को समस्त सहायतायें देना बन्द की जा सकती है। आवश्यकता के अनुसार कोष और सदस्य देश के बीच पुनर्भुगतान के ऊपर समझौता होना परमावश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो कोष को यह शक्ति दी गई है कि वह जैसे उपयुक्त समझे वैसे ब्याज की दर में वृद्धि करे। पुनर्भुगतान एवं ब्याज के सम्बन्ध में ये समस्त कठोर शर्तें इसलिये रखी गई हैं ताकि कोई एक देश कोष के साधनों का अधिक मात्रा में अधिक समय तक बार-बार दुरुपयोग न कर सके।

कोष द्वारा लिये जाने वाले समस्त ब्याज का भुगतान स्वर्ण के रूप में होता है। यदि किसी देश के पास मौद्रिक प्रतिभूतियां (Monetary Reserves) उसके कुल नियतांश के आधे से भी कम है तो वह स्वर्ण में केवल कुछ भाग का भुगतान करेगा और शेष का भुगतान वह अपने देश की मुद्रा में करेगा।

दुर्लभ मुद्रा :

यदि कोष यह अनुभव करे कि एक विशेष मुद्रा दुर्लभ (Scare) बनती जा रही है तो वह अपने सदस्यों को सूचित कर सकता है और उस दुर्लभता के कारण की व्याख्या करते हुये एक प्रतिवेदन प्रसारित कर सकता है। प्रतिवेदन तैयार करने में उस सदस्य-देश का प्रतिनिधि भाग लेगा जिसकी मुद्रा कम होने वाली है। जब कोष के द्वारा एक मुद्रा को दुर्लभ घोषित किया जाता है तो सदस्य देशों को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे कोष की

सहमति से उस मुद्रा के उपयोग के बारे में नियंत्रण लगा सकें। नियंत्रण लगाने का यह अधिकार उस समय समाप्त हो जाता है जब कोष पुनः उस मुद्रा के दुर्लभ न होने की घोषणा कर देता है।

कोष को अधिकार है कि वह इस प्रकार से दुर्लभ घोषित की गयी मुद्रा की पूर्ति दो उपायों से करें (१) कोष यह मुद्रा उस सदस्य राज्य से अथवा उसकी अनुमति से अन्य स्रोत से उधार ले सकता है। वैसे कोई सदस्य राज्य कोष को अपनी मुद्रा उधार देने के लिये अथवा अन्य स्रोत से उधार लेने की स्वीकृति देने के लिये बाध्य नहीं है। (२) कोष उस सदस्य को उसकी मुद्रा सोने के बदले बेचने के लिये भी कह सकता है।

जब कोष यह अनुभव करे कि एक मुद्रा की मांग इतनी बढ़ चुकी है जिसकी पूर्ति वह नहीं कर सकता तो उस मुद्रा को दुर्लभ घोषित करने के बाद विभिन्न सदस्यों के बीच उसकी पूर्ति करते समय सदस्यों की सापेक्षिक आवश्यकताओं, सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों तथा अन्य सम्बन्धित बातों का ध्यान रखेगा।

कोष एवं विनिमय प्रतिबन्ध

(The I. M. F. and Exchange Restrictions)

मुद्रा कोष के सदस्यों का यह दायित्व है कि वे चालू विनिमय के लेन-देन से प्रतिबन्धों को हटाए और बहु मुद्रा एवं असमानतापूर्ण मुद्रा सम्बन्धी व्यवहारों को दूर रखे। युद्ध के बाद जो संक्रमण काल आया, उसमें इन दायित्वों के पालन में छूट दी गयी फिर भी विभिन्न देशों से यह कहा गया कि ऐसे प्रतिबन्धों को यथाशीघ्र हटा लें और यदि कायम रखना चाहे तो कोष से परामार्श करें। यद्यपि विभिन्न देशों ने अपने विनिमय सम्बन्धी व्यवहार के बारे में कोष से परामर्श किया किन्तु कोष ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। कोष के विभिन्न सदस्यों द्वारा प्रयुक्त बहुमुद्रा प्रयासों के क्षेत्र में बहुत कम प्रगति की गयी।

समझौते-पत्र के अनुसार कोष का एक प्रमुख उद्देश्य विदेशी विनिमय के उन प्रतिबन्धों को समाप्त करना है जो विश्व के व्यापार की प्रगति को प्रतिबन्धित करते हैं। कोष ने अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों में यह अनुभव किया कि इस उद्देश्य को प्राप्त करना कठिन है। मि० यंग के कथनानुसार, "विभिन्न देशों के अधिकारियों ने विनिमय प्रतिबन्धों को भुगतान सन्तुलन में आये घाटे की स्थिति का समाधान करने के लिये एक तर्कसंगत साधन माना। विनिमय नियंत्रणों को प्रायः बहुत कुछ स्थाई प्रयास

माना जाता है और विभिन्न देश उनमें छूट देने का विरोध भी करते रहते हैं।"[1]

१६५० के प्रारम्भ से कोष ने वार्षिक रूप से विनिमय प्रतिबन्धों पर एक विस्तृत प्रतिवेदन प्रसारित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार के प्रतिवेदनों की व्यवस्था समझौते-पत्र में कर दी गयी थी। १६५० के प्रतिवेदन में यह कहा गया कि प्रतिबन्धों को मिटाने की दिशा में बहुत थोड़ी प्रगति की गयी है। मई, १६५१ में प्रसारित दूसरे प्रतिवेदन में भी प्रगति की दर के प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया। इस प्रतिवेदन में यह कहा गया कि भुगतान सन्तुलन की परिस्थितियों में सामान्य सुधार की दृष्टि से प्रतिबंधों को हटाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रतिवेदन में कोष के सदस्यों को यह याद दिलाया गया कि समझौते-पत्र के अनुच्छेद XIV के अनुसार कोष के कार्य प्रारम्भ करने (मार्च, १६५२) के पांच वर्ष बाद भी यदि कोई सदस्य अनुच्छेद VII सम्भाग २, ३ या ४ के विपरीत प्रतिबन्धों को बनाए रखना चाहे तो उसे इसके लिये कोष से विचार-विमर्श करना होगा। इस प्रावधान के अनुसार कोष का अपने सदस्य-देशों के साथ निरंतर सम्पर्क बना रहेगा।

कोष विनिमय दर के समायोजनों पर भी विचार करता है। अवमूल्यन को प्रायः राजनीतिक दृष्टि से गलत माना जाता है और इसलिये यह एक सुलझा हुआ प्रश्न है। यदि एक देश बिना किसी विनिमय अथवा आयात प्रतिबन्ध के अन्तर्राष्ट्रीय लेखों को सन्तुलित करना चाहता है और मुद्रा को बदलने योग्य बनाना चाहता है तो उसके लिये अवमूल्यन परम आवश्यक बन सकता है। इन विभिन्न कार्यों के क्षेत्र में कोष अभी भी युवक संस्था है जिसे शक्ति और सम्मान प्राप्त करना है। इसकी वर्तमान प्रगति पर्याप्त कठिन परिस्थितियों के आधीन हो रही हैं।

सदस्यों के सामान्य दायित्व
(General Obligations of Members)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अपने सदस्यों पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाता है। इन प्रतिबन्धों का पालन करना सभी सदस्यों

1. "Officials in a number of countries have been inclined to view exchange restrictions as the logical means of remedying a deficit in a balance of payments. Exchange controls often viewed as a more or less permanent device and countries resist their relaxation."
—J. P. Young, Op. cit. Page, 462.

का सामान्य दायित्व है। कोष के सदस्यों के प्रमुख दायित्व निम्न प्रकार हैं—

(१) जो राशि कोष से उधार ली जायेगी, उसका प्रयोग उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जायेगा जिनके लिये कोष की स्थापना की गयी है।

(२) यदि कोई देश अपने चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों पर विनिमय प्रतिबंध लगाना चाहता है तो इसके लिये उसे कोष की आज्ञा लेनी होगी।

(३) प्रत्येक देश द्वारा स्वर्ण का क्रय और विक्रय उसी दर पर किया जायेगा जो कोष ने निर्धारित की है।

(४) यदि कोई देश अपनी मुद्रा नीति में परिवर्तन करना चाहता है तो इसके लिये उसे कोष से आज्ञा प्राप्त करनी होगी।

(५) एक देश मुद्रा के सम्बन्ध में विभिन्नतापूर्ण नीति अर्थात् बहुपक्षीय मौद्रिक व्यवहार केवल तभी अपना सकता है जबकि या तो समझौते-पत्र में ऐसी व्यवस्था हो अथवा कोष द्वारा मान्यता प्राप्त करली गयी हो। यदि वे प्रतिबन्ध कोष के अस्तित्व में आने से पहले ही कायम थे तो सम्बन्धित सदस्यों को इन प्रतिबन्धों को हटाने के बारे में कोष से विचार-विमर्श करना होगा। कोष ने बहुविनिमय दरों को सरल बनाने में कुछ प्रगति की है। बहु-विनिमय दरों द्वारा प्रशुल्कों एवं अन्य व्यापारिक विषयों पर समझौता-वार्ताओं को जटिल बना दिया जाता है।

(६) प्रत्येक देश के द्वारा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय उसी दर पर किया जायेगा जो कोष द्वारा निर्धारित की गयी है।

(७) कोष के सदस्यों का एक यह भी दायित्व है कि वे कोष के आदेशों का पालन करें और उसके द्वारा मांगी गयी समस्त सूचना भेजने का प्रयास करें।

मुद्रा कोष के कार्य

(The Functions of I. M. F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपने कार्यकाल में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। इसने १ मार्च, १९४७ से मुद्रा के लेन-देन का कार्य प्रारम्भ किया। तभी से कोष ने आवश्यकतानुसार विभिन्न राष्ट्रों को अल्पकालीन ऋण प्रदान किए हैं ताकि वे अपने भुगतान शेषों के अस्थाई असन्तुलन को दूर कर सके। कोष की स्थापना के द्विपक्षीय समझौते की संख्या बहुत कम हो गयी है। इसके अतिरिक्त विनिमय नियंत्रणों की प्रवृत्ति को भी काफी कुछ रोका गया है। आज कोष के आधे से अधिक देश अपनी मुद्राओं का परिवर्तन विदेशी

मुद्रा में कर सकते हैं; यह कोष के ही प्रयासों का परिणाम है। इसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय बाजारों की अस्त-व्यस्तता कुछ समाप्त हो गयी है।

क्रय-विक्रय—कोष ने मुद्राओं के क्रय-विक्रय में उल्लेखनीय कार्य किया। ३० अप्रेल, १९४८ से ३० अप्रेल, १९६५ तक कोष ने अपने सदस्यों को जो मुद्राएं बेचीं उनकी मात्रा ९,३६८.७८ मिलियन डालर थी। कोष वित्तीय वर्ष के अन्त में विभिन्न देशों के साथ ऋण-बचत समझौते भी करता है। विभिन्न सदस्यों द्वारा इस काल के दौरान जो पुनः बिक्री की गयी, वह ५८०२.९८ मिलियन डालर थी। १ अप्रेल, १९६५ से ३० मार्च, १९६६ तक भारत सहित २७ सदस्य देशों ने कोष से लगभग २,६३२.८० मिलियन डालर की मुद्राएं खरीदी।

अक्टूबर, १९६६ से उधार लेने की सामान्य व्यवस्था (General Arrangement to Borrow) प्रारम्भ की गयी। इसके अन्तर्गत दस सदस्य देश इस बात के लिए सहमत हुए कि ६ मिलियन डालर मूल्य की अपनी मुद्राएं कोष को उधार देगे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कोष ने इंगलैंड को ऋण प्रदान किया। इसने स्वर्ण के बदले विभिन्न देशों की मुद्राओं को खरीदा। दिसम्बर, १९६४ में इस प्रकार खरीदी गयी मुद्राओं की मात्रा २५०.० मिलियन डालर थी जबकि मई, १९६५ में यह ४००.० मिलियन डालर हो गयी।

तकनीकी सहायता—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विभिन्न सदस्य देशों को उनकी समस्याएं सुलझाने के लिए पर्याप्त तकनीकी सुविधाएं प्रदान करता है। एक सदस्य देश आर्थिक एवं वित्तीय क्षेत्र में अपनी किसी भी समस्या पर कोष में विचार-विमर्श करता है। इसके अतिरिक्त विश्व की भुगतान सन्तुलन की समस्याओं को भी विचार का विषय बनाया जाता है। विभिन्न समस्याओं पर यह विचार-विमर्श कोष के प्रधान कार्यालय में होता है। इसके अतिरिक्त कोष सदस्य देशों में अपने प्रतिनिधि भेजकर वहां आवश्यक सहायता देने की व्यवस्था करता है।

कोष अपने सदस्यों को तकनीकी सहायता दो प्रकार से प्रदान करता है। प्रथम, कोष के कर्मचारी सम्बन्धित देश में एक सप्ताह से लेकर एक वर्ष या अधिक समय तक रहते हैं ताकि उस देश की समस्या के सम्बन्ध में परामर्श दे सकें। दूसरे, कोष अपने कर्मचारियों के अतिरिक्त बाहरी विशेषज्ञों की सेवाएं उपलब्ध कराने का प्रयास करता है।

कोष का प्रशिक्षणालय—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा सन् १९५१

से ही अपने सदस्य देशों के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण प्रदान करने का कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। यह प्रशिक्षण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, वित्तीय व्यवस्था, अक संकलन एवं विश्लेषण आदि के क्षेत्र में दिया जाता है मई, १९६४ में इस प्रशिक्षण के कार्य को अधिक व्यापक बनाने की गरज से एक प्रशिक्षणालय स्थापित किया गया। प्रशिक्षणालय ने जुलाई, १९६४ से दिसम्बर, १९६४ तक के समय में ६ सप्ताहों वाली दो विचार गोष्ठियां आयोजित की, इससे लगभग १६ देश लाभान्वित हुए। यह प्रशिक्षण अंग्रेजा और फ्रेन्च दोनों भाषाओं में प्रदान किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मूल्यांकन
(Evaluation of I. M. F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कुछ दिशाओं मे पर्याप्त सफल रहा है और उसके कार्य वहां पर्याप्त सन्तोषजनक रहे हैं किन्तु दूसरे क्षेत्रों में उसकी सफलता इतनी अधिक उल्लेखनीय नहीं रही है तथा वहां उसे पर्याप्त निराशा का सामना करना पड़ा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कुछ मूल लक्ष्य प्राप्त कर लिए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं पर विचार-विमर्श एवं सहयोग के हेतु एक यंत्र प्रदान करने के लिए एक स्थायी संस्था स्थापित कर ली गयी है। इसके अतिरिक्त प्रतिस्पर्द्धापूर्ण मन्दी का बहिष्कार और दर स्थायित्व आदि सिद्धान्तों को सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है। अव्यवस्थित विनिमय सम्बन्धों को कम करने की दिशा में भी कुछ सफलता प्राप्त की गयी है।

कोष अपने मूल लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रायः असफल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में अभी तक वही व्यवस्था कायम है जो कोष ने केवल संक्रमण काल के लिए स्थापित की थी। अभी तक न तो भुगतानों की बहुपक्षीय व्यवस्था स्थापित हो पाई है और न ही विश्व व्यापार की प्रगति में बाधा डालने वाले विदेशी विनिमय के प्रतिबन्ध अधिक कम हो पाए हैं। इसके विपरीत युद्ध की समाप्ति के बहुत वर्षों के बाद तक मुद्राएं सामान्य रूप से अपरिवर्तनशील बनी रहीं और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान व्यापक विनिमय नियंत्रणों द्वारा द्विपक्षीय कृत्रिम प्रवाह में बहता रहा। भुगतानों की बाधाओं को कम करने और बहुपक्षीय भुगतानों के सन्तुलन का क्षेत्र प्रसारित करने में जो भी थोड़ी सफलता प्राप्त हुई है उसका श्रेय स्वयं कोष को नहीं वरन् कोष के बाहर किये गये कार्यों को है।

मुद्रा कोष का मूल्यांकन दो बातों के आधार पर किया जा सकता है, कुछ लोगों के अनुसार कोष की आवश्यकता ही नहीं थी। जब से

EXCHANGE TRANSACTIONS IN I. M. F.
(Through Dec. 31, 1969)

Amounts expressed in Millions of U. S. A. Dollars.

(A) Drawings

	1947–1958	1959	1960	1961	1962	1963	1964	1965	1966	1967	1968	1969 to date	Dec., 1969	Amounts total to date
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15
All the Member States.	3224·0	179·8	279·8	2478·5	583·8	333·2	1949·8	2433·5	1448·2	834·7	3552·3	2871·2	599·1	20168·8
India.	300·0	—	—	250·0	25·0	—	—	200·0	225·0	90·0	—	—	—	1090·0

Source—International Financial Statistics, I. M. F., Vol. XXIII, Nov. 2, Feb., 1970, P. 4.

(B) Repayments by Purchase

	1947-1958	1959	1960	1961	1962	1963	1964	1965	1966	1967	1968	1969 to date	Dec. 1969	Total to date	Net Drawings Total
All the Member States.	1303·8	573·2	654·3	753 6	1305·8	267·1	510·2	390·4	480 3	920·5	1178·6	1580·5	93·3	9918 3	5384 6
India.	99·9	—	72·5	127·5	—	25·0	50·0	75·0	125·0	7·5	97·5	148·0	60·0	827·9	262·0

Source—International Financial Statistics prepared by Statistics Bureau of the International Monetary Fund, Vol., XXIII, No. 2, Feb., 1970, P. 5.

यह बना है इसने अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन को प्रोत्साहित करने का भ्रम पैदा किया है जब कि वास्तविकता यह है कि यदि कोई देश इस उद्देश्य की प्राप्ति में सफल होता है तो इसके लिये उत्तरदायी वे कारण होते हैं जो कोष के क्षेत्र से बाहर हैं। यह तर्क मूल मुद्रा तर्क (Keycurrency Argument) कहा जाता है। दूसरी मान्यता यह है कि कोष लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

(१) प्रथम तर्क के मानने वालों के अनुसार, सामान्य मुद्रा स्थायित्व केवल तब ही रह सकता है जब प्रमुख मुद्राओं (अमेरिकी डालर और ब्रिटिश पौण्ड) मे स्थायित्व हो। इन मुद्राओं का स्थायित्व मूल रूप से सम्बन्धित देशों के आर्थिक स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। इसके विपरीत छोटे या कम महत्वपूर्ण देशों की मुद्रा का स्थायित्व दूसरे प्रमुख देशों की मुद्रा के स्थायित्व पर आधारित होता है। जब यह प्रश्न सभी देशों की अपेक्षा केवल कुछ देशों से ही सम्बन्ध रखता है तो इसके लिए मुद्रा जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की रचना करना ठीक नहीं है। कोष द्वारा हस्तक्षेप करने की बजाय प्रमुख देशों के बीच ही घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया जाय और दूसरों देशों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाए कि वे प्रमुख देशों के साथ अपनी मुद्रा को जैसा चाहें समायोजित कर सकें। इस व्यवस्था में डालर तथा स्टर्लिंग की दर निर्धारित की जाएगी, किन्तु इससे अन्य देशों को यह सुविधा रहेगी कि वे उन्हें अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी मुद्राओं के साथ समायोजित कर सकेंगे।

प्रमुख मुद्रा वाले देशों पर संयुक्त राष्ट्र संघ में मुद्रा कोष की स्थापना से पहले और पीछे पर्याप्त विचार किया गया। मूल विचार इसलिए उपयोगी था क्योंकि इसने प्रमुख अर्थ-व्यवस्थाओं के अन्तर्राष्ट्रीय योगदान पर जोर दिया। इस दृष्टिकोण के अनुसार कही गयी बातें द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के अनुभवों में साकार हुई।

(२) कोष की आलोचना करते हुए दूसरी बात यह कही जाती है कि इसका प्रमुख उद्देश्य भुगतानों की बहुपक्षीय व्यवस्थाओं की स्थापना और विदेशी विनिमय के उन प्रतिबन्धों को समाप्त करना था जिनसे विश्व व्यापार का विकास अवरुद्ध होता है। इस लक्ष्य को प्रोत्साहित करने में कोष ने कठिनाई का अनुभव किया। इसके अधिकांश सदस्य विनिमय प्रतिबन्धों पर अवलम्बित रहे। युद्ध के कुछ दिनों बाद तक इन प्रतिबन्धों का रहना कोई अकल्पनीय बात नहीं थी। सामान्यतः कोष ने आशावादिता के साथ-साथ सजग रहने की भी बात कही। १९५१ के अपने प्रतिवेदन में कोष ने बताया कि "उसके विश्वास के अनुसार विभिन्न देश इस स्थिति में हैं कि

भेद-भाव पूर्ण व्यवहार को समाप्त कर सकें और भेद-भाव-विहीन प्रतिबन्धों को कम कर सकें।" दूसरी ओर कोष ने यह भी स्वीकार किया कि प्रतिबन्धों को हटाने के मार्ग में कुछ बाधाएं भी हैं। प्रमुख बाधायें ये थीं :—

(अ) भय था कि यदि प्रतिबन्धों को हटा दिया गया तो वे केवल कुछ समय तक ही चल सकेंगे। ऐसी स्थिति में प्रतिक्षा करो और देखो (Wait and See) का दृष्टिकोण विकसित हो गया। उस समय की स्थिति अनिश्चितापूर्ण थी और इसलिए विनिमय प्रतिबन्धों को हटाना अधिक उपयोगी नहीं समझा गया।

(ब) विनिमय नियन्त्रणों की उपस्थिति के कारण कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्धों को लाभ रहा और इसके फलस्वरूप वे उसे जारी रखने पर जोर देने लगे। इस बात को स्वयं कोष ने स्वीकार करते हुए बताया कि भावी भुगतान सन्तुलन को प्रभावित करने वाली अनिश्चितताओं के अतिरिक्त अनेक अनार्थिक अवरोध भी हैं जो कोष के उद्देश्यों को प्राप्त होने से रोकते हैं। इन अवरोधों में महत्वपूर्ण संरक्षण की नीति में लोगों के निहित स्वार्थ हैं जिनके कारण वे विदेशी प्रतियोगिता से बच जाते हैं। इन निहित स्वार्थों के कारण प्रतिबन्धों को हटाना आर्थिक कारणों से जरूरी होते हुए भी कठिन हो जाता है।

(स) कुछ देशों ने यह बताया कि संयुक्त राज्यअमेरिका अपने बाजारों मे विदेशी प्रवेश को अवरुद्ध कर रहा है। इसलिए उनके पास इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं है कि वह विनिमय प्रतिबन्धों को जारी रखें।

(द) कुछ सदस्यों ने भुगतान संतुलन से सम्बन्धित अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह उचित समझा कि विनिमय प्रतिबन्ध लागू रखे जाएं।

इस प्रकार अनेक तत्वों ने मिलकर मुद्रा कोष द्वारा विनिमय प्रतिबन्धों को हटाने के लिए किये जाने वाले प्रयासों को अवरुद्ध कर दिया। कोष का विचार था कि प्रतिबन्धों को हटाने के मार्ग में उस समय तक अवरोध रहेगा जब तक कि घाटे की स्थिति और अतिरेक वाले देशों की मौलिक नीतियों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाएगा। वस्तु-स्थिति को सुधारने के लिए कोष द्वारा कुछ प्रयास किये गये। घाटे की व्यवस्था वाले देशों में मौद्रिक एवं प्रशुल्क सम्बन्धी नीतियां प्रारभ की गई और इस प्रकार भुगतान सन्तुलनों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया। अतिरेक-वाले देशों में अधिक उदार आयात नीतियां अपनाई गयीं ताकि घाटे की स्थिति वाले देश उचित घरेलू नीति अपना सकें।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विभिन्न कारणों ने मिलकर विनिमय प्रतिबन्धों को हटाने में देरी कर दी। असल में मुद्रा कोष की स्थापना करने वाले देश युद्ध के बाद की स्थिति को ठीक प्रकार समझ नहीं पाए थे। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि युद्ध के बाद वही स्थिति रहेगी जो पहले थी, जिसमें अधिकांश देशों के भुगतान सन्तुलनों में न तो दीर्घ-कालीन अतिरेक रहेगा और न ही घाटे की व्यवस्था रहेगी। असमतुल्यता को एक ऐसी समस्या समझा गया जो किसी अवसर पर एक देश में ही उत्पन्न हो सकती थी। युद्धोत्तर-वातावरण कोष की इस कल्पना से भिन्न था। असमतुल्यता एक समय में न तो एक देश तक सीमित रही और न ही उसकी प्रगति मूलत: अल्पकालीन थी। इसके विपरीत युद्ध के बाद की असमतुल्यता सामान्य तथा स्थाई थी। इन परिस्थितियों में कोई भी एक देश विनिमय प्रतिबन्धों को हटाने के लिए सुरक्षित रूप से कार्य नहीं कर सकता था जब तक कि दूसरे भी ऐसा न करें। कोष के पास इतने साधन स्रोत भी नहीं थे कि वह सभी देशों द्वारा एक साथ विनिमय प्रतिबन्धों को हटाने पर उनकी सहायता कर सके। इस प्रकार कोष के सम्मुख असमंजस की स्थिति थी। वैसे हम अतीत की असफलताओं को भविष्य की सफलताओं का प्रतिरोध नहीं मान सकते। अत: भविष्य के बारे में आशावादी दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है।

(३) कोष की आलोचना का आधार कोष के उस उद्देश्य को बनाया जाता है जिसके अनुसार उसे विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन देना था। असल में कोष को इस दृष्टि से परखा नहीं गया। एक ओर जहां विनिमय स्थायित्व प्राप्त किया गया है वहां दूसरी ओर विनिमय प्रतिबन्ध भी सामान्य रूप से जारी है। कोष को सदस्य-देशों की घरेलू मौद्रिक और प्रशुल्क सम्बन्धी नीतियों पर प्रत्यक्ष रूप से कोई शक्तियां नहीं दी गयी थी, इसलिए प्रारम्भ में यह स्वीकार कर लिया गया कि विविमय नियन्त्रणों से स्वतन्त्र विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहित करना कठिन है।

सदस्य देश स्वतन्त्र और असमायोजित मौद्रिक एवं प्रशुल्क सम्बन्धी नीतियां अपनाने के लिए स्वतन्त्र हैं। व्यवहार में कुछ सदस्य-देशों ने मुद्रा-स्फीति की नीतियां अपनाईं; अन्य ने स्थायित्व को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया और दूसरों ने मुद्रा संकुचन को अपनाया। ऐसी स्थिति में यह अपरिहार्य था कि कुछ देश अपने भुगतान सन्तुलनों के घाटे की स्थिति को दूर कर लें। कुल मिलाकर कोष में कोई ऐसा प्रावधान नहीं था जिसके आधार पर उसके सदस्य भुगतान सन्तुलनों की कठिनाइयों को सुधार सकें। इसके अतिरिक्त यदि एक सदस्य के भुगतान सन्तुलन के घाटे की स्थिति

दीर्घकालीन बन जाए तो वह अवमूल्यन कर सकता है। इस प्रकार का अवमूल्यन केवल तभी किया जा सकता था जब कि पहले सदस्य द्वारा प्रस्ताव रखा जाए और बाद में कोष द्वारा विचार-विमर्श किया जाए। इस प्रकार आलोचकों के अनुसार कोष को जिस कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराया गया था, उसका निर्वाह करने के लिए उसे शक्तियां नहीं सौंपी गयी। राज्यों की सम्प्रभुता की मान्यता को ध्यान में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि विभिन्न सदस्य-देश अपनी स्वतन्त्र घरेलू मौद्रिक तथा प्रशुल्क नीतियों पर सीमाएं लगाएं। कुछ परिस्थितियों में मुद्रा का स्थायित्व उस समय तक असम्भव बन जाता है जब तक उसे विनिमय नियन्त्रण की अनुमति न दी जाय।

कोष ने अनुसंधान और परामर्श के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सेवाएं सम्पन्न की हैं। सदस्य-देशों को विभिन्न विषयों के बारे में कोष को सूचना देनी होती है। वे अपने भुगतान सन्तुलन, स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा के भण्डार, अन्तर्राष्ट्रीय निवेश, राष्ट्रीय आय, कीमत स्तर आदि के बारे में कोष को सूचित करते रहते हैं ताकि वह अपनी नीतियों को निर्धारित कर सके। इस प्रकार की सूचना का प्रकाशन उन अध्ययन-कर्त्ताओं तथा अन्य लोगों के लिए पर्याप्त उपयोगी रहता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में रुचि लेते हैं। यह उनके लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं जो विभिन्न देशों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं। इन सबके अतिरिक्त कोष का स्टॉफ ऐसे अनेक विषयों का अध्ययन करने के लिए उत्तरदायी है जो सदस्य-देशों की रुचि के विषय हैं। मुद्रा कोष की ओर से वार्षिक रूप से भुगतान सन्तुलन की वार्षिकी एवं विनिमय प्रतिबन्धों का एक प्रतिवेदन निकाला जाता है। एक मासिक वित्तीय सांख्यिकी भी निकाली जाती है। अवसरगत रूप से स्टॉफ के पत्र और अन्य प्रकाशन भी निकलते हैं। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विभिन्न देशों को अपने तकनीकी मिशन भेजता है। ये मिशन आर्थिक सुधारों के लिए आधार का कार्य करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की मौलिक कमजोरी इस तथ्य के कारण रही कि इसको एक ऐसे वातावरण में कार्य करने के लिये बाध्य किया गया जिसके लिए यह बनाया नहीं गया था। कोष की स्थापना मुख्य रूप से १९३० में स्वतन्त्र विश्व भुगतानों के खण्डित होने के दुख-पूर्ण परिणाम के उत्तर के रूप में की गयी थी। कोष के निर्माता एक ऐसी व्यवस्था बनाने के लिए दृढ़ संकल्प थे जो दीर्घकालीन विनिमय स्थायित्व की स्थापना कर सकें। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जो भुगतान सम्बन्धी समस्यायें आईं वे युद्ध के पूर्व की

समस्याओं के अनुरूप नहीं थी। युद्ध के बाद भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता का मुख्य स्रोत महत्वपूर्ण व्यापारी देशों की आय में उतार-चढ़ाव नहीं था जैसा कि १९३० के दौरान था। इसके विपरीत मुख्य कठिनाइयां मौद्रिक असमतुल्यता और रचना सम्बन्धी गलत समायोजन से पैदा हुईं।

इसके अतिरिक्त कोष का संगठन इस मान्यता पर आधारित था कि असमतुल्यता एक समय में केवल एक या कुछ देशों में रह सकती है जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के सन्तुलन की सामान्य स्थिति किसी भी व्यक्तिगत देश की समस्याओं पर विचार करते समय पर्याप्त प्रभाव डालती है।

असल में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को एक ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा जो सामान्य असमतुल्यता की थी। इसमें अधिक मूल्य वाली विनिमय की दरें तथा व्यापार एवं विनिमय के व्यापक विनिमय थे। ऐसी स्थिति में नियन्त्रण में ढील किसी एक देश द्वारा सुरक्षित रूप से नहीं दी जा सकती थी। यह सभी देशों द्वारा एक साथ किया जाना था किन्तु इस प्रक्रिया के लिए कोष को संगठित नहीं किया गया था और न ही यह प्रभावशाली रूप से इसे संचालित कर सकता था।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक
(International Bank for Reconstruction and Development)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे कई बार विश्व बैंक भी कहकर पुकारा जाता है, की स्थापना जुलाई, १९४४ में ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ ही कर दी गयी। कोष की स्थापना का लक्ष्य सदस्य-देशों की भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करना था किन्तु विश्व बैंक की स्थापना इसलिए की गयी ताकि युद्ध के कारण उत्पन्न सदस्य-देशों की आर्थिक अव्यवस्था की स्थिति को दूर किया जा सके और विकासशील एवं अविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋणों के रूप में सहायता दी जा सके ताकि वे प्रगति के पथ पर बढ़ सकें। इस सम्बन्ध में स्नाइडर का कहना है कि "बैंक और कोष दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें थीं, जो अनुपूरक कार्यों से युक्त थीं तथा जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्बन्धों के क्षेत्र में सहकारी कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए बनाया गया था।"[1]

---

1. "The Bank and the Fund were to be twin International Institutions, complementary in function and designed to promote cooperative action in the field of International Monetary Relations."
—Delebert A. Snider, Op. Cit., Page–425.

विश्व बैंक के उद्देश्य
(The Objectives of World Bank)

विश्व बैंक भी कोष की भांति अतीत के असन्तोषजनक अनुभव की उपज थी। यह उन युद्धोत्तर परिस्थितियों एवं समस्याओं के कारण संगठित की गयी जिनको तत्कालीन व्यवहारों और संस्थाओं द्वारा सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता था। इस समय विशेष रूप से एक ओर तो उन अन्तर्राष्ट्रीय अनुदानों के दुर्भाग्य पूर्ण परिणामों की याद ताजा थी जो प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रथम दशाब्दी में किये गये; दूसरी ओर द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पुनर्रचना और विकास में सहायता करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की स्पष्ट आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में दो आवश्यकताओं के कारण कुछ कदम उठाना जरूरी बन गया। (१) विश्व-युद्ध के बाद की जटिल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अल्पकालीन पूंजी प्रदान की जाय जिसे व्यक्तिगत पूंजी या तो पूरा नही कर सकती अथवा पूरा करना नहीं चाहती, (२) व्यक्तिगत अनुदान कोषों के व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को दीर्घकालीन रूप में प्रेरित किया जाय।

यह सोचा गया कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पूर्ण क्रिया के माध्यम से की जा सकेगी। इस प्रकार एक स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की रचना की गयी, जिसकी बनावट और संगठन बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से मिलता हुआ था। ब्रेटन वुड्स के सम्मेलन में जिन ४४ देशों ने प्रतिनिधित्व किया उन सभी ने विश्व बैंक को स्वीकार नहीं किया। सोवियत रूस इसका सदस्य न बना। १९५३ के अन्त तक इस बैंक में ५४ देश सदस्य बन गये।

विश्व बैंक मुख्य रूप से चार उद्देश्यों को लेकर संगठित की गयी—

(१) **देशों का पुनर्निर्माण और आर्थिक विकास**—विश्व बैंक का एक उद्देश्य यह था कि युद्ध में सदस्य-देशों की जो क्षति हुई है उसे सुधारने के लिए नवनिर्माण एवं विकास की दृष्टि से सहायता प्रदान की जाय। विभिन्न देशों को तकनीकी एवं मुद्रा सम्बन्धी सहायता प्रदान करके बैंक द्वारा इन देशों के आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने का प्रयास किया गया।

(२) **पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहन**—विश्व बैंक व्यक्तिगत विनियोगकर्त्ताओं को अविकसित देशों में उत्पादन कार्य के लिए पूंजी का विनियोग करने के लिये प्रोत्साहित करता है। इसके लिये वह इन विनियोग-कर्त्ताओं को उनकी पूंजी की गारन्टी देता है अथवा उनके विनियोग या ऋण में हाथ

बंटाता है। जब इस कार्य के लिये व्यक्तिगत विनियोग उचित शर्तों पर तैयार नहीं हो पाते तो बैंक उचित शर्तों पर इन देशों के उत्पादन कार्यों के लिये ऋण देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बैंक द्वारा सदस्य-देशों में निजी एवं अन्य संस्थागत ऋण-पूंजी का विस्तार किया जाता है।

(३) **दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन**—विश्व बैंक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह अपने सदस्य देशों के उत्पादन के साधनों का विकास करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को प्रोत्साहन देता है ताकि सम्बन्धित देश में रोजगार आय तथा जीवन-स्तर आदि ऊंचा उठाया जा सके।

(४) **शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना**—युद्ध के समय देश की आवश्यकताओं की प्रकृति शांतिकाल की अपेक्षा भिन्न होती है। युद्ध के बाद यह आवश्यकता हुई कि उस समय की अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में परिणित किया जाये। यह कार्य विश्व बैंक को सौंपा गया।

विश्व बैंक का संगठन
(The Organisation of World Bank)

जो देश ३१ दिसम्बर, १९४५ तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य बने केवल उन्हीं को विश्व बैंक के मूल सदस्य माना गया। कोई देश दो शर्तों पर विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है। प्रथम, उस देश के प्रार्थना-पत्र को सदस्यों की मतदान शक्ति के बहुमत द्वारा स्वीकार किया जाये और दूसरे, वह देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होना चाहिए। यदि कोई सदस्य कोष की सदस्यता से त्यागपत्र देता है तो विश्व बैंक से भी उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है। कोष की सदस्यता त्यागने पर भी एक देश को ऐसी स्थिति में बैंक का सदस्य बनाये रखा जा सकता है जबकि उसके तत्का-लीन सदस्यों में से ७५ प्रतिशत उसके पक्ष में मत प्रकट करें। बैंक की सदस्यता केवल तभी तक बनी रहती है जब तक कि सम्बन्धित देश उसके नियमों का पालन करता रहे। बैंक की सदस्यता का परित्याग एक लिखित सूचना के आधार पर भी किया जा सकता है। इस प्रकार त्याग-पत्र देने से पूर्व सदस्य देश को चाहिए कि वह ऐसा करने से पूर्व बैंक के सारे दायित्वों का भुगतान करें। ३ अगस्त, १९६६ तक बैंक की सदस्य संख्या १०४ तक पहुँच गयी।

• बैंक की शक्तियां संचालक मण्डल में निहित होती हैं जिसके अन्तर्गत समस्त सदस्यों का प्रतिनिधित्व होता है। बैंक के दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन कार्यपालिका संचालकों द्वारा किया जाता है जिनकी शक्तियां संचालक

मण्डल द्वारा हस्तांतरित की गई होती हैं। अध्यक्ष के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारियों का एक स्टॉफ कार्य करता है। यह स्टॉफ अध्यक्ष के निर्देशन के अधीन कार्य करता है। अध्यक्ष का चयन कार्यपालिका संचालकों द्वारा किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भांति बैंक भी एक विशेष संगठन है। इसने दुनियां के अधिकांश राज्यों को पहली बार एक साथ मिलाया है।

परम्परागत रूप से प्रायः सदस्य देशों के वित्त मंत्रियों को ही बैंक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है। बैंक की सभाओं में भाग लेने के लिए स्थानापन्न गवर्नर भी नियुक्त किये जाते हैं किन्तु वे मतदान का अधिकार नहीं रखते। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्व बैंक की सारी शक्तियां गवर्नर मण्डल में निहित हैं किन्तु व्यवहार में इसके अधिकांश अधिकारों का प्रयोग संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है।

प्रशासकीय संचालक मण्डल की सदस्य संख्या कम से कम बारह होती है। इनमें से पांच की नियुक्ति वे देश करते हैं जिनके चन्दे की मात्रा सबसे अधिक है। प्रत्येक संचालन का कार्यकाल दो वर्ष होता है और प्रतिमास इसकी सभाएं आयोजित की जाती हैं। संचालकों द्वारा किसी भी व्यक्ति को अध्यक्ष नियुक्त कर लिया जाता है जो उनकी सभाओं का सभापतित्व करता है। वह अध्यक्ष बैंक का प्रमुख अधिकारी है। उसे मताधिकार प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह निर्णायक मत देने का अधिकार रखता है।

बैंक की एक सलाहकार समिति होती है जो उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है। इस समिति के सदस्यों की संख्या कम से कम ७ होती है। समिति की सभा का वर्ष में एक बार आयोजन होना जरूरी है।

संचालक मण्डल द्वारा एक अन्य समिति भी नियुक्त की जाती है जिसे ऋण समिति कहा जाता है। जब कोई देश ऋण के लिए कहता है तो उसकी उपयुक्तता की जांच इस समिति द्वारा की जाती है। इसमें ऋण के लिए प्रार्थना करने वाले देश का भी एक सदस्य बैठता है। विश्व बैंक का प्रमुख कार्यालय वाशिंगटन में है। इसके अतिरिक्त न्यूयार्क, लन्दन तथा पैरिस में भी इसके कार्यालय हैं।

आधारभूत सिद्धांत

(The Basic Principles)

विश्व बैंक जिस रूप-रचना के अन्तर्गत कार्य करता है वह समझौते पत्र में निर्धारित की गयी है और संचालक मण्डल द्वारा उसकी व्याख्या की

गयी है। जिन मूल सिद्धान्तों पर बैंक आधारित है वे मुख्य रूप से निम्न प्रकार हैं:—

बैंक के स्रोत (Resources of the Bank)—बैंक के प्रत्येक सदस्य-देश को बैंक की पूंजी में कुछ योगदान करना होता है जिसकी मात्रा उसके सदस्य बनने से पहले ही निर्धारित कर दी जाती है। मात्रा निर्धारित करते समय देश की सापेक्षिक आर्थिक दृष्टि को ध्यान में रखा जाता है। बैंक में दिए गए योगदान से सम्बन्धित देश को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होता। उसे केवल मत देने का अधिकार प्राप्त होता है।* बैंक की कुल अधिकृत जमा पूंजी दस हजार मिलियन डालर है किन्तु आवश्यकतानुसार इसे कभी भी बढ़ाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए सदस्यों के ३/४ बहुमत का समर्थन प्राप्त किया जाएगा। १९५३ के अंत तक बैंक के ५४ सदस्य देशों द्वारा जो पूंजी वास्तव में दी गई थी वह नौ हजार मिलियन डालर से अधिक थी। इनमें ३७१५ मिलियन डालर भाग संयुक्तराज्य अमेरिका का है।

विभिन्न सदस्य-देशों के योगदान को दो भागों में विभाजित किया जाता है। इसका २०% भाग पूंजी के रूप में अदा किया जाता है और शेष ८०% भाग गारन्टी के रूप में रहता है जिसे उसी समय मंगाया जाता है जबकि बैंक को अपने कर्जे अथवा गारन्टी से सम्बन्धित दायित्वों का निर्वाह करने के लिए इसकी आवश्यकता हो। जो २० प्रतिशत भाग पूंजी के रूप में अदा किया जाता है उसका १८ प्रतिशत सदस्य देशों की मुद्राओं के रूप में होता है तथा २ प्रतिशत सोने अथवा डालर के रूप में होता है। जो १८ प्रतिशत योगदान सदस्यों की मुद्रा में किया जाता है उसे सम्बन्धित देश की स्वीकृति के बाद कर्ज के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

इस प्रकार बैंक की ऋण देने योग्य सम्पत्ति में दो प्रतिशत सोना या अमेरिकी डालर होता है तथा १८ प्रतिशत सदस्य-देशों की मुद्रा होती है। इसके अतिरिक्त बैंक का शुद्ध लाभ होता है। अपने कोष में से प्रत्यक्ष रूप से कर्ज देने की अपेक्षा बैंक उस कोष में से भी कर्ज दे सकती है जो उसके द्वारा उधार लिया गया है। ऐसा करने के लिये उस देश की स्वीकृति प्राप्त करना जरूरी है जिसके बाजार में कोष एकत्रित किए गए हैं और जिसकी मुद्रा में वह कर्ज लिया गया है। दूसरे, बैंक कर्जों की गारन्टी दे सकता है।

१९५८ के अन्त तक विश्व बैंक के बकाया ऋणों की राशि दो अरब अमेरिकी डालर हो गयी। अक्टूबर, १९५८ में जब नयी दिल्ली में बैंक के गवर्नर मण्डल की बैठक हुई तो बैंक की पूंजी को बढ़ाने के बारे में विचार

किया गया। कार्यकारी संचालकों ने २२ दिसम्बर, १९५८ को अपने सुझाव प्रस्तुत किए जिनके अनुसार बैंक की पूंजी को दो गुना करने का निर्णय लिया गया। बैंक की पूंजी उसके बाद से बढ़ती गयी और ३० जून, १९६६ को इसकी स्वीकृत पूंजी की मात्रा २२४२६४ लाख अमेरिकी डालर हो गयी। बैंक में विभिन्न देशों के योगदान पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक अंश वाले पांच देश संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इंगलैंड और भारत है। विश्व बैंक की जो पूंजी बढ़ाई गयी है, उसका भुगतान १ प्रतिशत स्वर्ण अथवा डालर में और ९ प्रतिशत सदस्य-देशों की मुद्रा में किया जाएगा।

व्यक्तिगत पूंजी के साथ प्रतिस्पर्द्धा का अभाव
(Avoidance of Competition with Private Capital)

समझौते-पत्र के अनुच्छेद १ में औपचारिक रूप से विश्व बैंक के उद्देश्य का उल्लेख किया गया है। इसमें कहा गया है कि इसका उद्देश्य गारन्टियों या कर्जों में भाग लेकर गैर-सरकारी व्यक्तिगत पूंजी एवं विनियोगों को प्रोत्साहित करना है। जब व्यक्तिगत पूंजी उपयुक्त शर्तों पर प्राप्त न हो सके तो बैंक द्वारा अपनी स्वयं की पूंजी में से गैर-सरकारी विनियोग-कर्ताओं को उत्पादन के उद्देश्य के लिए सहायता दी जाती है। समझौते-पत्र के अन्य भागों में यह व्यवस्था की गयी है कि जब बैंक को यह विश्वास हो जाए कि कर्ज लेने वाला देश तत्कालीन बाजार की परिस्थितियों में कर्ज प्राप्त नहीं कर सकता तो बैंक स्वयं ही कर्ज अथवा कर्ज की गारन्टी देता है। इस प्रकार विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को सुविधा एवं प्रोत्साहन प्रदान करने का प्रयास करता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह गैर-सरकारी विनियोग के साथ प्रतियोगिता करेगा अथवा उसका स्थान ग्रहण करेगा। यदि बिना बैंक के योगदान के गैर-सरकारी पूंजी पर्याप्त मात्रा में तथा उपर्युक्त शर्तों के आधार पर आने लगे तो बैंक के अस्तित्व का आधार ही समाप्त हो जाएगा। बैंक की रचना इसी कारण में की गई क्योंकि युद्ध के तुरन्त बाद यह असम्भव था। बैंक द्वारा गलतियों के जोखिम को दूर कर लिया जाता है और इसलिए गैर-सरकारी व्यक्ति एवं व्यापार विदेशी निवेश में अधिक रुचि लेने लगते हैं। बैंक द्वारा अपने अथवा उधार लिए हुए कोष में से केवल तभी उधार दिया जाता है जब बैंक की गारन्टी के बिना गैर-सरकारी कोष उपयुक्त प्रोजेक्टों की वित्तीय व्यवस्था करने में असमर्थ रहते हैं।

बैंक की पूंजी की सुरक्षाएं
(Safe Guards of the Bank-Resources)

बैंक द्वारा सदस्य-देश के क्षेत्र में किसी भी व्यापारी उद्यम अथवा सरकारों को कर्ज की गारन्टी दी जाती है। उनमें अंशदान किये जाते हैं अथवा स्वयं कर्ज दिए जा सकते हैं। जब बैंक ने अपना कर्ज सरकार अथवा उसके किसी राजनैतिक उप-सम्भाग को नहीं दिया है और किसी गैर-सरकारी प्रोजेक्ट को दिया है तो जिस देश की सीमा में वह प्रोजेक्ट स्थित है उस देश सरकार उस कर्जे के पुनर्भुगतान अथवा ब्याज़ के भुगतान की पूरी-पूरी गारन्टी नहीं दे सकती किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि बैंक की पूंजी डूब जाएगी।

बैंक के स्रोतों की रक्षा के लिए तथा उनके उपयुक्त प्रयोग की व्यवस्था के लिए चार अतिरिक्त सुरक्षाएं स्थापित की गयी हैं।

(१) कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर ऋण केवल पुनर्रचना तथा विकास के विशेष प्रोजेक्टों को ही दिया जाना चाहिए। बैंक द्वारा किसी प्रकार का कर्जा या गारन्टी दी जाए उससे पहले विशेषज्ञों द्वारा इस बात की सावधानीपूर्वक जांच की जानी चाहिए कि उस विशेष प्रोजेक्ट को आवेदित धन प्राप्त किया जाए अथवा नहीं। बैंक को यह देखना चाहिए कि उसके कोष का प्रयोग उत्पादन के लिए किया जावे, बेकार अथवा कम महत्व के विषयों में उनको न लगाया जाय।

(२) बैंक यह देखता है कि कर्ज लेने वाला अथवा उसकी गारन्टी देने वाला देश कर्ज के दायित्वों को निभाने की स्थिति में हो। पहले जो गैर-सरकारी ऋणदाता थे वे प्रायः यही देखा करते थे कि कर्ज लेने वाला व्यक्ति ब्याज देने और पुनर्भुगतान करने के योग्य है अथवा नहीं है। उस समय हस्तांतरण की समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। एक अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज के शुद्ध पुनर्भुगतान के लिए यह जरूरी है कि कर्ज लेने वाले देश के भुगतान सन्तुलन के चालू लेखे में अतिरेक हो और कर्ज देने वाले देश माल तथा सेवाओं के आयात अतिरेक की स्थति में हों। ये शर्तें पूरी होती हैं या नहीं, यह बात सामान्यतः अपनाई गयी आर्थिक, मौद्रिक एवं व्यापारिक नीतियों पर निर्भर करती है। इसके अलावा प्रभावशील व्यापार चक्र का स्तर तथा अन्य ऐसे ही चक्र भी प्रभाव डालते हैं जिन पर निजी कर्जदार अथवा कर्जदाता का कोई नियंत्रण नहीं है।

वैसे कोई भी निश्चय के साथ इस बात की भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज या उसके भुगतान में क्या-क्या कठिनाइयां आएंगी

यहां तक कि बैंक का विशेषज्ञ भी इससे अनभिज्ञ रहता है। यदि कर्ज लेने वाला देश गम्भीर रूप से विनिमय के प्रभाव से पीडित है तो बैंक उसके कर्ज पर ब्याज की शर्तों को हल्का कर सकता है। यह भी हो सकता है कि तीन वर्ष तक ब्याज का भुगतान सदस्य-देश अपनी मुद्रा में करे। इस काल में उस देश के सामने विनिमय की समस्या नही रहेगी।

(३) बैंक से लिए जाने वाले कर्ज की एक अन्य सुरक्षा का यह प्रावधान है कि इस प्रकार प्राप्त स्रोतों का प्रयोग उन्ही उद्देश्यो के लिए किया जाएगा जिनके लिए कर्ज दिया गया है।

(४) बैंक द्वारा दिए गये कर्जे सामान्य रूप से उसी विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध करते है जो सम्बन्धित प्रोजेक्ट के लिए आवश्यक है। किसी भी प्रोजेक्ट का स्थानीय मुद्रा का व्यय उस कोष से ही पूरा किया जाना चाहिए जो उस देश में प्राप्त किया गया है। इसका अपवाद वह स्थिति हो सकती है जब आवश्यक स्थानीय मुद्रा उपर्युक्त शर्तों पर कर्जदार द्वारा प्राप्त न की जा सके।

बैंक की कार्य प्रणाली

(The Functions cf the Bank)

विश्व बैंक द्वारा मुख्य रूप से विकास योजनाओं के लिए ऋण प्रदान किया जाता है। यह एक देश को केवल तभी ऋण देता है जबकि उसे यह विश्वास हो जाए कि सदस्य-देश ऋण लेने के योग्य है और अन्य साधनों से उसे उचित शर्तो पर ऋण प्राप्त नही हो रहा है।

विश्व बैंक द्वारा अपनी पूंजी में से प्रत्यक्ष रूप से ऋण दिए जाते है। कई बार यह उधार ली गयी पूंजी मे से ऋण प्रदान करता है। यह स्वयं गारंटी देकर भी ऋण दिला सकता है। इस प्रकार की गारन्टी देने से पूर्व बैंक यह देख लेता है कि ऋण देने की शर्तें उचित तथा न्यायपूर्ण हैं, जिस कार्य के लिए ऋण लिया जा रहा है वह उचित है, ऋण लेने वाला देश उसे वापिस कर सकता है तथा सम्बन्धिन देश की सरकार भी उस ऋण की गारन्टी दे रही है।

बैंक द्वारा जो ऋण देते समय एक विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है। विश्व बैंक का सम्बध या तो सदस्य देश की सरकार अथवा उसके केन्द्रीय बैंक से रहता है वह सदस्य देश की गैर-सरकारी संस्थाओं से सम्बन्ध नहीं रखता। विश्व बैंक किसी भी गैर-सरकारी सस्था को केवल तभी ऋण प्रदान करता है जबकि उस देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक उस ऋण के मूलधन, ब्याज, एवं अन्य खर्चों के भुगतानों की गारन्टी प्रदान कर सके।

विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋण की राशि को सम्बंधित देश के केन्द्रीय बैंक में जमा किया जाता है और वहां से कर्ज लेने वाली संस्था अपनी आवश्यकता के अनुसार धन ले सकती है।

ऋण की मात्रा और गारन्टी आदि के निर्धारण का कार्य स्वयं बैंक द्वारा किया जा सकता है।

विश्व बैंक ऋण देते समय ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं लगा सकता कि ऋण देने वाले देश में ही खर्च किया जाए।

ऋण लेने वाला देश प्राप्त राशि को केवल उसी विकास योजना के काम में ला सकता है जिसके लिये ऋण लिया गया है। विश्व बैंक निरीक्षण का भी अधिकार रखता है।

विश्व बैंक के पास जितनी प्रार्थित पूंजी और संचित निधि होती है वह उससे अधिक ऋण न तो स्वयं दे सकता है और न गारन्टी देकर किसी से दिला सकता है।

जब विश्व बैंक किसी को गारन्टी दिलाकर कर्ज दिलाता है तो कर्ज लेने वाला भुगतान करते समय स्वय अथवा उसी मुद्रा को काम में लेगा जिसमें कर्ज दिया गया था।

जब बैंक स्वयं गारन्टी देकर ऋण दिलाता है तो उस पर १ या १½ प्रतिशत कमीशन लेता है। यह कमीशन एक विशेष कोष में जमा किया जाता है। जब कोई कर्ज देने वाला कर्ज का भुगतान नहीं कर पाता तो विश्व बैंक इसी कोष में से उसका भुगतान करता है।

सिद्धान्त रूप से बैंक एक अन्तिम ऋणदाता है। सामान्य नियम यह है कि बैंक केवल उसी समय हस्तक्षेप करेगा जबकि उसे यह सन्तोष हो जाये कि सदस्य-देश ऋण लेने योग्य है और उचित शर्तों पर वह अन्य कहीं से भी ऋण प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार बैंक वर्तमान साख-सुविधाओं को केवल सहायता प्रदान करती है, उनके ऊपर उठकर सहयोग नहीं देती। साख के अन्य स्रोतों के साथ इसकी प्रतियोगिता नहीं है। बैंक के उधार देने की क्षमता, कुल योगदान एवं सुरक्षाओं अथवा अतिरेकों को मिलाकर बनती है। बैंक अपने कुल योगदान में से केवल २० प्रतिशत ही उधार दे सकता है। यह स्वयं के बॉण्डस की बिक्री करके उधार दे सकता है अथवा ऋणों की गारंटी देकर निजी ऋण दान को भी प्रोत्साहित कर सकता है। ऋण दान सम्बंधी निम्न कार्यों का अध्ययन करने के बाद हमें बैंक के कार्यों का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है—

(१) बैंक के कोष में से प्रत्यक्ष ऋण (Direct Loan from the Bank's Own Funds)—बैंक के पास उसके सदस्यों द्वारा दिया गया धन

रहता है। इसके अतिरिक्त कुछ सुरक्षित भण्डार एवं अतिरेक भी रहते हैं। इन सब में से बैंक २० प्रतिशत उधार दे सकता है। इस बीस प्रतिशत में से दो प्रतिशत स्वर्ण के रूप में होता है जिसका प्रयोग किसी भी उद्देश्य के लिये किया जा सकता है। शेष १८ प्रतिशत भाग जिस देश की मुद्रा में दिया जा रहा है उसकी स्वीकृति आवश्यक है। यह प्रावधान सदस्यों द्वारा दिये गये ऋण पर उनके नियम को लागू करता है। एक बार उधार देने के बाद सदस्य को यह अधिकार नहीं होता कि वह कर्जदार से धन प्राप्त करने में नियंत्रण रख सके।

ब्याज और मूल धन का जो भुगतान किया जाता है वह मुद्रा के उसी मूल्य में होता है जो उधार देने के समय था। समझौते-पत्र में कहा गया है कि "ये भुगतान समझौते के उन भुगतानों के मूल्य के बराबर होंगे जो कर्ज देने के समय था। यह भुगतान उस मुद्रा में होगा जो बैंक के कुल मतदाताओं के ३/४ बहुमत से इस उद्देश्य के लिये निर्दिष्ट किया जायगा। इस प्रावधान के अनुसार पुनर्भुगतान अवमूल्यित मुद्रा में नहीं किया जा सकता।"

(२) बैंक द्वारा उधार लिये गये कोष में से प्रत्यक्ष ऋण देना (Direct Loans from funds borrowed by the Bank)—बैंक को यह शक्ति दी गई है कि वह अपने बॉण्ड प्रसारित कर सके। इसके बॉण्ड सामान्यत: विश्व बैंक के बॉण्ड के रूप में जाने जाते हैं। बैंक द्वारा जिस देश के बाजार के लिये बॉण्ड प्रसारित किये जाते हैं वह उस देश से पहिले स्वीकृति प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त यदि बॉण्ड के अतिरिक्त किसी मुद्रा में ऋण दिया जा रहा है तो उस मुद्रा वाले देश की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इस स्वीकृति के प्रभाव में हो सकता है कि सदस्य देश माल और सेवाओं के उन दावों को स्वीकार न करें जो बैंक के साख कार्यों से जन्म लेते हैं। स्वीकृति प्राप्त होने के बाद ली गई मुद्रा को स्वतंत्रता पूर्वक परिवर्तित किया जा सकता है।

बैंक अपने उधार लिये गये कोष में से उतना ही ऋण दे सकता है जितना उसने स्वयं उधार लिया है। उदाहरण के लिये, यदि बैंक अपने बॉण्ड्स बेच कर १.० बिलियन डालर प्राप्त करे तो वह इतना कर्जा नहीं दे सकता कि इसकी मात्रा १.० बिलियन डॉलर से अधिक बढ़ जाय। इस प्रावधान द्वारा उन देशों के भुगतान संतुलन की रक्षा करने का प्रयास किया जाता है जिनको बैंक द्वारा ली गई मात्रा से अधिक मात्रा में भुगतान करना पड़े।

अब तक बैंक से अधिकतर डॉलर की मांग की गई है और इस माँग को पूरा करने के लिये उसने अपने बॉण्डस् (Bonds) अमेरिकी बाजार में बेचे हैं। बॉण्डस् के खरीददार ढूंढना कोई मुश्किल काम नहीं है।

(३) **गारंटीज (Guarantees)**—जो कर्ज लेने वाले उपयुक्त शर्तों पर दूसरी जगहों से कर्ज प्राप्त नहीं कर पाते वे बैंक से प्रार्थना करते हैं और यदि बैंक इस प्रार्थना को स्वीकार करले तो यह अपने कोष में से कर्ज दे देती है अथवा कर्ज लेने वाले का ध्यान निजी पूंजीगत बाजार की ओर इंगित कर देती है; किन्तु ऐसा करते समय वह पूर्ण अथवा आंशिक रूप से गारंटी प्रदान करती है। बैंक द्वारा ऐसे ऋणों के लिये केवल तभी गारंटी प्रदान की जाती है जब वह पहले उन देशों की स्वीकृति प्राप्त करले जिनके बाजारों से कोष एकत्रित किया जायगा तथा जिस देश की मुद्रा में वह ऋण दिया जायेगा। एक बार स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद सम्बन्धित देशों का वापिसी के सम्बन्ध में कोई नियंत्रण नहीं रहता। प्रारम्भ में यह विश्वास किया गया था कि निजी ऋणों की गारंटी देना, बैंक का मुख्य कार्य रहेगा; किन्तु अनुभव से यह सिद्ध नहीं हुआ।

बैंक के कार्यों का लेखा-जोखा
(An Account of the Functions of World Bank)

विश्व बैंक द्वारा अपनी स्थापना से अब तक किये गये कार्यों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय कार्य ऋणों से सम्बन्धित है। २५ जून, १९४६ को इस बैंक ने अपनी कार्यवाही प्रारम्भ की थी किन्तु ९ मई, १९४७ को इसके द्वारा सबसे पहला ऋण फ्रांस को २५ करोड़ डालर का दिया गया। पुनर्निर्माण के लिए दूसरा ऋण १९.५ करोड़ डालर का ७ अगस्त, १९४७ को नीदरलैंड की सरकार को दिया गया। तीसरा ऋण डेनमार्क और चौथा ऋण लक्सम्बर्ग को दिया गया। ये चारों ऋण इन की अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के लिए दिये गये थे। इसके बाद में दिए जाने वाले ऋणों का उद्देश्य विकास कार्यों में सहायता देना था।

विश्व बैंक विकास कार्यों के लिए धन की व्यवस्था करने के अलावा अर्द्ध-विकसित तथा अविकसित देशों को तकनीकी एवं औद्योगिक सहायता भी प्रदान करता है। पश्चिमी यूरोप, अमेरिका के विभिन्न देशों तथा जापान ने जो अद्वितीय सम्पन्नता प्राप्त की है उसका श्रेय बहुत कुछ विश्व बैंक को दिया जा सकता है। गरीब देशों की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने में और अर्द्ध-विकसित देशों के उत्पादन को दुगुना करने में विश्व बैंक का काफी सहयोग रहा है। बैंक के १९६५-६६ के वार्षिक प्रतिवेदन के अनुसार १९६६ तक बैंक द्वारा

९५८ ३६ करोड़ डालर की विशाल राशि के (४६१) चार सौ इकसठ कर्जे दिये जा चुके थे। इन कर्जों का अधिकांश भाग एशिया और मध्यपूर्व के देशों को दिया गया। औद्योगिक दृष्टि से इनमें से अधिकांश ऋण विद्युत शक्ति परिवहन एवं उद्योगों के विकास के लिए दिए गये। बैंक कृषि के विकास के लिए भी पर्याप्त ऋण प्रदान करता है।

ब्याज की दर
(The Rate of Interest)

बैंक द्वारा दिए जाने वाले कर्ज पर जो ब्याज लिया जाता है उसकी मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि बैंक को स्वयं अपने ऋणों पर कितना ब्याज देना पड़ता है ? बैंक के ब्याज की दर ५½ से लेकर ६ प्रतिशत तक रहती है। फरवरी, १९६५ में विश्व बैंक ने यह निर्णय लिया था कि जो देश बाहर से भी अपनी पूंजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं उनसे अपेक्षाकृत अधिक ब्याज लिया जाय।

बैंक द्वारा दिए जाने वाले कर्जों की अवधि उन कार्यों की प्रकृति के अनुसार होती है जिनके लिए ऋण दिया जा रहा है। वैसे औसतन यह अवधि २० वर्ष होती है। यदि ऋण लेने वाला देश चाहे तो इस अवधि को बढा कर ३५ वर्ष भी कर सकता है।

साधारण रूप से विश्व बैंक विदेशी मुद्रा में ऋण प्रदान करता है। इसलिये वह इसी मुद्रा में उनके पुनर्भुगतान की आशा करता है। इस सम्बन्ध में बैंक कोई कठोर नीति नहीं अपनाता। यदि ऋण लेने वाला देश संकट ग्रस्त है और वह पुनर्भुगतान की अवधि को बढ़ाने की प्रार्थना करता है तो बैंक उसे स्वीकार कर सकता है। विदेशी विनिमय के संकट से ग्रस्त देश को यह सुविधा दी जा सकती है कि वह अपनी ही मुद्रा में भुगतान करे। इस प्रकार की सुविधा केवल तीन साल के लिये दी जा सकती है।

तकनीकी सहायता
(The Technical Assistance)

विश्व बैंक बाहरी पूंजीगत सहायता देने के अतिरिक्त विकासशील देशों को तकनीकी परामर्श एवं सहायता भी उपलब्ध कराता है। विनियोग के लिए कोषों का उपलब्ध होना उस समय तक बहुत कम महत्व रखता है जब तक कि पूंजीगत सुविधाओं को संचालित करने के लिये आवश्यक तकनीकी सुविधा उपलब्ध न हो। स्नाईडर के कथनानुसार "गरीबी और तकनीकी ज्ञान का अभाव दोनों साथ-साथ चलते हैं।"[1] आकड़ों से पता चलता

1. "Poverty and Lack of technical knowledge go in hand in hand."—D. A. Snider, Op Cit P. 437.

INTERNATIONAL BANK LOANS, BY PURPOSE AND AREA
(Millions of U. S. Dollars, net of concellations and refundings : June 30, 1954)

Purpose	Total	Asia and Middle East	Africa	Australia	Europe	Western Hemisphere
Reconstrution Loans	497	....	....	....	497	....
Development Loans	1337	232	199	204	285	457
Electric Power	509	63	88	33	35	290
Transportation	397	86	71	74	63	103
Communication	26	2	....	....	....	24
Agriculture and Forestry	167	47	....	71	29	20
Industry	168	32	....	26	90	20
General Development	110	2	40	....	68	....
Total	1834	232	199	204	782	497

Source : IBRD, 9th Annual Report, 1953-54, Washington, 1954, P. 12.

है कि १६३० के दौरान जिन देशों में प्रति-व्यक्ति आय सबसे अधिक थी उनमें १० वर्ष या उससे अधिक उम्र वाले अशिक्षितों की संख्या ५ प्रतिशत से भी कम थी।

विश्व बैंक द्वारा जो तकनीकी सहयोग कार्यक्रम किये जाते हैं उनका उद्देश्य यह है कि विकसित देशों के पास जो तकनीकी ज्ञान और कुशलता है उसका प्रयोग विश्व के दूसरे देशों में भी किया जाय। अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों के आधीन तकनीकी सहायता अविकसित देशों को प्रदान की जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका की तथाकथित चार सूत्री योजना (Four Programme) इसी का एक उदाहरण है। जनवरी, १६४६ के अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने यह विश्वास प्रकट किया कि संयुक्तराज्य अमेरिका को आने वाले वर्षों में अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में चार बातों पर विशेष जोर देना चाहिये। उनके कथनानुसार, चौथी विशेष बात यह थी कि वैज्ञानिक प्रगतियों एवं आर्थिक उन्नतियों का लाभ अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों के विकास एवं प्रगति के लिए उपलब्ध कराने हेतु नया कार्यक्रम बनाया जाय। राष्ट्रपति ट्रूमैन के ही शब्दों में "हमें अपने तकनीकी ज्ञान के भण्डार का लाभ शान्तिप्रिय देशों की जनता के लिए उपलब्ध कराना चाहिए, ताकि एक श्रेष्ठ जीवन के लिए उनकी आकांक्षाओं को साकार करने में सहायता दी जा सके।" इसी कार्यक्रम के अधीन अमेरिकी कांग्रेस ने जून, १६५० में व्यवस्थापन किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत यह घोषित किया गया कि संयुक्तराज्य अमेरिका की नीति आर्थिक रूप से अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों की जनता के उन प्रयासों में सहायता प्रदान करना होगा जिनसे वे अपने साधन-स्रोतों को विकसित कर सकें और तकनीकी ज्ञान एवं कुशलता के विनिमय को प्रोत्साहित करके कार्य तथा जीवन-स्तर को सुधार सकें।

तकनीकी सहायता की दृष्टि से विश्व बैंक अर्द्ध-विकसित देशों का प्रभावशाली विकास संस्थाओं की स्थापना करने, विभिन्न योजनाओं एवं प्राथमिकताओं का निर्धारण करने, विभिन्न समस्याओं का हल ढूंढ़ने, विकास की नीतियां निर्धारित करने तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों को करने में मदद करता है।

विश्व बैंक द्वारा सदस्य देशों की प्रार्थना पर व्यापक आर्थिक सर्वेक्षण किए जाते हैं ताकि उन देशों के प्राकृतिक साधनों की मात्रा, आर्थिक एवं औद्योगिक सम्भावनाओं और यातायात के साधनों की पूर्ण जानकारी की जा सके। १६६६ तक बैंक ने इस प्रकार के लगभग २५ आर्थिक सर्वेक्षण किए। बैंक द्वारा विभिन्न देशों की योजनाओं में सहायता प्रदान करने के लिए

विशेषज्ञ भेजे जाते हैं जो आर्थिक, वैज्ञानिक तथा प्रावधिक क्षेत्रों में सम्बन्धित देशों की सहायता करते हैं।

विश्व बैंक द्वारा समय-समय पर विभिन्न देशों को आर्थिक मिशन भेजे जाते हैं। इनका उद्देश्य सदस्य देशों की विभिन्न आर्थिक समस्याओं तथा विकास की सम्भावनाओं का बैंक को ज्ञान कराना होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Financial Corporation)

इस निगम की स्थापना १९५६ में की गयी। इसका उद्देश्य अविकसित देशों के निजी उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। यह अपने सदस्य देशों में निजी क्षेत्र की उन्नति पर विशेष ध्यान देता है। १९६६ तक निगम की अधिकृत पूंजी ११ करोड़ मिलियन डालर तक पहुंच चुकी थी। निगम के सदस्यों की संख्या ८ जुलाई, १९६६ को ८२ थी। निगम का उद्देश्य यह है कि विशेष रूप से कम विकसित देशों में निजी क्षेत्र के उद्योगों में निवेश किया जाय। ३० जून, १९६६ तक निगम ने ३४ देशों के १०० उद्योगों में १७–२३ करोड़ डालर धनराशि के निवेश किए।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था
(International Development Association)

इस संस्था की स्थापना १९६० में की गयी थी, इसका अधिकतर श्रेय संयुक्तराज्य अमेरिका को है। इस संस्था द्वारा प्रदान किए गये साख की शर्तें पर्याप्त उदार थीं ताकि कम ब्याज पर अर्द्ध-विकसित या कम विकसित देशों को ब्याज दिया जा सके। इसमें साख की अवधि ५० वर्ष रखी जाती है और ब्याज नहीं लिया जाता। विश्व बैंक के सभी सदस्य इस संस्था के सदस्य बन सकते हैं। इसकी सदस्य संख्या जून, १९६६ तक ९६ हो गयी थी।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान
(The Solution of International Problems)

विश्व बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में वह निष्पक्ष संगठन की तरह कार्य करे। सदस्यों के बीच के यह झगड़े आर्थिक विकासों में रोड़ा बन जाते हैं और इसलिये इनको दूर करना जरूरी बन जाता है। इस प्रकार की समस्या उदाहरण के रूप में भारत-पाकिस्तान के बीच नदियों का जल-विवाद लिया जा सकता है। १९ जनवरी, १९६० को बैंक की सहायता से इस विवाद को

सुलझा दिया गया। दूसरे स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का विवाद भी विश्व बैंक के विचार-विमर्श का विषय बना। इसने ६ महीने तक पूरा विचार कर-लेने के बाद दोनों देशों के बीच समझौता करा दिया। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग की स्थापना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया हैं।

बैंक के अन्य कार्य
(Other activities of World Bank)

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में दूसरे अनेक महत्वपूर्ण कार्य भी करता है। विश्व बैंक आवश्यकता-मंद देशों को न केवल स्वयं सहायता देता है वरन् अन्य विकसित देशों से भी उनको सहायता दिलाने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, भारत सहायता क्लब और पाकिस्तान सहायता क्लब आदि का नाम लिया जा सकता है। विश्व बैंक ने इस प्रकार के लगभग नौ समूह संगठित किए हैं।

विश्व बैंक द्वारा निवेश विवादों (Investment disputes) के बीच समझौता कराने में महत्वपूर्ण योगदान किया जाता है। बैंक द्वारा एक योजना तैयार की गयी है जिसके अनुसार अर्द्ध-विकसित देशों में निजी विदेशी निवेशों को होने वाली हानि के विरुद्ध गारन्टी प्रदान की जाती है।

विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन
(Evaluation of the Functions of World Bank)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना में विश्व बैंक सर्वाधिक सफल और उपयोगी रहा है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी सहमत हैं। बैंक ने विद्युत शक्ति की सुविधायें प्रदान करने, रेल मार्ग और सड़कें बनवाने, सिंचाई की व्यवस्था करने, बाढ़ रोकने, कृषि सम्बन्धी एवं औद्योगिक प्रसाधनों को प्रदान करने तथा अनेकों प्रोजेक्टों (Projects) की अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान किया है। यह सच है कि बैंक की अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियां हैं और आर्थिक रूप से पिछड़े हुए प्रदेशों को विकसित होने में सहायता दी फिर भी हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि बैंक की कुछ कमजोरियां नहीं रही हैं। बैंक के कार्यों की अनेक प्रकार से आलोचनायें प्रस्तुत की जाती हैं, उनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(१) बैंक निजी निवेशों को प्रोत्साहित करने में असफल रहा। इसकी स्थापना के समय यह आशा की गयी थी कि अर्द्ध-विकसित देशों में विदेशी पूंजी का प्रवाह बढ़ेगा क्योंकि बैंक द्वारा गैर-सरकारी ऋणों की गारण्टी प्रदान की जा रही थी। इसके अतिरिक्त बैंक स्वयं प्रत्यक्ष रूप से वित्तीय

व्यवस्था करके या ऐसा करने में भाग लेकर विदेशी व्यक्तिगत पूंजी के लिए निवेश के नये अवसर प्रदान करेगा। ये दोनों आशायें पूरी नहीं हो सकीं।[1] इसका कारण यह बताया जाता है कि बैंक ने निजी पूंजी को बड़े पैमाने पर गारण्टी नहीं दी। यह आवश्यक बना लिया गया था कि जिस प्रदेश में बैंक के माध्यम से किसी प्रोजेक्ट की आर्थिक व्यवस्था की जा रही है तो वहां की सरकार द्वारा ऋणों की गारण्टी प्रदान की जानी चाहिए। इससे निजी उद्योगों के द्वारा ऋण लेने की प्रतिक्रिया हतोत्साहित हुई। व्यक्तिगत ऋण लेने वालों को यह भय हुआ कि इस प्रकार की गारण्टियां देने वाली सरकारें उनके व्यापार में हस्तक्षेप कर सकती हैं। व्यक्तिगत रूप से ऋण लेने वालों की उस बाधा को हटाने के लिए तथा अर्थ-व्यवस्था में समानता लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम को प्रस्तावित किया गया, जो बिना सरकारी गारण्टियों के कर्ज देने की शक्ति रखे और व्यक्तिगत उद्यमों में निवेश से सम्बन्धित समानता स्थापित करे। बैंक ने निजी पूंजी को बड़े पैमाने पर गारन्टी नहीं दी।

(२) बैंक द्वारा दिए गए ऋणों की मात्रा पर्याप्त नहीं थी।[2] बैंक द्वारा दी जाने वाली पूंजी को दो उद्देश्यों की पूर्ति करनी थी। (१) यह ऋण लेने वाले देश की उत्पादिता को बढ़ाए और (२) व्यक्तिगत व्ययकर्त्ताओं के लिए लाभप्रद अवसरों में वृद्धि करे। बैंक ने जो भी अर्थ-व्यवस्थायें की वे मात्रा की दृष्टि से पर्याप्त सीमित थीं। प्रथम ६ वर्षों में बैंक ने जो कुल पूंजी कर्ज में प्रदान की उसकी मात्रा ८ सौ मिलियन डालर थी, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेषज्ञों का यह अनुमान था कि अर्द्ध-विकसित देशों के प्रति-व्यक्त आय को एक-दो प्रतिशत बढ़ाना है तो १० हजार मिलियन डालर का प्रतिवर्ष का कर्ज दिया जाना चाहिये। इस दृष्टि से देखा जाय तो बैंक द्वारा प्रदान की गयी सहायता खाली बर्तन में एक बूंद के समान थी।

1. "The experience of the Bank during the postwar years, however indicates that its success in stimulating private foreign investment was only limited at best."

—Walter Krause, op. cit. P. 308.

2. "........it becomes apparent that the Bank's lending has been a mere drop in the bucket."

—Ibid. P. 309.

(३) बैंक द्वारा दिये गये ऋणों पर ली गयी ब्याज की दर अधिक है। जब अविकसित देशों को ५½ से लेकर ६ प्रतिशत तक ब्याज देना पड़ता है तो इन देशों पर ऋणों के भुगतान का भार बहुत बढ़ जाता है। बैंक द्वारा एक प्रतिशत का कमीशन भी लिया जाता है जिसे कई लेखकों ने एक गलत परम्परा माना है। यह सुझाव दिया जाता है कि ब्याज की दर निर्धारित करते समय देश की विकास की स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। यहां एक बात उल्लेखनीय यह है कि बैंक स्वयं भी ब्याज देकर ऋण लेता है और वह दिए जाने वाले ब्याज से कम ब्याज किसी भी हालत में मंजूर नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त बैंक के द्वारा जो प्रशासनिक व्यय किया जाता है उसे भी वसूल करना आवश्यक है।

(४) बैंक ऋण देने से पहले सम्बन्धित देश की ऋण भुगतान क्षमता का अध्ययन करता है और उसके बाद ही ऋण देने का निर्णय लेता है। आलोचकों का कहना है कि यदि देश में भुगतान करने की क्षमता होती तो वह कर्ज लेने के लिए प्रार्थना क्यों करता। ऋण लेने के बाद जो आर्थिक विकास होगा उससे ही देश की उत्पादिता बढ़ेगी और उसकी भुगतान क्षमता बढ़ सकेगी। ऐसी स्थिति में भुगतान क्षमता का अध्ययन ऋण देने से पूर्व नहीं किया जा सकता है; केवल बाद में ही किया जा सकता है।

(५) बैंक द्वारा जब एक देश को ऋण दिया जाता है तो इसमें पर्याप्त समय लग जाता है। बैंक से ऋण प्राप्त करने के लिए एक देश जब प्रार्थना-पत्र देता है और जब वास्तव में उसे ऋण प्राप्त होता है—इन दोनों कालों के बीच पर्याप्त दूरी रहती है। जो ऋण उचित मात्रा में एवं उचित समय पर नहीं दिया जाता उसका महत्व ही समाप्त हो जाता है।

(६) एक अन्य आलोचना यह भी की जाती है कि ऋण देने एवं सम्बन्धित अधिकारियों की नियुक्ति करने में पर्याप्त पक्षपात किया जाता है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि विश्व बैंक पर संयुक्तराज्य अमेरिका और उनके मित्रों का प्रभाव है और उन्हीं के हितों का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है। विश्व बैंक के उच्च पदों पर स्थित अधिकारी प्राय: इन्हीं देशों से लिए जाते हैं। बैंक द्वारा प्रारम्भिक काल में यूरोप और अमेरिका के देशो को जो सहायता प्रदान की गयी थी वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है।

यह आलोचना सत्य होते हुए भी पक्षपातपूर्ण लगती है क्योंकि उच्च पदाधिकारियों के लिए जिस अनुभव, प्रशिक्षण एवं योग्यता की आवश्यकता है वह प्राय: अर्द्ध-विकसित देशों में नहीं मिल पाती। इतने पर भी बैंक ने

अर्द्ध-विकसित देशों के वरिष्ठ अधिकारियों को प्रशिक्षित करने का काम सम्भाल लिया है। इसके अतिरिक्त ऋणों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त उदार नीति अपनाई जा रही है।

विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद भी इसमें कोई शक नहीं है कि विश्व बैंक एक उपयोगी और महत्वपूर्ण संस्था है। बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष ब्लैक का मत था कि विश्व बैंक अर्द्ध-विकसित देशों के लिए एक अपूर्व सहारा है। बैंक का उद्देश्य एक ऐसी विचारधारा और व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमें सम्पन्नता और बहुलता केवल एक कल्पना या स्वप्न न रह कर एक साकार सत्य बन जाय।

विश्व बैंक के नये अध्यक्ष राबर्ट मैकनामारा

(World Bank's New President Mr. Robert Macnamara)

विश्व बैंक के नये अध्यक्ष राबर्ट मैकनामारा ने वाशिंगटन में ३ सितम्बर, १९६८ को प्रमुख नीति सम्बन्धी घोषणा की।[1] उन्होंने बताया कि अगले ५ वर्षों में बैंक का ध्यान एशिया की अपेक्षा अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका की ओर अधिक आकर्षित हो जाएगा। अतीत काल में बैंक ने अपने प्रयासों को दक्षिणी एशियाई महाद्वीप में केन्द्रित रखा है। इतने पर भी यहां बहुत कुछ करना बाकी है। इस क्षेत्र में इन्डोनेशिया जैसे देशों को बैंक ने कभी धन उधार नहीं दिया। मैकनामारा विश्व बैंक के गवर्नरों की वार्षिक बैठक को सम्बोधित करते हुए बोल रहे थे। उन्होंने बताया कि "बैंक अगले पांच वर्षों में विकासशील देशों के लिए अपनी सहायता को दुगुनी कर देगा।"[2] यह इसलिए सम्भव हो सकता है कि विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्था की क्षमता अत्यन्त व्यापक है।

बैंक आगे आने वाले समय में कृषि और जनसंख्या की समस्या पर अधिक ध्यान देगा। उनके मतानुसार औद्योगिक क्रान्ति के अनुसार होने वाले विकासों से अब तक कृषि सम्बन्धी वर्तमान क्रांति पर्याप्त उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक विकासशील देशों को यह बतायेगा कि उनकी जनसंख्या का तीव्र विकास उनकी सम्भावित प्रगति को किस प्रकार धीमा

---

1. The Economic Times, Volume VIII No. 146. October, 1968, Page 1.
2. "I believe that globally the Bank group should during the next five year lend twice as much as during the next five years."—Ibid.

बना देना है। मैकनामारा की घोषणा के अनुसार बैंक लगभग ११,४०० मिलियन डालर विकासशील देशों को अगले पांच वर्षों में उधार देगा। यह मात्रा उनके द्वारा पिछले २२ वर्षों में उधार दिये गये धन के बराबर है।

जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाने के अतिरिक्त बैंक कृषि उत्पादन में द्रुतगति से विकास करने का उद्देश्य अपनाएगा। इसके लिए गेहूं और चावल के अच्छे बीज उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाएगा और सिंचाई, खाद, कृषकों की शिक्षा आदि की दृष्टि से विभिन्न प्रयास किए जायेंगे।

विदेशी सहायता की वर्तमान स्थिति में उन्होंने अपना असन्तोष व्यक्त किया और बताया कि सम्पन्न देश यह सोचते हैं कि उन्होंने गरीब देशों के विकास के लिए अरबों डालर बिना किसी सन्तोषजनक परिणाम के दे दिए। दूसरी ओर गरीब देश यह सोचते हैं कि आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त धन नहीं दिया गया। मि० मैकनामारा की राय थी कि दी गयी सहायता बेकार नहीं गयी वरन् वह पर्याप्त लाभप्रद सिद्ध हुई है। वैसे धनवान् देश अपनी क्षमता के अनुसार और अधिक सहायता दे सकते हैं। १९६० से अब तक इन देशों की वास्तविक वार्षिक आय लगभग ४ लाख डालर बढ़ गयी है। यह वृद्धि की मात्रा एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के गरीब देशों की कुल वार्षिक आय से अधिक है।

आर्थिक सहायता के अनुसार परिणाम प्राप्त न होने का दोष न केवल धनवान् देशों की कन्जूसी को दिया जा सकता है वरन् सहायता प्राप्त करने वाले देश भी इसके लिए समान रूप से दोषी हैं। अर्थ-व्यवस्थाओं का कुप्रबंध, अभावपूर्ण साधनों का राष्ट्रवादी युद्धों में लगाना, सामाजिक संगठन की भेद-भावपूर्ण व्यवस्था और आय का असमान वितरण इन देशों का एक प्रमुख दोष रहा है। इस स्थिति को दूर करके ही विदेशी सहायता का वांछनीय लाभ प्राप्त किया जा सकता है। बैंक की इस बैठक में ११० गवर्नर तथा उनके विकल्प उपस्थित थे। इनमें से अधिकांश सदस्य देशों के वित्त मन्त्री अथवा केन्द्रीय बैंक के गवर्नर थे। मैकनामारा का मत है कि धनी और निर्धन देशों के अन्तर को कम करने के लिए व्यापक स्तर पर प्रयास किये जाने चाहिए।

१२

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या

(THE PROBLEM OF INTERNATIONAL LIQUIDITY)

"यदि हम तरलता का अर्थ एक व्यक्ति अथवा एक
समूह की स्थिति से लगाएं तो हमें इसकी
व्याख्या तुरन्त भुगतान करने की क्षमता
के रूप में करनी होगी।"

—फ्रिज मैकलप

अन्तरर्ष्ट्रीय तरलता की समस्या ।

(The Problem of International Liquidity)

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की चर्चा एक महत्वपूर्ण विषय बन गई है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत प्रायः उन सभी वित्तीय साधनों एवं सुविधाओं को शामिल किया जाता है जो व्यक्तिगत देशों के मुद्रा सम्बन्धी अधिकारियों के लिए भुगतान शेष की पूर्ति करने के हेतु उपलब्ध रहते हैं। दूसरे प्रकार से इसे यों कहा जा सकता है कि जब खाते को अन्य निधियों से सन्तुलित न किया जा सके तो बची हुई रकम का भुगतान विदेशी मुद्रा में किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में जिन मुद्राओं को शामिल किया जाता है, उनका कोष अन्य देशों में भी होना चाहिये। भारतीय रुपया अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का आधार केवल तभी बन सकता है जब यह न केवल भारत के पास वरन् विश्व के अन्य देशों के पास भी हो।

तरलता के अर्थ

(The Meaning of Liquidity)

तरलता के अर्थ के सम्बन्ध में एच० डब्ल्यू० आर्नट (H. W. Arndt)[1] तथा फ्रिज मैकलप (Fritz Machlup) आदि ने अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए। मैकलप के कथनानुसार "यदि हम तरलता का अर्थ एक व्यक्ति अथवा समूह की स्थिति से लगाएं (चाहे उसका आकार सम्पूर्ण राष्ट्र से लेकर सम्पूर्ण संसार तक, कितना ही क्यों न हो) तो हमें इसकी व्याख्या तुरन्त भुगतान करने की क्षमता (Capacity to pay promptly)

---

1. H. W. Arndt : "The Concept of Liquidity in International Monetary Theory," Review of Economic Studies, Volume 15 (1947–1948) P.P. 20–26.

के रूप में करनी होगी।" इसके अतिरिक्त एक निश्चित समय के लिए आवश्यक कोषों के लिए जमा किए जाने योग्य कोषों के अनुपातों के रूप में इसकी अभिव्यक्ति की जाती है।. यहां समस्या यह पैदा होती है कि हमारा अर्थ किस कोष से किस चीज के भुगतान करने की किस क्षमता से है ? इनमें से प्रत्येक प्रश्न अनेक उत्तर प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यह शब्द अनेकार्थक है। इसके सही अर्थ को जानने में हमारे सामने अनेक कठिनाईयाँ आती हैं। विचारकों का मत है कि तरलता के मत की अनिश्चितता ही इस शब्द की लोकप्रियता का कारण है।

तरलता का सही अर्थ जानने के लिए तीन मुख्य प्रश्नों का उत्तर देना जरूरी है :—(१) कोष के सम्भावित स्रोत क्या-क्या हो सकते हैं ? (२) कोष के उपयुक्त प्रयोग क्या-क्या होंगे ? और (३) भुगतान करने का किसी क्षमता से हमारा क्या अर्थ है ? फ्रिज मैकलप ने कोष के सम्भावित दस स्रोतों का उल्लेख किया है। इनमें कुछ स्रोत तो व्यापक और अनिश्चित हैं, विशेष रूप से वे जहां विषयगत निर्णय का महत्व है; अर्थात जहां गम्भीर हानियों और बुद्धिपूर्ण शर्तों या वस्तुओं की आवश्यक खरीददारी आदि का उल्लेख किया गया है।

फ्रिज मैकलप ने १९ ऐसे विषयों का उल्लेख किया है जिनमें सम्भावित रूप से कोष का प्रयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त १६ ऐसे सम्भावित विषयों का उल्लेख किया है जो भुगतान करने की क्षमता रखते हैं।

जब हम यह जानना चाहते हैं कि एक फर्म की तरलता क्या है अर्थात् तुरन्त भुगतान करने की उसकी क्षमता क्या है ? तो इसके लिए पहले यह देखना होता है कि कोष के किन स्रोतों एवं प्रयोगों को ध्यान में रखा जाना चाहिये ? जब हम दो या दो से अधिक फर्मों की कुल तरलता की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे सामने धारणा सम्बन्धी कठिनाईयां आती हैं। यह समस्या पैदा होगी कि क्या हमको उस समूह में एक फर्म द्वारा दूसरे फर्मों से खरीदी गई चीजों को सम्मिलित करना चाहिये ? क्या हमको एक फर्म द्वारा भुगतान किए जाने वाले और दूसरी फर्म द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लेखों को सम्मिलित करना चाहिये ? इन प्रश्नों का उत्तर सरल रूप में नहीं दिया जा सकता। समूह के अन्तर्गत एक-दूसरे को भुगतान करने की फर्मों की क्षमता एक दूसरी चीज है और समूह के बाहर फर्मों को भुगतान करना दूसरी चीज है। उनकी सम्मिलित तरलता के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना प्रश्न का पूरा अर्थ समझे बिना अर्थहीन रहेगा।

कई स्थितियों में ऐसा लगता है कि तरलता शब्द का प्रयोग न किया जाए किन्तु ऐसी स्थिति में भ्रम पैदा होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। यदि इसके लिए हम अन्य शब्द का प्रयोग करते हैं तो वह शब्द प्रायः ऐसा नहीं होता जो अपने अर्थ को निश्चित रूप से अभिव्यक्त कर सके। विचारकों का मत है कि पहले शब्द बना लेना और फिर अर्थ ढूंढना एक अर्थहीन चीज है जबकि होना यह चाहिये कि किसी एक निश्चित अर्थ के लिये उपयुक्त पद ढूंढा जाए। जब हम उपयुक्त शब्द ढूंढ लेते हैं तो इससे मौखिक या लिखित विचार-विमर्श में समय की पर्याप्त बचत हो जाती है, किन्तु इस सुविधा को प्राप्त करने के लिए हमें शब्द अन्य अर्थों से ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे भ्रम पैदा होने का अंदेशा बढ़ जाता है।

तरलता का एक घरेलू क्षेत्र होता है। इसके अतिरिक्त उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी होता है। जब निजी केन्द्रीय बैंक अपने कोष में से विदेशी दायित्वों का निर्वाह करने के लिए उत्तरदायी होता है और इस उत्तरदायित्व को वह तुरन्त पूरा करने की क्षमता रखता है तो हम इसे केन्द्रीय बैंक की तरलता का नाम देंगे। समस्या उस समय पैदा होती है जब कुछ या सभी केन्द्रीय बैंकों को एक समूह मानकर उनकी परस्पर भुगतान करने की क्षमता का मूल्यांकन किया जाता है। दूसरी समस्या यह है कि केन्द्रीय बैंकों के आकस्मिक विदेशी दायित्व न केवल उनके विदेशी कर्जे से वरन् उन देशों की फर्मों तथा व्यक्तियों के कर्जों और खरीदारियों से उत्पन्न होते हैं जिनका घरेलू धन इन केन्द्रीय बैंकों द्वारा नियंत्रित या प्रसारित किया जाता है।

जब सुरक्षित मुद्रा वाले देशों के दायित्व का प्रयोग दूसरे केन्द्रीय बैंकों की विदेशी निधि के रूप मे किया जाता है तो उसे संक्षेप में स्वर्ण विनिमय मापक की कमजोरी और शक्ति दोनों ही कहा जा सकता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक की निधि के रूप में प्रयुक्त सम्पत्ति की कुल मात्रा बढ़ जाती है किन्तु यदि इस बढ़ी हुई मात्रा को हम अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था की तरलता कह दें तो इससे केवल भ्रम ही बढ़ेगा और समस्या का किसी प्रकार का समाधान नहीं होगा। अच्छा यह होगा कि जिस प्रकार बैंकरों और जमा-कर्त्ताओं की तरलताओं को एडीटिव (Additive) नहीं माना जाता उसी प्रकार बैंकर देशों और जमा-कर्त्ता देशों की तरलताओं को भी एडीटिव न माना जाये। राष्ट्रीय-स्तर पर एक बैंक की तरलता के भाग के रूप में उसकी उधार लेने की क्षमता और वापस करने की क्षमता को सम्मिलित किया जाता है। उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी किया जाना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर स्थिति यह होती है कि बैंक केवल वही उधार ले सकता है जो दूसर बैंक द्वारा दिया जा रहा है और स्वयं उतना ही माल

उधार दे सकता है जितना दूसरों द्वारा स्वीकार किया जाए। इस दृष्टि से देखने पर हम पायेंगे कि यदि कर्ज लेने वाले और विक्रेताओं की तरलता बढ़ती है तो उधार देने वालों और खरीददारों की तरलता कम होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तरलता का एक महत्वपूर्ण स्रोत है क्योंकि इसके द्वारा विभिन्न देशों को अपनी निजी सम्पत्ति में से पूंजी प्रदान की जाती है और इसके अतिरिक्त यह विभिन्न शर्तों के आधार पर अन्य साख सुविधायें भी प्रदान करता है। मुद्रा कोष के अतिरिक्त दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें भी साख सुविधाओं और द्विपक्षीय समझौतों के माध्यम से तरलता प्रदान करती है।

मुद्रा कोष की स्थापना मुख्य रूप से इसलिए की गयी थी ताकि वह स्वर्ण एवं चलन की निधि रखे और इनके द्वारा वह सदस्यों की सहायता कर सके। विभिन्न सदस्य देश अपने भुगतान सन्तुलन के घाटे की पूर्ति कोष द्वारा दी जाने वाली अस्थाई सहायता द्वारा करते हैं। प्रत्येक सदस्य-देश को यह सुविधा प्रदान की गई है कि वह अपनी मुद्रा के बदले बिना किसी शर्त के कोष से उतनी मुद्रा उधार ले सकें जितनी उसकी स्वर्ण निधि है। यदि वह उससे अधिक लेना चाहता है तो सशर्त रूप में वह ऐसा कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा जो तरलता प्रदान की जाती है वह मूल रूप से दो भागों में विभाजित की जा सकती है। (१) शर्त-रहित तरलता और (२) सशर्त तरलता प्रथम में उधार लेने की सीमा स्वर्ण निधि की मात्रा तक रख दी गयी है जबकि दूसरे की सीमा साख निधि तक रखी गई है। सशर्त तरलता को उसकी शर्तों के कारण अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे भी एक देश अपनी भुगतान सन्तुलन की विषमताओं को दूर करने का प्रयास करता है।

तरलता का निर्माण मुद्रा कोष के अतिरिक्त साधनों से भी किया जाता है। युद्ध के बाद विश्व की तरलता में जो वृद्धि हुई है, उसका बहुत कुछ श्रेय स्वर्ण उत्पादन एवं अमेरिकी भुगतान सन्तुलन के घाटे को दिया जा सकता है। जब अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन में घाटा रहता है तो अन्य देशों की केन्द्रीय बेंकों के पास डालर निधि बढ़ जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका से अन्य देशों के मुद्रा अधिकारी प्रार्थना करें तो वह स्वर्ण के बदले में डालर देने को तुरन्त तैयार हो जाता है। जब एक देश अमेरिकी डालरों को स्वर्ण के रूप में परिवर्तित कर लेता है तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि नहीं होती है क्योंकि दूसरे देशों को जो स्वर्ण मिला वह अमेरिका द्वारा ही प्रदान किया गया था। ऐसी स्थिति में अमेरिका के स्वर्ण कोष कम हो जायेंगे।

निधि-निर्माण के तरीकों की सीमायें—एक देश अपनी निधि के निर्माण में जिन तरीकों को काम में लाता है, उन पर अनेक सीमायें लगी रहती हैं। प्रथम सीमा, स्वर्ण-परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती है। जब एक देश डालर को सोने के रूप में बदलने का प्रयास करता है तो इसके कारण अमेरिका के स्वर्ण कोष बहुत कुछ कम हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य सीमा यह भी है कि जब दूसरे देशों की डालर निधि बढ़ जाती है तो अनिश्चितता का वातावरण बनता है। ऐसी स्थिति में जो भी डालर के स्वामी हैं वे यह सोचने लगेंगे कि अपने डालरों को स्वर्ण में परिवर्तित कर दें। ऐसी स्थिति मे अमेरिका की डालर निधि और भी बढ़ जाएगी। फलत: यदि संयुक्तराज्य अमेरिका में घाटे की स्थिति आती है तो इससे विश्व तरलता में कमी आ जाएगी। यदि संयुक्तराज्य अमेरिका हमेशा ही अपने भुगतान सन्तुलन में घाटे की स्थिति रखेगा तो यह न तो विश्व के लिए लाभदायक है और न स्वयं उसके लिए ही। ऐसी स्थिति में इसे समाप्त किया जाना उपयुक्त समझा जाता है।

तरलता की पर्याप्तता

(The Adequacy of Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा को कब पर्याप्त कहा जाए और कब उसे अपर्याप्त माना जाए यह एक मौलिक समस्या है। इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। सिद्धान्त रूप में सम्भवत: प्रत्येक देश अपनी राष्ट्रीय नीतियों का पालन करते हुए अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय खातों में सन्तुलित पाता है। यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि विभिन्न देशों का भुगतान शेष हमेशा सन्तुलित नहीं रहता है और प्राय: वह घाटे की स्थिति में रहता है। इस घाटे की पूर्ति करना परम आवश्यक है। घाटे की स्थिति न रहने पर भी एक देश को यह विश्वास होना चाहिये कि यदि कभी उसे घाटे की स्थिति का मुकाबला करना भी पड़ा तो घाटे की वित्तीय-व्यवस्था उसे उपलब्ध हो सकेगी जिसके आधार पर वह एक निश्चित समय में पुन: सन्तुलन प्राप्त कर सके। विश्व-व्यापार की मात्रा बढ़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बहुत कुछ असन्तुलित बन जाते हैं। जब तक तरलता का विशेष स्तर नहीं बनाया जाता तब तक विश्व-व्यापार का विस्तार एवं संसार की अर्थ-व्यवस्था का विकास दोनों ही रुक जाते हैं।

तरलता के पर्याप्त स्तर को तय करना अत्यन्त कठिन है। परिणाम को देखकर ही इसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता का बिन्दु वहां माना जा सकता सकता है जहां से नीचे गिरने

पर संसार के विभिन्न देश अपने खाते को सन्तुलित करने के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास की लागत पर निर्भर रहते हैं और जिससे ऊंचे उठने पर संसार के विभिन्न देश भुगतान सन्तुलन में लगातार घाटा सहन करते रहते हैं। यह घाटे की स्थिति विदेशों मे प्रसार की स्थिति को प्रोत्साहन देती है।

असल में हमारे पास अभी तक आंकड़ों की कोई ऐसी कसौटी नहीं बन पाई है जो नि:सन्देह रूप से यह बता सके कि तरलता की एक मात्रा पर्याप्त है अथवा नहीं। एक ही देश की तरलता के बारे में कुछ लोगों का विश्वास होता है कि यह अत्यधिक है जबकि दूसरों का विचार होता है कि यह आवश्यकता से कम है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा एवं रूप के सम्बन्ध में जटिल समस्या का एक अन्य कारण यह है कि प्रत्येक देश इसे अपने दृष्टिकोण से देखता है। अपनी आर्थिक स्थिति और राष्ट्रीय तरलता के अनुभवों से प्रभावित होने के बाद वह विश्व तरलता के बारे में दूसरों जैसे विचार नहीं रख पाता वरन् प्रत्येक पक्ष अपने समर्थन के लिए कोई तर्क ढूंढ़ लेता है।

अब तक अमेरिका के घाटे की व्यवस्था विश्व की तरलता का स्रोत मानी जाती थी किन्तु इसके समाप्त होने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का एक महत्वपूर्ण स्रोत समाप्त हो गया। अब आवश्यकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय निधि के निर्माण के लिये और कोई तरीका खोजा जाए।

इस समस्या पर वर्तमान काल में पर्याप्त अध्ययन किए गए हैं। इन विभिन्न अध्ययनों में दस देशों का समूह (Group of Ten) और संयुक्त राष्ट्र व्यापार तथा विकास के लिए सम्मेलन (United Nations Conference on Trade & Development) द्वारा नियुक्त विशेषज्ञो के प्रतिवेदन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दस के समूहों का सम्मेलन जून, १९६६ में फ्रेंक फर्ट मे किया गया था। इस सम्मेलन में विश्व की भुगतान प्रणाली को सुधारने के लिए अधिक ठोस सुझाव प्रदान नहीं किए गए थे किन्तु फिर भी सम्मेलन के अध्यक्ष डा० एमिन्गर (Emminger) ने बताया कि समूह के सदस्य निम्न बातों में सहमत थे—

(१) वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी तरलता कम नहीं है।

(२) जब तक संयुक्तराज्य अमेरिका के भुगतान संतुलन में घाटे की स्थिति है उस समय तक अतिरिक्त तरलता के निर्माण के लिए विचार नहीं किया जा सकता।

(३) वर्तमान परिस्थितियों में निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा

सकता कि यदि अमेरिका का भुगतान सन्तुलन समतुल्य बन जाए तो अतिरिक्त तरलता आवश्य होगी।

डा० एमिन्गर का यह विचार था कि संयुक्तराज्य अमेरिका में स्थित घाटे की अर्थ-व्यवस्था का कारण आर्थिक नहीं है, वरन् यह राजनैतिक है। इसमे वियतनाम का युद्ध भी सम्मिलित है। वियतनाम का युद्ध समाप्त होने पर अमेरिका की घाटे की अर्थ-व्यवस्था एकदम बदल सकती है, किन्तु इससे अनेक नवीन आर्थिक समस्याएं पैदा हो जाएगी।

संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास के लिए सम्मेलन ने विशेषज्ञों के समूह को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर विचार करने के लिए नियुक्त किया। इस सम्मेलन ने अपने प्रतिवेदन में यह बताया कि निधियों का विस्तार करना विकासोन्मुख देशों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए आवश्यक है। समूह का कहना था कि यदि विश्व तरलता का विस्तार कर दिया गया तो विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं सहायता की नीतियों में अधिक उदार दृष्टिकोण अपना सकेंगे। वर्तमान समय मे निधि की मात्रा कम होने के कारण यह सीमित स्तर पर है। समूह ने विभिन्न देशों के विकास की दर एवं व्यापार की समस्याओ के बारे में गम्भीर चिन्ता व्यक्त की। समूह का कहना था कि निधि का विस्तार और निधि की कमी के प्रभाव न केवल घाटे की व्यवस्था वाले देशों में ही लागू होते हैं वरन् ये अधिशेष वाले देशो में भी लागू होते हैं। सामान्य रूप से समूह ने यह माना कि निधियों का साधारण स्तर अपर्याप्त था और इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में विस्तार की आवश्यकता महत्वपूर्ण थी।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सम्बन्ध में जो भी अध्ययन किए गये उनकी अनेक बातें महत्वपूर्ण थीं। उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय एक बात यह थी कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की रचना विभिन्न साधनों से करने की बात कही गयी। वर्तमान समय में ऐसी तकनीकों पर ध्यान दिया जा रहा हैं जिन्हें अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय समिति के आधार पर समय के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि की जा सके। तरलता में वृद्धि का कार्य कोष के अन्तर्गत और कोष के बाहर दोनों ही जगह किया जा सकता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह बताया जाता है कि कोष का विकास एवं विस्तार किया जाए क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता उपलब्ध कराने वाली यह एक आधार भूत संस्था है।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता के बिन्दु का पता लगाना अत्यन्त कठिन है किन्तु फिर भी यदि विवाद में न पड़कर यह मान भी लें

कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति का स्तर वर्तमान काल मे पर्याप्त है तो भी भविष्य के बारे में समस्या उठ सकती है। यह कहा जा सकता है कि भावी-वृद्धि की दर सम्भवतः अपर्याप्त है। भविष्य के प्रबन्ध के लिए ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सम्बन्ध में उपयुक्त कार्यवाही कर सके इस व्यवस्था को करते समय कई बातों का निर्धारण करना होगा, जैसे (१) भविष्य में विश्व को निधियों की कितनी आवश्यकता है और वे सम्भवतः कितनी बढ़ सकती है? (२) यदि आवश्यक समझा जाए कि निधि निर्माण यत्र होना चाहिए तो प्रश्न यह है कि इस यत्र मे भाग लेने वालों की संख्या कितनी रखी जाय? (३) विभिन्न देशो के बीच निधियों का वितरण किस आधार पर किया जाय? और (४) इन सब क्रियाओं का नियमन किसके द्वारा किया जाय? निधि निर्माण से सम्बन्धित समस्या का समाधान कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि वह विकसित और विकासोन्मुख दोनो प्रकार के देशो की न्यायपूर्ण निधि-आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

समस्या पर भारत में विचार–विमर्श

(Discussions on the Problem held in India)

दिसम्बर, १९६४ मे बडौदा मे भारतीय आर्थिक संस्था के सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से सम्बन्धित समस्या पर पर्याप्त विचार किया गया। इस विषय पर कुल मिलाकर २० निबन्ध प्रस्तुत किये गये जो इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते थे। इन सभी के अन्तर्गत सामान्य रूप से यह सहमति प्रकट की गयी कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की रचना में क्या-क्या तत्व आते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को परिभाषित करते हुए यह कहा गया कि इसमें वे सभी साधन स्रोत हैं जो कि भुगतान सन्तुलन के घाटे की व्यवस्था का मुकाबला करने के उद्देश्य से विभिन्न देशों की मौद्रिक सत्ताओं के पास उपलब्ध रहते है। सम्मेलन के सभी सदस्य इस बात से सहमत थे कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता का निर्धारण करने का मापदण्ड निश्चित करना बहुत कठिन है किन्तु फिर भी तत्कालीन परिस्थितियों में कुल मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की कमी नही थी; फिर भी भविष्य में यह कमी विकसित हो सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को भविष्य की बढ़ती हुई मांगों के अनुसार किस प्रकार बढ़ाया जाय, इसके सम्बन्ध में विभिन्न विचारकर्त्ताओं के बीच मतभेद था।

बडौदा के सम्मेलन में जिन विभिन्न प्रश्नों पर जिन विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया उनका यहां उल्लेख करना अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति को नही जानने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

क्रान्तिकारी बनाम विकासवादी दृष्टिकोण
(Revolutionary Vs. Evolutionary Approach)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति को सुधारने के लिए विचारकों ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किए किन्तु इनमें से कुछ विचारकों ने दृढ़ अथवा क्रांतिकारी दृष्टिकोण का समर्थन किया। इन्होंने विश्व केन्द्रीय बैंक जैसी संस्था का रचना के लिए प्रस्ताव रखे। यद्यपि इन प्रस्तावों के समर्थन में थोड़े ही तर्क दिए गये और इन्हें क्रियान्वित करने में जो विभिन्न समस्याएं आती हैं उसके बारे में बहुत कम कहा गया। दूसरी ओर मि० नायक और श्रीनिवास मूर्ति आदि विचारकों ने एक विकासवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। उन्होंने पिछले दो तीन वर्षों के विभिन्न सुधारों एवं सुविधाओं का केवल उल्लेख किया, मुद्रा कोष की नीतियों में परिवर्तन लाने की बात कही, केन्द्रीय बैंकों में द्विपक्षीय समझौते प्रबन्धों का समर्थन किया और ऐसे ही अन्य उपाय बतलाए। मि० नायक ने अपेक्षाकृत एक व्यापक तथ्यगत सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। सम्मेलन में इन विकासवादी और क्रान्तिकारी पक्षों के बीच विचारों का महत्वपूर्ण आदान-प्रदान हुआ। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि विकासवादी दृष्टिकोण को उद्देश्य के रूप में मस्तिष्क में रखते हुए भी निकट भविष्य में विकासवादी दिशा में प्रगति की सम्भावनाएं अधिक हैं।

वैसे देखा जाय तो इन दोनों विश्वासों के बीच अन्तर की खाई इतनी चौड़ी नहीं जितनी कि समझी जाती है। यदि अधिकांश यूरोपीय देशों तथा अमेरिका की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि निकट भविष्य में क्रान्तिकारी प्रस्तावों को स्वीकार करना मुश्किल है किन्तु फिर भी वर्तमान विचार प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है। वैसे विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनों ही भविष्य की ओर देखने का दृष्टिकोण अपना रहे थे :

पर्याप्तता से सम्बन्धित विचार
(Considerations Regarding Adequacy)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के प्रमुख तत्व, उसका स्तर, उसकी बनावट और उसका वितरण होते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बनावट बहुरूपी होती है। ऐसी स्थिति में उसकी पर्याप्तता को निर्धारित करना सरल नहीं है। यह बहुत कुछ एक व्यक्ति के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति सम्बन्धी लक्ष्यों एवं भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता के विभिन्न प्रकारों के समायोजन की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। ऐसा प्रतीत होता

कि कुछ बातों के सम्बन्ध में थोड़ी सहमति पाई जाती है जैसे-(१) कीमतों के स्थायित्व की स्थिति में सर्वाधिक रोजगार और विकास हो सकता है। (२) व्यापार एव विनिमय प्रतिबन्धों से स्वतन्त्रता प्राप्त की जाय। (३) विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित देशों की पूंजी के प्रभाव को संचालित किया जाय। (४) स्थाई विनिमय दरें कायम की जांय, और (५) स्थायित्व के साथ प्रगति को बनाये रखने के लिये उपयुक्त आर्थिक और मौद्रिक अनुशासन रखा जाय। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में कुछ मतभेदों की सम्भावना भी हो सकती है। भाग लेने वालों में से कुछ विचारकों का मत था कि लोचशील विनिमय दरों की व्यवस्था भुगतानों के सन्तुलन को समतुल्य बनाये रखने में महत्वपूर्ण रूप से सहायता करती है। वैसे निश्चित विनिमय दरों की व्यवस्था बनाये रखने के लिये एक सामान्य इच्छा प्रदर्शित की गयी। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता को इस पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिये। सम्भवत: यह कहना सही है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का विकास विश्व व्यापार और पूंजी के आवागमन के विकास की दरों के अनुमान के निकट होना चाहिये। कुल मिलाकर यह सामान्य धारणा थी कि तरलता के प्रसार की दर अतीत की तुलना में अधिक होनी चाहिये।

तरलता की बनावट
(Composition of Liquidity)

बनावट की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को प्राथमिक या अधिकृत निधियों एवं सभी प्रकार की उधार लेने की सुविधाओं से भिन्न किया जा सकता है। बनावट की दृष्टि से तरलता के दो रूप हो सकते हैं—स्वजनित तरलता (Automatic Liquidity) और सशर्त तरलता (Conditional Liquidity) अधिकृत साधन स्रोत कभी-कभी सशर्त तरलता की रचना करते हैं। दूसरी ओर लिये गये ऋण यद्यपि सामान्य रूप से सशर्त होते हैं किन्तु फिर भी वे अशर्त या स्वजनित तरलता की रचना करते हैं। ऋण लेने का प्रबन्ध सामयिक, कुछ समय के लिये अथवा लम्बे समय के लिए हो सकता है। प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रसार किस सीमा तक मुद्रा बनाम स्वर्ण का रूप धारण कर सकता है? और दो या तीन व्यक्तिगत देशों की मुद्रा के भण्डार बनाम बहुराष्ट्रीय मुद्रा के भण्डार या केन्द्रीय सुरक्षित संख्या की जमा का रूप धारण कर सकता है। यह तो स्पष्ट है कि स्वर्ण पैदावार का प्रसार वांछित अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विकास की दर को बनाये नहीं रख सकता। यह सच है कि आने वाले भविष्य में भी स्वर्ण के बिना काम नहीं चल सकता और यह अन्तिम अन्तर्राष्ट्रीय निधी है जो सामान्य रूप से विभिन्न देशों के बीच समता स्थापित करती है; फिर भी

भुगतान सन्तुलनों के घाटे की स्थिति को सुलझाने में स्वर्ण का महत्व घट रहा है और इसलिए प्राप्त स्वर्ण भण्डारों का सर्वाधिक प्रयोग करने के लिए प्रयास किया जा रहा है।

इस दृष्टि से स्वर्ण की कीमतों में वृद्धि का भी पर्याप्त महत्व होता है। स्वर्ण की कीमतों में वृद्धि का अपना राजनैतिक महत्व होता है। सोने के लिए गैर-मौद्रिक मांग की कीमतों में वृद्धि का प्रभाव तथा पुनर्मूल्यांकन की प्राप्तियों का विभिन्न देशों के बीच समानता के आधार पर वितरण एक विचारणीय प्रश्न रहा है।

प्रमुख मुद्राओं की व्यवस्था के लिये परिवर्तन
(Modifications to the System of Key-Currencies)

यदि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को मुद्रा एवं साख के साथ अधिक से अधिक समायोजित होना है तो इसके लिए प्रमुख मुद्राओं की वर्तमान व्यवस्था एवं स्वर्ण विनिमय के मापक में परिवर्तन पर विचार करना होगा। भविष्य में दो प्रमुख सुरक्षित मुद्राओं–पाउण्ड स्टर्लिंग और अमेरिकी डालर में घाटे की व्यवस्था द्वारा तरलता का प्रसार नहीं किया जा सकता क्योंकि अब अधिक समय तक बड़े घाटे की व्यवस्था को बनाये रखने की क्षमता काफी सीमित हो गई है। इस क्षेत्र में संयुक्तराज्य अमेरिका की सामर्थ्य भी बहुत कुछ घट गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सुरक्षित मुद्रायें भी दीर्घकालीन सन्तुलन नहीं बनाये रखना चाहती। इस दृष्टि से एक रास्ता तो यह है कि विश्व के केन्द्रीय बैंक में निधियों का केन्द्रीयकरण कर लिया जाय किन्तु ऐसा करने पर अनेक व्यावहारिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं

अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक, राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल हैं। इसके द्वारा अनेक तकनीकी समस्याओं को उपस्थित करने के अतिरिक्त इसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक सहयोग की एक मात्रा को मानकर चला जाता है जो निकट भविष्य में सम्भवतः दिखाई नहीं देती। इसके साथ ही सुरक्षित मुद्राओं के वर्तमान भण्डार को केन्द्रीय विश्व बैंक को स्थानान्तरित करने में भी अनेक समस्यायें पैदा होगी। यह कहा जाता है कि विश्व केन्द्रीय बैंक व्यवस्था द्वारा सदस्य देशों पर जो अनुशासन लादा जायेगा वह स्वभाविक रूप से आर्थिक समस्याएं पैदा करेगा और बिना अनुशासन के विश्व केन्द्रीय बैंक मन्दी की स्थिति में आ सकता है, जैसा की अनेक राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक आ जाते हैं।

नवीन प्रमुख मुद्राओं के भार को हलका करने के लिए एक अन्य समाधान मि० बर्नस्टीन (Bernstein) द्वारा सुझाया गया। इनके अनुसार एक

नई सुरक्षित इकाई रखी जाय जिसमें प्रमुख मुद्राओं में से एक दर्जन के लगभग के निश्चित अनुपात रखे जायं और उनका मूल्य बर्तमान अमेरिकी स्वर्ण डालर के बराबर रखा जांय। बर्नस्टीन ने बाद में अपनी मौलिक योजना के अन्तर्गत कुछ परिवर्तन किये। विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सुरक्षित इकाई में केवल २० प्रतिशत का अंशदान दिया गया।

इस सम्बन्ध में आज बहुत कम सन्देह किया जाता है कि साख या ऋण के प्रावधानों द्वारा तरलता का स्वभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाना चाहिये चाहे यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा या द्विपीक्ष रूप से या क्षेत्रीय रूप से किया जाय। प्रश्न यह है कि कर्ज को किस प्रकार कम से कम सशर्त अर्थात अधिक से अधिक स्वायत्त बनाया जाय ? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के माध्यम से लिये जाने वाले ऋण के सम्बन्ध में इसका महत्व विशेष रूप से बड जाता है।

कोष की नीतियों में अर्वाचीन परिवर्तन
(Recent Changes in Policies of I.M.F.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की नीति और प्रक्रियाओं में हाल ही में बड़े परिवर्तन हुये हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम पायेंगे की कोष में किये गये अनेक परिवर्तन ऐसे हैं जिनसे भविष्य में अनेक सम्भावनायें जन्म लेती हैं। कोष के ब्याज की दर में कमी करने का भी प्रस्ताव था। कोष नियतांश में वृद्धि और ऋण सम्बन्धी नीतियों में उदारता अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को प्रसारित करने में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। कानूनी रूप से यह एक सशर्त तरलता होगी और तथ्यगत रूप से यह अधिक से अधिक स्वजनित होगी। विचारकों का कहना था कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक भी बना दिया जाय तो उसके कार्यों की प्रकृति बहुत कुछ ऐसी ही होगी, जो कोष के द्वारा वर्तमान समय में किये जाते हैं। तरलता के कम से कम प्रसार की गारण्टी तो दी ही जानी चाहिये। साख के कुल प्रसार की भी कुछ सीमाएँ होंगी। ऋण सम्बन्धी व्यवहार पर सामूहिक रूप से देखभाल की जानी चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में अपनी साख स्थिति बनाये रखना, विश्व केन्द्रीय बैंक में जमा रखने अथवा अपनी मुद्रा रखने से भिन्न नहीं है। यह सुझाया जाता है कि कोष में किसी सदस्य की जो स्थित है, उसके लिये उसे प्रमाण-पत्र दिया जाना चाहिये। इस दृष्टि से राष्ट्रीय सम्प्रभुता को छोड़ना भी मूल रूप से कोई भिन्न चीज नहीं है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्था राजनीतिक पहलुओं को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ सकती। इन सभी दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, सुधार के लिये उपयुक्त संस्था बन जाता है।

तरलता का वितरण
(Distribution of Liquidity)

विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का वितरण भी एक महत्वपूर्ण विषय है। वर्तमान वितरण अतीत के असन्तुलनों को अभिव्यक्त करता है किन्तु भविष्य में सजगता पूर्ण किए गये प्रयास आवश्यक हैं ताकि तरलता की प्राप्ति में असमानता को कम किया जा सके। जहां तक विकसित देशों का सम्बन्ध है उनमें गलत वितरण की समस्याएं हैं। वहां सुरक्षित मुद्राओं के बड़े मौद्रिक दायित्वों की समस्याएं भी हैं। इस समस्या से दर्जनों देशों को प्रभावित किया जाता है किन्तु इसका समाधान सम्भव है।

विकासशील देशों की तरलता की आवश्यकता के लिए विशेष ध्यान दिया जाना भी आवश्यक है। यह सच है कि इन देशों में विकास के लिए दीर्घकालीन पूंजीगत सहायता की पर्याप्त मात्रा आवश्यक है। इसके अलावा ये तरलता की समस्या से भी प्रभावित हैं। कच्चे माल का उत्पादन करने वाले देश अपने निर्यातों के आकार और मूल्य में पर्याप्त उतार-चढ़ाव से प्रभावित होते हैं। उनमें विदेशी सहायता के प्रयोग के बारे में भी पर्याप्त ढील रहती है। प्रथम समस्या के निपटारे के लिए मुद्रा कोष ने हाल में ही यह सुविधा प्रदान की है कि उसके स्रोतों से अतिरिक्त धन निकाला जा सके किन्तु इससे अधिक फर्क नहीं पड़ता। नियतांशों के बढ़ने से उपलब्ध मात्रा भी बढ़ सकती है।

इस कोष की सहायता के अतिरिक्त कुछ और भी सुझाव दिए गये; जैसे-निर्यात प्राप्तियों का स्थायीकरण कोष (Export Receipt Stabilisation Fund) बनाया जाय। विकासशील देशों की एक जरूरत यह भी है कि वे विकसित देशों के बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवेश पा सकें। इसके अलावा विकासशील देशों में गरम धन के प्रवाह की भी समस्या है। विकासशील देशों में निधियों का संचय नही किया जा सकता, अतः ऋण लेने की सुविधाएं उनके लिए विशेष महत्व रखती है। जब मुद्रा कोषों के साधनों का प्रसार होगा तथा कोष की महत्वपूर्ण निधियां उदार बन जायेंगी तो इन देशों को बहुत लाभ रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लिए सुझायी गयी विभिन्न योजनाओं का विकासशील देशों के लिए क्या फायदा हुआ ? इस पर विशेष रूप से विचार करना चाहिए। यह उपयुक्त है कि प्रत्येक योजना में विकासशील देशों की आवश्यकताओं के प्रति विशेष ध्यान दिया गया है। यद्यपि वे उन पर भिन्न रूप से विचार करना चाहती हैं।

विकासशील देशों की तरलता पर आवश्यक विचार करते समय यह उल्लेखनीय है कि इन देशों द्वारा उपयुक्त प्रशुल्क एवं मौद्रिक नीतियां अपनाई जानी चाहिए ताकि घरेलू कीमतों में उपयुक्त स्थायित्व रह सकें। जब

तक प्रशुल्क सम्बन्धी एवं मौद्रिक अनुशासन नहीं रखा जाता, तब तक यह आशंका रहती है कि निधियों का उच्च-स्तर शीघ्र समाप्त हो जाएगा ।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और देखभाल

(International Collaboration and Surveillance)

यहां एक बात महत्वपूर्ण यह है कि स्थिति में सुधार के लिए दिए गये प्रत्येक सुझाव में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और निगरानी रखने की परम आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सम्प्रभुता की कुछ मात्राओं को भी छोडना पड़ेगा । कुछ विचारकों का सुझावा है कि इस सम्बन्ध में यदि कुछ विभिन्नता रखी जाए तो अधिक नुकसान नहीं रहेगा । लोचशीलता एवं कार्य कुशलता के लिए अनेक प्रकार के प्रबन्ध किए जाने चाहिए । ऐसी स्थिति में उपयक्त अवरोधों तथा संतुलनों की स्थापना हो जाएगी । भुगतानों के संतुलनों की व्यवस्था अलग-अलग देशों में अलग अलग होती हैं । इसके अलावा एक ही समय में यह अलग-अलग देशों में भिन्न होती हैं । सभी स्थितियों में तरलता की गति उल्लेखनीय रहती है ।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के माध्यम से उन उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में पर्याप्त सफलता रही है जो विश्व केन्द्रीय बैंक की स्थापना से प्राप्त किए जाने थे । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए सम्भावित आवश्यकता यह है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने के लिए व्यापारिक बैंक तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार सदस्य देशों को कोष द्वारा प्रदान की गई साख सुविधाओं का प्रयोग संकटकालीन कार्य की अपेक्षा साधारण व्यावहार के रूप में करना चाहिए । कोष के माध्यम से जो लेन-देन का व्यापार किया जाता है उससे साख वाले और अतिरेक वाले देशों को पर्याप्त सुरक्षाएं प्रदान की जाती हैं । इसके अतिरिक्त कोष की साख सुविधाओं को उदार बनाना तथा कोष के साधनों को प्रसारित करना भी बहुत कुछ उपयुक्त रहेगा ।

कुल मिलाकर कोष के कार्य पर्याप्त संतोषजनक रहे । एस० एल० सिन्हा के शब्दों में "इसकी नीतियां, प्रक्रियाएं एवं साधन स्रोत, विशेष रूप से वर्तमान वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की बदलती हुई आवश्यकताओं का मुकाबला करने के लिए निरन्तर समायोजित होते रहे हैं ।"[1] आज की स्थिति

1. "Its policies, procedures and resources have been continuously adopted to meet the changing needs of International Finance, particularly in recent years." – S L Sinha, Essays on Finance, Page–133.

में विकसित अथवा कम विकसित देशों को कोष से जितनी आसानी से मदद मिल जाती है वह आज से एक दशाब्दी पूर्व कठिन थी। उदाहरण के लिए, ग्रेट-ब्रिटेन ने १९५७, १९६१ और १९६४ में जो बड़े कर्ज लिए उनका उल्लेख किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे सदस्य देशों में पर्याप्त विश्वास जागृत हुआ है और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में विश्वास एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व होता है। विकासशील देशों के प्रति कोष का दृष्टिकोण एवं सहयोग पर्याप्त सहायता पूर्ण रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा इन देशों के हितों की उल्लेखनीय रूप से साधना की गयी है। कोष अपनी नीतियों एवं प्रक्रियाओं में धीरे-धीरे सुधार करता जा रहा है। ब्रेटन वुड्स के बुद्धिमान सृष्टाओं ने कोष के प्रारूप को इतना लोचशील बनाया है कि उसमें बहुत कुछ समायोजन सम्भव है। यदि आवश्यकता यह मांग करे कि कोष के विधान को संशोधित किया जाए तो ऐसा करने में भी कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।

१४

भारत में विदेशी व्यापार : एक ऐति-हासिक विवेचन

(FOREIGN TRADE IN INDIA : A HISTORICAL ANALYSIS)

"भारत अपने व्यापार के कारण ही समृद्धिशाली है, क्योंकि सभी
राष्ट्र यहां सिक्के लाते हैं तथा उनके बदले में भारतीय वस्तुएं
ले जाते हैं। ये सिक्के भारत में ही गाड़ दिए जाते हैं
तथा बाहर नहीं निकल पाते।"

—हाकिन्स

"भारत का व्यापार दुनियां का व्यापार है। जो इसका पूर्ण
नियंत्रण कर ले वही यूरोप का तानाशाह है।"

—पीटर महान्

भारत में विदेशी व्यापार : एक ऐतिहासिक विवेचन

(Foreign Trade in India ; A Historical Analysis)

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से ही विदेशी व्यापार का प्रचलन रहा है। इतिहास के अभिलेख यह प्रमाणित करते हैं कि ईसा से ११०० वर्ष पूर्व भी भारतीय व्यापारी दूर-दूर तक वस्तुओं का आदान-प्रदान करते थे। अनेक स्थानों पर खुदाई करके पुरातत्व-वेत्ताओं ने यह प्रमाणित किया है कि प्राचीन भारत का मिस्र, अरब, जर्मनी, चीन, जापान और जावा, सुमीत्रा आदि के साथ व्यापार था। यही उस काल की सम्पन्नता का मुख्य आधार था। पीटर महान् (Peter the Great) का कहना था कि "भारत का वाणिज्य विश्व का वाणिज्य है और जो इसका पूर्ण नियंत्रण कर ले वही योरोप का तानाशाह बन जायगा।" हाकिन्स (Hakines) के मतानुसार "भारत अपने व्यापार के कारण ही समृद्धिशाली है क्योंकि यहाँ सभी राष्ट्र सिक्के लाते हैं और उनके बदले में भारतीय वस्तुएं ले जाते हैं। ये सिक्के भारत में ही गाड़ दिये जाते हैं फिर बाहर नहीं निकल पातें।" भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास का अध्ययन कुछ कालों में विभाजित किया जाय तो अधिक उपयुक्त रहेगा।

प्राचीन काल में भारतीय व्यापार

(India's Foreign Trade in Ancient Time)

मिस्र के पिरामिडों में प्राप्त लाशों पर ढाका की मलमल का होना भारतीय व्यापार की लोकप्रियता को प्रमाणित करता है। यूनान में इसे गजेटिका के नाम से पुकारा जाता था। मदनमोहन मालवीय के कथनानुसार "रोम जैसे नगरों में भारतीय वस्तुओं की बहुत मांग थी।" विद्वानों की मान्यता है कि भारत के पास एक विशाल जहाजी बेड़ा था जिसके माध्यम से वह विदेशी व्यापार करता था। उद्योग आयोग (१९१६–१८) के प्रतिवेदन

में यह कहा गया है कि जिस समय वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के जन्मदाता 'योरोप' में असभ्य जातियां रहती थीं उस समय भारत अपने राजाओं की सम्पत्ति तथा कलाकारों के उच्च कला-कौशल के लिये प्रसिद्ध था। भारत में दूसरे देशों से कई वस्तुओं का आयात भी किया जाता था। उदाहरण के लिये चीन से चीनी मिट्टी के बर्तन, रेशम और लंका से मोती आदि।

मध्यकाल में भारतीय विदेशी व्यापार

(Indias Foreign Trade in Medieval Time)

मुगल काल में विदेशी आक्रमणों तथा देश की आन्तरिक लड़ाइयों के कारण उत्पन्न स्थितियों ने यहां के व्यापार को कम कर दिया। अनिश्चित राजनैतिक स्थिति के कारण व्यापारियों के जान और माल सुरक्षित न रहने के कारण वे किसी प्रकार का जोखिम उठाने के प्रति उदासीन हो गये। इस काल का व्यापार मुख्य रूप से उन स्थल मार्गों से हुआ जिन्हें सिकन्दर के समय इस उद्देश्य के लिये ढूंढा जा चुका था। १२७१ से १२६४ ई० तक भारत का भ्रमण करने वाले मार्कोपोलो (Marcopolo) ने लिखा है "भारत अभी भी एशिया के मुख्य बाजारों में से एक था।" श्री बी नारायण (Shri B. Narain) ने लिखा है कि—"भारत के व्यापार में विलासिता की वस्तुओं की भरमार थी, उस समय भारत का व्यापार और भुगतान सन्तुलन इसके पक्ष में था। इसके पास स्वर्णराशि इतनी थी कि इसे सोने की चिड़िया के नाम से सम्बोधित किया जाता था।" सम्राट अकबर के काल में पुर्तगाली, अंग्रेज और डच आदि विदेशी जातियों को भारत में व्यापारिक सुविधायें दी जाने लगीं। ऐसा होने से भारत का विदेशी व्यापार यद्यपि विकसित हुआ किन्तु उसकी भारतीयता जाने लगी और यह धीरे-धीरे योरोपीय जातियों के हाथों में पहुँच गया। इतने पर भी करेरी (Kerari) ने लिखा है, "सारे संसार का सोना और चांदी घूम फिर कर अन्त में भारत ही पहुँचता था।" देश में राष्ट्रीय जागृति का अभाव होने के कारण भारतीय व्यापार ब्रिटिश कम्पनी के हाथों में चला गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय व्यापार

(East India Company and India's Foreign Trade)

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी १६०१ में स्थापित हुई। प्रारम्भ में अंग्रेजों के अलावा फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली लोग भी भारत के विदेशी व्यापार में भाग लेते थे किन्तु धीरे-धीरे ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार पर एकाधिकार (Monopoly) कर लिया। प्रारम्भ में कंपनी ने

भारतीय उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन दिया और यहां की मलमल तथा अन्य कपड़ों का बड़े पैमाने पर निर्यात किया। जब इंगलैण्ड में व्यापारियों द्वारा भारतीय माल की इस अत्यधिक लोकप्रियता का विरोध किया गया तो नीति में परिवर्तन आया। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के कारण कच्चे माल की आवश्यकता और निर्मित माल के लिये बाजारों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। अतः भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट किया जाने लगा। सरकार ने ऐसे कानून बनाये जिनके अनुसार भारतीय माल का उपयोग करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार अब भारत ग्रेट-ब्रिटेन को केवल कच्चा माल निर्यात करने वाला देश रह गया। भारतीय व्यापार के मध्यस्थ प्रायः अंग्रेजी फर्म थीं जिन्होंने पर्याप्त धन कमाया।

स्वेज नहर के बनने पर भारतीय व्यापार का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। १८६९ में भारत के विदेशी व्यापार की राशि केवल ९० करोड़ रुपये थी, वह १९१३-१४ में ३७६ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। यातायात के साधनों के विकास ने धीरे-धीरे परिस्थितियां बदल दीं। भारत पहले जिन वस्तुओं का निर्यात करता था, अब उन्हीं का आयात करने लगा। अंग्रेजी साम्राज्य की शोषणकारी नीतियों ने भारत में स्वतन्त्र व्यापार को नहीं पनपने दिया और उसके स्थान पर ब्रिटिश माल को प्राथमिकतायें प्रदान की गईं तथा दूसरी जगह से आये हुये माल पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये।

१८१८ में कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हुआ। १८७४ तक प्रायः सभी वस्तुओं से निर्यात कर हटा लिये गये। १८९३ में एकाधिकार को हटाने की प्रक्रिया पूरी हो गई और भारत में स्वतन्त्र व्यापार को थोड़ा प्रोत्साहन मिला। जापान और जर्मनी आदि देशों ने भारत के विदेशी व्यापार में पर्याप्त रुचि ली। धीरे-धीरे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और कराची व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण बन्दरगाह बन गये।

प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय व्यापार
(India's Trade during First World War)

प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय व्यापार को पर्याप्त हानि उठानी पड़ी और अब तक की उसकी प्रगति समाप्त हो गई। जिस समय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ था, देश में शान्ति थी, रुपये का मूल्य स्थिर था और सरकार यातायात, संचार एवं सिचाई आदि कामों में सक्रिय रुचि ले रही थी। ज्योंही युद्ध प्रारम्भ हुआ त्यों ही भारत में आयातों की मात्रा कम हो गई, इसके अलावा अनेक ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये जिनसे भारत के निर्यात बुरी तरह घट गये। भारत में मशीनों का आयात बन्द हो गया और इसलिये अब

तैयार माल विदेशों को नहीं भेजा जा सका। युद्ध के परिणामस्वरूप प्रत्येक देश आत्म-निर्भर बनने का प्रयास करता था। अतः भारतीय व्यापार को धक्का लगा। भारत के ग्राहक गरीब बन गये, युद्ध का व्यय उठाने के लिये उन्हें अपने आयातों में कमी करनी पड़ी। भारत में विनिमय की स्थिति बिगड़ गई। मजदूरों की हड़ताल और दूसरी कठिनाईयों ने भारतीय उद्योगों के विकास पर रोक लगा दी। बिगड़ती हुई स्थिति को देखकर भारतीय जनता ने विदेशी माल का बहिष्कार करना प्रारम्भ किया। अब भारत इंगलैण्ड की अपेक्षा अन्य देशों से भी आयात करने लगा। भारत में सूती उद्योग का विकास हुआ और इसलिये कपड़े का आयात कम हो गया।

युद्ध के बाद अनेक प्रतिबन्धों के हट जाने पर विदेशी व्यापार के क्षेत्र में पर्याप्त चहल-पहल होने लगी। अब निर्यातों को प्रोत्साहन मिला। यह अच्छी स्थिति केवल कुछ समय तक ही रही और १९२९ में विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने भारत के व्यापार को भी प्रभावित किया।

आर्थिक मन्दी और भारतीय व्यापार
(Depression and India's Trade)

१९२९ से १९३५ तक का काल आर्थिक मन्दी का काल कहा जाता है। इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में वस्तुओं के मूल्य गिरने लगे। भारत के आयात और निर्यात की मात्रा में पर्याप्त कमी आ गई। इस काल में ओटावा समझौता (OTAWA Agreement) हुआ। इसके अनुसार भारतीय व्यापार में शाही प्राथमिकता (Imperial Preferences) लागू कर दी गई। राष्ट्रवाद की लहर दौड़ जाने के कारण अनेक देशों ने स्वतन्त्र व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिये। १९३२-३३ में भारत के कुल विदेशी व्यापार का मूल्य आधे से भी कम रह गया। आयातों में कमी इसलिये हुई क्योंकि भारतीयों की क्रयशक्ति कम हो गई थी, राजनैतिक परिस्थितियों में तनाव आ गया था और देश में कपड़ा तथा चीनी उद्योग का विस्तार हो गया था। धीरे-धीरे आर्थिक मन्दी का प्रभाव कम होने लगा। १९३२ में यह अत्यन्त अल्प रह गया और अब विश्व की आर्थिक दशाओं में सुधार आ गया। भारत का विदेशी व्यापार भी अब सुधरने लगा। जापान के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ बने। भारत औद्योगीकरण की दिशाओं में प्रगति करने लगा।

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय व्यापार
(Second World War and India's Trade)

सितम्बर, १९३९ से दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। इसके परिणामस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार की परिस्थितियां बदलीं। वस्तुओं की कीमतें

अधिक हो गईं । भारत के कच्चे माल और निर्मित माल की मांग विदेशों में बढ़ गई । युद्ध के वर्षों में भारतीय निर्यात १९३८-३९ की अपेक्षा ४६ प्रतिशत बढ़ गये और आयातों में भी ३२ प्रतिशत की वृद्धि हुई । जब १९४१-४२ में बर्मा पर शत्रु का अधिकार हो गया तो सरकार ने भारतीय आयात और निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया । ऐसी स्थिति में भारतीय व्यापार फिर से कम हो गया । युद्ध के दौरान फ्रांस और इटली जैसे बाजार भारत के हाथ से निकल गये और सुदूर-पूर्व के बाजार भी भारत के लिये बन्द हो गये । मध्य-पूर्व के बाजारों द्वारा इस क्षति-पूर्ति का प्रयास किया गया । १९४० तक यह स्थिति हो गई कि बिना अनुमति के कोई भी व्यापारी व्यापार नहीं कर सकता था । मार्च, १९४० में निर्यात पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया । आयात और निर्यात पर लगाये गये इन नियन्त्रणों से ब्रिटिश सरकार पर्याप्त लाभान्वित हुई ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय व्यापार
(Indian Trade after Second World War)

द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होने के बाद देश के सामने यह समस्या थी कि उत्पादन बढ़ाकर स्फीति को रोका जाये और निर्यात बढ़ा कर आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिये विदेशी विनियम प्राप्त किया जा सके । इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक काल को पर्याप्त महत्व दिया गया । बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने के लिये अनेक समझौते और संस्थायें स्थापित की गईं । इस दृष्टि से आंग्ल-अमेरिकी ऋण समझौता हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की भी स्थापना की गई ।

स्वतंत्र भारत में विदेशी व्यापार
(Foreign Trade in free India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के सामने अनेक आर्थिक समस्याएं आईं । देश के विभाजन ने उसके व्यापार को अस्त-व्यस्त कर दिया । खाद्यान्न एवं अनेक कच्चे माल देश में आवश्यकता से कम हो गयें और इसलिये विदेशों से आयात करना आवश्यक हो गया । व्यापार सन्तुलन भारत के विपरीत बन गया । जब १९४९ में इंगलैंड ने डालर में स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया तो भारत को भी विवश होकर डालर में ३०.५ प्रतिशत का अवमूल्यन करना पड़ा । १९५१ में भारत का व्यापार सन्तुलन बिगड़ गया और दूसरी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होते-होते इसके भुगतान सन्तुलन में घाटे की स्थिति आ गयी । इसे ठीक करने के लिए ऐसी नीतियां अपनाई गयीं ताकि निर्यात में बाधा

डालने वाले प्रतिबन्धों को हटाया जा सके अथवा कम किया जा सके। कोरिया युद्ध के समय कुछ भारतीय निर्यात बढ़े क्योंकि विभिन्न देशों ने कच्चा माल भरना प्रारम्भ कर दिया था। निर्यातों को बढ़ाने की दृष्टि से १९४९ में एक निर्यात प्रोत्साहक समिति (Export Promotion Committee) की नियुक्ति की गयी। इसने निम्न सुझाव दियें :—

(१) निर्यात पर लगाए गये करों को हटा लिया जाए।

(२) सट्टे (Speculation) पर रोक लगा दी जाए।

(३) देश के उत्पादन को बढ़ाया जाए।

(४) व्यापारिक समझौते किए जाएं।

आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति में परामर्श देने के लिए एक आयात सलाहकार समिति (Import Advisory Committee) और दूसरी निर्यात सलाहकार समिति (Export Advisory Committee) नियुक्त की गयी। १९५० में एक आयात-नियंत्रण जांच समिति (Import Control Enquiry Committee) बनायी गयी। आयात के सम्बन्ध में अनेक प्रस्ताव किये गये।

आयात सम्बन्धी सुझाव

(१) आयात की जाने-वाली वस्तुओं को ९० श्रेणियों में बांटने के लिए कहा गया और उसी के अनुसार प्राथमिकता प्रदान करने की बात कही गयी।

(२) यह कहा गया कि सन् १९५१-५२ से ५०० करोड़ रुपया वार्षिक का सामान आयात किया जाए।

(३) आयात-नीति को स्थिर रखा जाए।

(४) आयात की गयी वस्तुओं में कृषि के विकास और जनता के उपभोग की वस्तुओं को प्राथमिकता दी जाए।

(५) आयात विभाग का संचालन कुशलता के साथ किया जाए।

(६) अनुज्ञप्तियों की प्रणाली का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए।

(७) आयात करने वाले व्यापारियों को अधिक से अधिक सुविधायें दी जाएं।

(८) आयात-नियंत्रण की व्यवस्था को सुधारा जाए।

(९) आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखा जाए।

भारत के विदेश व्यापार को बढ़ाने के लिए विदेशों में व्यापार प्रतिनिधि नियुक्त किये गयें। विभिन्न देशों को व्यापार मण्डल भेजे गयें। विभिन्न

अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनियों में भाग लेने व आवश्यक व्यापारिक जानकारी प्राप्त करने को महत्व दिया जाने लगा। भारत के व्यापारिक प्रतिनिधि संसार के प्राय: सभी देशों में रहते हैं और उनका यह प्रयास रहता है कि महायुद्ध के समय देश के हाथ से जो विदेशी बाजार निकल गये थे, उनको फिर प्राप्त किया जाए। योरोप स्थित व्यापारिक प्रतिनिधियों के कार्यों की देख-भाल करने के लिए एक महा-आयुक्त (Commissioner General for Economic and Commercial Affairs) की नियुक्ति की गयी।

स्वतन्त्रता के बाद से भारत ने विदेशों के साथ प्रतिनिधि मण्डलों का आदान-प्रदान पर्याप्त किया है। ये प्रतिनिधि मण्डल पारस्परिक व्यापार को बढ़ाने में उल्लेखनीय योगदान करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में भाग लेने से देश की व्यापारिक स्थिति लोकप्रिय एवं मजबूत बनती है। विदेश व्यापार को बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण उपाय यह है कि जनता को व्यापार के सम्बन्ध में विभिन्न जानकारियां प्रदान की जाएं। जब देश की जनता और व्यापारी वर्ग बाजार की स्थिति से पूरी तरह परिचित नहीं होते तो व्यापार की वृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सरकार ने अलग से एक विभाग 'Commercial Intelligence Statistics Department' की स्थापना की है। यह विभाग व्यापार से सम्बन्धित आंकड़ों को जनता तक पहुँचाता है।

भारतीय विदेश व्यापार में आई हुई भुगतान संतुलन की कठिनाइयों को दूर करने के लिए १९५६ में राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) की स्थापना की गयी। पंचवर्षीय योजनाओं ने भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति पर उल्लेखनीय रूप से प्रभाव डाला। प्रथम योजना काल में भारत के आयात बहुत तेजी से बढ़े और व्यापार संतुलन ४६४३ करोड़ रुपये से हमारे प्रतिकूल बन गया। १९५७-५८ में देश के औद्योगिक विकास के लिए मशीनों का पर्याप्त आयात करना पड़ा। साथ ही खाद्यान्नों को भी आयात करना पड़ा। इस काल का कुल आयात १२०.४२ करोड़ रुपये का और कुल निर्यात ५९४ करोड़ रुपये का था। इस प्रकार विदेशी विनिमय के हमारे कोष कम हो गये। १९५९-६० में अमेरिका तथा यूरोप में मन्दी आ गयी। जापान तथा चीन के बीच प्रतिस्पर्द्धा हो गई। अतः यहाँ भारत के आयात घट गये। १९५९ में ४९२.७ करोड़ रुपये का व्यापारिक घाटा रहा। १९६०-६१ में १०४४ करोड़ रुपये का आयात और ६३१.९ करोड़ रुपये का निर्यात हुआ और इस प्रकार ४५६.१ करोड़ रुपये का व्यापारिक घाटा रहा। १९६२-६३ में १८६१.९९ करोड़ रुपये का विदेशी

व्यापार हुआ। इस समय भी व्यापारिक घाटा ४२३.४१ करोड़ रुपये का था। १९६५-६६ में आयात १३५०.४४ करोड़ रुपये का और निर्यात ८९०.५५ करोड़ रुपये का था। इस प्रकार घाटा ५४०.८९ करोड़ रुपये का था।

देश की पंचवर्षीय योजनाओं को विकास के लिए प्रारम्भ किया गया किन्तु देश को उनके लिए आयात बढ़ाने पड़े। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षों में व्यापार का घाटा अभूतपूर्व रूप से ११०० करोड़ रुपये का हुआ। तृतीत पंचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में निर्यात कुछ अधिक हुए। १९६४-६५ में निर्यात केवल अल्प मात्रा में ही बढ़े किन्तु १९६५-६६ में वे पुनः घट गये और स्थिति से मजबूर होकर सरकार ने ६ जून, १९६६ को रुपये का ३६.५ प्रतिशत अवमूल्यन घोषित कर दिया। कुछ कारणों से १९६६-६७ में भी निर्यातों की मात्रा बढ़ने की अपेक्षा घट गयी।

स्वतन्त्रता के बाद प्रारम्भिक समस्याएं
(Initial Problems After Independence)

स्वतन्त्रता के बाद की परिस्थितियों में भारत के विदेश व्यापार को अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का सामना करना पड़ा। देश के विभाजन और अनाज की कमी ने इन समस्याओं को कई गुना बढ़ा दिया। इन समस्याओं ने देश के व्यापार को अनेक नये मोड़ प्रदान किए। खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के लिए देश को विभिन्न राज्यों के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। देश के विभाजन ने जूट पैदा करने वाले अनेक इलाकों को पाकिस्तान में रखा जबकि इनसे सम्बन्धित मिल भारत में रहे। १९४७ के बाद भारत के विदेश व्यापार को जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा उनमें से कुछ ये थीं—

(१) मुद्रा प्रसार
(Inflation)

स्वतन्त्रता के बाद से ही भारत में वस्तुओं की कीमतें लगातार बढ़ती जा रही थीं। फलतः देश मे आर्थिक मन्दी की स्थिति पैदा हो गयी। नवम्बर, १९४७ के बाद कीमतों का सूचीपत्र आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया। उपभोक्ता वस्तुओं की मांग की पूर्ति कठिन हो गयी। मांग बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन की मात्रा बढ़नी चाहिए थी किन्तु उसके विपरीत वह गिर गयी। नियन्त्रण की नीति के परिणामस्वरूप अनेक भ्रम पैदा हुए और शीघ्र ही यह ज्ञात हुआ कि यह प्रयोग अत्यन्त महंगा रहा। नवम्बर, १९४७ में मूल्य का सूचीपत्र ३०२ था वह जुलाई, १९४८ में ३९० हो गया।

देश के उत्पादन की मात्रा थोड़ी बढ़ने पर भी फलदायक नहीं थी क्योंकि इसके लिए पर्याप्त ऊंची कीमत का भुगतान करना पड़ा। उत्पादन लागत अधिक होने के कई कारण थे—

(१) कच्चे माल की कमी थी तथा उसकी कीमतें पर्याप्त ऊंची थीं।

(२) मजदूरों के असन्तोष ने उनकी उत्पादन क्षमता को घटा दिया।

(३) सरकारी नीति अनिश्चित होने के कारण उद्योगपतियों में पर्याप्त निराशा थी।

(४) साम्प्रदायिक दंगों ने देश-व्यापी अस्थिरता को जन्म दिया, जिसके कारण समस्या अत्यन्त जटिल बन गयी।

(५) यातायात के साधनों की कठिनाइयों एवं प्रतिबन्धित आयात नीतियों ने अभाव की स्थिति को पर्याप्त बढ़ा दिया।

मूल्य वृद्धि के कारण न केवल आयात वरन् निर्यात भी प्रभावित हुए। इसके कारण सट्टेबाजों का बाजार खूब गरम हुआ। युद्ध के बाद भारत आवश्यक कच्चे माल के पूर्तिकर्त्ता के रूप में लाभप्रद स्थिति में था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए उसने यथासम्भव अधिक से अधिक कीमतें प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यहां कीमत नियंत्रण को जरूरी नहीं माना गया।

(२) प्रतिकूल व्यापार संतुलन
(Adverse Balance of Trade)

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय आयात और निर्यातों में लोचशीलता रही देश के विभाजन के बाद से ही व्यापार का शेष भारत के प्रतिकूल बनने लगा। इसके कारण देश के सामने विदेशी विनिमय के अभाव की स्थिति पैदा हुई। इस स्थिति का कारण बहुत कुछ यह था कि स्वतन्त्रता के बाद खाद्यान्न पूंजीगत माल एवं अन्य आवश्यक माल का भारी आयात करना पड़ा था। विकास कार्यों को बढ़ाने के लिए कच्चे माल तथा मशीनों का आयात करना पड़ा किन्तु प्रयास करने पर भी निर्यात आवश्यक मात्रा में नहीं बढ़ सका।

विचार है कि खाद्यान्नों का आयात कम करने पर भी समस्या नहीं सुलझती। निर्यातों को बढ़ाना और वृद्धिशील आयातों के साथ संतुलन स्थापित करना भी अधिक सार्थक नहीं है। इस सम्बन्ध में केवल यही उपयुक्त था कि आयात नियंत्रण लगा दिये जाएं। देश के लिए एक निश्चित आयात नीति की आवश्यकता थी किन्तु कई कारणों से उसे न अपनाया जा सका।

इसके कारण व्यापार सन्तुलन पर विरोधी प्रभाव पड़ा। आयातों को कम करना घाटे की स्थिति को दूर करने के लिए हमेशा फलदायक नहीं रहेगा। इसका उचित समाधान यह है कि निश्चय के साथ एक ऐसी निर्यात नीति अपनाई जाए जो कि देश की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक २ वर्षों में व्यापार के घाटे के परिणामस्वरूप हमारे विदेशी विनिमय के कोष लगभग ४८१ करोड़ रुपये के कम हो गये। व्यापार का घाटा १९४८-४९, १९५१-५२, ५५-५६, द्वितीय पंचवर्षीय योजना के सभी वर्षों, और तृतीय पंचवर्षीय योजना के दौरान पर्याप्त रहा। यह घाटे की स्थिति १९५७-५८ में ६४० करोड़ रुपये हो गयी।

(३) निर्यातों में निर्मित माल की अधिकता
(Prominence of Manufactures in Exports)

स्वतंत्रता के बाद से भारत के निर्यात व्यापार में तैयार तथा निर्मित माल अधिक आने लगा है। औद्योगिक विकास के फलस्वरूप भारत में अनेक वस्तुओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया। दूसरी ओर देश के विभाजन के कारण कच्चा माल कम हो जाने के कारण उसकी मात्रा निर्यात में घट गयी।

यद्यपि पहले की अपेक्षा भारत में निर्मित माल की अधिकता है किन्तु आज भी चाय और सूती कपड़ा एवं जूट का माल अधिक प्रमुखता रखता है। इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाली आय अत्यन्त अस्थिर होती है। संसार में मांग की परिस्थिति बदलने के लिए इनके निर्यात पर भारी प्रभाव पड़ेगा। जिस वर्ष इन तीन वस्तुओं का निर्यात घट जाता है उसी वर्ष हमारे विदेशी व्यापार को धक्का लगता है। इन दिनों इन्जीनियरिंग माल का निर्यात भी बढ़ रहा है किन्तु मूल्य की दृष्टि से उक्त तीनों वस्तुओं का अधिक महत्व है।

(४) खाद्यान्न का आयात
(Import of Food-Grain)

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व ही अनाज की पर्याप्त कमी आ गयी थी। देश के विभिन्न भागों में अकाल की सी स्थिति पैदा हो गई। युद्ध के बाद यह स्थिति और अधिक खराब हो गयी। आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारत ने स्वतन्त्रता के बाद एक बड़ी मात्रा में अनाज का आयात किया। विभाजन के बाद जब देश के औद्योगिक कच्चे माल के भण्डार पाकिस्तान में चले गये तो देश की आवश्यकताओं को आयात से पूरा किया जाये। निर्यातों की तरह देश का आयात भी कुछ वस्तुओं तक केन्द्रित रहा जैसे पेट्रोल, कपास, खाद्यान्न, मशीनरी का सामान आदि-आदि।

स्वतन्त्रता के बाद आयात के क्षेत्र में उदार नीतियां अपनाई गयीं। १९४५ में जब नियंत्रण हटा दिया गया तो मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियां पर्याप्त संक्रिय बन गयी। अतः यह सोचा गया कि देश की व्यापार नीति को मुद्रा-संकुचन कार्यक्रम के साथ एकीकृत किया जाए। देशों में मुद्रा-प्रसार की स्थिति और उदार आयात-नीति ने मिलकर भारत के बाजार को अन्य बाजारों की अपेक्षा विदेशी विक्रेताओं के लिए अधिक आर्कषित बना दिया। इसके परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओं के आयात की मात्रा बढ़ गई। पौंड क्षेत्र के नर्म मुद्रा वाले क्षेत्रों से अधिक आयात किए जाने लगे।

(५) व्यापार की नई दिशाएँ
(New Ways of Trade)

भारत का विदेश व्यापार बहुत समय से ग्रेट-ब्रिटेन के साथ अधिक रहा है। पिछले कुछ वर्षों से वह अमेरिका, रूस, योरोपीय आर्थिक समाज के देशों, पूर्वी युरोपीय देशों, राष्ट्र मण्डल के सदस्यों तथा जापान के साथ भी पर्याप्त बढ़ गया है।

(६) व्यापार के मार्ग
(The Ways of Trade)

विभाजन के बाद भी अधिकांश भारतीय व्यापार समुद्री मार्ग से ही होता है। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के बन्दरगाह भारत के विदेशी व्यापार के मुख्य केन्द्र हैं। इन पर अत्यधिक भीड़ रहने के कारण विशाखापट्टनम्, कोचीन और कांगला बन्दरगाहों का विकास किया गया है।

स्वतन्त्रता के बाद भी भारत के व्यापार का अधिकतर लाभ विदेशियों को ही मिलता है। कारण यह है कि आयात-निर्यात करने वाली फर्म, जहाजी कम्पनियां, बीमा कम्पनियां और विनिमय बैंक प्रारम्भ से ही विदेशियों के प्रबन्ध में रहे हैं, किन्तु अब धीरे-धीरे इनका भारतीयकरण किया जा रहा है। यद्यपि विश्व का व्यापार पहले की अपेक्षा पर्याप्त बढ़ गया है फिर भी उसमें भारत का हिस्सा अपेक्षाकृत कम है।

(७) द्विपक्षीय व्यापार समझौते
(Bilateral Trade Agreement)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने कई देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये। इनमें से कुछ तो अब समाप्त हो चुके हैं और कुछ कायम हैं। इन समझौतों का काल प्रायः एक वर्ष होता है किन्तु समय पर इनको नवीनी-कृत कर दिया जाता है। कुल मिलाकर देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि इन समझौतों का उद्देश्य भारत के विदेशी व्यापार को विनियमित करना

नहीं है। इनका क्षेत्र पर्याप्त सीमित है। एक बहुत बड़ा क्षेत्र इनके प्रभाव से बाहर है। संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन भारतीय बाजार में उल्लेखनीय भाग रखते हैं फिर भी इन देशों के साथ कोई व्यापार समझौता नहीं किया गया। जिन देशों के साथ द्विपक्षीय समझौते किये गये हैं उनमें नियन्त्रित वस्तुओं को ही विनियमित किया जा सकता है।

व्यापार समझौते निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किये जाते हैं:—

(१) उन देशों के साथ प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्पर्क स्थापित करना जो अतीतकाल में भारतीय माल का आयात करते थे।

(२) जर्मनी और जापान आदि देशों के सम्बन्ध में युद्ध पूर्व के व्यापारिक-स्तर को अपनाना।

(३) उन मूलभूत एवं अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करना जो अन्यत्र नहीं मिल सकतीं।

(४) नरम मुद्रा वाले स्रोतों के माध्यम से कठोर मुद्रा वाले स्रोतों को बनाए रखना ताकि कच्चा माल, पूंजीगत माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति का प्रबन्ध किया जा सके।

(५) भारतीय माल के लिए नये बाजार ढूंढ़ना।

(६) जिन देशों का व्यापार राज्य द्वारा नियन्त्रित है अथवा पूर्णतः नियोजित है उनके साथ व्यापार को सुविधाजनक बनाना।

महत्वपूर्ण होने के कारण द्विपक्षीय व्यापार-समझौते विद्वानों के विचार-विमर्श का विषय रहे हैं। आशा की गयी थी कि इनके माध्यम से कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों से मूलभूत वस्तुओं का आयात किया जा सकेगा। यह आशा पूर्णत: सफल न हो सकी क्योंकि दूसरे स्रोतों से सहायता लेना अभी भी आवश्यक बना हुआ है। एक अन्य आशा यह की गयी थी कि देश के समस्त व्यापार घाटों को कम किया जा सकेगा, यह आशा भी आकाश-कुसुम बनी रही और समस्त समझौतों में भारत का व्यापार सन्तुलन विपरीत रहा। व्यापार के नये मोड़ भारत के विपरीत जाने लगे। विभिन्न कारणों से भारत की निर्यात क्षमता घट गयी। भारत सरकार ने कभी यह देखने की चेष्टा नहीं की कि आयात और निर्यात के क्षेत्र में अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त किया गया है या नहीं। आयातों के साथ-साथ निर्यातों को बढ़ावा नहीं दिया गया। इन व्यापार समझौतों में निर्यात की जिन मदों को सम्मिलित किया गया वे परम्परागत थीं। समझौतों का एक महत्वपूर्ण लाभ यह रहा कि इनके कारण पश्चिमी जर्मनी, जापान तथा अन्य अनेक देशों से सम्बन्ध बढ़ने लगे जो कि अन्यथा नहीं बढ़ सकते थे।

विभिन्न द्विपक्षीय समझौतों के परिणामस्वरूप भारत को कुछ गैर मूल वस्तुओं को लेने के लिए मजबूर होना पड़ा। आज भारत में कच्चे माल का आयात स्वतन्त्रता से पूर्व की तुलना में बहुत अधिक किया जाता है। आज जो निर्यात किया जाता है, उसमें कच्चे माल की मात्रा कम है। औद्योगीकरण के कारण पर्याप्त कच्चा माल देश के लिये आवश्यक बन गया है। बढ़ती हुई जनसंख्या और शहरी जनसंख्या के कारण भविष्य में इसके बढ़ने की सम्भावनायें हैं। सुधरी हुई औद्योगिक स्थिति के कारण अब निर्मित माल का निर्यात अपेक्षाकृत अधिक होने लगा है किन्तु खाद्यान्न का आयात जो स्वतन्त्रता की पूर्व बेला से ही प्रारम्भ हुआ, अभी तक देश के विदेश व्यापार के लिए समस्या बना हुआ है।

भारत ने अन्य देशों के साथ जो समझौते किये वे निर्यात को बढ़ाने के प्रयासों में से एक हैं। ये द्विपक्षीय व्यापार समझौते १९५३-५४ में अधिक सम्पन्न किये गये। १९५८ से पूर्व इन समझौतों का उद्देश्य दो देशों में प्रचलित कानूनों एवं नियमों के अनुसार समानता तथा पारस्परिक लाभ के अनुसार व्यापार की वृद्धि करना था। इस प्रकार के समझौतों में यह जरूरी नहीं होता कि दोनों देश व्यापार की वस्तुओं की मात्रा निर्धारित करें। इनमें केवल उन क्षेत्रों को इंगित किया जाता है जिनके साथ व्यापार किया जा सकता है। ये किसी वस्तु के निर्यात तथा आयात के लिए एक देश को बाध्य नहीं करते। इनकी प्रकृति प्रायः बहुपक्षीय होती थी।

१९५८ के बाद द्विपक्षीय व्यापार समझौते रुपयों में भुगतान करने वाले समझौते बन गये। इनमें सोने या अपरिवर्तनीय मुद्रा का भुगतान के लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, भारत और रूस के बीच व्यापार समझौता होता है। यदि 'भारत' रूस से माल का आयात करता है तो रूस उसके भुगतान को रुपयों में रिजर्व बैंक के पास अपने नाम के खाते में जमा करा देगा। जब वह भारत से वस्तु खरीदेगा तो उनका भुगतान उस खाते में से कर दिया जावेगा। इस प्रकार कभी न कभी यह खाता अवश्य सन्तुलित हो जाता है। विनिमय की यह प्रणाली अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इस समय 'भारत' चीन के अतिरिक्त सभी साम्यवादी देशों से भुगतान समझौते किये हुए है। पाकिस्तान व अफगानिस्तान के साथ भी उसने ऐसे समझौते किये। ये समझौते मुख्यतः दो प्रकार के हैं—

(१) **व्यापक समझौते**—जिनके अन्तर्गत समस्त भुगतान भारतीय रुपये किये जाते हैं। इसमें कोई सीमा नहीं रहती और असीमित मात्रा तक उधार की जाती है। ऐसे व्यापार समझौते भारत ने रूस, हंगरी, पौलेण्ड,

यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, पूर्वी जर्मनी, उत्तरी कोरिया और उत्तरी वियतनाम आदि के साथ किये हैं ।

(२) **सीमित भुगतान समझौते**—जिनमें उधार की मात्रा को सीमित कर दिया जाता है । भारत ने पाकिस्तान, मिस्र, ब्रह्मा व अफगानिस्तान के साथ इस प्रकार के समझौते किये हैं । इन समझौतों की सीमा पचास लाख रुपये होती है । समझौता करने वाला कोई भी देश अधिक से अधिक पचास लाख रुपये का माल मंगा सकता है । जब तक दूसरा देश खरीददारी न करने लगे उस समय तक पहले वाला देश भी खरीददारी करने से रुक जाता है । इस पर साख के विस्तार पर एक स्पष्ट सीमा लग जाती है ।

रुपयों में भुगतान किये जाने वाले समझौतों का अपना लाभ भी है और हानियां भी । भारत को इनसे पर्याप्त लाभ प्राप्त हुआ है ।

लाभ—(१) इन समझौतों के फलस्वरूप पूर्वी योरोप के देशों के साथ भारत का व्यापार पर्याप्त बढ़ा है । इसके साथ आयात की अपेक्षा निर्यात की मात्रा पर्याप्त बढ़ गई है । इन देशों के साथ भारत ने पूंजीगत सामान को आयात किया और बदले में चाय, जूट का माल, काजू, अभ्रक और जूतों का निर्यात किया ।

(२) भारत के उन विदेशी विनिमय साधनों पर बहुत कम दबाव पड़ा जो दुर्लभ थे । ऐसी स्थिति में वह इन देशों से पूंजीगत माल तथा कच्चे माल का आयात आसानी से कर सका ।

(३) इन समझौतों के परिणामस्वरूप भारत के व्यापार का स्तर ऊंचा हुआ, वैसे इन समझौतों के बिना भी वह इनके साथ व्यापार कर सकता था किन्तु स्तर इतना ऊंचा न होता ।

(४) सीमित भुगतान समझौते भी भारत के लिये पर्याप्त लाभदायक रहे हैं । इनके कारण भारत चावल और कपास सुविधापूर्वक प्राप्त करने में सफल हुआ ।

हानि—(१) इन समझौतों के परिणामस्वरूप अभी तक भारत परम्परागत निर्यातों पर ही रुका हुआ है । उसके निर्यात व्यापार में वांछनीय विविधता नहीं आ पायी है ।

(२) जो व्यापार की वृद्धि इस प्रकार के समझौते के परिणामस्वरूप होती है वह स्थाई नहीं रहती । जब ये समझौते समाप्त हो जाते हैं तो देश पुनः कठिनाई में पड़ जाता है । उसका व्यापार रुक जाता है । अतः इन समझौतों को एक बनावटी साधन कहा गया है । दीर्घकालीन दृष्टि से इनका समर्थन नहीं किया जा सकता ।

(३) समझौते के अन्तर्गत जो निर्यात किया जाता है वह प्रति-स्पर्द्धा का परिणाम वहीं होता, वरन् समझौते की छत्र-छाया के कारण निर्यात की आंतरिक क्षमता का पता नहीं लग पाता ।

(४) समझौते के अनुसार जिस माल का आयात-निर्यात किया जाता है उसकी कीमत सही लगाई गई है अथवा नहीं लगाई गई है, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के समझौते अपने आप में लाभप्रद और हानिप्रद हैं। देश को चाहिये कि उनके लाभकारी प्रभाव को काम में लाते हुए निर्यात के माल की किस्म को सुधारने का प्रयास करे ।

१५

सन् १९४७ से भारतीय विदेशी व्यापार के आकार, मूल्य, रचना और दिशाओं की प्रवृत्तियाँ

(TRENDS IN THE VOLUME, VALUE, COMPOSITION AND DIRECTION OF INDIA'S FOREIGN TRADE SINCE 1947)

"यह कहा जा सकता है कि हमारे निर्यात-व्यापार का प्रसार
अन्तिम रूप से हमारे कृषि सम्बन्धी, खनिज एवं औद्योगिक
क्षेत्रों के अतिरेक तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हमारी
वस्तुओं की प्रतियोगितापूर्ण क्षमता पर निर्भर
करेगा।"

—एल. के. झा.

**"It can be stated that the expansion of our Export-
trade will depend ultimately on the availablity
of Surpluses in our agricultural, mineral
and Industrial Sectors and the
Competitive Capacity of our
Commodities in the
International
market."**

—L. K. Jha

सन् १९४७ से भारतीय विदेशी व्यापार के आकार, मूल्य, रचना और दिशाओं की प्रवृत्तियां

(Trends in the Volume, Value, Composition and Directions of India's Foreign Trade Since 1947)

भारत के विदेश व्यापार का एक लम्बा इतिहास है। यातायात और संचार के विकास के कारण उसके व्यापार की अभूतपूर्व प्रगति हुई है। १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारत भी विश्व-व्यापार का एक स्वतन्त्र सदस्य बन गया। स्वतन्त्रता से पूर्व देश के आयात और निर्यात की दृष्टि से जो नीतियां अपनाई जा रही थीं, उनका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को अधिक से अधिक लाभ पहुंचाना था; किन्तु स्वतन्त्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार का उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास एवं जीवन-स्तर की प्रगति बन गया। विदेशी व्यापार के लक्ष्य में मूलभूत परिवर्तन होने के कारण उसके आयात और निर्यात की मात्रा, रचना एवं दिशाओं में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। इनका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

निर्यात-व्यापार का अध्ययन

(A Study of Export Trade)

स्वतन्त्रता के बाद से भारत का निर्यात-व्यापार विभिन्न मोड़ों से होकर गुजरा है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व भारत ने निर्यात-नियन्त्रण की नीति अपनाई थी किन्तु स्वतन्त्रता के बाद यह आवश्यक हो गया कि निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए प्रयास किये जाएं। १९४७ के बाद निर्यात व्यापार का मुख्य उद्देश्य प्रसारवादी दशाओं को रोकना और विदेशी मुद्रा अर्जित करना बन गया।

निर्यात-व्यापार का संगठन

(The Organisation of Export-Trade)

भारत के निर्यात-व्यापार के संगठन का तीन दृष्टियों से विश्लेषण किया जा सकता है—उत्पादन की प्रकृति, बिक्री के तरीके और निर्यात-कर्त्ताओं की प्रकृति। ये विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोध नहीं रखते वरन् एक ही समस्या के विभिन्न पहलू हैं।

उत्पादन की प्रकृति—भारत द्वारा जिन प्रमुख वस्तुओं का निर्यात किया जाता है, उनमें चाय, जूट का माल, रूई की निर्मित वस्तुएँ, तेल, खनिज पदार्थ, दाल, खेलकूद का सामान और तम्बाकू आदि प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम तीन वस्तुएं देश के कुल निर्यात का आधा भाग हैं। यही कारण है कि इनके उत्पादन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। यद्यपि चाय, जूट और रूई की निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में बड़ी इकाइयां कार्य करती हैं किन्तु फिर भी इनके व्यापार के लिए कोई एक तरीका नहीं अपनाया जाता। चाय के उत्पादन पर केन्द्रीयकृत नियन्त्रण होने के कारण उसका व्यापार भी केन्द्रीयकृत बन गया है। दूसरी ओर जूट और रूई के निर्मित माल को विभिन्न छोटे और मध्यम श्रेणी के निर्यात-कर्त्ताओं द्वारा मिलों से खरीदा जाता है। अतः इनके व्यापार में केन्द्रीयकरण नहीं होता वरन् यह बिखरा हुआ होता है। चाय के निर्यात व्यापार में दलालों का मुख्य स्थान है। दलालों द्वारा क्रेता और विक्रेता को नजदीक लाया जाता है और साथ ही उद्यम की वित्तीय व्यवस्था भी की जाती है। इन तीनों प्रमुख वस्तुओं का उत्पादन पर्याप्त सुसंगठित है और इनका व्यापार मुख्यतः परम्परागत मांगों में होकर गुजरता है। ऐसी स्थिति में इनके व्यापार में अनेक निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं जो प्रत्येक परिवर्तन का विरोध करते हैं।

अन्य वस्तुओं के निर्यात-व्यापार का संगठन भिन्न होता है। इनमें से बहुत सी चीजें तो ऐसी होती हैं जिनका उत्पादन अत्यन्त अल्प मात्रा में किया जाता है। यातायात की सुविधाएं पर्याप्त न होने के कारण इस प्रकार की वस्तुएं उत्पादन केन्द्रों से बन्दरगाहों तक भी मुश्किल से पहुँच पाती हैं। इन वस्तुओं का उत्पादन जिस प्रकार होता है उसके कारण स्थानीय व्यापारियों का महत्व बढ़ जाता है। इन स्थानीय व्यापारियों की अधिक संख्या एवं अकार्यकुशलता वस्तु के मूल्य को पर्याप्त बढ़ा देती है। इन वस्तुओं के आवा-गमन में प्रत्येक स्तर पर धन की आवश्यकता होती है। सम्बन्धित व्यापारियों के छोटे होने के कारण बैंक को माध्यम नहीं बनाया जाता।

बिक्री के तरीके—निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की बिक्री के लिए जो विस्तृत प्रक्रियाएं अपनाई जाती हैं वे वस्तु के अनुसार बदलती रहती हैं। इतने पर भी कुछ सामान्यीकरण किए जा सकते हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि व्यापार की पहल विदेशी खरीददारों द्वारा की जाती है। ये विदेशी खरीददार भारत में स्थित उनके एजेन्टों से अथवा विदेशों में स्थित निर्यात-कर्त्ता के एजेन्टों से पूछ-ताछ करते रहते हैं। आयात-कर्त्ताओं को माल की उपलब्धता की सूचना प्रायः दलालों के माध्यम से प्राप्त होती हैं। ये दलाल सामान्य रूप से $\frac{1}{2}$ से लेकर १ प्रतिशत तक दलाली प्राप्त करते हैं। कस्टमों से माल को निकलवाना और उन्हें जहाज पर लदवाना आदि कार्य पर्याप्त विशेषज्ञतापूर्ण होते हैं। इनमें समय-समय पर नये तरीकों का आविष्कार होता ही रहता है। बड़े-बड़े निर्यात-कर्त्ता बन्दरगाहों पर स्वयं के चुंगी-कर कार्यालय रखते हैं जिनमें पर्याप्त विशेषज्ञ कर्मचारी होते हैं। छोटे तथा मध्यम वर्ग के निर्यात-कर्त्ता मुख्य रूप से बन्दरगाह पर स्थित दलालों की सेवा का लाभ उठाते हैं। जब निर्यात-कर्त्ता को उसका भुगतान प्राप्त हो जाता है अथवा उसका उपयुक्त दावा स्वीकार कर लिया जाता है तो माल पर से उसका नियन्त्रण हट जाता है।

निर्यात-कर्त्ता की प्रकृति—भारत के निर्यात-व्यापार का अधिकांश कार्य अप्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न किया जाता है। चाय और इन्जीनियरिंग के सामान जैसी वस्तुओं को छोड़कर दूसरी वस्तुओं का निर्यात-व्यापार मुख्यतः व्यावसायिक जहाजी विशेषज्ञों के हाथ में रहता है। ये लोग या तो कमीशन एजेन्टों के रूप में कार्य करते हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से व्यापार को संचालित करते हैं।

१९४७ के बाद से उत्पादकों ने निर्यात-व्यापार में अपने योगदान को पर्याप्त बढ़ा दिया है। जूट तथा रूई की निर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। सरकार भी निर्यात नियतांशों (Export-quotas) के रूप में उत्पादकों को प्रेरणा देती है। फलतः उत्पादक भी निर्यात व्यापार के संचालनार्थ अब संगठन बनाने लगे हैं।

भारतीय विदेशी व्यापार में स्वतन्त्रता के बाद से जो नये मोड़ आये उनके परिणामस्वरूप निर्यात-व्यापार के गृहों (Merchant Houses) में पर्याप्त विश्वास प्रकट किया जाता है तथा व्यापार गृहों एवं उत्पादकों के बीच पर्याप्त समन्वय की बात कही जाती है। विदेशी आयात-कर्त्ता प्रायः प्रत्यक्ष रूप से खरीददारी कराते हैं ताकि मध्यस्थों को दूर रखकर लागत को घटाया जा सके। भारत में व्यापार गृहों का संगठन ही निर्यात की प्रक्रियाओं की कार्यकुशलता का एक मुख्य आधार है। भारत में इस प्रकार के आयात

तथा निर्यात-गृहों की संख्या २० से २५ हजार तक है। यहां निर्यात-कर्त्ताओं को पंजीकृत करने की कोई व्यवस्था नहीं है और यही कारण है कि निर्यात-व्यापार से सम्बन्धित आवश्यक आंकड़े नहीं मिल पाते। इसके अतिरिक्त किसी फर्म का आन्तरिक संगठन, उसके व्यापार का आकार तथा तरीके, वित्त के स्रोत आदि विषयों को पर्याप्त गोपनीय माना जाता है और इसलिए इनके सम्बन्ध में सही-सही जानकारी प्राप्त करना कठिन बन जाता है। दूसरी ओर इन विषयों का ज्ञान भारत के विदेशी-व्यापार के संगठन का वस्तुगत मूल्यांकन करने के लिए परम आवश्यक है। ऐसी स्थिति में हमें कुछ बाहरी विशेषताओं के आधार पर अनुमान लगाने को बाध्य होना पड़ता है।

निर्यात-व्यापार की विशेषतायें
(Characteristics of Export-Trade)

भारतीय निर्यात-व्यापार की कुछ अपनी विशेषताएं हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) व्यापारिक फर्मों का छोटा आकार
(Small-size of Trading Firms)

भारत के निर्यात व्यापार के संगठन की प्रमुख विशेषताओं में यह एक उल्लेखनीय विशेषता है जो इसके संचालन की कार्यकुशलता को प्रभावित करती है। भारत में अनेक छोटी और मध्यम आकार की फर्में हैं। इस सम्बन्ध में निर्यात साख गारन्टी समिति (Export-Credit Gaurantee Committee) का कथन है कि "इस प्रकार के छोटे और मध्यम आकार की फर्मों की संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है क्योंकि देश की आर्थिक, राजनैतिक और औद्योगिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण अधिक स्वतन्त्रता और अधिक सुविधाएं प्राप्त हो गयी हैं।"[1] इस प्रकार की फर्में राष्ट्रीय-व्यापार पर अधिक जोर देती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार में ये केवल तभी रुचि प्रकट करती हैं जबकि या तो इनका उत्पादन अधिक हो गया हो अथवा विदेशी कीमतें अधिक बढ़ गयी हों। अनेक फर्में जो कि हिस्सेदारी के आधार पर व्यापार करती हैं उनका साख-स्तर अत्यन्त कमजोर होता है इसलिए वे आगे नहीं बढ़ पाती। भारत में निर्यात-कर्त्ता फर्मों का जीवन अत्यन्त अल्प होता है। कठिनाई केवल इससे ही पैदा नहीं होती कि फर्मों का आकार छोटा है वरन् इसकी अधिक

1. Government of India, Ministry of Commerce and Industry, Report of the Export Credit-Guarantee Committee, 1956, Page-10.

संख्या भी एक समस्या है। इस प्रकार की अनेक छोटी फर्में देश के निर्यात-व्यापार के लिए कोई प्रशंसा की वस्तु नहीं कही जा सकती क्योंकि इनकी पूंजी अत्यन्त अल्प होती है।

विदेश व्यापार के कार्यों का कुशलता के साथ संचालन करने के लिए यह जरूरी है कि उपयुक्त स्टॉफ रखा जाय किन्तु इनमें से अधिकांश फर्में ऐसा नहीं कर सकतीं। परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको समायोजित करने की उनकी क्षमता कम होती है। इनमें से अनेक के द्वारा परम्परागत तरीके से व्यापार किया जाता है। वे मुश्किल से ही कभी कोई लेखाजोखा रखती हैं और बाजार के अनुसंधान का प्रयोग तो उनके द्वारा प्रायः किया ही नहीं जाता। इन फर्मों का कार्य छोटे-स्तर का होता है। इसलिए वे थोड़े से लाभ से सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब ये फर्में एक ही आयात-कर्त्ताओं को अपना माल बेचने में स्पर्धा करती हैं तो इससे भारत के लिए विदेश-बाजार बिगड़ जाता है।

विदेश-बाजार में अनेक छोटी-छोटी फर्मों की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं। जैसे—निर्यात संघों द्वारा या सामुदायिक समाजों द्वारा व्यापार किया जाए, कुछ चुनी हुई चीजों का व्यापार किया जाए, वस्तुओं की कीमत निर्धारित की जाए, राज्य द्वारा व्यापार किया जाए आदि।

(२) उत्पादकों द्वारा निर्यात
(Export by Producers)

उत्पादक स्वयं अपने उत्पादनों में सक्रिय योगदान करना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रारम्भिक कदम के रूप में सरकार ने भारतीय चीनी मिल संस्था को चीनी का निर्यात करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार मैंगनीज तथा लोहा खानों के मालिकों को निर्यात व्यापार का संचालन करने के लिए नियतांश दिए गये। उत्पादकों द्वारा किए गये व्यापार के मार्ग में एक प्रमुख कठिनाई यह आती है कि इसमें अनुभव का अभाव होता है। ये उत्पादक अपने उत्पादन की समस्याओं पर अधिक ध्यान देते हैं और निर्यात व्यापार की अतिरिक्त जटिलताओं पर इतना अधिक ध्यान नहीं देते।

(३) निर्यातकर्त्ता संघ अथवा निर्यात-गृहों की स्थापना
(Establishment of Association of Exporters or Export-Houses)

हाल ही में सरकार ने निर्यात-गृहों की रचना को प्रोत्साहित किया है ताकि उनके बीच स्थित प्रतियोगिता को दूर किया जा सके। निर्यात वृद्धि

परामर्शदाता परिषद ने भी इस प्रकार के निर्यात-गृहों का समर्थन किया है। ये निर्यात-गृह उन विदेशी खरीददारों का मुकाबला अच्छी प्रकार कर सकते हैं जो सुसंगटित तथा सौदेबाजी करने की स्थिति में हैं।

सरकार द्वारा प्रतिपादित निर्यात-गृह मूल रूप से निर्यात फर्में हैं किन्तु वे छोटे आकार की फर्मों से भिन्न है क्योंकि उनके वित्तीय स्रोत, दीर्घ-कालीन नीतियां एवं विदेशी उपभोक्ताओं को प्रदान की गयी सुविधाएं भिन्न प्रकार की होती हैं। छोटे और मध्यम आकार के निर्यातकर्त्ता बाजार के सर्वेक्षण, अनुसंधान एवं प्रचार-कार्यों को सम्पादित करने में असमर्थ होते हैं, किन्तु अधिक साधन-स्रोत वाले निर्यात-गृह इन सभी समस्याओं का सुविधा-जनक रूप से समाधान कर सकते हैं। इसके अलावा निर्यात-गृह लाभहीन वस्तुओं का निर्यात भी इस दृष्टि से करते हैं कि ऐसा करने से कुल मिलाकर उनका निर्यात व्यापार बढ़ेगा।

निर्यात-गृह भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत लिमिटेड कम्प-नियों के रूप में बनाए जा सकते हैं अथवा कुछ चुनी हुई चीजों को खरीदने या बेचने के लिए संगठित किये जा सकते हैं। निर्यात-गृहों का प्रमुख लाभ यह है कि इनके द्वारा व्यापक साधनों-सहित व्यापक-स्तर पर कार्य किए जा सकते हैं। इनके माध्यम से सरकार कुछ ऐसी पहल कर सकती है जिन्हें वह वर्तमान स्थिति में निर्यात-कर्त्ताओं के डर से करने में असमर्थ है।

(४) सहकारी निर्यात
(Co-operative Form of Exporting)

असंख्य निर्यातकर्त्ताओं द्वारा जो समस्या उत्पन्न की जाती है उसका समाधान करने के लिए एक अन्य तरीके के रूप में सामुदायिक निर्यात का सुझाव दिया जाता है। इसके कई रूप हो सकते हैं, उदाहरण के लिए निर्यातकर्त्ता फर्में बिक्री के लिए एक संयुक्त संगठन बना सकती हैं अथवा विदेश बाजार के संचालन के लिए ढीले-ढाले संगठन की रचना कर सकती है। इस प्रकार से किए गए सामुदायिक प्रयास सदस्यों के बीच आचरण की एक संहिता की रचना कर सकते हैं ताकि माल और कीमत के गुण पर ध्यान दिया जा सके। यह व्यवस्था की गयी है कि मैंगनीज के कम नियतांश प्राप्त निर्यात-कर्त्ताओं को सामुदायिक समाजों या सीमित कम्पनियों की रचना के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। इसके लिए इनका नियतांश २५ हजार टन से कम नहीं होना चाहिए। इन नियतांश प्राप्त फर्मों को आकर्षित करने के लिए यह घोषणा की गयी कि यदि वे सहकारी समाजों में संगठित हुए तो उन्हें १० प्रतिशत अतिरिक्त बोनस प्रदान किया जाएगा। व्यापारियों ने

इसकी कोई सन्तोषजनक प्रतिक्रिया नहीं की क्योंकि उस समय बाजार गिरा हुआ था और निर्यातकर्त्ता अपने नियतांशों का प्रयोग करने में भी कठिनाई का अनुभव कर रहे थे। इन संस्थाओं की सबसे बड़ी व्यापारिक कठिनाई किसी स्वीकृत कार्यक्रम पर न पहुंचना है। पारस्परिक ईर्ष्या और जलन निर्यात-कर्ताओं के बीच इतनी अधिक रहती है कि उनको संगठन बनाने से लाभ प्राप्त होने का ज्ञान रहने पर भी वे स्वतन्त्र रूप से व्यापार करना अधिक पसंद करते हैं। इतने पर भी पिछले कुछ दिनों से भारतीय निर्यात-कर्त्ता अपना संगठन बनाने की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। यह इसलिए हुआ क्योंकि भारत के राज्य-व्यापार * निगमों की क्रियाएं बढ़ रही हैं तथा संगठित होने से निर्यातकर्त्ताओं को कुछ रियायत मिलने की आशा रहती है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि विदेशी आयातकर्त्ता केन्द्रीयकृत बिक्री के विरुद्ध हैं और वे नाराज होकर दूसरे स्रोतों से माल मंगाने का निर्णय ले सकते हैं। यह मत अधिक सत्य नहीं है। सच तो यह है कि विदेशी आयात-कर्त्ताओं को भी कुछ सुस्थापित फर्मों से वार्ता करने में अधिक सुविधा रहती है।

(५) विशेष निर्यात
(Selective Export)

वर्तमान प्रतिस्पर्धापूर्ण स्थिति में सुधार लाने के लिए एक अन्य तरीका विशेष निर्यात के रूप से सुझाया जाता है। भारतीय उत्पादक इस प्रणाली के लाभों से परिचित दिखाई नहीं देते। इसके अन्तर्गत एक उत्पादक अपने उत्पादन को किसी भी इच्छुक निर्यातकर्ता को बेचने की अपेक्षा कुछ सीमित निर्यातकर्त्ताओं को चुन लेता है जो उस उत्पादन को भली प्रकार से निर्यात कर सकते हैं। जब तक विशेष व्यापार व्यवस्था को नहीं अपनाया जाता तब तक यह खतरा रहता है कि अनेक विक्रेता एक जैसे खरीददारों को बिक्री करने का प्रयास करेंगे और इस प्रकार उनके बीच प्रतिस्पर्धा पैदा हो जाएगी।

विशेष निर्यात के माध्यम से कोई भी फर्म कुछ वस्तुओं पर विशेष ध्यान दे सकती है अथवा एक ही वस्तु के बारे में कुछ बाजारों पर ध्यान दे सकती है। ऐसी स्थिति में मितव्ययता और विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है। चुनी हुई चीजों की बिक्री की व्यवस्था में निर्माताओं और निर्यात-कर्त्ताओं के बीच अधिक सहयोग सम्भव बनता है।

(६) कीमत का निर्धारण
(Fixation of Price)

प्रतिस्पर्धा के बुरे परिणामों को कम करने के लिए वस्तु की कम से कम कीमत निर्धारित की जा सकती है ताकि उससे नीचे किसी सामान को नहीं बेचा जा सके। यद्यपि यह योजना सरल दिखाई देती है किन्तु व्यवहार में इसे लागू करना कठिन है क्योंकि अनेक वस्तुओं की मांग में विभिन्न उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। जब बाजार गिर रहा होता है तो व्यापारी यह प्रयास करते हैं कि जो भी कीमत मिले उस पर अधिक से अधिक स्टॉक को खत्म कर दिया जाए। कीमत निर्धारण योजना को गिरते हुए बाजार की अपेक्षा उठते हुए बाजार पर अच्छी तरह लागू किया जा सकता है।

निर्यात व्यापार की कुछ समस्यायें
(Some Problems of Export-Trade)

विदेशों में बिक्री करने वाली भारतीय संस्थाए
(Indian Institutions for Selling in Foreign Countries)

भारतीय विदेशी व्यापार की एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या यह है कि विदेशों में बिक्री के लिए जो संस्थागत रूप-रचना इस समय स्थित है वह अनुपयुक्त है। अधिक वस्तुओं की मांग होने के कारण यह दोष और भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। विदेशों में हमारे व्यापार संगठनों की अपर्याप्तता का एक कारण तो हमारी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है और दूसरा कारण भारत के विदेशी आर्थिक सम्बन्धों की परिवर्तित प्रकृति है। अतीत-काल में भारतीयों में उत्पादकों एवं निर्यातकर्त्ताओं को अपने बाजार की रचना के लिए विदेशों में प्रतिनिधित्व करने की आवश्यकता नहीं थी। इसके अतिरिक्त भारत में विदेशी आयात-कर्त्ताओं के अभिकरण या प्रतिनिधि थे जो उनकी ओर से खरीददारी कर सकें। इस प्रकार व्यापार की पहल विदेशी खरीददारों द्वारा की जाती थी और भारत में वस्तुओं का उत्पादन ऐसे बाजारों के लिए किया जाता था जो पहले से ही स्थित थे। अब हमारे विदेशी व्यापार में मौलिक परिवर्तन आ गए हैं। जिन अनेक वस्तुओं में पहले भारत को एकाधिकार प्राप्त था उनमें पर्याप्त प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी है। हमारे निर्यात-व्यापार में अनेक ऐसी चीजें आ गयी हैं जिनका व्यापार पहले नहीं किया जाता था। इसके लिए विदेशों में उपयुक्त संगठन बनाना अब जरूरी हो गया है।

भारतीय व्यापारी फर्मों में स्थानीय प्रतिनिधित्व नहीं रहता। जब तक विदेशी बाजारों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं रखा जाएगा, तब तक भारतीय उत्पादक विदेशी खरीददारों की बदली हुई मांगों को पूरा नहीं कर पायेंगे। निर्यात व्यापार में सबसे मुख्य बात बिक्री होती है। बिक्री के लिए सही प्रकार के संगठन होने चाहिए। इनके अभाव में भारत के उत्पादकों को विदेशी आवश्यकताओं के परिवर्तनों की तुरन्त जानकारी नहीं हो सकती है। स्थिति उस समय और भी गम्भीर बन जाती है जब विदेशी निर्यात-कर्त्ता विभिन्न बाजारों में अपने व्यापारिक संगठन रखते हैं। इस दृष्टि से जापान के कच्चे माल खरीदने और बने हुए माल को बेचने का तरीका उल्लेखनीय है। उसने भारत में अपने व्यापार गृह स्थापित किए हैं। उसके विश्व-व्यापी सम्पर्क हैं। ग्रेट ब्रिटेन के लोग सबसे अधिक विशेषज्ञता तो उनके बाह्य व्यापार के प्रबन्ध में रखते हैं।

जब भारतीय माल का पर्याप्त प्रचार नहीं हो पाता तो विदेशी बाजारों में उसकी बिक्री सीमित बन जाती है। अनेक विदेशी खरीददार भारतीय उत्पादनों से अनभिज्ञ भी रहते हैं। १९५७ में निर्यात प्रोत्साहन समिति ने यह सिफारिश की थी कि दूसरे देशों में प्रचार कार्य तथा विज्ञापन व्यापक स्तर पर होने चाहिए। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न सम्बन्धित हितों के द्वारा सामुदायिक स्तर पर प्रयास किया जा सकता है। यदि निर्यातकर्त्ता फर्मों का उचित संगठन कर दिया जाए तो विदेशों में श्रेष्ठ संगठन तथा बिक्री प्रतिनिधित्व स्वत: ही स्थापित हो जाएगा।

(२) अनुचित व्यवहार

(Unfair Practices)

भारतीय निर्यात-कर्त्ताओं के अनुचित व्यवहार के विरुद्ध अनेक शिकायतें की जाती हैं। जैसे माल भेजने में देरी, मांगे गये माल के गुण और भेजे गये माल के गुण में अन्तर, खराब पैकिंग तथा खराब मार्किंग आदि। नियमित रूप से भारतीय निर्यात-कर्त्ताओं के विरुद्ध यह शिकायत की जाती है कि वे माल भेजने की तारीख का पालन कदाचित् ही कर पाते हैं। इसके कारणों के स्पष्टीकरणों के रूप में जहाज न मिलना, रेल के डिब्बों की सुविधा न मिलना आदि का उल्लेख किया जाता है। कुछ विदेशी आयात-कर्त्ताओं को यह सन्देह भी रहता है कि भारतीय निर्यात-कर्त्ता चीजों के दाम बढ़ने पर माल को दूसरी जगह भेज देते हैं और अधिक लाभ कमाते हैं। यद्यपि ये शिकायतें सभी मामलों में लागू नहीं की जाती किन्तु वे विदेशों में भारतीय व्यापार के सम्मान को गिराती हैं। एक अन्य आलोचना यह है

कि भारत के निर्यात-कर्त्ताओं द्वारा बहुत कम नमूने प्रदान किये जाते हैं और जो प्रदान किए जाते हैं वे अत्यन्त छोटे तथा अव्यवस्थित रूप से बंधे होते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे प्रतिद्वन्दी हैं नमूने भेजने और उनको आकर्षक रूप से पक करने में अत्यन्त उदार हैं।

(३) माल का गुण
(The Quality of Goods)

निर्यात किये गये माल के गुणों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शिकायतें की जाती हैं। ये शिकायतें रूई के निर्मित माल, चमड़े एवं खनिज पदार्थों के बारे में बहुत होती है। स्वस्थ व्यापारिक सम्बन्धों की रचना के लिए यह जरूरी है कि जिन नमूनों के आधार पर व्यापार समझौता किया जाय उन्हीं के अनुसार माल भेजा जाय। कुछ माल ऐसे होते हैं जिनके गुण के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। उदाहरण के लिये मैंगनीज खनिजों एवं लोहे के सम्बन्ध में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसको आधार बनाकर उनके गुण की जांच की जा सके। गुण के सम्बन्ध में केवल अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। इसी प्रकार चाय के गुण के बारे में भी कोई उचित प्रमाणीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक मौसम और प्रत्येक बगीचे में उसके तोड़ने की व्यवस्था भिन्न-भिन्न होती है। चाय की नीलामी बिक्री ने इसके गुणों के मूल्यांकन की कठिनाइयों को काफी कम कर दिया है। कृषि उत्पादनों के गुणों में विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। जब एक ही चीज को विभिन्न कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो ऐसी स्थिति में उसके गुणों का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। हो सकता है कि एक प्रकार का कच्चा माल एक वस्तु के निर्माण में दूसरों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हो। जहां तक निर्मित माल का सम्बन्ध है उसके स्तरों का निर्धारण करना अपेक्षाकृत सरल होता है। यद्यपि विभिन्न प्रकार के सामान को प्रमापीकृत करने में कठिनाइयां तो अवश्य आती हैं।

यहां उल्लेखनीय बात यह है कि मापदण्डों का एक पक्ष निश्चय ही कोई अधिक महत्व नहीं रखता। जो भी प्रमापीकरण किया जाय वह केवल तब ही सफल हो सकता है जब कि खरीददारों द्वारा भी उसको स्वीकार कर लिया जाय। यदि किसी वस्तु का स्तर विधि से आयात-कर्त्ता की मांगों के उपयुक्त है तो उसे विभिन्न प्रकार का सामान मंगाने में आसानी रहेगी। कुछ ऐसा माल भी होता है जो स्तर की दृष्टि से अपेक्षाकृत नीचा होता है। यहां प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के माल को उसकी पर्याप्त मांग होने पर भी बिक्री के लिए रखा जाय अथवा नहीं। निर्यात-कर्त्ताओं की सामान्य धारणा के अनुसार यदि खरीदार माल की घटिया किस्म से परिचित हैं

और फिर भी उसे खरीदना चाहते हैं तो उनके निर्यातों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। निर्यात वृद्धि समिति, १९५७ ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है, उसके अनुसार यदि "विदेशों के घटिया माल की मांग है तो हमें उसका निर्यात बन्द नहीं करना चाहिये। यहां महत्वपूर्ण बात केवल यह है कि खरीदार को पहले से यह मालूम होना चाहिये कि वह जिस माल को मंगा रहा है वह घटिया दर का है। जहाज लादने वालों को भी इस बात को प्रमाणित करना चाहिये कि माल वही है जिसके नमूने दिखाये गये थे।"[1] इस सम्बन्ध में जापान के निर्यात के कानूनों ने कुछ कम से कम गुण निर्धारित किये हुये हैं। यदि निर्यात किया जाने वाला कोई माल इस कम से कम स्तर को संतुष्ट नही करता तो उसके निर्यात को रोका जा सकता है। आर्थिक विशेषज्ञों का मत है कि यदि वर्तमान परिस्थितियों में भारत के निर्यात व्यापार पर गुण की दृष्टि से कठोर नियन्त्रण रखा गया तो उन पड़ौसी देशों को हमारा पर्याप्त निर्यात घट जाएगा जो सस्ते माल की मांग रखते हैं।

भारत सरकार ने निर्यात किए जाने वाले माल के स्तर को सुधारने के लिए कुछ प्रयास किये हैं। इनमें से कुछ योजनायें तो अनिवार्य हैं जबकि अन्य इच्छा पर आधारित हैं। गुण नियन्त्रण की अनिवार्य योजनाओं में वे योजनायें भी आती हैं जो १९३७ के कृषि-उत्पादन अधिनियम के आधीन संचालित की जा रही थीं। इस अधिनियम के आधीन जिन कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का स्तरीकरण किया गया है उन पर एगमार्क (AGMARK) का चिन्ह होता है। इस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत निर्यात किये जाने वाले माल को सुधारने की दिशा में काफी कुछ किया गया है। फलों और दवाइयों का निर्यात फल उत्पादन नियन्त्रण आदेश तथा १९४० के दवाई अधिनियम द्वारा प्रशासित किया जाता है।

गुण पर इच्छापूर्ण नियन्त्रण लगाने की योजनायें सम्बन्धित व्यापार या उद्योगों के संगठनों द्वारा प्रशासित की जाती हैं। चमड़ा निर्यात वृद्धि परिषद् ने एक योजना प्रारम्भ की है जिसके अनुसार इस योजना में जो निर्यात कराते हैं वे अपने द्वारा निर्यात किये जाने वाले माल के स्तर के लिए बाध्य हैं, साथ ही वे योजना की शर्तों को भी स्वीकार करेंगे। इसी प्रकार के स्वेच्छाजनित प्रयास कुछ अन्य संस्थाओं द्वारा भी किये गये हैं। इन योजनाओं की कमजोरी यह है कि ये इच्छा पर आधारित हैं। यदि निर्यातकर्त्ताओं को स्वयं अपना निरीक्षण करने के लिये कह दिया जाय तो यह स्वाभाविक है कि अधिक प्रगति की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी ओर

1. Report of the Export Promotion Committee, 1957 P. 83.

यदि वस्तु के गुण की दृष्टि से नियत्रण को अनिवार्य रूप से लागू किया जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि बन्दरगाह पर जहाज मे लादने से पहले प्रत्येक पैकेज को खोला जाए और खोल कर देखा जाए। १६४६ की निर्यात वृद्धि समिति के अनुसार ऐसा किया जाना अत्यन्त कठिनाई पूर्ण तथा खर्चीला रहेगा। इसके अलावा इससे होने वाली देरी और विभिन्न झगड़े जो नुकसान पैदा करेंगे वे वर्तमान स्थिति से भी अधिक खतरनाक होंगे। यह सच है कि किसी वस्तु के गुण को मापना अधिक कठिन होता है फिर भी यदि एक बार किसी वस्तु के गुण की धाक जम गयी तो फिर उसकी कीमत पर कम ध्यान दिया जाता है। गुणों का स्तर निर्धारित करने में लाभ चाहे कुछ भी हो किन्तु यह तो स्पष्ट है कि भारत में इसके लिए अभी अनिवार्य रूप से निरीक्षण-कर्त्ता नियुक्त करने की जरूरत नही है।

(४) पैकिंग
(Packing)

भारतीय निर्यात व्यापार की एक अन्य समस्या पैकिंग से सम्बन्धित है जिस पर प्राय: ध्यान नही दिया जाता। भारत के निर्यात-कर्त्ता इसे फालतू का अतिरिक्त खर्चा मानते है। यही कारण है कि भारतीय माल विदेशी बाजारों मे जब पहुँचता है तो बड़े अव्यवस्थित रूप मे पैक किया हुआ होता है। इसके अतिरिक्त विदेशी प्रतिस्पर्धा करने वाले लोग अपने माल का पैकिंग बड़े आकर्षक ढग से करते है। विदेशों में आकर्षक पैकिंग तथा इसके लिए जरूरी सामान का निर्माण अपने आपमें अलग से एक उद्योग बन गया है। विदेशों में लोग आकर्षक पैकिंग पर बहुत अधिक ध्यान देते हैं। भारत में अभी तक पैकिंग उद्योग शिशु अवस्था मे है। निर्यात वृद्धि समिति ने १९५७ में इस बात पर जोर दिया था कि पैकिंग पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए एक न्यूनतम स्तर निर्धारित कर लेना चाहिए।

(५) पंच फैसला
(Arbitration)

भारतीय विक्रेताओं एवं विदेशी खरीदारों के बीच किसी बात पर झगड़े भी उत्पन्न हो सकते हैं। उनको सुलझाने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है। विदेशी व्यापार में कुछ थोड़ा बहुत मन-मुटाव तो रहना अपरिहार्य है किन्तु यह मन-मुटाव आगे न बढ़ जाय इसके लिए उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए। साधारण रूप से समझौते में पच फैसले के प्रावधानों को स्पष्ट कर दिया जाता है और यदि झगड़ा करने वाले पक्ष

पंच फैसले से राजी न हों तो वे विषय को कानूनी न्यायालयों तक ले जा सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि अब तक अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा प्राय: ऐसे रूप में हुआ है जो दोनों पक्षों को मान्य था।

भारत में पंच फैसले के लिए कुछ सुविधायें उपलब्ध हैं। इतने पर भी इनकी स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। पंच फैसले की सुविधाओं को और अधिक बढ़ाना परमावश्यक है।

(६) विक्रय के समझौते
(The Contracts of Sale)

भारतीय निर्यात व्यापार की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि यहां के अधिकांश समझौते जिन शर्तों पर किये जाते हैं वे विदेशी आयात-कर्त्ताओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं। कभी-कभी तो समझौते की शर्तों में विदेशी आयात-कर्त्ता को अनुचित रूप से लाभ प्रदान किया जाता है। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन को किया जाने वाला चमड़े का निर्यात उस समझौते के अनुसार किया जाता है जिसे लन्दन की चमड़ा आयात-कर्ताओं एवं फैक्ट्री व्यापारियों की संस्था प्रसारित करती है।

व्यापार को स्वस्थ तरीके से संचालित करने के लिए यह जरूरी है कि समझौते के प्रमापीकृत मापदण्डों को स्थापित किया जाय। किन्तु इस दिशा में बहुत कम प्रयास किया गया है क्योंकि ऐसा कोई कार्यक्रम स्थापित करना अत्यन्त कठिन पाया गया है जो विक्रेता और क्रेता दोनों को स्वीकार हो।

(७) निर्यात-कर्त्ताओं का पंजीकरण
(Registration of Exporters)

भारतीय निर्यात-कर्त्ताओं को संगठित करने के लिये उनको पंजीकृत करने की योजना पर्याप्त महत्व रखती है। इस समय निर्यात-कर्त्ताओं को पंजीकृत करने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसका कारण यह है कि अनेक ऐसे निर्यात-कर्ता हैं जो अनेक अनुचित तरीके अपनाकर निर्यात करते हैं। कुछ व्यापारिक क्षेत्रों में यह सुझाया गया कि निर्यात-कर्त्ताओं को अनुज्ञप्तियायें प्रदान करने की योजना अपनाई जायें, किन्तु इस प्रकार की योजना को क्रियान्वित करने के लिये प्रशासकों की एक बड़ी सेना आवश्यक होती है। अतः सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। किन्तु पंजीकृत की योजना को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना गया।

(८) निर्यात व्यापार का संकीर्ण क्षेत्र
(The Narrow Area of Export Trade)

विभिन्न राजनैतिक और आर्थिक कारणों से भारतीय निर्यात व्यापार

पौण्ड के क्षेत्रों और विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन के साथ है। कुछ बाजारों पर अनुचित रूप से हमारी आश्रितता हमारे विदेशी व्यापार की एक कमजोरी है। इन कुछ बाजारों के खरीदार अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण कीमतों को घटाने में सफल हो जाते हैं। ऐसा होने पर देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था भी गलत रूप से प्रभावित होती है। देश के अधिकांश निर्यात के लिए किसी एक विशेष बाजार की आश्रितता को हमें छोड़ना चाहिए। भारत की अधिकांश विदेशी विनिमय की आय केवल तीन वस्तुओं के निर्यात पर आश्रित है और इसलिये यह जरूरी है कि अधिक से अधिक बाजार खोजे जायं। यदि हम निर्यात को कुछ देशों के बाजार पर आश्रित होने से बचाना चाहते हैं तो इसके लिए हमें चाहिए कि वर्तमान बाजारों को कम न करें किन्तु इसके साथ-साथ नये बाजारों की खोज करें।

भारतीय निर्यात व्यापार की एक अन्य कमजोरी यह भी बतायी जाती है कि यह लन्दन के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में होता है। दूसरे बाजारों में भारत का माल प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् लन्दन के माध्यम से बेचा जाता है। चाय, तम्बाकू, चमड़ा तेल आदि का व्यापार लन्दन के माध्यम से होता है। ये परम्परायें केवल ऐतिहासिक कारणों से अपनाई जा रही हैं जो आज कोई महत्व नहीं रखती। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने शासनकाल में यहां यूरोप के दूसरे देशों के हितों को अपना पाँव नही रखने दिया और इसलिए वे भारत से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रख पाये। इसके अतिरिक्त भारत का जिन यूरोपीय देशों से व्यापार है उनमें अधिकांश छोटी फर्में हैं जिनके पास अलग से व्यापार संगठनों की रचना के लिए न तो साधन है और न इच्छा। इंगलैंड के निवासी व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त कुशल होते हैं और इसीलिए लन्दन का महत्व बढ़ाना स्वाभाविक बन गया।

स्वतन्त्रता के बाद भारत के निर्यात व्यापार में जो मोड़-तोड़ आए वे अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। भारत और ब्रिटेन के बीच राजनैतिक सम्बन्धों का परिवर्तन होने के कारण आर्थिक स्थिति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गए। लन्दन द्वारा भारत और अन्य देशों के बीच व्यापार की जिस कड़ी का काम किया जाता था वह अभी कायम है किन्तु उसका योगदान पर्याप्त घट चुका है। पुरानी परम्परा का अभी तक चले आने का कारण यह है कि यूरोपीय और अमेरिकी खरीदार अपनी आवश्यकता की भारतीय वस्तुओं को लंदन से खरीदने के आदी हो चुके हैं और इसलिए वे नये तरीके प्रयोग में लाना नहीं चाहते। नये तरीके प्रारम्भ करने के लिए यह जरूरी है

कि भारतीय निर्यात-कर्ताओं में विदेशी खरीदारों का विश्वास होना चाहिए।

निर्यात व्यापार का एक अध्ययन
(A Study of Export Trade)

निर्यात व्यापार का आकार
(The Volume of Export Trade)

१९४७ के बाद भारत के निर्यात व्यापार में अनेक परिवर्तन हुये हैं। देश की अर्थव्यवस्था को उचित आधार प्रदान करने के लिये देश के निर्यातों को बढ़ाने की दिशा में विभिन्न प्रयास किये गये। भारत के निर्यात व्यापार में किये गये इन परिवर्तनों के लिये अनेक कारण उत्तरदायी हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विभिन्न परेशानियों तथा समस्याओं ने भारतीय व्यापार को अवरुद्ध कर दिया। यातायात की कठिनाईयां, कच्चे माल तथा रसायनों का अभाव, विदेशी विनिमय सम्बन्धी बाधायें और सरकारी नियंत्रण का बाहुल्य आदि के कारण निर्यात व्यापार की मात्रा घट गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद व्यापार की मात्रा में वृद्धि करना परमावश्यक बन गया; क्योंकि ऐसा करके ही आयातों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता था। १९४८ में भारतीय निर्यातों की कुल मात्रा ४५८.४२ करोड़ रुपये थी। निर्यात प्रोत्साहन के लिये किये गये प्रयासों के परिणामस्वरूप यह मात्रा १९४९ में ५०६.०२ करोड़ रुपये हो गई। सन् १९५०-५१ में भारत के निर्यात की कुल मात्रा ६००.६८ करोड़ रुपये थी। १९५३-५४ में कई कारणों से भारत के निर्यात घट गये। इसका पहला कारण यह था कि अनेक वस्तुओं की आवश्यकता देश में बढ़ गई थी। अत: उनके निर्यात की अपेक्षा देश में ही खपत पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। दूसरे, सरकार ने कई वस्तुओं के निर्यात पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया और इसलिये उनकी मात्रा का कम होना स्वाभाविक था। तीसरे, विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुओं को कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता था जिसके परिणामस्वरूप उनकी मात्रा कम होती गई। १९५७-५८ में भारत के निर्यात ६३५.१४ करोड़ रुपये के थे। बाद में इनमें थोड़ी वृद्धि हुई और १९६०-६१ में इनकी मात्रा ६४८.३३ करोड़ रुपये तक पहुंच गई। १९६१-६२ में यद्यपि निर्यात की मात्रा अधिक थी, किन्तु इसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। इस समय कुल निर्यात ६६७.५ करोड़ रुपये के थे। १९६२-६३ में निर्यातों की स्थिति को सुधारनें के लिये कुछ प्रयास किये गये जिनके फलस्वरूप निर्यात अधिक होने की सम्भावना की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में भारत के निर्यातों का प्रति वर्ष औसत ६०९ करोड़ रुपये था, किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में निर्यातों का प्रति वर्ष औसत ६१६ करोड़ रुपये हो गया। यद्यपि देश के निर्यातों की मात्रा प्रति वर्ष बढ़ रही है, किन्तु यह वृद्धि किये गये प्रयासों को देखते हुये संतोषप्रद नहीं है। विभाजन के बाद कच्चा जूट और अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने वाले क्षेत्र जब पाकिस्तान में चले गये तो देश में इन वस्तुओं की कमी आगई। इसके अतिरिक्त खाद्य पदार्थों में होने वाली कमी ने भी हमारे देश के निर्यातों को पर्याप्त कम कर दिया।

निर्यातों की मात्रा में वृद्धि के कई कारण हैं। प्रथम, पश्चिमी देशों में अब मंदी का प्रभाव नहीं है इसलिये वहां भारतीय माल की मांग बढ़ने लगी है। दूसरे, सरकार निर्यातों को बढ़ाने के लिये विभिन्न प्रेरणायें प्रदान करती है। सरकार द्वारा निर्यात उद्योगों को आयात की अनेक सुविधायें प्रदान की जाती हैं। चाय आदि विभिन्न वस्तुओं पर निर्यात करों की मात्रा कम कर दी गई है। विभिन्न वस्तुओं के निर्यात नियतांशों को पुनः स्वीकार कर लिया गया है। पहले जो तेल, तिलहन, तथा खली के निर्यात पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध लगे हुए थे उन्हें अब समाप्त कर दिया गया है। जो चीजें निर्यात की वस्तुओं को बनाने के काम आती हैं उन पर से करों को या तो हटा दिया गया है अथवा कम कर दिया गया है। १९६२–६३ में देश में जूट का उत्पादन अधिक हुआ तथा विदेशी मंडियों में उसकी मांग अधिक रही। फलतः जूट से बनी हुई वस्तुओं का निर्यात अधिक किया गया। उस वर्ष हाथकर्घे के कपड़े का निर्यात बढ़ा और चाय का घटा। कहवे के निर्यात में थोड़ा परिवर्तन आया, जबकि चीनी का निर्यात बढ़ा।

१९६३ में निर्यात को बढ़ावा देने के लिये विभिन्न प्रयास किये गये। इनके अनुसार विभिन्न वस्तुओं के निर्यात पर से पाबन्दियों को हटाया गया और कपास, खली तथा हाथ कर्घों का कपड़ा आदि विषयों पर निर्यात के नियतांश को बढ़ाया गया। निर्यात सम्बन्धी प्रचार और प्रसार के लिये विभिन्न उपाय किये गये, वस्तुओं की किस्म पर नियंत्रण रखा जाने लगा। जहाज में लादने से पूर्व वस्तुओं का निरीक्षण करने के लिये कानून बनाये गये। 'खनिज तथा धातु व्यापार निगम' की स्थापना की गई जिनका कार्य सरकारी व्यापार की देख-रेख करना था। विभिन्न वस्तुओं के लिये 'निर्यात प्रोत्साहन परिषदें' बनाई गईं और रेलवे द्वारा यह घोषणा की गई कि इंजीनियरिंग उद्योग के ६५ चीजों के भाड़े में २५ प्रतिशत की छूट दी जायेगी।

तीसरी योजना को तैयार करते समय यह अनुमान किया गया था कि निर्यात से होने वाली आय इस योजना-काल में ३७०० से लेकर ३८०० करोड़ रुपये के बीच में रहेगा और निर्यात का स्तर १९६५-६६ में ७०० करोड़ रुपये से लेकर ८०० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगा। १९५१ से ६० तक के १० वर्षों में निर्यात व्यापार में जो शिथिलता आ गई थी वह तीसरी योजना-काल में दूर हुई। तीसरी योजना के प्रथम वर्ष में निर्यातों में उत्साह-जनक वृद्धि हुई। यह वृद्धि १९६२-६३ में भी रही जब कि कुल निर्यात ७१४ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। १९६३-६४ में निर्यात में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई और कुल निर्यात ७९३ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। **यह वृद्धि निर्यात-मूल्य में वृद्धि होने के कारण नहीं वरन् निर्यात की गई वस्तुओं में वृद्धि के कारण थी।**

तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में निर्यातों में जो वृद्धि हुई वह अन्तिम दो वर्षों में नहीं हो पाई १९६४-६५ में निर्यात की राशि ८१६ करोड़ रुपये रही जो पूर्व वर्ष की अपेक्षा केवल २३ करोड़ रुपये अधिक थी। तीसरी योजना के अन्तिम वर्ष १९६५-६६ में निर्यात और भी निराशाजनक रहे। इस वर्ष कुल निर्यात ८१० करोड़ रुपये अर्थात पूर्व वर्ष की अपेक्षा ७ करोड़ रुपये कम का हुआ। इस कमी का कारण यह था कि चीनी के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य गिर गये थे तथा चाय और सूती कपड़े के निर्यात से भी कम आय हो सकी थी। दूसरे, कृषि की फसल अच्छी न होने के कारण कृषि-जन्य वस्तुओं का निर्यात घट गया। तीसरे, पाकिस्तान-भारत युद्ध के कारण भी १९६५-६६ का निर्यात पर्याप्त प्रभावित हुआ। यह कहा जाता है कि कृषि और बागानी फसलें १९६५-६६ में वर्षा की कमी के कारण खराब न हुई होती तो यह वृद्धि और भी अधिक होती। तृतीय योजना-काल के अन्तिम वर्षों में निर्यातों के घटने का एक मुख्य कारण पी० सी० भट्टाचार्य के मतानुसार मुद्रा स्फीति था, जिसने हमारी निर्यात होने वाली वस्तुओं के उत्पादन की लागत को बढ़ा दिया और इस प्रकार विदेशी बाजारों में उनके लिये प्रति-योगिता करना कठिन बन गया।[1] ऐसी स्थिति में उत्पादकों को देश में ही उनके उत्पादन की इतनी कीमत मिल जाती थी जितनी कि निर्यात से भी न मिल सके। फलतः निर्यातों के प्रति उनकी कोई रुचि न रही।

अवमूल्यन का प्रभाव भी निर्यात की मात्राओं पर पर्याप्त पड़ा। रुपये का अवमूल्यन करते समय सरकार ने आयात-अधिकार और कर-प्रत्यय-

---

१. पी० सी० भट्टाचार्य, रुपये का अवमूल्यन और उसका प्रभाव, संसदीय और संवैधानिक अध्ययन संस्थान, १९६६, पृष्ठ-३

प्रमाणपत्र योजना तथा सीधी राज्य सहायताओं को बन्द कर दिया जो निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये प्रारम्भ की गई थीं। अवमूल्यन का निर्णय लेने वालों ने यह आशा की कि रुपये का अवमूल्यन निर्यातों के लिये अधिक लाभकारी रहेगा क्योंकि कोई भी निर्यात-कर्त्ता विदेशी मुद्रा की किसी भी राशि के बदले रुपयों की दृष्टि से ५६.५ प्रतिशत अधिक रकम पा सकता था। अवमूल्यन से पूर्व १००० डालर के बदले केवल ४७६० रुपये मिलते थे किन्तु अवमूल्यन के बाद ७५०० रुपये मिलने लगे।

१९४७ के बाद निर्यातों की मात्रा में परिवर्तन[1]

(Changes in Volume of Exports Since 1947)

करोड़ रुपयों में

वर्ष		निर्यातों की मात्रा
१९४६–४७	—	४४५·८१
१९४७–४८	—	४५८·७२
१९४८–४९	—	५०६·०२
१९४९–५०	—	५६५·४६
१९५०–५१	—	६००·६७
१९५५–५६	—	६०८·९१
१९५७–५८	—	५९४·०२
१९५८–५९	—	५७६·०३
१९५९–६०	—	६२७·०४
१९६०–६१	—	६५२·०७
१९६१–६२	—	६६०·५८
१९६२–६३	—	७०१·६१
१९६३–६४	—	७९३·२४
१९६४–६५	—	८१६·३०
१९६५–६६	—	८०५·६४
१९६६–६७	—	११५६·५३
१९६७-६८	—	११९८·६७
अप्रेल-दिसम्बर, १९६८	—	१०१९·०२

1. Source—Department of Commercial Intelligence and Statistics.

निर्यात व्यापार की रचना
(The Composition of Export Trade)

निर्यात व्यापार में जिन विभिन्न वस्तुओं पर प्रारम्भ से जोर दिया जाता रहा है वे प्रायः एक जैसी रही हैं। १९३८ में हमारे निर्यात की प्रमुख वस्तुओं में जूट का सामान, कच्ची कपास, चाय, बीज और कच्चे जूट को मुख्य स्थान दिया जाता था। १९४८ में निर्यात की वस्तुओं के अन्तर्गत जूट का सामान, चाय, कपास का सूत, कच्ची कपास, तेल एवं चमड़ा आदि प्रमुख थे। १९५२ के निर्यात की वस्तुओं में धात्विक खनिज तेल, कच्ची कपास, चाय, सूत, जूट का सामान आदि प्रमुख रहे। १९५३ से लेकर १९५५ तक निर्यात की वस्तुओं में जूट का सामान, चाय, कपास का सूत एवं निर्मित माल धात्विक खनिज, कमाया हुआ चमड़ा तथा खालें और कच्ची कपास आदि मुख्य थे। १९५६, ५७, ५८ और ५९ में जूट निर्मित माल की अपेक्षा चाय को पहला स्थान मिल गया, किन्तु १९६० में आकर जूट का महत्व फिर से हो गया। इस प्रकार भारत की निर्यात रचना में कोई अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए।

पिछले वर्षों में कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का निर्यात कम हुआ है तथा लोहा एवं अन्य निर्मित वस्तुओं के निर्यात में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भारतवर्ष द्वारा जिन विभिन्न वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उनमें से मुख्य चार—पटसन, चाय, सूती वस्त्र और तम्बाकू हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है।

(१) **पटसन (Jute)**—भारत के पटसन और उनसे बनी हुई वस्तुओं की मांग विदेशों में बहुत रहती है किन्तु देश के विभाजन के बाद जब अनेक महत्वपूर्ण इलाके पाकिस्तान में चले गये तो भारत इस मांग की पूर्ति करने में असमर्थ रहा। कच्चे पटसन के लिए स्वयं भारत को भी पाकिस्तान पर आश्रित रहना पड़ता है। पटसन के माध्यम से भारत को जो डालर की आय होती है उसका भारत की अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त महत्व है। अनुमानतः २२ प्रतिशत से भी अधिक विदेशी मुद्रा की आय पटसन के निर्यात द्वारा होती है। ग्रेट ब्रिटेन, क्यूबा, मिस्र, बर्मा, थाईलैण्ड तथा न्यूजीलैण्ड आदि देशों में ऐसे मुख्य बाजार हैं जहां भारत, पटसन का निर्यात करता है। १९६०-६१ में भारत द्वारा किये गये पटसन के कुल निर्यात की मात्रा १३१७२ लाख रुपये थी। अब पटसन का निर्यात धीरे-धीरे घटता जा रहा है।

(२) **चाय (Tea)**—भारतीय निर्यातों में एक अन्य महत्वपूर्ण वस्तु चाय है। इसके द्वारा देश को पर्याप्त विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

ब्रिटेन भारतीय चाय का एक मुख्य ग्राहक है। उसके द्वारा कुल उत्पादन के लगभग २/३ भाग का आयात किया जाता है। भारत द्वारा काली चाय का निर्यात होता है। १९६२–६३ में १२ हजार ८८२ लाख रुपये और १९६३–६४ में यह १४७८३ लाख रुपये का चाय का निर्यात हुआ।

(३) **सूती वस्त्र** (**Cotton Manufacture**)—सूती वस्त्र भी भारतीय निर्यात में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारत अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, इंगलैण्ड, मध्यपूर्वी देशों तथा दक्षिण पूर्वी देशो में सूती कपड़े का निर्यात करता है। १९६०–६१ में कुल मिलाकर ५७५४ लाख रुपये का सूती वस्त्र निर्यात किया गया। १९६१–६२ में यह मात्रा ४८२५ लाख रुपये रही, किन्तु १९६२–६३ में ४८२१ लाख रुपये रह गई। इस प्रकार सूती वस्त्र के निर्यात की मात्रा में समय के साथ कमियां आई हैं।

(४) **तम्बाकू** (**Tobacco**)—भारतीय निर्यातों में तम्बाकू भी अपना महत्व रखती है। इस दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन भारत का एक महत्वपूर्ण ग्राहक है। १९६०–६१ में भारत ने १४६१ लाख रुपये की तम्बाकू का निर्यात किया था। १९६१–६२ में यह मात्रा १४९७ लाख रुपये हो गई। भविष्य में इस प्रकार की वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि की सम्भावनायें ही अधिक रहती हैं। भारत ने तृतीय योजना के समय जिन वस्तुओं का निर्यात किया उनकी रचना को पृष्ठ ४७७-७८ की तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

Exports of Principal Commodities 1

(By Sea, Air and Land)

(Rs. Lakhs)

Commodity.	1963-64	1961-65	1965-66	1966-67	1967-68	Apr. Dec., 1968
Jute Manufactures (Excluding twist & yarn). ...	15214	16723	18162	24900	23353	15964
Tea.	12338	12465	11484	15841	18020	13348
Cotton Manufactures (Excluding twist and yarn)	5036	6416	6329	7560	7944	6632
Textile articles (other than Cotton and Jute mfrs., Woollen Carpets, Carpeting, Floor rugs and Mattings) ...	1121	542	458	668	576	514
Textile yarn and Thread.	1668	1440	1507	2036	1612	1791
Ores of Non-ferrous base Metals and Concentrates.	973	1451	1154	1624	1299	1192
Leather.	2620	2716	2821	6185	5322	5374
Raw-Cotton (Excluding linters and waste). ...	2111	1058	1039	1183	1475	823
Fresh Fruits and Nuts (excluding Vilnuts). ...	2376	3105	2924	4819	4506	4865
Crude vegetable materials, inedible. ...	1599	1705	1678	2287	1914	1585
Raw Wool. ...	652	765	643	674	565	372

Commodity.	1963 64	1964-65	1965-66	1966-67	1967-68	Apr. Dec., 1968
Sugar (including molasses). ...	2710	1821	1119	1814	1644	343
Iron ore and concentrates. ...	3640	3739	4237	7019	7478	6246
Tobacco unmanufactured. ...	2109	2438	1957	2152	3485	2710
Vegetable Oils (Non-essential). ...	1993	705	409	283	396	1008
Crude minerals (Excluding Coal, Petroleum, Fertiliser, Materials and Precious Stones). ...	1205	1303	1461	1878	1969	1408
Woollen Carpets, Carpeting, Floor rugs and Mattings. ...	526	537	448	801	945	804
Iron and Steel. ...	361	1033	1238	2469	5483	6151
Coffee. ...	831	1342	1294	1584	1818	1572
Hides and skins, Undressed. ...	959	905	955	1609	739	375
Petroleum products. ...	141	789	746	1030	732	308
Coal, Cope and briquettes. ...	235	436	286	236	183	220
Total (including other items but excluding re-exports) ...	78928	81315	80165	115288	119280	101635

Source—India, 1969, P.P. 370–71.

पूर्वोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि भारत ने अपने निर्यातों की रचना में पर्याप्त विकास किया है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से उसने एक कृषक और कच्चा माल उत्पादन करने वाले देश की प्रतिभा को क्रमशः एक औद्योगिक देश के रूप में बदल दिया। वर्तमान समय में भारत द्वारा जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है वे परम्परागत और गैर-परम्परागत जैसे दो भागों में विभाजित की जाती हैं। हमारे परम्परागत निर्यातों में चाय, पटसन, सूती वस्त्र, वनस्पति घी, तिलहन, चमड़ा और चमड़े का सामान, हाथकर्घा-वस्त्र, हस्तकलायें, एवं दाल आदि आते हैं। दूसरी ओर गैर-परम्परागत वस्तुओं में डीजल इंजन, बिजली के पंखे, सिलाई की मशीनें, साइकिल आदि इंजीनियरिंग के समान आते हैं। इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।

अवमूल्यन और निर्यात की रचना

(Devaluation and the Composition of Export)

१९६७ के दौरान निर्यात व्यापार में कुछ विशेष बातें प्रदर्शित हुईं। इस वर्ष के प्रथम ग्यारह महिनों में संयुक्तराज्य अमेरिका को किया गया निर्यात १४७३ मिलियन डालर का था। यह निर्यात की मात्रा १९६६ के इतने ही काल की मात्रा से २.५ प्रतिशत अधिक थी। एक ओर निर्यात बढ़े किन्तु दूसरी ओर आयातों की मात्रा घटी। आयात ७४ मिलियन डालर अथवा २.९ प्रतिशत घट गये। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि व्यापार में घाटे की स्थिति ११० मिलियन डालर की रही। जून, १९६७ में इस घाटे की स्थिति को पूरा करने के लिये प्रयास किया जाना प्रारम्भ हो गया। १९६७ के उत्तरार्द्ध में अगस्त को छोड़कर प्रत्येक माह के निर्यात १९६६ के उन्हीं महिनों की अपेक्षा अधिक थे। सरकार द्वारा निर्यात के प्रोत्साहन के लिये अनेक प्रयास किये गये और इनमें से कुछ का परिणाम सामने आने लगा। चाय, कच्ची तम्बाकू, लोहा एवं फौलाद के उत्पादन और इंजीनियरिंग का सामान आदि पर्याप्त सुधर गये।

पौण्ड स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने के बाद कुछ देशों ने अपनी विनिमय-दरों को कम कर दिया और इससे ऐसा लगने लगा कि हमारे निर्यात विपरीत दिशा में प्रभावित होंगे। ब्रिटिश विनिमय दर में परिवर्तन के कारण हमारे कुछ निर्यात कठिनाइयों का अनुभव कर सकते थे, किन्तु अन्य के यथावत रहने की आशा थी। कुल मिलाकर हमारे निर्यातों पर अधिक बुरा प्रभाव पड़ने की आशा नहीं की जा रही थी।

यदि हम जनवरी, १९६७ से नवम्बर, ६७ तक के निर्यातों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि इस काल में चाय का निर्यात ४८.७ मिलियन डालर का बढ़ा। इसके अलावा लोहा और फौलाद में ३५.९ मिलियन, कच्ची तम्बाकू में १३·३ मिलियन, हस्तकला में १०.२ मिलियन, मछलियों में ४.७ मिलियन, कच्ची रूई में ४.६ मिलियन, काफी में ३ मिलियन, इंजीनियरिंग के सामान में २.७ मिलियन, तथा वनस्पति तेलों में २ मिलियन डालर की वृद्धि हुई। इन सब के अलावा प्याज, काजू, कागज और लकड़ी आदि का निर्यात भी थोड़ा बहुत बढ़ा। इन सब वस्तुओं के निर्यातों में होने वाली वृद्धि को अन्य कुछ वस्तुओं के निर्यातों में होने वाली कमी ने महत्वहीन बना दिया। उदाहरण के लिये, जूट का बना हुआ माल १८.८ मिलियन, दालें ८.५ मिलियन, चमड़े के बने सामान १४.१ मिलियन कम हो गये। इसी प्रकार अन्य बहुत-सी चीजों के निर्यातों में भी कमी हो गई और परिणामस्वरूप हमारा भुगतानसन्तुलन विपरीत दिशा में प्रभावित हुआ।

१९६७ के दौरान निर्यातों की रचना में जो मुख्य परिवर्तन आये उनको महत्वपूर्ण वस्तुओं की दृष्टि से निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

(१) **चाय का निर्यात**—इस काल में चाय का निर्यात बढ़ा। वर्ष के उत्तरार्द्ध में भारत को अपने निर्यात की ऊंची कीमतें मिल सकीं क्योंकि इस वर्ष लंका और पूर्वी अफ्रीका के पास निर्यात करने योग्य अतिरिक्त माल कम था। पौण्ड स्टर्लिंग और लंका के रुपये ने इस समस्या को और भी अधिक जटिल बना दिया।

(२) **जूट का निर्मित माल**—१९६६ की अपेक्षा १९६८ में जूट का निर्मित माल ७ लाख टन निर्यात किया गया जो २९६.७ मिलियन डालर के मूल्य का था। इसकी मात्रा ८ हजार टन अधिक थी, किन्तु उसका मूल्य १८.८ मिलियन डालर कम था। हमारे निर्यात की आय में होने वाली इस कमी का कारण विश्व में कीमतों का गिरना था। इस काल के उत्तरार्द्ध में कुछ सुधार की स्थिति दिखाई दी। इतने पर भी पाकिस्तान की प्रतिद्वन्दिता, कृत्रिम रेशे के स्थानापन्न, विश्व कीमतों में कमी और स्टर्लिंग के अवमूल्यन आदि को देखते हुये इस सम्बन्ध में निकट भविष्य में आशाजनक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता।

(३) **सूती वस्त्र**—जनवरी से नवम्बर, १९६७ तक ३६८.८ मिलियन वर्ग मीटर का कपड़ा निर्यात किया गया जिसका मूल्य ७०.९ मिलियन डालर था। इसके निर्यात में वर्ष के उत्तरार्द्ध में कुछ सुधार दिखाई दिया। सूती वस्त्र का निर्यात न केवल ग्रेट-ब्रिटेन के बाजारों में कम हुआ वरन्

एशिया और अफ्रीका के देशों में भी कम हो गया। सिंगापुर की चीन और पाकिस्तान के साथ प्रतिद्वन्द्विता होने के कारण निर्यात को धक्का लगा।

हाथ-कर्घे के सूती वस्त्र का निर्यात भी इस काल में कम हो गया। यह कमी ३.३ मिलियन मीटर की हुई जिसका मूल्य १.८ मिलियन डालर था। इस कमी का मूल कारण नेपाल, अमेरिका, मलयेशिया, ग्रेट-ब्रिटेन और नाइजीरिया में इस कपड़े की मांग में कमी होना था। इसके अतिरिक्त ऊंची कीमतें तथा जापान, हांगकांग, पाकिस्तान और चीन से कड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। अतः हमारी निर्यात आय कम हो गई।

(४) **कच्ची तम्बाकू**—इस काल में कच्ची तम्बाकू के निर्यात में उल्लेखनीय सुधार हुआ। इसकी मात्रा ५३.१ हजार टन थी, जिसका मूल्य ४१.८ मिलियन डालर था। यह १९६६ की तुलना में १९.७ हजार टन अधिक था। यह वृद्धि मुख्य रूप से १९६७ के अगस्त, सितम्बर के महिनों में हुई। तम्बाकू के निर्यात की बढ़ी हुई मात्रा मुख्य रूप से ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत संघ, जापान और अरब देशों में की गई।

(५) **लोहा और फौलाद**—लोहा और फौलाद का निर्यात भी बढ़ा। जनवरी-नवम्बर, १९६७ में इस की मात्रा जनवरी-नवम्बर, १९६६ की अपेक्षा ढाई गुनी थी। अवमूल्यन के बाद लोहा और फौलाद हमारे निर्यात की आय का एक मुख्य स्रोत बन गया। थाईलैण्ड, दक्षिणी कोरिया, आस्ट्रेलिया, कम्बोडिया, हांगकांग, ईरान, पोलैण्ड, सऊदी अरेबिया, संयुक्तराज्य अमेरिका, यूगोस्लाविया और सिंगापुर के लिये लोहा और स्पात का निर्यात बढ़ा।

(६) **इंजीनियरिंग का सामान**—इस काल में इंजीनियरिंग का सामान जो निर्यात किया गया वह १९६६ की अपेक्षा २.७ मिलियन डालर का अधिक था। यह वृद्धि १९६७ के उत्तरार्द्ध में हुई। लंका, ग्रेट-ब्रिटेन, दक्षिणी वियतनाम और सिंगापुर आदि के लिये ऐसा सामान अधिक निर्यात किया गया। ईरान, ईराक, अदन, कुवैत, फिलिपाइन्स तथा सिंगापुर आदि के लिये भी इंजीनियरिंग सामान के विभिन्न तत्व निर्यात किये गये। अवमूल्यन के बाद इस क्षेत्र में भारत की प्रतिद्वन्द्विता की स्थिति प्रभावित हुई।

(७) **मछली तथा अन्य चीजें**—अवमूल्यन के बाद मछलियां भारतीय निर्यात का मुख्य विषय बन गईं। जनवरी-नवम्बर, १९६७ में इसका निर्यात १९,००० टन हुआ जिसकी कीमत २३.१ मिलियन डालर थी। सन् १९६६ की तुलना से यह ४.७ मिलियन डालर अधिक थी। यह इस निर्यात की अब तक की सर्वोच्च मात्रा थी। इस क्षेत्र में कार्य-कुशलता को बढ़ाने

के लिये और विदेशों में भारतीय उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए गुण सम्बन्धी नियंत्रण लागू किये गये। फलत: माल की अच्छी कीमतें मिलने लगीं। संयुक्त-राज्य अमेरिका, पश्चिमी योरोप के देश, आस्ट्रेलिया, कनाडा और जापान इस दृष्टि से प्रमुख बाजार थे। सूखी मछलियों के लिये लंका मुख्य बाजार बना रहा।

(८) **हस्तकलायें**–इस शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले मोती और मूल्यवान नगीने तथा हाथ की बनी हुई चीजें हमारे लिए आमदनी की मुख्य वस्तुएं हैं। मोती और बहुमूल्य नगों का इस काल में निर्यात ३७.१ मिलियन डालर का हुआ। यह १९६६ की तुलना में ७.९ मिलियन डालर अधिक था। यह बढ़ा हुआ निर्यात स्विट्जरलैंड, बैल्जियम, पश्चिम जर्मनी, फ्रांस और हांगकांग को भेजा गया।

(९) **कॉफी**—इस काल में कॉफी के निर्यात की मात्रा ३४.२ हजार टन थी जिसका मूल्य २४·७ मिलियन डालर था। यह १९६६ की तुलना में ११ हजार टन तथा ३ मिलियन डालर अधिक मूल्य का था।

(१०) **चमड़ा और चमड़े से निर्मित चीजें**—इस काल में जूतों को छोड़कर चमड़ा और चमड़े से निर्मित चीजों का निर्यात ६६.७ मिलियन डालर का हुआ। यह मात्रा १९६६ की तुलना में ६.५ मिलियन डालर कम थी। इसके निर्यात में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। अवमूल्यन के बाद जूतों के निर्यात में कुछ कमी दिखाई दी। इस काल में ८.७ मिलियन जूते जोड़ी निर्यात किये गये जिनका मूल्य ९.६ मिलियन डालर था। यह कमी इसलिए आई क्योंकि सोवियत संघ, ग्रेट-ब्रिटेन, कनाड़ा और पश्चिमी जर्मनी में इनकी मांग कम होती जा रही थी। पश्चिम के हमारे बाजारों में मांग की परिस्थितियां बुरी तरह विरुद्ध होती जा रही थीं और इसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं के निर्यात का आकार और कीमत दोनों प्रभावित हुए।

(११) **खनिज पदार्थ**—इस काल में खनिज लोहा और अभ्रक आदि का निर्यात क्रमशः ८६.४ मिलियन और १८ मिलियन डालर का किया गया। कच्चे लोहे का निर्यात बहुत कुछ १९६६ की मात्रा के अनुकूल था किन्तु अभ्रक के निर्यात में कमी आ गई। इसका मुख्य कारण यह था कि जापान, सोवियत संघ, पौलैण्ड, चेकोस्लाविया और रूमानियां को ये अधिक कीमत में पड़ते थे। अवमूल्यन के बाद लोहे और फौलाद के निर्यात में जो वृद्धि हुई वह जनवरी-फरवरी, १९६७ के दौरान भी चलती रही।

(१२) **सूती धागा**—इस काल में सूती धागे के निर्यात की मात्रा १०.१ मिलियन किलोग्राम रही जिसका मूल्य ९.१ मिलियन डालर था। यह मात्रा

में ४.३ मिलियन किलोग्राम और कीमत में ३.२ मिलियन डालर कम था। इस निर्यात की कमी का कारण इस वर्ष उत्पादन की कमी और लंका, बर्मा, तथा अरबगणराज्य में इसकी माँग की कमी थी।

(१३) **अन्य चीजें**—दालों और चीनी का उत्पादन इस काल में कम हुआ। अतः उनका निर्यात पर्याप्त गिर गया। विदेशी मांग कम होने के कारण Oil Cakes के निर्यात की मात्रा और कीमत कम हो गई। ग्रेट-ब्रिटेन, जापान, हंगरी, पश्चिम जर्मनी, बैल्जियम और बलगारिया ने इसकी मांग कम की। अवमूल्यन के बाद काजू के निर्यात में कुछ वृद्धि हुई किन्तु अप्रेल, १९६७ से इसकी कीमतों के गिर जाने के कारण कम लाभप्रद रहा। १९६८ मे अच्छी फसल होने के कारण काजू के अधिक निर्यात की आशायें की जाने लगीं। इसी प्रकार रूई की फसल अच्छी हो जाने के कारण कच्ची रूई का निर्यात भी अधिक होने की उम्मीदें की जाने लगीं।

निर्यात व्यापार की वृद्धि के लिए संस्थाएं
(Some Institutions to Promote Export Trade)

स्वतंत्रता के बाद से ही देश की आर्थिक स्थिति को सम्पन्न बनाने के लिए इसके निर्यात को बढ़ाने की ओर ध्यान दिया ग या। भारत के निर्यात व्यापार में बैंक व्यवस्था, प्रचार और प्रकाशन, वस्तुओं के गुण, नये बाजारों का अभाव, कीमत की समस्या आदि से सम्बन्धित जो विभिन्न समस्याएं पाई गईं उनको दूर करके निर्यात की मात्रा एवं गुण को बढ़ाना स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थशास्त्रियों एवं सरकार की चिंता का मुख्य विषय था। सरकार द्वारा समय-समय पर इस दृष्टि से सुझाव दिए जाने के लिये विभिन्न समितियां, सम्मेलन, बोर्ड आदि नियुक्त किये गये जिन्होंने भारतीय निर्यात की समस्याओं को दूर करने, उनके सम्बन्ध में सकारात्मक कदम उठाने के लिये विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किये। महत्वपूर्ण संस्थायें निम्न प्रकार हैं—

(१) **गोरवाला समिति**— यह १९४९ में ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में स्थापित की गई थी। इसने भारत के निर्यातों में वृद्धि करने के लिये अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इस समिति का कहना था कि प्रतिवर्ष सरकारी तथा निजी व्यापार मण्डलों को विदेश भेजा जाये, निर्यात व्यापार के लिये एक निदेशालय स्थापित किया जाय, आदि-आदि। समिति का कहना था कि लगाये गये निर्यात करों का लक्ष्य धन कमाना नहीं वरन् आर्थिक हितों की रक्षा होनी चाहिये।

(२) **निर्यात प्रोत्साहन समिति**, १९५७—फरवरी, १९५७ में डा० डिसूजा (Dr. V. L. Disauza) की अध्यक्षता में एक निर्यात प्रोत्साहन

समिति स्थापित की गयी जिसका उद्देश्य निर्यात-व्यवस्था का अध्ययन करना था। समिति ने स्थिति का अध्ययन करने के बाद अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की। समिति का कहना था कि निर्यातों के मूल्य को कम करने के लिये उत्पादन लागत में कमी की जानी चाहिये. इसके हेतु उत्पादन में विज्ञान के साधनों को अपनाया जाए, यातायात में किए गए खर्चे को कम किया जाए, उत्पादकों को विभिन्न प्रलोभन दिये जाए ताकि वे अपने निर्यात को बढ़ा सकें। प्रत्येक वस्तु के निर्यात के लिये एक संगठन बना लिया जाए, भारतीय माल का विदेशों में पर्याप्त प्रचार किया जाये। माल के गुणों का प्रमाणीकरण किया जाये तथा द्विपक्षीय समझौते अधिक से अधिक किये जाएं। समिति ने वस्तुओं के अनुसार यह निर्धारित किया था कि निर्यात को कहां-कहां घटाया और उसे बढ़ाया जाये।

(३) **मुदालियार समिति**—इस समिति ने देश के बढ़े हुए आयातों को सन्तुलित करने के लिये निर्यातों को प्रोत्साहित करने की सिफारिश की। समिति के अनुसार निर्यात सम्बन्धी योजनाएं प्रतिवर्ष बनाई जानी चाहिये। इस योजना के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जाना चाहिये कि किस उद्योग द्वारा निर्मित माल या कितनी वस्तुएं निर्यात की जाएंगी ? समिति ने निर्यात-कर्त्ताओं को प्रोत्साहन प्रदान करने के विभिन्न सुझाव दिये, जैसे—विभिन्न उद्योगों को अधिक कच्चे माल का आयात करने की स्वीकृति दी जाये ताकि वे अपने उत्पादन को बढ़ा सकें। एक आवर्तक निधि (Revolving Fund) स्थापित किया जाये ताकि कच्चे माल की प्राप्ति के हेतु अतिरिक्त विदेशी मुद्रा विनिमय प्राप्त की जा सके। यदि विदेशी फर्में भारतीय निर्यात के लिये रुपये में भुगतान करने के लिये प्रस्ताव करें तो उस पर विचार करना चाहिये, निर्यात-कर्त्ताओं को आयकरों में छूट दी जानी चाहिये। निर्यात-कर्त्ताओं को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वे विदेशी मुद्रा को रख लें। समिति ने उपभोक्ता वस्तुओं के आयात का विरोध किया था।

समिति की अन्य सिफारिश यह थी कि निर्यात के माल पर रेल के भाड़े में २५ प्रतिशत की सामान्य छूट दी जाये। जिन निर्यात उद्योगों में संकट आया हुआ है, उसे दूर करने के लिये पूरे-पूरे प्रयास किये जायें। केन्द्र सरकार को निर्यात लागत में विक्रय–कर की छूट स्वयं करनी चाहिए। देश में उपभोग के लिए बेचे गए उत्पादनों पर विशेष कर लगाने चाहिए और इस प्रकार प्राप्त आमदनी का प्रयोग निर्यात के प्रोत्साहन में करना चाहिए। समिति का कहना था कि सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मेलों में भाग लेना चाहिए, उन निर्यात जोखिम की गारन्टी देनी चाहिए, मुख्य नियन्त्रक

आयात और निर्यात के कार्यालय में स्टॉफ की वृद्धि करनी चाहिए, भारतीय व्यापारियों को प्रोत्साहन देना चाहिए आदि-आदि। सरकार ने समिति की विभिन्न सिफारिशों को काफी कुछ मान्यता प्रदान की और तदनुसार व्यवहार भी किया।

ऊपर जिन समितियों का वर्णन किया गया है उन्होंने भारत के निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न सिफारिशें प्रस्तुत की। इनके आधार पर सरकार द्वारा जो संस्थागत प्रयत्न किए गये, उनमें प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(१) **नया मंत्रालय**—केन्द्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मन्त्रालय नामक एक नया मन्त्रालय स्थापित किया गया। इसका कार्य निर्यात तथा उसके प्रोत्साहन से सम्बन्धित विभिन्न बातों की देख-रेख करना था। बाद में इस मन्त्रालय का नाम वाणिज्य मन्त्रालय (Ministry of Commerce) रख दिया गया।

(२) **निर्यात प्रोत्साहन सलाहकार परिषदें और समितियां (Export Promotion Advisory Councils & Committees)**—निर्यात प्रोत्साहन सलाहकार समितियां विभिन्न क्षेत्रीय केन्द्रों जैसे—मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, कोचीन आदि में स्थापित की गयी। इनका उद्देश्य निर्यात की वस्तुओं की सम्भावना का अध्ययन करना है। ये समितियां मुख्य रूप से सरकार और व्यावसायिक समाज के बीच सम्पर्क स्थापित करने का कार्य करती हैं। ये सरकार को व्यापारिक हितों से सूचित रखती हैं और उसे परामर्श देती हैं। प्रत्येक क्षेत्र से जितने माल का आयात किया जाता है, उसकी सम्भावनाओं पर ये समितियां नजर रखती हैं। इन समितियों में नौ व्यापारिक विशेषज्ञ और सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। क्षेत्र के किसी प्रमुख व्यापारी को समिति का अध्यक्ष बनाया जाता है।

सरकार ने निर्यात प्रोत्साहन सलाहकार परिषदों की भी स्थापना की है जिनमें व्यवसाय तथा अन्य क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्ति होते हैं। इनके विचार-विमर्श से सरकार निर्यात प्रोत्साहन के लिए किये गये अपने निर्यातों के औचित्य और प्रभावशीलता की जानकारी प्राप्त करती है। वाणिज्य मंत्री को परिषद् का अध्यक्ष बनाया जाता है। कुल मिलाकर ये परिषदें सरकार और व्यावसायिक समाज दोनों को विचार-विमर्श के लिए एक स्थल प्रदान करती हैं।

(३) **निर्यात प्रोत्साहन परिषदें (Export Promotion Councils)**—वस्तु विशेष के निर्यात से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने

के लिए इन परिषदों की स्थापना की गयी हैं। ये परिषदें इन समस्याओं का हल निकालने की दृष्टि से भी पर्याप्त सहायता प्रदान करती हैं। इनके द्वारा विदेशी बाजार का अध्ययन किया जाता है और उसके सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जाती है। इस प्रकार की परिषदें तब स्थापित की गयी जब सरकार ने यह अनुभव किया कि व्यक्तिगत वस्तुओं की निर्यात-समस्याओं का अध्ययन करने वाला कोई अभिकरण नहीं है जिसमें निर्यात की क्षमता हो। फलतः ये परिषदें स्थापित की गयीं और जिन वस्तुओं का निर्यात व्यापार असंगठित था तथा जहां निर्यात व्यापार के विभिन्न भागीदारों में समन्वय की अधिक सम्भावनायें थीं वहां ये परिषदें स्थापित की गयीं। १९६६ तक इस प्रकार की १६ निर्यात प्रोत्साहन परिषदें स्थापित हो चुकी थी। इनका सम्बन्ध सूती वस्त्र, सिल्क तथा रेयन, तम्बाकू, काजू, चमड़ा, अभ्रक, मसाले, खेलकूद आदि के सामान, मूल रसायन, दवाइयां आदि विभिन्न वस्तुओं से है।

इन परिषदों में अधिकारी और व्यापारी हितों का समान रूप से प्रतिनिधित्व किया जाता है। इनको गैर-लाभ कमाने वाली लिमिटेड कम्पनियों के रूप में पंजीकृत किया जाता है। इनके व्यय की पूर्ति व्यापार और उद्योगों से योगदान के रूप में, व्यक्तिगत फीस के रूप में, दान के रूप में और प्रकाशनों की बिक्री के रूप में की जाती है। सरकार द्वारा भी इनके व्यय का कुछ भाग दिया जाता है।

परिषदों द्वारा दो प्रकार के कार्य सम्पन्न किए जाते हैं—परामर्शदात्री और कार्यपालिका सम्बन्धी। प्रथम की दृष्टि से ये परिषदें सरकारों तथा स्थानीय सत्ताओं को इस सम्बन्ध में परामर्श देती रहती हैं कि व्यापार और उद्योग पर उनकी नीतियों का क्या प्रभाव हो सकता है ? कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में बाजार अनुसंधान, निरीक्षण योजनाएं, किस्म का प्रमाणीकरण, व्यापारिक झगड़ों का निपटारा, विदेशों में व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डल भेजना, चारण संहिता की रचना आदि आते हैं। कुल मिलाकर ये परिषदें परामर्श देने वाली संस्थायें हैं और इनकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इनसे सरकार को कितना सहयोग प्राप्त हो रहा है। इनमें से कुछ परिषदों ने विदेशों में अपने प्रतिनिधि मण्डल भेजे हैं किन्तु उनके प्रतिवेदन अधिक सन्तोषजनक या मूल्यवान प्रतीत नहीं होते। इनमें से प्रत्येक परिषद विभिन्न देशों को अपने जो प्रतिनिधि मण्डल भेजती हैं उनसे कोरा दोहराव होता है जिसे वर्तमान परिस्थितियों में भारत सहन नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु के लिए अलग से प्रतिनिधि मण्डल भेजने की अपेक्षा यह अधिक प्रभावशील और मितव्ययितापूर्ण रहेगा कि मिले-जुले व्यापार प्रतिनिधि भेजे जायें

जिनमें विभिन्न विषयों को जानने वाले विशेषज्ञ हों जो निर्यात के लिए बाजार की सम्भावनाओं का अध्ययन कर सकें।

(४) **निर्यात प्रोत्साहन निदेशालय (Directorate of Export Promotion)**—यह निदेशालय प्रशासकीय नीतियों के पालन के लिए उत्तरदायी है। इसकी स्थापना निर्यात प्रोत्साहन सलाहकार परिषद की सलाह पर की गयी है। इस सस्था द्वारा मंत्री-मण्डल एवं सचिव समितियों को सचिवालय सम्बन्धी सहायता प्रदान की जाती है। इसका मुख्य कार्यालय देहली में तथा क्षेत्रीय कार्यालय बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में है। निदेशालय द्वारा निर्यात से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यों में समन्वय स्थापित किया जाता है और उनके प्रशासन में सहायता पहुंचाई जाती है।

(५) **वस्तु मण्डल (Commodity Boards)**—विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन और निर्यात व्यापार की समस्याओं पर विचार करने के लिए विभिन्न मण्डलों की स्थापना की गयी है। उदाहरण के लिए चाय मण्डल (Tea Board), कॉफी मण्डल (Coffee Board), नारियल जटा मण्डल (Coir Board), अखिल भारतीय हाथ कर्घा मण्डल (All India Handloom Board), हस्तकौशल मण्डल (Handicraft Board), रबड़ मण्डल (Rubber Board), केन्द्रीय रेशम मण्डल (Central Silk Board) आदि। इनमें से अनेक के द्वारा प्रचार कार्य और भारत सरकार द्वारा संचालित कुछ निर्यात वृद्धि की योजनाओं का प्रशासन किया जाता है। कुछ उत्पादकों के संगठन भी विदेश बाजार में निर्यात वृद्धि से सम्बन्धित कार्य करते हैं।

(६) **व्यापार मिशन (Trade Mission)**--भारत सरकार द्वारा विदेशों में अनेक व्यापार मिशन रखे जाते हैं ताकि भारत और अन्य देशों के बीच व्यापार सम्बन्धों को प्रोत्साहित किया जा सके। विदेशों में भारतीय व्यापारिक मिशनों का मुख्य उद्देश्य विदेशों में होने वाले आर्थिक और वित्तीय विकासों से सरकार को परिचित कराना है। व्यापार विकास पर एकैफे (ECAFE) के सम्मेलन ने बताया था कि व्यापार मिशनों के मुख्य कर्त्तव्य इस बात की मांग करते हैं कि इनमें व्यापारिक क्षेत्र के अनुभव तथा अन्य व्यक्तिगत गुण होने चाहिए। वास्तविक तथ्य यह है कि इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। व्यापारिक मिशनों के अनेक अधिकारी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह बड़े गैर-जिम्मेदाराना और हल्के रूप में करते हैं। व्यापारिक हितों की देखभाल करने के विशेष उद्देश्यों के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए।

(७) **कुछ अन्य संस्थायें** (**Some other Institutions**)—निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्थायें भी स्थापित की गयी हैं। उद्योग अधिनियम १९५१ के आधीन विकास परिषदें संगठित की गयी हैं। इनमें व्यापार और उद्योगों के प्रतिनिधि होते हैं। इन परिषदों द्वारा उद्योगों का प्रतिनिधित्व होता है। इन परिषदों द्वारा निर्यात के लिए उपसमितियों की रचना की गयी है।

निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को जहाज पर चढ़ाने से पहले उनका निरीक्षण करना होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक निर्यात निरीक्षण सलाहकार समिति (Export Inspection Advisory Council) स्थापित की गयी है जिसका उद्देश्य किस्म-नियन्त्रण से सम्बन्धित सलाह देना भी है।

१९५५ में सरकार ने एक निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risks Insurance Corporation) की स्थापना की है जो निर्यात की जोखिमों को दूर कर सके। इस निगम द्वारा विदेशी आयात-कर्त्ताओं को साख की गारन्टी दी जाती है। इसके आलावा गृह-युद्ध, आयात-नियन्त्रण, निर्यात प्रतिबन्ध युद्ध आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जोखिम हैं और निगम द्वारा उनकी गारन्टी दी जाती है।

१५ जनवरी, १९६४ को निर्यात साख और गारन्टी निगम (Export Credit and Guarantee Corporation) की स्थापना की घोषणा की गयी। यह निगम निर्यात-कर्त्ताओं के लिए अधिक आसानी से निर्यात वित्त उपलब्ध कराने में सहायता देते हैं ताकि उनके निर्यात व्यापार में किसी प्रकार की वित्तीय कठिनाई न आ सके।

नवम्बर, १९६४ में नयी दिल्ली में निर्यात प्रोत्साहन परिषदों, वस्तु मण्डल के अध्यक्षों तथा विभिन्न महत्वपूर्ण व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों की सभा हुई। इसमें यह निर्णय लिया गया कि भारतीय निर्यात संस्थाओं के संगठन (A Federation of Indian Exports Organisation) की स्थापना की जाए जो निर्यात प्रोत्साहन संस्थाओं द्वारा व्यक्तिगत रूप से किये गये कार्यों में सहयोगी एवं पूरक का कार्य कर सके। इस उद्देश्य के लिए ३० सदस्यों की एक स्थाई समिति बनाई गयी। इसके अध्यक्ष मि० पी. ए. नरियलवाला थे। इस संगठन का उद्देश्य निर्यात व्यापार का विकास, विदेशों को अध्ययन दल तथा व्यापारिक शिष्ट मण्डल भेजना, विदेशों के आयात-कर्त्ताओं को आमंत्रित करना, बाजार एवं वस्तुओं से सम्बन्धित सर्वे करना, व्यापारिक मेलों एवं प्रदर्शनियों में भाग लेना आदि-आदि था।

विदेशी व्यापार का भारतीय संस्थान (Indian Institute of Foreign Trade) इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण संस्था मानी जाती है। इस संस्थान द्वारा विदेशी व्यापार में संलग्न व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया जाता है। इसके अतिरिक्त निर्यात वस्तुओं के लिए सुनियोजित वाणिज्य प्रचार कार्यक्रमों का सम्पादन किया जाता है। यह संस्थान विदेशी आयात-कर्त्ताओं के बारे में हमारे व्यापारियों और हमारे निर्यात-कर्त्ताओं के बारे मे विदेशी व्यापारियों को जानकारी प्रदान करता हैं। यह एक स्वायत्त संस्था है। इसके द्वारा निर्यात के सम्बन्ध में अब तक नौ परिसंवाद बुलाए गये हैं। संस्थान ने दो को छोड़ के और सभी सेमिनारों के प्रतिवेदन प्रकाशित किये हैं। इसके द्वारा दो निर्यात प्रशिक्षण कोर्स भी प्रारम्भ किये गये हैं।

भारत के निर्यात-व्यापार को बढ़ाने की दृष्टि से राजकीय व्यापार निगम भी महत्वपूर्ण योगदान करता है। इसकी स्थापना मई, १९५६ में की गयी थी। इसका उद्देश्य व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में शासन की आर्थिक नीतियों को क्रियान्वित करने में सहायता देना है। यह देश के विदेशी व्यापार को विकसित करके उसमें विविधता लाने का प्रयास करता है, निर्मित वस्तुओं के लिये यह नये-नये बाजारों की खोज करता है, गैर सरकारी व्यापारियों को उनके प्रयत्नों एवं समस्याओं में विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करता है एवं विदेशों के साथ भारतीय व्यापार को बढ़ाने का विशेष प्रयास करता है। निगम ने इन देशों के साथ विभिन्न व्यापारिक समझौते भी किये हैं।

अप्रेल, १९६३ में सरकार द्वारा राजकीय व्यापार निगम के दो भाग कर दिए गये। दूसरे भाग का नाम खनिज एवं धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) रखा गया। इसने अपना कार्य अक्टूबर, १९६३ से प्रारम्भ किया। यह निगम मुख्य रूप से खनिजों के निर्यात तथा धातुओं के आयात की व्यवस्था करता है, इनके लिये नये बाजारों की खोज करता है और निर्यात को बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रयास करता है।

आजकल सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं का संगठन विदेश व्यापार की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने में सहयोग करता है फिर भी अनेक आवश्यकताएं यों ही छोड़ दी जाती हैं। देश के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिये सम्पूर्ण यंत्र को पुनर्गठित करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त स्थित संस्थाओं द्वारा जो विभिन्न कार्य सम्पन्न किये जाते हैं उन्हें देखने के बाद उनकी व्यावहारिक उपयोगिता के

बारे में सन्देह होने लगता है। उदाहरण के लिये, निर्यात प्रोत्साहन परिषद को लिया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक परिषद् विदेशों में व्यापार प्रतिनिधि मण्डल भेजने में एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करती है। अनेक प्रतिनिधि मण्डल अधिक उपयोगी उद्देश्य की साधना नहीं कर पाते। इनके अधिकांश प्रतिवेदनों द्वारा समस्याओं का अध्ययन गहनता के साथ नहीं किया जाता। कुछ परिषदों द्वारा जो साहित्य प्रसारित किया जाता है उसे देखने से पता लगता है कि इसका उद्देश्य केवल सम्बन्धित परिषद् का प्रचार करना मात्र था, न कि सम्बंधित वस्तु के व्यापार को प्रोत्साहित करना। इनमे से अधिकाश परिषदें न तो पर्याप्त कोष रखती है और न इनमें उपयुक्त व्यक्ति रखे जाते हैं। कुछ लेखकों का सुझाव है कि निर्यात-वृद्धि में परिषदों की बहुलता एवं कार्य के दोहराव की कोई आवश्यकता नही है और इसलिए सरकार इनको समाप्त करने की सम्भावनाओं पर विचार कर सकती है।

व्यापार प्रतिनिधि मण्डल भेजने का व्यवहार इतना अधिक आम बन गया है कि एक के बाद एक प्रतिनिधि मण्डल सरकारी अथवा अर्द्ध-सरकारी संगठनो द्वारा भेजे जाने लगे हैं। यह सच है कि प्रतिनिधि मण्डलों में उपयुक्त व्यक्ति रखे जायं और सही तरीके से काम किया जाय तो भारतीय व्यापारियों एवं विदेशी व्यापारियों के बीच सद्भावना बढ़ सकती है। विभिन्न परिषदों द्वारा जो अनेक प्रतिवेदन प्रदान किए जाते हैं वे और कुछ नहीं वरन् अतीत के जाने हुए तथ्यों का दोहराव मात्र हैं। इस सम्बन्ध में सरकार को अच्छी तरह खोजबीन करनी चाहिए कि प्रतिनिधि मण्डल भेजना आवश्यक है अथवा नहीं, यदि आवश्यक है तो उपयुक्त व्यक्तियों को छाटने में भी पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिये। इसके अलावा प्रतिनिधि मण्डल द्वारा जो प्रतिवेदन भेजे जाएं, उन पर गम्भीर रूप से विचार किया जाना चाहिये। विदेशों को भेजे जाने वाले व्यापार मिशनों की भी देश के व्यापार-हितों द्वारा कई प्रकार से आलोचनाए की जाती हैं। विदेश सेवा के जो कर्मचारी इस कार्य के लिये उत्तरदायी हैं उनमें प्रायः इस कार्य के लिये न तो उपयुक्त प्रशिक्षण है और न ही प्रोत्साहन। यह आवश्यक है कि व्यापार आयुक्तों को अर्थशास्त्र का गहन ज्ञान हो तथा उन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त हो। आर्थिक आंकड़ों का विश्लेषण करने वाले लोगों को ही विदेशी व्यापार के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की सुविधाएं दी जानी चाहिये।

निर्यात कार्यों में सरकारी सहायता
(Government Aids to Exports)

विभिन्न संस्थाओं की स्थापना के अतिरिक्त सरकार निर्यात-कर्त्ताओं को अनेक प्रकार से सहायता देती है, प्रोत्साहित होने का अवसर प्रदान करती

है। कहीं व्यापार प्रतिनिधियों को समाप्त करके और कहीं सकारात्मक रूप से सहयोग प्रदान करके सरकार निर्यात-कर्त्ताओं की समस्याओं को सुलझाने में सक्रिय योगदान करती है। इस दृष्टि से कुछ उल्लेखनीय सरकारी प्रयासों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(१) सरकार ने निर्यात नियंत्रण को समाप्त करके वस्तुओं के निर्यात की मात्रा को बढ़ाने में सहयोग दिया है। जिन वस्तुओं पर निर्यात प्रतिबंध अभी लागू है उनके सम्बंध में भी सरकार समय-समय पर देखभाल करती रहती है ताकि आवश्यकता के अनुसार प्रतिबंधों को और भी शिथिल कर दिया जाय।

(२) कुछ वस्तुओं पर से निर्यात कर पूरी तरह हटा दिया गया है। (जैसे—सिगार, सिगरेट, कच्चा ऊन, तेल, जूट की वस्तुएं आदि-आदि), कुछ पर से कर कम कर दिया गया है (जैसे-कपास और चाय) तथा कुछ वस्तुओं पर अभी भी कर लगा हुआ है (जैसे—कॉफी, चावल आदि)।

(३) सरकार द्वारा उन वस्तुओं के आयात को प्राथमिकता दी जाती है जो निर्यात के लिए वस्तुओं के उत्पादन में काम आती हैं। इस प्रकार निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन को सुगम बनाने का प्रयास किया जाता है।

(४) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को यातायात में पर्याप्त रियायतें प्रदान की जाती हैं। कुछ वस्तुओं के सम्बंध में तो रेल का पचास प्रतिशत किराया वापिस कर दिया जाता है।

(५) यदि कच्चे माल अथवा उत्पादन पर कर लगाने से वस्तु की उत्पादन लागत बढ़ जाती है और उसके फलस्वरूप यदि वह विदेशी बाजार में जम नहीं पाती है तो शुल्क की वापसी की व्यवस्था की गयी है।

(६) निर्यात कार्यों में समय की बचत और सुविधा की वृद्धि के लिए विभिन्न नियमों में आवश्यक संशोधन किये गये हैं और उनको पर्याप्त सरल बना दिया गया है।

(७) देश का रिजर्व बैंक और दूसरे बैंक निर्यात-कर्त्ताओं के लिए पर्याप्त साख सुविधाएं प्रदान करते हैं।

(८) निर्यात-कर्ताओं द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा के एक भाग को निर्देशित उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त करने की छूट देकर निर्यात उद्योगों के विस्तार को सम्भावित बनाया गया है।

(९) महानिदेशक नौ परिवहन (बम्बई) के कार्यालय में माल-भाड़ा जांच ब्यूरो की स्थापना करके इस सम्बन्ध में उठने वाली विभिन्न समस्याओं का निराकरण करने का प्रयास किया है।

सरकार द्वारा निर्यात की अभिवृद्धि के लिये कुछ अन्य प्रकार के प्रयास भी किये जाते हैं। विदेशों में भारतीय माल की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए व्यापार प्रतिनिधि नियुक्त किये जाते हैं। सरकार निर्यात को बढ़ाने के लिये विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मेलों तथा प्रदर्शनियों में भी भाग लेती है। विदेशी आयात-कर्त्ताओं की सुविधा के लिये निर्यात कर्ताओं की निर्देशिका तैयार की गयी है। विभिन्न प्रकार के व्यापार समझौतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने का प्रयास किया गया है।

अवमूल्यन और निर्यात प्रोत्साहन
(Devaluation and the Export Promotion)

६ जून, १६६६ को अवमूल्यन की घोषणा करने के बाद भारत के सामने यह समस्या आई कि आयातों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से कौन-कौन से कदम उठाए जाए। वैसे भारत अपने निर्यातों को व्यापक और अनेक रूपी बनाने के लिए बहुत पहले से ही प्रयास करता रहा है। इन प्रयासों की दृष्टि से निर्यातो की वित्तीय व्यवस्था करना, सहयोग और प्रेरणा देना, यातायात की सुविधाएँ प्रदान करना, प्रशिक्षण प्रदान करना, बाजार सम्बन्धी अनुसंधान करना, सस्थागत प्रबन्धों का बौद्धिकीकरण करना आदि-आदि प्रमुख हैं। निर्यात प्रोत्साहन के लिए तकनीकी सेवाओं का स्थान पर्याप्त व्यापक बनाया जा रहा है। इस कार्य लिए संयुक्त राष्ट्र संघ और मित्र देशों की सहायता प्राप्त की जा रही है। लगातार आवश्यकता के अनुसार निरीक्षण किया जा रहा है और निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए हर-सम्भव प्रयास किये जा रहे हैं।

अवमूल्यन के बाद निर्यात को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से निर्यात उद्योगों को पूंजीगत माल, साज-सामान और कच्चे माल के वितरण में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जायेगी। दूसरे, इन सब उद्योगों को प्राथमिकता प्राप्त उद्योग घोषित किया गया है, इन्हें उनकी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त लाइसेन्स प्रदान किए जाएंगे। तीसरे, कच्चा जूट, काजू, चपड़ा व चमड़े की बनी चीजों को सामान्य लाइसेन्स (OGL) के अन्तर्गत रखा गया है ताकि इन वस्तुओं का आयात आसानी से किया जा सके। इस प्रकार कुल मिलाकर निर्यात-कर्त्ताओं को विशेष उद्योग के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की गयी है। अभावग्रस्त कच्चे माल की प्राप्ति मे उनको प्राथमिकता दी गयी है। कुछ कच्चे मालों को घटी हुई दरों पर भी दिलाने की व्यवस्था की गयी है। इसके अलावा उन्हें रेलवे के किराये में भी छूट दी गयी है। निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक तकनीकी सेवाएं प्रारम्भ की गयी हैं।

अवमूल्यन के तुरन्त बाद रुपये में भुगतान करने वाले देशों से आयात और निर्यात सम्बन्धी समझौते करने में कठिनाई उत्पन्न हो गई थी जिसे अब धीरे-धीरे दूर किया जा रहा है। केन्द्रीय वित्त मन्त्री ने १९६७-६८ के बजट को प्रस्तुत करते समय दिए हुए अपने भाषण में निर्यात को प्रोत्साहन देने के कुछ प्रयासों की घोषणा की थी। उसमें कहा गया कि जूट के माल पर निर्यात कर में कमी कर दी जाएगी और चाय का 'निर्यात कर' भी घटाया जाएगा। वित्त मन्त्री ने निर्यात सम्बन्धी उद्योगों में नवीनीकरण और वैज्ञानिकीकरण लाकर लागत घटाने तथा किस्म को सुधारने की आवश्यकता पर जोर दिया।

निर्यात प्रोत्साहन के लिए जो विभिन्न तकनीकी सेवाएं संयुक्तराष्ट्र अभिकरणों और मित्र देशों द्वारा प्रारम्भ की गयी हैं वे संख्या में अनेक हैं। इनमें से कुछ ये हैं:—

निर्यात व्यापार के लिए सहायता
(Assistance for Export Trade)

पंजीकृत निर्यात-कर्त्ताओं के सम्बन्ध में यह आयात नीति शुरू की गयी है कि वे अपनी आवश्यकता के अनुसार आयात के लाइसेन्स प्राप्त कर सकें। इस प्रकार की वस्तुओं में इन्जीनियरिंग का माल, रासायनिक उत्पादन, कागज और प्लास्टिक से बनने वाली चीजें, मछली और मछली के उत्पादन, चमड़ा और चमड़े से बनी चीजें, खेल का सामान, ऊनी कम्बल, ऊनी और सूती कपड़े, तम्बाकू और तम्बाकू से बनी चीजें एवं जवाहरात आदि वस्तुएँ आती हैं। इन उत्पादकों के निर्यात के विरुद्ध एक निश्चित प्रतिशत में आयातों की मांग की जा सकती है। इस प्रकार की अनुज्ञप्तियां सामान्यत: उत्पादन के नाम से जारी की जाती हैं और निर्यात-कर्त्ता फैक्ट्री द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं। यह भी व्यवस्था की गयी है कि निर्यात-कर्त्ताओं को आर्थिक सहायता प्रदान की जाए ताकि हमारे निर्यात-कर्त्ता उद्योग कम से कम गैर-परम्परावादी विषयों में विदेशी बाजार में प्रतियोगिता कर सकें और अर्थ-व्यवस्था के विकास के स्तर पर स्थित हानियों को कम कर सकें।

कुछ उद्योगों को मशीन आयात करने की अनुमति दी गयी है ताकि वे अपने उत्पादनों की किस्म सुधार सकें और निर्यात के लिए उत्पादन को बढ़ा सकें। जो उद्योग इस समय बुरी स्थिति में हैं और विकसित देशों में प्रतियोगिता नहीं कर पाते, किन्तु जिनमें सामर्थ्य है, उनको प्रोत्साहित करने की दृष्टि से प्रयास किए जाए। सूती वस्त्र की दृष्टि से इस उद्योग ने यह प्रबन्ध किया है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के विभिन्न दिशाओं में किए जाने वाले

निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाए। १ अक्टूबर, १९६७ से धन सम्बन्धी सहयोग देने और आयात सम्बन्धी सुविधाएं देने के लिए एक सरलीकृत प्रक्रिया को अपनाया गया है। इसके अनुसार निर्यात-कर्त्ताओं को अनेक प्रमाण-पत्रों और अभिलेखों के स्थान पर अपने बैंक के माध्यम से केवल एक प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना होता है। पहले निर्यात-कर्त्ता आयात अनुज्ञप्तियों तथा धन सम्बन्धी सहायता के लिए प्रति सप्ताह प्रार्थना-पत्र दिया करते थे किन्तु अब वे प्रति माह देते हैं।

निर्यात की वित्त व्यवस्था
(Export Finance)

व्यापार मण्डल की सिफारिशों पर नियुक्त निर्यात साख और वित्त से सम्बंधित एक कार्यकारी समूह ने अपने प्रतिवेदन में विभिन्न सिफारिशें प्रस्तुत की ताकि सस्ता और पर्याप्त वित्त प्राप्त किया जा सके। इसने साख प्राप्त करने के लिए प्रक्रिया को सक्रिय बनाने के हेतु भी सिफारिशें प्रदान कीं। इसकी महत्वपूर्ण सिफारिशों में यह कहा गया कि निर्यात साख और वित्तीय गारन्टियों को बढ़ाया जाए। इसके अलावा एक विशेषीकृत साख संस्था की रचना की जाए जो निर्यात-कर्त्ताओं को सहायता प्रदान कर सके।

साख की दृष्टि से निर्यात व्यापार को एक मुख्य क्षेत्र माना गया है और सरकार तथा रिजर्व बैंक द्वारा समय-समय पर यह देखा जाता है कि निर्यात-कर्त्ताओं को ब्याज की उपयुक्त दर पर साख सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त हो सकें। जुलाई, १९६७ में रिजर्व बैंक ने कुछ ऐसे उपायों की घोषणा की ताकि साख के प्रसार को प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों की ओर मोड़ा जा सके। रिजर्व बैंक ने अपने ब्याज की दरों की हाल में ही पुनरीक्षा करने के बाद २१ जनवरी, १९६८ को यह घोषणा की है कि ब्याज की दर को घटा दिया जाए।

निर्यातों के लिए सुविधाएँ
(Draw-back facilities on Exports)

इस समय स्थित ड्रा-बैक व्यवस्था के वर्तमान कार्य की परीक्षा करने के लिए एक समिति बनायी गयी जो प्रक्रिया को सरल करने के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत कर सके। इस समिति ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं जो सरकार के विचार-विमर्श का विषय बनीं।

निर्यातों के प्रोत्साहन के लिए संगठन
(Organisation to Promote Exports)

सरकार ने कुछ विशेषीकृत संगठनों को मान्यता एवं स्वीकृति प्रदान की हैं जो निर्यातों को प्रोत्साहित करने का कार्य करते हैं। इनमें से कुछ

महत्वपूर्ण हैं-भारतीय निर्यात संगठनों का संघ (The Federation of Indian Export Organisations), निर्यात प्रोत्साहन परिषदें (Export Promotion Councils), वस्तु मण्डल (Commodity Boards), पंच फैसले के लिए भारतीय परिषद (Indian Council of Arbitration) आदि-आदि। निर्यात प्रोत्साहन परिषदों के तत्वावधान में व्यापार और उद्योगों के बीच पर्याप्त विचार-विमर्श हुए ताकि गैर परम्परागत वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाया जा सके। इन वाद-विवादों में कुछ कठिनाइयां सामने आईं और निर्यातों को बढ़ाने के लिए कुछ लक्ष्य रखे गये।

निर्यात संगठन बाजार का विकास करने के लिए अनेक कार्यक्रमों को संचालित करते हैं। इनमें से उन दो विक्रेता टीमों का उल्लेख किया जा सकता है जिनको अरब-इजरायली संघर्ष के तुरन्त बाद पश्चिमी एशिया के देशों को भेजा गया था। इन टीमों ने नये व्यापार सम्बन्ध स्थापित किए।

उद्योगों के साथ सम्पर्क
(Liaison with Industries)

विभिन्न निर्यात प्रोत्साहन परिषदों में व्यापक विचार-विमर्श हुआ कि व्यापार और उद्योगों को सरकारी प्रयासों के साथ किस प्रकार सहयोगी बनाया जाए? इस समस्या पर विचार करने के लिए विभिन्न कार्यकारी समूह बनाये गये। इस विषय में कुछ निर्णय भी लिये गये। इस विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप उद्योगों के अनुसार १९६८-६९ और १९७०-७१ के लिये निर्यात के उद्देश्य निर्धारित किए गये।

व्यापार मण्डल
(Board of Trade)

व्यापार मण्डल ने १९६७-६८ में अपनी एक बैठक की। इसमें जिन विषयों पर विचार किया गया वे थे—भारत की विदेशी व्यापार की पुनरीक्षा और निर्यात को बढ़ाने के लिये उठाये जाने वाले कदम। दूसरे, व्यापार समझौता-वार्ताओं से कनेडी राऊण्ड के परिणामों पर विचार। तीसरे, भारत के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में परामर्शदाता और संस्थागत रचना को सरल एवं बुद्धिपूर्ण बनाना एवं निर्यात साख बीमा पर कार्यकारी समूह के प्रतिवेदन की पुनरीक्षा करना। १ जनवरी, १९६८ को व्यापार मण्डल की पुनः रचना की गयी। इस नये मण्डल ने २४ जनवरी, १९६८ को अपनी एक बैठक की जिसमें व्यापार और निर्यात प्रोत्साहन पर सामान्य दृष्टिपात करने के बाद दो उप-समितियां नियुक्त की गईं। इनमें से एक का कार्य निर्यात के लिए व्यष्टि और समष्टि नियोजन के हेतु सिफारिशें प्रस्तुत करना था

जबकि दूसरी का कार्य ऐसे सुझाव देना था जिनके अनुसार सरकार प्रस्तावित निर्यात नीति के सम्बन्ध में संसद को सिफारिश करे। व्यापार पर परामर्शदाता परिषद (Advisory Council on Trade) नाम की एक नयी संस्था स्थापित की गयी।

प्रशिक्षण और अनुसंधान
(Training and Research)

निर्यात को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से सम्बन्धित लोगों को प्रशिक्षण प्रदान करने की योजनाये बनाई गयी है। देश और विदेश मे निर्यात व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के बारे में लोगों को प्रशिक्षित किया जाता है। विदेशी व्यापार के भारतीय संस्थान (Indian Institute of Foreign Trade) द्वारा सामान्य अनुसंधान और बाजार सम्बन्धी अनुसंधान कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। इन कार्यों के लिए समय-समय पर विचार गोष्टियां आयोजित की जाती हैं। इन सबके अलावा पैकेज करने और यातायात सम्बन्धी सुविधाये प्रदान करने के क्षेत्र मे भी महत्वपूर्ण विचार-विमर्श किए जाते है।

निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए वस्तुओं को अच्छा रखने की दिशा में कुछ प्रयोग किए गये हैं। उदाहरण के लिए, १६६३ में संसद ने किस्म नियंत्रण और निरीक्षण अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुएं ठीक किस्म की होनी चाहिये। अधिनियम के पारित होने के बाद अनेक वस्तुयें धीरे-धीरे इसके क्षेत्र में आती रही और तीसरी योजना के अन्त तक निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में लगभग ८० प्रतिशत वस्तुयें किस्म नियंत्रण और जहाज में लदान से पूर्व निरीक्षण की योजना के अन्तर्गत आ चुकी थीं।

चौथी योजना का निर्यात कार्यक्रम
(Export Programme of Fourth Plan)

चौथी योजना के दौरान इस बात पर पर्याप्त ध्यान दिया गया कि निर्यातों को किस प्रकार बढ़ाया जाए। देश पर विदेशी सहायता के बढ़ते हुए भार को कम करने के लिए और आत्म-निर्भरता की दिशा में आगे बढ़ने के लिए यह जरूरी था कि निर्यात को प्रोत्साहित करने के हेतु ठोस कदम उठाये जाते। इस दृष्टि से १६६४ में योजना आयोग और वाणिज्य मंत्रालय द्वारा पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया। सितम्बर, १६६५ में वाणिज्य मंत्रालय के परामर्श से "चौथी योजना का निर्यात कार्यक्रम" नामक पत्र तैयार किया गया तथा इसे राष्ट्रीय विकास परिषद के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। इस पत्र में चौथी योजना के दौरान कुल निर्यात ५१०० करोड़ रुपये

रखे गए। अनुमान था कि १६६५-६६ मे निर्यात का स्तर ८५० करोड़ रुपये से बढ़कर १६७०-७१ में यह ६६० करोड़ रुपये तक पहुंच जाएगा।

रुपये के अवमूल्यन के बाद सरकार ने १२ निर्यात वस्तुओं पर विशिष्ट दर से निर्यात कर लगाने की घोषणा की। ये वस्तुयें थीं—जूट का सामान, चाय, काफी, कालीमिर्च, खली, तम्बाकू, (अ-निर्मित), कपास, कच्चा सूत, ऊन, अभ्रक, चमड़ा और खालें एवं नारियल की जटा और उससे बना सामान। इनके अलावा सरकार ने उन सभी स्थित निर्यात प्रोत्साहन स्कीमों को समाप्त करने की घोषणा की जिनमें निर्यात के आधार पर आयात का अधिकार दिया जाता है। चौथी योजना के दौरान (अवमूल्यन के बाद) ८०३० करोड़ रुपये के निर्यात का लक्ष्य रखा गया है। इसे प्राप्त करने के लिए दृढ़ निश्चय तथा पर्याप्त चतुराई के साथ प्रत्येक दिशा में प्रयत्न किया जाना परमावश्यक है। इसके लिए निकट भविष्य में समाज को पर्याप्त त्याग और अनुशासन से कार्य करना होगा। निर्यात कार्यक्रम को पूरा करने के लिए निर्यात वस्तुओं में विभिन्नता लानी होगी तथा विदेशी बाजारों का विस्तार करना होगा। इसके लिए जरूरी है कि निर्यात बाजारों के विकास के लिए सभी आवश्यक सुविधायें प्रदान की जाएं। इस दृष्टि से विशेषज्ञों एवं व्यापारियों, विदेश व्यापार के लिए विदेशी मुद्रा का आवंटन किया जाना और विदेश में बिक्री बढ़ाने और वहां कार्यालय, डिपो, भण्डार आदि खोलने का प्रयास किया जाय। ऐसा होने पर ही देश के निर्यातों के बढ़ने तथा भुगतान सन्तुलन के समतुल्य होने की आशा की जा सकती है।

आयात व्यापार का अध्ययन
(A Study of Import Trade)

१६४७ के बाद भारत के आयात व्यापार में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने तक भारत का आयात-व्यापार मुख्य रूप से निजी व्यापारियों द्वारा संचालित किया जाता था और अधिकांश माल विदेशी निर्माताओं एवं निर्यात-कर्त्ताओं के विक्रेता विभागों के माध्यम से खरीद लिया जाता था। इनके द्वारा एजेन्सी हाऊसेज की सेवाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाता था। ये एजेन्सी हाऊसेज विदेशी फर्मों के बिक्री पक्ष का प्रबन्ध करते थे और भारतीय थोक-व्यापारियों और विदेशी-व्यापारियों के बीच एक कड़ी का कार्य करते थे। इनमें से अधिकांश कमीशन पर कार्य करते थे। इस प्रकार विदेशी निर्यात-कर्ता और वास्तविक उपभोक्ता के बीच अनेक कड़ियां काम करती थी।

भारत के आयात क्रमशः बढ़ते चले गए। देश के औद्योगीकरण की आवश्यकताओं ने भारत के आयात व्यापार की मात्रा को पर्याप्त बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त अब भारतीय खरीददार विदेशी उत्पादकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने की इच्छा करने लगे। अतः भारत में आयात के तरीकों में उल्लेखनीय परिवर्तन होने लगा। परिणामस्वरूप भारतीय आयात-व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग भारत में आयातगृहों द्वारा संचालित किया जाने लगा। थॉमस के कथनानुसार "देश की सामान्य सम्पन्नता के बढ़ने और भारतीय व्यापारिक समाज में शिक्षा तथा ज्ञान का प्रसार होने से भारतीय आयात-कर्त्ता और विदेशी पूर्तिकर्त्ता के बीच प्रत्यक्ष व्यापार की नयी प्रतिक्रियायें आने लगीं।"

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भारत के आयात की मात्रा पर्याप्त कम हो गयी थी और भारत तथा विदेशों के बीच सम्पर्क की कड़ियां ढीली पड़ गयी थी। जब युद्ध समाप्त हुआ तो युद्धकालीन विध्वंश के परिणामस्वरूप सभी पूर्तिकर्त्ता देशों में माल की स्पष्ट कमी दिखाई देने लगी। ऐसी स्थिति में उपलब्ध पूर्ति की प्राप्ति की दृष्टि से प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गयी। विभिन्न उपभोक्ता देशों के बीच उपलब्ध पूर्तियों का समान रूप से वितरण हो सके, इसके लिए विभिन्न देशों ने अपनी सरकारों के अधीन केन्द्रीयकृत बिक्री को अपनाया। भारत में यह अनुभव किया गया कि यदि निजी व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों से माल खरीदने की स्वतन्त्रता दी जाए तो वे लाभप्रद कीमतों पर पर्याप्त मात्रा में माल प्राप्त नहीं कर पायेंगे। ऐसी स्थिति में मूलभूत वस्तुओं के आयात राज्य को स्वयं सम्भालने पड़ेंगे।

आयात नीति के उद्देश्य
(The Objects of Import Policy)

सरकार द्वारा भारत के आयात पर पर्याप्त नियन्त्रण लगाए गए। इन नियन्त्रणों के उद्देश्य का वर्णन करते हुए भारत सरकार के वाणिज्य और उद्योग मन्त्री ने बताया कि "इस नियन्त्रण नीति का उद्देश्य योजना के उद्देश्यों को पूरा करना और उसकी नीतियों को संचालित करना है। आयात और नियंत्रण सदैव ही औद्योगिक विकास के साधन, विदेशी विनिमय के संरक्षण और निर्यात प्रोत्साहन के चक्र के रूप में होने चाहिए। इनका उद्देश्य देश के औद्योगिक आधार को मंजबूत बनाना, आर्थिक ढांचे में परिवर्तन करना तथा स्वयं संचालित अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होना चाहिए ताकि देश स्वयं के साधनों का अधिक से अधिक प्रयोग करके सम्भावित प्रगति कर सकें।" इन उद्देश्यों को कार्य-रूप में परिणित करना एक

समस्या थी। जब एक देश की आर्थिक दशा में परिवर्तन होते हैं तो उसकी आयात नीति भी तदनुसार परिवर्तित होती है। भारत सरकार की आयात नीति परिस्थितियों के अनुसार उदार और कठोर होती रही है। कभी इस पर नियंत्रण लगाना जरूरी हो जाता है और कभी बिना नियंत्रणों के ही अथवा शिथिल नियन्त्रणों के साथ आयात किए जाते हैं। स्वतन्त्रता के बाद १६४८ में व्यापार नीति पर्याप्त स्वतंत्र थी किन्तु मई, १६४६ में इस पर अनेक प्रतिबंध लगाने जरूरी हो गये। बाद में ये प्रतिबन्ध और भी कठोर हो गए किन्तु १६५५-५६ में ये पुनः उदार बना दिए गए। १६५७ के मध्य में पुन: प्रतिबन्ध लग गए। उस समय के बाद से विदेशी विनिमय के साधन ज्यों-ज्यों दुर्लभ बनते जा रहे हैं, त्यों-त्यों हमारी आयात-नीतियां कठिन होती जा रही हैं।

१६४८-४६ के दौरान भारत को डालर संकट का परिणाम भोगना पड़ा। उसने कठोर मुद्रा वाले देशों से केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात किया जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं थी। सुरक्षा की दृष्टि से नियंत्रण और कठोर बना दिए गये। कुछ वस्तुओं को निषिद्ध घोषित कर दिया गया। सुलभ मुद्रा वाले देशों से आवश्यक वस्तुएं मंगाई गयी और उनके आयात के सम्बन्ध में पर्याप्त उदारता बरती गयी। सरकार द्वारा एक आयात सलाहकार समिति की स्थापना की गयी। १६४६-५० में देश के आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक बन गया क्योंकि उदार नीति के कारण आयातों की मात्रा इतनी बढ़ गयी थी कि वे सीमित विनिमय साधनों से बहुत आगे चले गए। १६४८-४६ में दो OGL (Open General Licences XI and XII) किए गए। इनका सम्बन्ध विलासिता की वस्तुओं से था। १६४६-५० में OGL XI को समाप्त कर दिया गया और एक संशोधित OGL XV लागू किया गया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि सुलभ मुद्रा वाले देशों से कुछ वस्तुओं का आयात बिना किसी लाइसेंस के किया जा सके। डालर क्षेत्रों से आयातों को इस काल में बन्द कर दिया गया। १६४६ में मुद्रा अवमूल्यन करना पड़ा और तब स्थिति में आंशिक रूप से सुधार हुआ।

१६५० में भारत की आयात व्यापार नीति में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। इस समय के बाद देश के नियोजित विकास की परिस्थितियों में जो भारतीय आयात पर लगाए गए नियंत्रण का कारण विदेशी पूर्ति में कमी न होकर देश के विदेशी विनिमय में कमी थी। अब उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को कठोर रूप से अवरुद्ध कर दिया गया और औद्योगिक कच्चे माल तथा पूंजीगत सामान के पक्ष में परिवर्तन आया। इन सब बातों ने मिलकर आयात व्यापार में लगे हुए व्यापारियों में उथल-पुथल मचा दी।

आयात-नियंत्रण के परिणामस्वरूप जिस संस्थागत रूप-रचना की आवश्यकता हुई वह पहले की अपेक्षा भिन्न थी और इसका उत्तरदायित्व या तो राज्य द्वारा अथवा स्वयं उपभोक्ताओं द्वारा सम्भाल लिया गया। आयात-व्यापार की रूप-रचना में पहले के आयात-व्यापारकर्त्ता वास्तविक उपभोक्ताओं या सरकारी यंत्र के लिए केवल मध्यस्थ बन गए और कमीशन ऐजण्टों की तरह कार्य करने लगे। आयात-नियंत्रण के कारण अनेक व्यावसायिक आयात-कर्त्ता बेरोजगार बन गए। उनमें से अनेक को निर्यात व्यापार, राष्ट्रीय व्यापार तथा उत्पादन के कार्यों में लगना पड़ा।

१९५० में जी. एल. मेहता की अध्यक्षता में काम कर रही आयात-नियंत्रण जांच समिति ने आयात-नियंत्रण के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए बताया कि "आयात उतने ही किए जाएं जितना देश में विदेशी विनिमय उपलब्ध है। कृषि एवं उद्योग के विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं का आयात किया जाए और किसी वस्तु विशेष की कीमत में होने वाले उच्चावचनों का नियंत्रित किया जाए।" समिति का सुझाव था कि आयात की वस्तुओं को नौ श्रेणियों में बांटा जाए। इसके अतिरिक्त व्यापारिक आयातों की सीमा केवल ४०० करोड़ रुपये रखी जाए।

देश की आयात नीति समय की आवश्यकताओं के साथ-साथ अपने उद्देश्यों में परिवर्तन करती रही है। १९५५–५६ में आयात नीति का लक्ष्य देश के आर्थिक विकास में योगदान करना था और इसलिए पर्याप्त उदार नीति अपनाई गयी। इस काल में मशीनों तथा कच्चे माल का आयात किया गया। लघु उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनों और उपकरणों को प्राप्त करने का प्रयास किया गया तथा उन वस्तुओं का आयात करने की नीति अपनाई गई जो देश में उपलब्ध नहीं होती थी। ऐसी स्थिति में हमारे आयातों की मात्रा बहुत बढ़ गयी। देश के सामने विदेशी विनिमय का संकट आ गया। ऐसी स्थिति में आयात नीति को कठोर बनाना और उस पर कठोर प्रतिबन्ध लगाना स्वाभाविक था।

१९६९–७० की आयात नीति में निर्यात उत्पादन (Export Production) और आय बचत (Import Saving) पर जोर दिया गया। जिन उद्योगों के उत्पादन का १०% या इससे अधिक माल १९६१ में निर्यात किया गया था, उनको पूर्ति के स्रोत और प्रसार की सुविधाएं देने का निर्णय लिया गया। ऐसे उद्योगों को विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराने का प्रबन्ध किया गया। पर्याप्त निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को भी कुछ सुविधाएं प्रदान की गई। उदाहरण के लिए निर्यात बढ़ाने के हेतु उत्पादन

क्षमता, की वृद्धि, पूंजीगत माल का आयात, कच्चा माल, वित्तीय तकनीकी और प्रबन्धात्मक सहयोग आदि-आदि।

पूर्व वर्ष में प्राथमिकता सूची में से १० उद्योगों को उनकी निर्यात क्षमता के आधार पर चुना गया। इन उद्योगों की इकाइयां यदि अपने उत्पादन का ५% भाग निर्यात नहीं कर सकीं तो उनकी आयात अनुज्ञप्ति काट दी जायेगी और उत्पादन क्षमता बढ़ाने तथा पूर्ति के स्रोत उपलब्ध कराने के लिए जो सुविधायें दी गई थीं वे हट जायेंगी।

आयात अनुज्ञप्ति प्रदान करने के लिए नई योजनायें प्रारम्भ की गई। मान्य निर्यात गृहों को व्यापक आयातों के संगठन की अनुमति दी गई। प्राथमिकता प्राप्त ५९ उद्योगों की आवश्यकताओं को इस आधार पर सहयोग देना जारी रखा गया कि घरेलू मांग तथा विदेशी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। कच्चे माल और अन्य सहायक वस्तुओं की अनुज्ञप्तियां पूर्ववत् रखी गईं। दीर्घकालीन निर्यात समझौतों के पंजीकरण के लिए एक नयी योजना प्रारम्भ की गई। इन समझौतों को पूरा करने के लिए किये जाने वाले निर्यातों में निर्यात-कर्त्ता को वे सभी सहायतायें देने का आश्वासन दिया गया जो प्रारम्भ मे दिया गया था।

आयात बचत और आयात स्थानापन्न के लिए ३१६ वस्तुएं आयात होने से रोक दी गई। इनमें बॉल-बियरिंग, मोटर गाड़ी के कुछ भाग, कीटाणुनाशक दवाइयों के कुछ प्रकार, औजार, वैल्डिंग मशीनें, लकड़ी के काम की मशीनें, लोहे व फौलाद की कुछ वस्तुएं आदि मुख्य थीं। १२९ वस्तुएं जो अभी तक वास्तविक प्रयोग कर्त्ताओं को बिना प्रतिबन्ध के मिल सकती थी उन पर अब प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कच्चे माल की आवश्यकताओं को पूरा करने और उद्योगों के लिए आवश्यक हिस्सों से सम्बन्धित नीति अपरिवर्तित रही। छोटे स्तर के क्षेत्र में नई इकाइयों को अधिक मूल्य की प्रारम्भिक अनुज्ञप्तियां प्रदान की गईं ताकि वे भली प्रकार प्रारम्भ हो सकें।

कुछ समय पूर्व तक आयात स्थानापन्न केवल अन्तिम उत्पादनों से ही सम्बन्धित था। यह बात अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में अब नहीं रही। नई नीति में यह प्रयास किया जायेगा कि स्वदेशी माल में से मध्यवर्ती उत्पादन किये जायें। तकनीकी विकास का महानिर्देशक इस कार्य में पहले से ही लगा हुआ है। औद्योगिक विकास विभाग में एक उच्च-स्तर की समिति नियुक्त की गई है ताकि आयात स्थानापन्न के क्षेत्र में किये गये प्रयासों की देखभाल कर सके, प्रगति की निगरानी रख सके, भविष्य के लिए निर्देशन दे सकें और आयात स्थानापन्न के लिए नये क्षेत्र बना सकें।

राज्य व्यापार निगम तथा खनिज एवं धातु व्यापार निगम द्वारा किये जाने वाले व्यापार की वस्तुओं में छः अन्य मदों का आयात भी जोड़ दिया गया है। कुछ उपभोक्ता वस्तुओं के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि इन्हें राष्ट्रीय सहकारी उपभोक्ता संघ द्वारा उपभोक्ता सहकारी स्टोरों के माध्यम से वितरित किया जायगा।

आयात व्यापार का संगठन
(Organisation of Import Trade)

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अपनाए गए आयात संगठन में राज्य का योगदान बढ़ता जा रहा है। राज्य के योगदान को हम दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) सरकारी विभागों द्वारा की जाने वाली प्रत्यक्ष खरीददारी, जैसा कि खाद्यान्नों के विषय में है, और (२) विशेष संगठनों द्वारा आयात। उदाहरण के लिए, भारत के राज्य व्यापार निगम (STC) और स्टील नियंत्रक (Steal Controller) द्वारा की गयी खरीददारियां। खाद्यान्न के आयात पर खाद्य एवं कृषि मंत्रालय का एकाधिकार है जबकि STC को कास्टिक सोड़ा, पोटाश और दूध के उत्पादन का आयात करने का पूरा अधिकार दिया गया है।

आयात व्यापार में राज्य का अधिकाधिक योगदान व्यापार की मात्रा में वृद्धि का कारण बना है खाद्य और औद्योगिक कच्चे माल जैसी मूलभूत चीजों के आयात की लागत को घटा कर पर्याप्त मात्रा में उनकी खरीददारी को सम्भव बना दिया जाता है। दूसरी ओर एस० टी० सी० का दावा है कि औद्योगिक कच्चे माल की पर्याप्त खरीददारी के फलस्वरूप यह लाभदायक शर्तें अपनाने योग्य सक्षम बनी है। निजी व्यापारियों का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि एस० टी० सी० द्वारा जो कमीशन की दर वसूल की जाती है वह उससे कहीं अधिक है जो पहले निजी व्यापारियों द्वारा वसूल की जाती थी।

सरकारी आयातों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि इनमें देरी होती है और कई बार अनुपयुक्त प्रकारों को भी खरीद लिया जाता है। खरीददार के सामने कोई विकल्प नही होता, इसलिये उसे ये खरीदने पड़ते हैं। उदाहरण के लिये, कई बार खाद्यान्न दोषपूर्ण और बहुत घटिया किस्म का आ जाता है फिर भी खरीददारों को मजबूर होकर उसे खरीदना पड़ता है। यही बात स्टील तथा कच्ची रूई के बारे में भी लागू होती है। कुछ व्यापारियों ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि सरकारी हस्तक्षेप किसी के लिए भी लाभदायक नहीं रहता क्योंकि उपभोक्ताओं को भी इसकी ऊंची कीमतें अदा करनी होती है।

यह मत अधिक सही नहीं हैं क्योंकि यह सम्भव है कि यदि व्यापार को निजी पार्टियों के हाथ में छोड दिया जाता तो स्थिति और भी अधिक बदतर हो सकती थी। इससे न केवल कीमतें बढ़ जाती वरन् प्रतिस्पर्धा के कारण विभिन्न व्यापारियों को पर्याप्त माल भी न मिल पाता।

आजकल आयात-व्यापार की विभिन्नता हमारे व्यापार की प्रमुख विशेषता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व हमारे कुल निर्यात व्यापार के ३० प्रतिशत से भी अधिक भाग ग्रेट ब्रिटेन से आते थे किन्तु १९५६-५७ में यह केवल १५ प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप, विशेषतया पश्चिमी जर्मनी, संयुक्तराज्य अमेरिका और जापान आदि का महत्व द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद हमारे आयात व्यापार की दृष्टि से पर्याप्त बढ़ा है। इस काल में आयात पर जो अनुज्ञप्तिया (Licences) लगायी गयीं उनका आधार साख शर्तों की उपलब्धता थी। पश्चिमी जर्मनी और जापान के आश्चर्यजनक औद्योगिक विकास के कारण ये देश अच्छी साख शर्तें प्रदान करने को तैयार थे। इससे भारत को प्रोत्साहन मिला और उसने उनसे पर्याप्त लाभ उठाया।

स्वतंत्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार में आयातों की अपेक्षा निर्यातों का महत्व अधिक बढ़ गया। सरकार द्वारा व्यापार समझौतों के माध्यम से आवश्यक पहल की जाने लगी। आयात-नीति को प्रतिबन्धित किया गया और निर्यात के प्रोत्साहन के लिये प्रयास किये गये जुलाई, १९६० में भारत ने २४ देशों के साथ व्यापार समझौते किये। रिजर्व बैंक के मतानुसार, इनमे से अधिकांश समझौते भारत के द्विपक्षीय व्यापार में सन्तुलन लाने और भारत के निर्यात बाजारों को बढ़ाने में प्रयत्नशील थे। हमारा आयात-व्यापार-संगठन पूर्ण रूप से बदल गया और इसकी विशेषताओं तथा प्रक्रियाओं में मौलिक परिवर्तन किये गये।

आयात नीति पर मुदालियार समिति
(Mudaliar Committee on Import Trade)

सरकार द्वारा ३० मार्च, १९५९ को रामास्वामी मुदालियार की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई ताकि देश की आयात-निर्यात नीति तथा उसकी प्रक्रियाओं की जांच करने के बाद उनके बारे में प्रतिवेदन दे सके। इस समिति द्वारा १९६२ में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया। इसमें आयात सम्बन्धी विभिन्न सुझाव तथा आयातों के क्षेत्र में प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की गई।

आयात सम्बन्धी सिफारिशें

समिति का मत था कि उपभोग और विकास के लिये आयात परस्पर

घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। उनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ऐसी स्थिति में देश की आयात नीति ऐसी होनी चाहिये कि वह विभिन्न उद्योगों को प्राथमिकता देते हुये उन्हें आवश्यक कल-पुर्जे और कच्चे माल की खरीददारी के लिये सुविधाएं प्रदान कर सके। इस वर्ग में उन उद्योगों को लिया गया जो (१) योजना के विकास के लिये महत्वपूर्ण हैं, (२) निर्यात के लिये उत्पादन करते हैं, (३) ऐसे कल-पुर्जों और कच्चे माल का उत्पादन करते हैं जिसे अब तक विदेशों से मगाया जाता है, तथा (४) पूर्ण रूप से देशी-कच्चे माल पर निर्भर हैं और मशीनों का आयात करते समय वे विदेशी विनिमय की व्यवस्था स्वयं ही कर लेते हैं।

आयात नीति के सम्बन्ध में समिति की यह सिफारिश थी कि भविष्य में आयात लाइसेन्स वार्षिक आधार पर दिये जाने चाहिये। इस सुझाव को अधिक उपयुक्त नहीं समझा गया क्योंकि देश विदेशी विनिमय की कठिनाइयों में होकर गुजर रहा था। इतने पर भी सरकार सिद्धान्त रूप में इस सिफारिश को मानने को तैयार नहीं थी। आयात लाइसेन्सों के प्रार्थना-पत्रों को वार्षिक आधार पर देने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त जहां तक सम्भव हो सके इन लाइसेन्सों को वार्षिक आधार पर ही जारी करने का प्रयास किया गया।

प्रक्रिया सम्बन्धी सिफारिशें

मुदालियार समिति ने भारत के आयातों की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ सिफारिशें कीं। इस दृष्टि से समिति ने पहली सिफारिश यह की कि वास्तविक उपभोक्ताओं और स्थापित आयात-कर्त्ताओं के लाइसेन्सों का प्रारम्भिक काल एक वर्ष होना चाहिये। दूसरे, क्षेत्रीय लाइसेंसिंग अधिकारियों को यह अधिकार प्रदान किया जाए कि वे प्रतिबंधित साख पर जारी किये गये लाइसेन्सों के अतिरिक्त अन्य लाइसेंसों का पुनर्वैधीकरण कर सकें। तीसरे, स्थापित आयात-कर्त्ताओं के लाइसेन्सों की अवधि नहीं बढ़ानी चाहिये। केवल विशेष परिस्थितियों में यह अवधि तीन माह तक बढ़ाई जा सकती है। चौथे, अनुसूचित उद्योगों के प्रार्थना-पत्रों का यथासम्भव शीघ्र निराकरण किया जाय। पांचवें, लाइसेंन्सिग पदाधिकारियों के पास मुद्रा सम्बन्धी सीमाओं की सूचना प्रत्येक लाइसेन्स की समय-वृद्धि के लिय समय पर पहुँचानी चाहिए। छटे, आयात लाइसेन्सों के लिए जो प्रार्थना-पत्र दिये जायें उनके प्रारूप की जांच की जानी चाहिये, ताकि उनको अधिक सरल बनाया जा सके।

इस समिति ने अनुज्ञप्तियों के सम्बन्ध में विभिन्न सुझाव पेश किये जिनका उद्देश्य आयात-कर्त्ताओं को सुविधा प्रदान करना और इससे सम्बन्धित

प्रक्रिया को सरल बनाना था। सरकार ने इससे सम्बन्धित समिति की सिफारिशों को मानकर उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयास किया। समिति का एक सुझाव यह भी था की तदर्थ अनुज्ञप्तियां (Adhoc Licences) कम से कम जारी किये जायं।

समिति की सिफारिशों की आलोचना

(Criticism of the Recommendations)

समिति द्वारा की गयी सिफारिशों को *आयात-व्यापार* की दृष्टि से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। समिति ने इस सम्बन्ध में विचार नहीं किया था कि विभिन्न देशों से आयात किस मात्रा में किया जाना चाहिये। समिति ने आयात समस्याओं पर गहराई से विचार नहीं किया और सुझाव देते समय राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा क्षेत्रीय हितों को अधिक महत्व प्रदान किया गया।

सरकार ने जब १९६२–६३ में अपनी आयात नीति घोषित की तो तीन उद्देश्यों को प्रमुख बताया गया—(१) औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया जाय, (२) विदेशी विनिमय को संरक्षण दिया जाये, और (३) निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाय। इस आयात नीति की विशेषता यह थी कि इसे वार्षिक आधार पर घोषित किया गया। १९६२–६३ की आयात नीति देश के संकटकाल को ध्यान में रखकर बनाई गयी थी। इसमें देश की सुरक्षा और औद्योगिक विकास दोनों महत्वपूर्ण विषय बन गये। जो वस्तुयें अधिक आवश्यक नहीं थी और जिनका निर्माण देश में ही हो सकता था उनके आयात को कम कर दिया गया। इसके अतिरिक्त देश में स्टर्लिंग की कमी थी और इसलिये गत वर्ष कुछ वस्तुओं के नियतांशों में जो कमी की गयी थी उसे और भी कम कर दिया गया। आयात-कर्त्ताओं को जिन वस्तुओं पर अनुज्ञप्तियां प्रदान की जाती थी उनकी संख्या अब १७० हो गयी। परिवार नियोजन कार्यक्रमों पर जोर दिए जाने के कारण कुछ वस्तुओं का आयात विशेष रूप से बढ़ाया गया। देश में छोटे उद्योगों को प्रोत्साहित करने की गरज से अधिक विदेशी विनिमय प्रदान करने की व्यवस्था की गयी।

जुलाई, १९६५ में १९६५–६६ की आयात नीति घोषित की गयी। इस नीति के अनुसार स्थानीय आयातकर्त्ताओं के नियतांशों में पर्याप्त कमी कर दी गयी। सरकार द्वारा एक ऐसी पुस्तिका का प्रकाशन किया गया जिसमें सभी प्रकार के आयातों के लिये सभी अनुज्ञप्तियां प्रदान करने की क्रियाविधि का विवरण था।

आयात-व्यापार की मात्रा

(Volume of Import Trade)

द्वितीय महायुद्ध के काल में निर्यातों की अपेक्षा आयातों पर अधिक रोक लग गयी। इसका कारण कड़ा विनिमय नियंत्रण था। अनेक वस्तुओं का आयात बिल्कुल बन्द कर दिया गया। इसके अतिरिक्त जो देश पहले भारत को निर्यात करते थे वे अब अपने देश की आवश्यकता पूरी करने में व्यस्त हो गये। इसके अलावा सैनिक सामग्री के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देने के कारण अन्य उत्पादनों की मात्रा भी घट गयी। यातायात की कठिनाइयों एवं भाड़े की ऊंची दरो ने आयातों की मात्रा को बहुत घटा दिया।

१९४२ में भारतीय आयात ११०½ करोड़ रुपये तक रह गए थे किन्तु बाद में जब विदेशों में युद्ध-कालीन मांग घट गयी और वहां औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा तो भारत को निर्यात के लिए अधिक मात्रा उपलब्ध होने लगी। यातायात के साधनों में विकास होने के कारण स्थिति में और भी सुधार हुआ। स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने उदार आयात नीति अपनाई ताकि मुद्रा-प्रसार से लड़ा जा सके और भारतीय उपभोक्ताओं एवं भारतीय उद्योगों की रुकी हुई मांगों को पूरा किया जा सके। इन सबके परिणामस्वरूप १९४८ में आयातों की मात्रा ६४३·८५ करोड़ रुपये हो गयी। कच्चा माल और खाद्यान्न बहुत बड़ी मात्रा में आयातित किया जाने लगा।

१९५१-५२ में आयात की मात्रा बढ़कर ९७० करोड़ रुपये हो गई जबकि १९५०-५१ में केवल ६५१ करोड़ रुपये थी। इस वृद्धि का कारण कोरिया युद्ध के कारण आयात वस्तुओं के विश्व मूल्य में वृद्धि थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान आयातों की मात्रा में उल्लेखनीय परिवर्तन हुये। १९५५-५६ में ६७८ करोड़ रुपये का आयात हुआ। सम्पूर्ण योजना काल में कुल आयात ३६१७ करोड़ रुपये का हुआ जिसका प्रतिवर्ष औसत ७२३ करोड़ रुपये आता है।[1] सन् १९५०-५१ से १९५३-५४ तक आयातों की मात्रा में जो गिरावट रही उसका कारण यह था कि सितम्बर, १९४९ में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाने के कारण आयात महंगे हो गये थे। इसके अतिरिक्त लंदन में जब कॉमनवेल्थ मन्त्रियों (Commonwealth Ministers) का सम्मेलन हुआ तो उस समय भारत ने आयातों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में आयात उल्लेखनीय रूप से बढ़ गये। १९५४ से आयातों की मात्रा बढ़ती गई। १९५६-५७ में आयातों

---

१. आयात के ये आंकड़े सीमा शुल्क के आंकड़ों पर आधारित हैं।

की कुल मात्रा ८४१ करोड़ रुपये तक पहुंच गई और इसके बाद १९५७-५८ में यह बढ़कर १०३५ करोड़ रुपये हो गई। इस वृद्धि का कारण विकास की गति बढ़ना और आयात के सम्बन्ध में उदार नीति को अपनाना था। सरकारी तथा गैर-सरकारी उपक्रमों को मशीनों तथा कच्चे मालों का आयात करने के लिये लापरवाही के साथ आयात लाइसेन्स दिये गये। ऐसा करने के बाद यह आशा की गई थी कि देश का शीघ्र औद्योगीकरण हो सकेगा। यह आशा इसलिए पूरी न हो सकी क्योंकि उपभोक्ता वस्तुओं के लिये दिए जाने वाले आयात लाइसेन्स कम नहीं किय गये। सरकारी अधिकारियों की इस भूल के कारण १९५७ में देश को गम्भीर विदेशी विनिमय के संकट का सामना करना पड़ा। इसके फलस्वरूप प्रतिबन्धपूर्ण आयात नीति अपनानी पड़ी तथा योजना में निवेश के कार्य-क्रमों को कम करना पड़ा। १९५८-५९ में आयात घटकर केवल ९०६ करोड़ रह गये। १९५९-६० में भी इनमें केवल थोड़ी-सी वृद्धि हुई। आयात में कटौती हेतु उपभोक्ता सामान, स्टील तथा मशीनरी, दवाइयां एवं औद्योगिक कच्चे माल के आयात को कम करना पड़ा। १९६०-६१ में आयातों की मात्रा पुनः बढ़ी और यह बढ़ कर ११४० करोड़ रुपये के स्तर तक पहुंच गई। दूसरी योजना के दौरान कुल मिलाकर लगभग ४८८२ करोड़ रुपये[1] का या प्रति वर्ष ९७६ करोड़ रुपये का आयात हुआ।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में अनुमान था कि आयात की कुल मात्रा ५७५० करोड़ रुपये रहेगी। इस में P.L. ४८० कार्य-क्रम के अन्तर्गत होने वाले अन्न के आयात को शामिल नहीं किया गया था। सीमा शुल्क के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार तीसरी योजना के दौरान कुल आयात ६२०९ करोड़ रुपये के हुए। इसमें P. L. ४८० के अन्तर्गत अन्न का आयात भाड़े के खर्च को मिलाकर ८४९ करोड़ रुपये का था। इस प्रकार अन्न के आयात को निकालकर वास्तविक कुल आयात ५३६० करोड़ रुपये का किया गया। आयात की यह राशि योजना के प्रलेख में प्रदर्शित अनुमानित आवश्यकता की अपेक्षा ३९० करोड़ रुपये कम थी।

तीसरी योजना काल में देश के आयातों में क्रमिक वृद्धि हुई। केवल १९६१-६२ के वर्ष में आयातों में कमी आई और पिछले वर्ष की तुलना में ये ३३ करोड़ रुपये कम हो गये। १९६२-६३ में आयातों की मात्रा में २९

---

१. ये आँकड़े सीमा शुल्क के आंकड़ों पर आधारित हैं। विनिमय नियंत्रण के आंकड़ों के अनुसार दूसरी योजना के दौरान कुल आयात काफी अधिक लगभग ५४०३ करोड़ रुपये या प्रतिवर्ष औसत १०८० करोड़ रुपये का था।

करोड़ रुपये की वृद्धि हुई तथा वे ११३६ करोड़ रुपये तक पहुंच गये। १९६३–६४ में आयात का स्तर ८७ करोड़ रुपये बढ़ गया तथा १२२३ करोड़ रुपये तक पहुंच गया। १९६४–६५ में आयात के स्तर में १२६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई तथा वे १३४९ करोड़ रुपये तक पहुंच गये। इस वृद्धि में से अधिकांश वृद्धि अन्न पदार्थों के कारण हुई थी। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार १९६५–६६ के दौरान आयात १३९४ करोड़ रुपये का रहा जो पूर्व वर्ष की अपेक्षा ५४ करोड़ रुपये अधिक था।

आयात व्यापार की मात्रा[1]

(The Volume of Import Trade)

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात
१९५०–५१	६५०.४४
१९५५–५६	७७४.३५
१९६०–६१	११२२.४८
१९६१–६२	१०९३.०८
१९६२–६३	११३७.२४
१९६३–६४	१२२३.७५
१९६४–६५	१३४९.७२
१९६५–६६	१४०८.८९
१९६६–६७	२०७८.३६
१९६७–६८	१९७४.२८
अप्रेल-दिसम्बर, १९६८	१३७६.४९

चौथी पंचवर्षीय योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा के अनुसार यह अनुमान था कि P. L.–४८० के आयात को निकाल कर आयात की आवश्यकतायें (अवमूल्यित रुपये के रूप में १२०४९ करोड़ रुपये की) अवमूल्यन से पूर्व के रुपये में ७६५० करोड़ रुपये की होगी। इसमें ५२०० करोड़ रुपये का अनुरक्षण आयात तथा शेष २४५० करोड़ रुपये का परियोजना आयात रखा गया। जून, १९६६ में सरकार ने ५९ प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के सम्बन्ध में आयात की उदारतापूर्ण नीति की घोषणा की। इस घोषणा को ध्यान में रखकर ही चौथी योजना के दौरान आयात के अनुमान लगाये गये।

1. Source : Department of Commercial Intelligence and Statistics.

आयात व्यापार की रचना

(Composition of Import Trade)

युद्ध के बाद भारत के आयात व्यापार की रचना क्रान्तिकारी रूप से परिवर्तित हुई है। १९३८ में भारत द्वारा जिन वस्तुओं का आयात किया जाता था वे महत्व की दृष्टि से इस प्रकार थीं—मशीनरी, तेल, कपास का सूत एवं सामान, खाद्य पदार्थ एवं आटा, कच्ची कपास आदि। १९४८ तक मशीनों का स्थान खाद्य पदार्थों ने ले लिया और कपास का सूत एवं सामान आयात की मुख्य वस्तुओं से हट गये। इनके स्थान पर कच्चा जूट और कच्ची कपास का महत्व बढ़ गया। १९५१ में कच्ची कपास के आयात का महत्व मशीनरी की अपेक्षा अधिक बढ़ गया। १९५२ में मशीनों का आयात पुनः महत्वपूर्ण बन गया। देश में खाद्य उत्पादन बढ़ने के कारण १९५३ में अनाज, दाल और आटे का महत्व आयात की दृष्टि से घट गया। देश ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण की दिशा में अग्रसर होता गया त्यों-त्यों मशीनों का आयात महत्वपूर्ण बनता गया। लोहे तथा स्पात से निर्मित वस्तुएं भी आयात की दृष्टि से अपना महत्व रखती हैं। कच्ची कपास, रसायन और दवाइयों का स्थान आयात की दृष्टि से गौण बन गया है।

तीसरी योजना के काल में आयातों में अधिक वृद्धि अन्न तथा उर्वरक मशीनरी और कल-पुर्जों के मामलों में हुई। योजना के प्रारम्भिक दो वर्षों में लोहे और इस्पात के आयात में कमी आ गई किन्तु बाद के दो वर्षों में इनके आयात बढ़ गये। योजना के अन्तिम वर्ष में इनके आयात फिर कम हुये। लोहा और इस्पात तथा अलोह वस्तुओं को मिला कर देखें तो पायेंगे कि योजना के प्रारम्भिक दो वर्षों में इनका आयात कम रहा किन्तु बाद के तीन वर्षों में यह आयात बढ़ गया। योजना-अवधि में रासायनिक तत्व और मिश्रण, चिकित्सा और औषधि पदार्थ, रंग, चमड़ा, कमाने और रंगने की सामग्री, रबड़, आर्ट शिल्क, धागा, कपास और कच्चे जूट जैसी विभिन्न वस्तुओं का आयात कम हो गया। इस आयात की कमी का मुख्य कारण यह था कि इनका स्थान आयात स्थानापन्नों ने ले लिया। योजना-काल में आयात नीति को नियन्त्रित करके उत्पादन को अधिक बढ़ाया गया। इस काल में प्रायः उन आयातों पर अधिक जोर दिया गया जो निर्यात उद्योगों के लिये उपयोगी तथा आवश्यक थे। तीसरी योजना के दौरान मशीनरी और परिवहन उपकरणों का कुल आयात २१६० करोड़ रुपये का हुआ। इसमें एक बड़ा भाग स्थानापन्न मशीनरी और पुर्जों का रहा। तीसरी योजना में प्रमुख वस्तुओं

Imports of Principal Commodities

(By sea, air and land)

(Rs. Lakhs)

Commodity	1963-64	1964-65	1955-66	1966-67	1967-68	Apr,-Dec. 1968.
Iron and Steel.	9315	10496	9800	9790	10620	6120
Machinery other than Electric.	28212	31305	33244	40800	33600	16380
Petroleum Products.	5822	4133	3335	2703	1510	2250
Transport-equipment.	7106	7347	7055	6221	7632	4975
Electric Mechinery and Appliances.	8480	9122	8780	10589	8395	6153
Raw Cotton.	4884	5809	4621	5647	8348	7584
Wheat, Un-milled.	13484	24192	26473	42304	37847	19179
Petroleum, Crude and Partly Refined.	4617	2723	3487	3609	5973	4543
Chemical Elements and Compounds.	3211	3404	3586	5405	7804	6888
Manufactures of Metals.	1582	1699	1817	1726	1411	1040
Textile. Yarn and Thread.	1070	913	592	704	378	320
Copper.	2604	2441	3337	3911	3546	2652
Rice.	3750	4017	4190	8164	5476	3865

1	2	3	4	5	6	7
Medicinal and Pharmaceutical Products.	864	821	873	1741	1752	1274
Fresh Fruits and Nuts.	1543	1929	1886	2408	3183	2359
Raw Wool and Hair.	1572	964	512	1178	1182	875
Paper and Paper-board.	1225	1288	1323	2123	1736	1381
Oil-seeds, Nuts and Karnels.	916	704	881	472	523	244
Coal-tar, Dyestuffs and Natural Indigo.	526	519	375	444	397	351
Aluminium.	646	724	629	1521	1767	416
Milk and Cream, Dried or Condensed.	854	674	664	2185	1330	834
Misc. Chemicals and Products.	952	501	688	1637	1509	1335
Zink.	986	1115	1284	1086	1430	1862

Source—India, 1969, P. 371.

का आयात जिस मात्रा में किया गया उसे पिछले पृष्ठों में दी गई सारिणी द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त सारणी से यह स्पष्ट है कि तृतीय योजना काल में विभिन्न वस्तुओं के आयातों की स्थिति किस प्रकार रही।

अवमूल्यन के बाद आयात शुल्क कम कर दिया गया। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आयातों के लागत, बीमा, ढुलाई-मूल्य रुपयों के हिसाब से ५७.५ प्रतिशत बढ़ गया। पहले विदेशी मुद्रा की तंगी और कठोर अनुज्ञप्ति (Licence) प्रणाली के कारण आयात-कर्त्ताओं के लिये मुनाफे की पर्याप्त गुंजाइश रहती थी किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में यह कम हो गई। अब आयातों का स्थान स्वदेश में बनने वालीं वस्तुयें लेने लगी। अवमूल्यन के बाद यह आशा की गई थी कि उद्यमी लोग अपनी पूंजी आयातों का स्थान लेने वाली वस्तुओं के निर्माण में लगायेंगे। अवमूल्यन के बाद आयात-शुल्कों में की गई कमी इतनीं नहीं थी कि रुपयों के हिसाब से आयातों के लागत-बीमा-ढुलाई में हुई वृद्धि को पूरी सीमा तक दुरस्त किया जा सके। यह इसलिये किया गया ताकि आयात शुल्कों में हुई कमी का बजट पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े और इस बात का भरोसा रहे कि आयातों का मूल्य स्वदेश में बनी वस्तुओं के मूल्य से एकदम बेमेल न हो जाय। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आयातों का मूल्य रुपयों के हिसाव से स्वतः ही बढ़ जाता है और स्वदेशी उद्योगों को हानि पहुँचाये बिना आयातों का नियन्त्रण किया जा सकता है।

१९६६ में जनवरी से लेकर नवम्बर तक २५४९.८ मिलियन डालर के आयात किये गये किन्तु १९६७ जनवरी से नवम्बर तक में २४७५.५ मिलियन डालर के आयात किये गये।[1] जिन वस्तुओं के आयातों में कमी आई उनमें मशीनें, कच्चा जूट, खनिज, ईंधन, और सम्बन्धित वस्तुयें, दुग्धशाला के उत्पादन, तिलहन से बनने वाली चीजें आदि थे। आयातों की ये कमी दूसरी वस्तुओं के आयातों द्वारा पूरी करदी गई। कच्ची रूई, रासायनिक तत्व, इस्पात और फौलाद, यातायात के साधन, औजार, कागज, आदि का आयात बढ़ा दिया गया। १९६७ में खाद्य सामग्री और कच्चे जूट का आयात फसल अच्छी होने के कारण कम हो गया। कच्ची रूई के आयात पर किया जाने वाला अधिक व्यय आयात की अधिक मात्रा और कीमत बढ़ जाने के कारण हुआ। निर्यात उद्योगों की सहायता के लिये और बेकार पड़े हुये उद्योगों को कार्यरत

1. Governmens of India, Ministry of Commerce, New Delhi, Report(1967–68), P. 10

बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के लोहे और फौलाद आदि का आयात किया गया। इसी प्रकार उर्वरकों तथा इनके उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल के आयातों को भी कृषि के क्षेत्र में प्राथमिकता दी गई। इस काल में आस्ट्रेलिया तथा बर्मा से किये जाने वाले आयात की मात्रा घट गई, क्योंकि इन देशों में मुख्यतः खाद्यान्न का आयात किया जाता था। कनाडा से किया जाने वाला आयात १९६६ की तुलना में २७ प्रतिशत बढ़ गया। इस काल में भारत के ३८ प्रतिशत आयात संयुक्त राज्य अमेरिका से किये गए, ३१ प्रतिशत आयात ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा, जापान और सोवियत संघ आदि पांच देशों से किये गये और शेष ३१ प्रतिशत अन्य देशों से।

खाद्यान्न का आयात

(The Import of Foodgrains)

स्वतंत्रता के बाद भारत में खाद्यान्न का आयात औसतन् ३ मिलियन टन प्रतिवर्ष रहा। खाद्यान्न के मुख्य पूर्तिकर्त्ताओं में संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, बर्मा, अर्जेन्टाइना, थाइलैण्ड, कनाडा मिस्र और सोवियत यूनियन थे। जो खाद्यान्न आयात किया गया उसमें गेहूं, चावल, मक्का, जौ आदि प्रमुख थे। युद्ध के दौरान खाद्यान्न की कमी होने के कारण उसके दाम बढ़ गये। ऐसी स्थिति में कीमतों को गिराने के लिए और देश के विभिन्न भागों में खाद्यान्न का सही-सही वितरण करने के लिये भारत सरकार ने खाद्यान्न पर नियंत्रण लगाने की नीति अपनाई। किसानों के अनाज के भण्डारों पर नियंत्रण लगाया गया तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को खाद्यान्न ले जाने पर भी प्रतिबन्ध लगाए गये। अन्न उत्पादन करने वाले देशों में अभाव की स्थिति पैदा होने के कारण समस्या अत्यन्त गम्भीर बन गयी। अन्न का उत्पादन करने वाले प्रमुख देशों ने सरकारी संगठनों के माध्यम से अनाज की बिक्री का प्रबन्ध किया। इन सब परिस्थितियों में यह स्वीकार किया जाने लगा कि अन्न का आयात व्यापार निजी व्यापारियों के हाथों में छोड़ दिया गया तो उनकी प्रतिस्पर्धा न केवल कीमतों को ऊंचा बढ़ा देगी वरन् इससे उत्पादन भी रुक जायेगा।

भारत जिन देशों से अन्न का आयात करता है उसके लिये वह वहां सरकारों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करता है, अर्थात खाद्यान्न का व्यापार केवल सरकारी स्तर पर ही होता है। इस सम्बन्ध में जो समझौते किये जाते हैं उनमें विशेष रूप से खाद्यान्न के गुण, स्तर, मात्रा, जहाज में लादने से सम्बन्धित बातें, कीमतें, तौल सम्बन्धी प्रश्न आदि विभिन्न विषय सम्मिलित किये जाते हैं। अनाज को तौलने के लिये भारतीय बन्दरगाहों पर

सन्तोषजनक व्यवस्था का अभाव रहा है और ऐसी स्थिति में उसे उतना भुगतान करना होता है जितना कि विदेशी सरकार द्वारा मांगा जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया से आने वाला गेहूं क्रमशः संयुक्त राष्ट्र वस्तु साख नियम और आस्ट्रेलिया गेहूं मण्डल (United States Commodity Credit Corporation and Australian Wheat Board) द्वारा भेजा जाता है।

जब खाद्यान्न उपयुक्त बन्दरगाह पर पहुंच जाता है तो उसे ग्रहण करके खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय के तकनीकी स्टॉफ की देख-रेख में गोदामों में भर दिया जाता है। जहाजों को खाली करने के लिए व्यक्तिगत अभिकरणों को भी लगा दिया जाता है। गैर-सरकारी ठेकेदारों द्वारा जो कार्य सम्पन्न किये जाते हैं उनका आकार इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें बंदरगाह के अधिकारियों ने कितनी सेवायें सम्पन्न करने का दायित्व सौंपा है। देश के विभिन्न राज्यों को उनकी मांगों के अनुसार भाग प्रदान किया जाता है और अन्तरिक वितरण को राज्य सरकार के अधिकार का विषय बनाया गया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका और मिस्र से जो बहुत सारा आयात किया जाता है उसमें भुगतान-प्रबन्धों की व्यवस्था की गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये भुगतान प्रबन्ध कार्यक्रम के अनुसार जहाज में लदाई का व्यय रुपयों में किया जाता है। इन रुपयों का प्रयोग अमरिकी सरकार भारत में अपने दूतावास एवं अन्य इसी प्रकार के खर्चों को वहन करने के लिए करती है; उदाहरण के लिए अप्रेल, १९६० में हुए भारत-अमरीकी गेहूं करार को लिया जा सकता है। इसके अनुसार अमरीका से अगले चार वर्षों में १७ मिलियन टन गेहूं और चावल खरीदना था। इसमें से ४० प्रतिशत भारत के लिए भेंट के रूप में दिया गया और शेष का भुगतान रुपयों में किया जाना था। इस भुगतान को भारत में होने वाले खर्चों का निर्वाह करने के लिये काम में लाया गया। इसी प्रकार भारत ने मिस्र के साथ भी एक समझौता किया जिसके अनुसार उसने अरब गणराज्य से १ लाख टन चावल खरीदने की बात कही। इसका भुगतान भी अपरिवर्तनीय रुपये में किया जाना था जिसे बाद में जूट, चाय और कुछ अन्य सामान खरीदने के लिए प्रयुक्त किया जा सके।

आलोचना.—खाद्यान्न के आयात की अनेक आलोचनायें की गयी हैं—(१) इसकी प्रमुख आलोचना सामान्य प्रकृति की है कि सरकारी विभाग व्यापारिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए अनुपयुक्त हैं। इसके अलावा विदेशों से जो घटिया किस्म का अनाज मंगाया जाता है उसके बारे में भी प्रायः शिकायतें होती हैं। १९४८ में खाद्यान्न नीति समिति के अन्तरिम

प्रतिवेदन में यह कहा गया कि खाद्यान्न की किस्म बहुत खराब रही। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे। एक प्रमुख कारण यह था कि खरीदार को इस सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं दिया गया और उसे जैसा भी अनाज दिया गया उसको खरीदना पड़ा।

(२) जिन कीमतों पर आयात किये खाद्यान्नों को वितरित किया जाता है वे भी आलोचना का लक्ष्य बनी हैं। इस अधिक कीमत का कारण खरीदार एजेन्टों का ऊंचा कमीशन, भारी चुंगी दर तथा स्टोर में रखने पर बहुत सा अपव्यय है।

(३) खाद्यान्न की पैकिंग सही नहीं की जाती जिसके फलस्वरूप पर्याप्त अन्न बेकार चला जाता है। कभी-कभी तो नयी बोरियों का दुबारा पैकिंग करना जरूरी हो जाता है और इसमें पर्याप्त खर्चा लगता है। १९४७ की खाद्यान्न नीति समिति ने यह मत व्यक्त किया कि खाद्यान्नों के आयात के लिये व्यापारिक व्यवहार का विशेषीकृत अनुभव चाहिए।

सामान्य रूप से यह माना जाता है कि खाद्यान्न का भारतीय अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इनके आयात को गैर-सरकारी व्यापारियों के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता। इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा की रक्षा करना इस समय आवश्यक है। उपलब्ध विदेशी मुद्रा का अधिक से अधिक प्रयोग भी खाद्यान्नों में व्यक्तिगत व्यापार के लिये कम स्थान छोड़ता है। खाद्यान्नों का आयात करने की दृष्टि से जो संगठन बनाया गया है वह कई बार आलोचना का विषय बनता है। १९५० की राज्य व्यापार जांच समिति ने यह सुझाया था कि अन्य वस्तुओं के साथ-साथ खाद्यान्न का आयात करने के लिए भी एक राज्य व्यापार निगम स्थापित किया जाना चाहिये। इस सुझाव में एक गम्भीर दोष यह था कि यदि इस निगम को आयात और निर्यात के क्षेत्र में अनेक कार्य सौंप दिये गये तो वह खाद्यान्न के आयात से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाएगी। इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह बताया गया कि खाद्यान्न के आयात को एक विशेष रूप से संगठित स्वायत्त संगठन को सौंप दिया जाय। इस संगठन का काम केवल खाद्यान्न का आयात होना चाहिए। निगम में अनुभवी व्यापारी होने चाहिए जो सरकार के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखकर कार्य करें। केवल ऐसा होने पर ही खाद्यान्न के आयात की नीति में पाए जाने वाले विभिन्न दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

आयात स्थानापन्न

(Import Substitution)

स्वतन्त्रता के बाद विकास और सुरक्षा की दृष्टि से आयात स्थानापन्न

और निर्यातों के प्रोत्साहन पर पर्याप्त जोर दिया गया। आयात स्थानापन्न की आवश्यकता विदेशी विनिमय के अभाव और निश्चित विदेशी सहायता के कारण पड़ती है। १९६२ के चीनी आक्रमण और १९६५ की पाकिस्तानी घुसपैठ के बाद आयात स्थानापन्न देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक बन गये।

स्वतन्त्रता के बाद देश में अनेक नये उद्योग स्थापित किए गए हैं जिनकी सहायता से कुछ वस्तुओं का आयात पूरी तरह समाप्त किया गया है और कुछ के आयात को पर्याप्त कम कर दिया गया है। खाद्यान्नों को छोड़कर १९५०-५१ और १९६४-६५ के बीच दूसरी वस्तुओं में पर्याप्त आयात स्थानापन्न हुआ है। १९५०-५१ में भारत साइकिलों की कुल पूर्ति का ६२.५ प्रतिशत और सिंचाई की मशीनों का ४१ प्रतिशत भाग आयात करता था, यह १९६४-६५ में लगभग समाप्त कर दिया गया। अन्य कुछ वस्तुओं में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हुए। उदाहरण के लिए इस काल में चीनी मिल मशीनों के आयात को १०० प्रतिशत से घटाकर ४, सोडा-एशो का ४० से ११, विलीचिंग पाउडर का ६२ से २२, अलमोनियम का ७३ से ३०, मशीनरी औजार का ९२ से ४५, पेपर व पेपरबोर्ड का २३ से ३, कपास का २७ ६ से १२.५ और जूट का ३५ से ५ रह गया जबकि अखबारी कागज में यह प्रतिशत १०० से घटकर ७८ रह गया। कुल मिलाकर हमारी अर्थ-व्यवस्था में इस समय आयात-स्थानापन्न के लिए अन्तर्निहित प्रवृत्ति है। जब नया उद्योग स्थापित किया जाता है अथवा पुराने उद्योग को प्रोत्साहन दिया जाता है उसमें मुख्य दृष्टिकोण यह रहता है कि आयातों को यथासम्भव कम किया जाय ताकि विदेशी मुद्रा को बचाया जा सके और देश को आत्म-निर्भरता की दिशा में अग्रसर किया जा सके।

भविष्य में आयात स्थानापन्न को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए औद्योगिक उत्पादन में विविधता लाने का प्रयास किया जायगा। सुरक्षा के सामान में भी देश की लगभग ८० प्रतिशत आवश्यकताओं की पूर्ति घरेलू उत्पादन से होने लगी है। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि आयात स्थानापन्न में होने वाली हमारी प्रगति संतोषजनक है। आयात स्थानापन्न की दिशा में किए गए प्रयासों में अनेक कठिनाइयां आती हैं। उदाहरण के लिए प्रारम्भ में उत्पादन-लागत ऊंची रहती है। स्थानापन्न के उद्योगों का चयन करते समय पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है। उन क्षेत्रों का पता लगाना चाहिए जिनमें आयात उत्पादन आसानी से किया जा सके। कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनमें हम आत्म-निर्भर बन सकते हैं और बनना चाहिए किन्तु

कुछ अन्य ऐसे हैं जिनमें आत्मनिर्भरता इतना महत्व नहीं रखती। भविष्य में यदि मशीनरी, परिवहन का सामान रसायन पदार्थ व खाद्यान्नों की पूर्ति को आयात की अपेक्षा घरेलू उत्पादन से पूरा किया जाय तो उचित रहेगा।

आयात स्थानापन्न पर विचार गोष्ठी

(A Seminar on Import Substitution)

आयात स्थानापन्न के सम्बन्ध में व्यापार एवं उद्योग के भारतीय संघ (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry) के सदस्यों ने ११ और १२ अक्टूबर १९६८ को एक विचार गोष्ठी आयोजित की। इसका उद्घाटन करते हुए योजना आयोग के सदस्य मि.आर. वेंकटारमन (Mr. R. Venkataraman) ने कहा कि आयात स्थानापन्न न केवल विदेशी विनिमय के वर्तमान संकट को सुगम बनाने की दृष्टि से वरन् हमारी औद्योगिक क्षमता का प्रयोग करने के लिए भी आवश्यक है। इस कार्य में किसी प्रकार का समय न खोते हुए ऐसी नीतियां और कार्यक्रम बनाए जाने चाहिए जो घरेलू उत्पादनों के माध्यम से आयातों को अधिकतम सीमा तक स्थानापन्न कर सकें। यद्यपि आयात स्थानापन्न का कार्यक्रम दिखने में बहुत सरल लगता है किन्तु असल में यह ऐसा नहीं है। इसके लिए विभिन्न समस्याओं की परीक्षा करना आवश्यक है। व्यापार एवं उद्योग संघ (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry F. I. C. G. I) के अध्यक्ष जी. एम. मोदी (Mr. G.M. Modi) ने अपने भाषण में बताया कि विदेशी ऋणों का पुनर्भुगतान करने के लिए बढ़ते हुए दायित्व को देखते हुए आयात स्थानापन्न (Import Substitutions) अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गये हैं। भूतपूर्व वाणिज्य मन्त्री श्री मनुभाई शाह ने आयात स्थानापन्नों को राष्ट्रीय विकास का एक अविभाज्य भाग माना। इसके लिए भारतीय वैज्ञानिकों को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाय ताकि लागत को प्राप्तियों के बराबर बनाया जा सके।

मि. शाह (Mr. Shah) का विचार था कि इस दिशा में अनेक उपलब्धियां की जा चुकी हैं और वह समय आ गया है जबकि एक उद्यम का पूरा साज-सामान क्षेत्रीय कुशलता से तैयार किया जा सके। FICCI के भूतपूर्व अध्यक्ष मि. किर्लोस्कर (Mr. S. L. Kirloskar) के मतानुसार "आयात स्थानापन्न एक निरन्तरता पूर्ण प्रक्रिया है किन्तु आजकल उसका विशेष महत्व है। यह वांछनीय है कि अधिक से अधिक उत्पादन देश में ही करने का दृष्टिकोण रखा जाय। उन सभी वस्तुओं के आयातों को रोका जाय जिन्हें देश में पैदा किया जा सकता है।"

विचार गोष्ठी के सभापति मि. वेंकटारमन ने आयात-स्थानापन्न (Import Substitution) के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श करने के बाद यह बताया कि **इस कार्यक्रम का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संतुलन लाया जाय और विदेशी सहायता पर निर्भरता को रोका जाये।** इन्होंने आशा व्यक्त की कि चौथी योजना के दौरान विदेशी सहायता पर निर्भरता ५० प्रतिशत कम हो जायगी। किन्तु ऐसा होने की आशा तब ही पूरी हो सकती है जबकि सरकार आयात स्थानापन्न एवं अधिक आयातों के लिए कोई सुपरिभाषित कार्यक्रम तैयार करे। देश को अपने साधनों पर रहना सीखना चाहिए। आत्म-निर्भरता की दिशा में आगे बढ़ने का लक्ष्य विदेशी सहायता की निर्भरता को यथासम्भव शीघ्र कम करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जो विदेशी सहायता प्राप्त होती है उससे हर प्रकार का सामान और सेवायें खरीद ली जाती हैं। इस प्रवृत्ति को रोकना होगा।

मि० मोदी ने बताया कि अवमूल्यन के बाद आयात-स्थानापन्न से सम्बन्धित कार्यों को विशेष रूप से झटका लगा। आयातों के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली उदार नीति ने उद्योगों के भावी विकास को रोक दिया। उदाहरण के लिए कई ऐसी स्पात की चीजों का आयात किया जा रहा है जिनका उत्पादन देश में किया जा सकता है। दूसरी ओर हमारे स्पात उद्योगों के पास पर्याप्त खाली समय है। मि० मोदी (Mr. Modi) के इस मत से वेंकटारमन (Venkataraman) सहमत नहीं थे, उनका मत था कि अवमूल्यन के तुरन्त बाद सरकार ने आयात के सम्बन्ध में जो उदार नीति अपनाई वह गलत नहीं थी, क्योंकि उससे पहले सरकार के व्यापक प्रशासकीय नियन्त्रण तथा कच्चे माल और विदेशी विनिमय के भौतिक आवंटन की आलोचना करते हुए यह कहा जाता था कि इसके कारण ही उत्पादन में देरी, क्षमता का दुरुपयोग, लालफीताशाही, अकार्यकुशलता और अधिक लागत आदि दोष उत्पन्न होते हैं। कच्चे माल के आयात के सम्बन्ध में अपनाई गई उदार नीतियों के पक्ष में यह कहा गया कि उनके माध्यम से अभावपूर्ण साधनों का कुशलता के साथ प्रयोग किया जा सकेगा।

वैसे आयात की स्थिति इतनी भयानक नहीं है। १९६५–६६ में विभिन्न प्रकार की मशीनों का आयात पर्याप्त बढ़कर ७७५ करोड़ रुपए तक पहुँच गया था, किन्तु १९६७–६८ में यह घटकर ४९६ करोड़ रुपए का रह गया। इस काल में औद्योगिक कच्चे माल का आयात बढ़ा है। यह ४८८ करोड़ रुपये से बढ़कर ५९८ करोड़ रुपया हो गया। आयातों की प्रकृति में यह परिवर्तन चौथी योजना काल में अधिक स्पष्ट रूप से सामने आ सकेगा। तक-

नीकी विकास के डाईरेक्टर जनरल डॉ० कालेलकर (Dr. B.D. Kalelkar) ने इस क्षेत्र में हुए कार्यों के प्रति सन्तोष व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि तांबे के स्थान पर अल्मूनियम का प्रयोग करने से हमने १८ करोड़ रुपये से भी अधिक के विदेशी विनिमय की बचत की है।[1]

इस दो दिवसीय विचार गोष्ठी में यह निष्कर्ष निकाला गया कि एक उच्चस्तरीय अभिकरण की रचना की जाय जो आयात स्थानापन्न के लिए एक विधायी कार्यक्रम प्रारम्भ कर सके। इस अभिकरण को उद्योग व्यापार तथा विभिन्न हितों के बीच स्थित संघर्षों में समझौता करने का कार्य भी सौंपा जा सकता है। विचार गोष्ठी ने यह सिफारिश की कि आयात स्थानापन्न (Import Substitution) प्रगति को प्रोत्साहित करने में एक विधायी तत्व होना चाहिए। इस पर पृथक से विचार न करके तीव्र आर्थिक विकास की रण नीति के एक भाग के रूप में भी विचार किया जाना चाहिए। विचार गोष्ठी में प्रशुल्क, मात्रात्मक प्रतिबन्ध और आयात नीति पर आयात स्थानापन्न के साधनों के रूप में विचार किया गया।

आयात स्थानापन्न (Import Substitution) का एक व्यापक कार्यक्रम तब ही सफल हो सकता है जबकि सभी सम्बन्धित लोग स्वदेशी भावना को प्रोत्साहित करें। यह विचार वाणिज्य सचिव ए० बी० लाल (A. B. Lal) द्वारा सुझाया गया।[2] यद्यपि आयात नीति का अपना महत्व होता है और आयात नियन्त्रण का यन्त्र भी उपयोगी है किंतु फिर भी इसकी अपनी सीमायें हैं और यह आयात स्थानापन्न के रूप में प्रतिफलित नहीं हो सकती। जहां तक अनुज्ञप्तियों (Licences) का सम्बन्ध है, वे जितने प्रसारित किये जा चुके हैं उनको रद्द नहीं किया जा सकता और इसलिए आयातों को प्रतिबन्धित करने के हेतु प्रशुल्क बढ़ाया जा सकता है। प्रशुल्क यन्त्र औद्योगिक प्रगति के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। विचार गोष्ठी में कहा गया कि अनुसन्धान और विकास आयात स्थानापन्न में एक मूल तत्व होता है इसलिए इस कार्य के हेतु प्रशुल्क आयोग को व्यय का एक उपयुक्त प्रतिशत लगाना चाहिये। आयात प्रशुल्क के संरक्षण प्रभावों को कच्चे माल पर लगाये गये करों और दलालों आदि के द्वारा बहुत महत्वहीन बना दिया जाता है। अतः एक सुधारात्मक कदम उठाना परमावश्यक है।

आयात स्थानापन्न को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयोगशालाओं में अनुसन्धान कार्यों की मात्रा और गुण को बढ़ाने पर पर्याप्त जोर दिया गया।

---

1. The Economic Times, Vol. VIII, No. 157, P. 4
2. The Economic Times, Vol. VIII No. 158, 13 Oct., 1968, P. I

तकनीकी विकास और नवीन प्रयोगों के माध्यम से ही स्थानीय साधनों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जा सकता था। औद्योगिक संस्थानों के अपने नुसन्धान केन्द्र होने चाहिए जहां वे अपने अनुसंधानों को स्थापित और विकसित कर सकें। इन अनुसंधानों को उद्योग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप समायोजित करना परमावश्यक है। यद्यपि इन प्रयासों का परिणाम तुरन्त प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रयोगशाला में विकसित विचारों को व्यवहार रूप में परिणत करने में समय लगता है। यदि अनुसन्धान के परिणाम प्राप्त करने में जल्दबाजी की गई तो इससे अनुसन्धान संगठन हतोत्साहित हो जायेंगे।

विचारगोष्ठी का मत था कि आयात स्थानापन्न का अर्थ केवल यह नहीं है कि बढ़े हुए घरेलू उत्पादन को आयातों का स्थान दिया जाय, किन्तु उसका अर्थ यह भी है कि उन सामग्रियों को भी काम में लाया जाय जो स्थानीय रूप से उपलब्ध हैं और जिनका आयात कम होता है। देश में नई प्रक्रियाओं या नए उत्पादनों का विकास अथवा उत्पादनों के नये प्रयोग खोजना भी आयात स्थानापन्न की नीति का एक भाग होगा। वैसे इन सब कार्यों की सफलता प्रयोगकर्त्ताओं के संकल्प और निर्णय पर निर्भर है। उत्पादित वस्तु का गुण भी पर्याप्त महत्व रखता है। प्रारम्भ में देशी माल थोड़ा घटिया किस्म का हो सकता है किन्तु इनको भी देश में निरन्तर उत्पादन की दृष्टि से प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

विचार गोष्ठी का मत था कि सुरक्षा-सत्ताओं द्वारा की जाने वाली खरीद के विषय में भारतीय उद्यमकर्त्ताओं के सहयोग को आगे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। वैसे विभिन्न उद्योगों के क्षेत्र में आयात स्थानापन्न की दृष्टि से जो विकास हुये हैं वे पर्याप्त महत्व रखते हैं फिर भी इस दिशा में बहुत कुछ किया जाना बाकी है।

१६ अक्टूबर, १९६८ के इकोनोमिक टाइम्स (Economic Times) के सम्पादकीय के अनुसार जब तक स्वदेशी की भावना उद्योग के पूरेक्षेत्र पर न छा जाय उस समय तक आयात स्थानापन्न (Import Substitution की दिशा में अधिक महत्वपूर्ण रूप से कुछ नहीं किया जा सकता।[1] अवमूल्यन

1. "Unless basically a 'Swadeshi' Spirit permeates the entie gamnt of Industry, it will be very difficult to make much head way."

—Economic Times, October 16 1968 Editorial

के बाद आयात क्षेत्र में अपनाई गई नीति का चाहे कुछ भी लाभ रहा हो किन्तु यह आयात स्थानापन्न के लक्ष्य को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से असफल रही। उदार आयातों के सम्बन्ध में सभी उद्योगों की एक राय नहीं है। कुछ उद्योगों के अनुसार यह उद्योग नीति उपयोगी तथा लाभदायक रही, किन्तु अन्य उद्योग इसे हानिकारक मानते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आयात स्थानापन्नों (Import Substitutions) को प्रोत्साहित करने के लिये देशी उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाय व लोगों की रुचि में परिवर्तन लायाजाय; आयातों को हतोत्साहित किया जाय, स्वदेशी के आन्दोलन को व्यापक बनाया जाय; आयात स्थानापन्न का उत्पादन करने वाले उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाय; विभिन्न उद्योगों में अनुसन्धान एवं खोज को प्रोत्साहन दिया जाय तथा अन्य भी इस दिशा में आवश्यक कदम उठाये जायें। इन सब के बाद ही हम यह आशा कर सकते हैं कि देश के आयातों की मांग कम होगी और इस प्रकार वे देश के निर्यातों से अधिक नहीं बढ़ेंगे। इन स्थितियों में देश का भुगतान सन्तुलन समतुल्यता की स्थिति में रहेगा और व्यापार भी प्रोत्साहित होगा।

विदेशी व्यापार की दिशायें

(The Directions of Foreign Trade)

स्वतन्त्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार की दिशाओं में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। जिन विभिन्न देशों के साथ भारत का व्यापार होता है वे पंचवर्षीय योजनाओं के अनुसार बदलते रहे हैं।

प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं के काल में भारत ने योरोप को जो निर्यात किया वह उसके कुल निर्यात का करीब ३९ प्रतिशत भाग था। इसमें ग्रेट ब्रिटेन का भाग २८ प्रतिशत रहा। उत्तरी अमेरिका का भाग १९५२ में २१ प्रतिशत था किन्तु यह १९५६ में घटकर १७ प्रतिशत रह गया। १९६० में इसमें पुन: वृद्धि हुई और यह १९ प्रतिशत तक जा पहुँचा। इकैफे देशों के निर्यात इन वर्षों में प्राय: स्थिर रहे। जापान के लिए खनिज लोहे का निर्यात करने के कारण उसके निर्यात में भी वृद्धि हुई। इन दस वर्षों में योरोपीय आर्थिक समुदाय का भाग ६·३ और ९·५ प्रतिशत के बीच में घटता बढ़ता रहा है। रूस और पूर्वी योरोप के देशों का भाग पहली पंचवर्षीय योजना में १ प्रतिशत था किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह ८ प्रतिशत हो गया। पश्चिमी योरोप से होने वाले आयात प्रथम योजना काल में ३० प्रतिशत से बढ़ कर ५० प्रतिशत हो गये। पूर्वी योरोप से होने वाले आयातों की मात्रा १९५२ में बढ़कर २·२

प्रतिशत हो गई और १९५६ में ४.६ प्रतिशत हो गई। किन्तु १९६० में घट कर ३.७ प्रतिशत रह गई। जहां तक उत्तरी अमेरिका से होने वाले आयातों का सम्बन्ध है, वे १९५२ में ३७ प्रतिशत थे किन्तु १९५६ में घटकर १२.४ प्रतिशत रह गये १९६० में इनमें पुनः वृद्धि हुई और इनकी मात्रा २५.७ प्रतिशत हो गई।

तृतीय योजना और व्यापार की दिशायें
(Third Plan and Directions of Trade)

तृतीय योजना काल में भारत के निर्यात व्यापार का भौगोलिक वितरण पर्याप्त प्रभावित हुआ। इस काल में ब्रिटेन और अमेरिका भारत के मुख्य ग्राहक बने रहे। भारत जिन देशों को निर्यात करता है उनमें प्रमुख ये हैं—ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, जापान, आस्ट्रेलिया, श्री लंका, पश्चिम जर्मनी, कनाडा, बर्मा, संयुक्त अरब गणराज्य, फ्रान्स, अर्जेन्टाइना, सूडान, मलयेशिया, सिंगापुर, नीदरलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, केन्या, इटली, नाइजीरिया, क्यूबा, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान तथा इन्डोनेशिया।

१९६५-६६ में पूर्वी यूरोपीय देशों को भारत द्वारा किया गया कुल निर्यात १ अरब ५६ करोड़ रुपये के मूल्य का था। अमेरिका, जापान तथा रूस को किए जाने वाले निर्यात में तो वृद्धि होती रही किन्तु अर्जेन्टाइना, इन्डोनेशिया, इटली, कनाड़ा, केन्या, न्यूजीलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, पाकिस्तान, ब्रिटेन और सूडान को होने वाला निर्यात उतना ही रहा अथवा उसमें कमी आ गई।

भारत द्वारा मुख्य रूप से जिन देशों से आयात किया जाता है वे हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, ईरान, जापान, इटली, फ्रांस, रूस, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मलयेशिया, सऊदी अरब, कनाड़ा, चेकोस्लोवाकिया, पाकिस्तान, बर्मा, नीदरलैण्ड, सिंगापुर स्वीडन, संयुक्त अरब गणराज्य, केन्या तथा सूडान। सर्वाधिक आयात संयुक्त राज्य अमेरिका से होता है उसके बाद ग्रेट ब्रिटेन, प० जर्मनी, जापान और रूस का नाम लिया जा सकता है।

तृतीय योजना काल में पश्चिमी योरोप को होने वाले भारतीय निर्यातों की मात्रा घट गई। इसके अतिरिक्त अमेरिका को होने वाले निर्यातों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। १९६०-६१ में संयुक्त राज्य अमेरिका को होने वाला निर्यात १६ प्रतिशत था किन्तु १९६५-६६ में वह बढ़ कर १८.३ प्रतिशत हो गया। भारत के निर्यात व्यापार में सबसे अधिक वृद्धि पूर्वी योरोप के देशों को होने वाले निर्यात के क्षेत्र में हुई। यहां का भाग १९६०—६१ में ७.७ प्रतिशत था किन्तु १९६५-६६ में यह बढ़ कर १९.३ प्रतिशत हो गया। इस

निर्यात में प्रमुख भाग सोवियत रूस का रहा। अफ्रीका और एशिया तथा सुदूरपूर्व के देशों को होने वाले निर्यात में मूल्य की दृष्टि से साधारण सी वृद्धि हुई।

१९६७ में व्यापार की दिशायें
(Directions of Trade in 1967)

भारतीय निर्यातों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका ५८·२ प्रतिशत भाग ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत संघ और जापान को गया जबकि १९६६ में इन क्षेत्रों को केवल ६५.६ प्रतिशत भाग ही जाता था। इस काल में १९६६ की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन के लिये होने वाले निर्यात २८०.७ मिलियन डालर के थे और इस प्रकार इनमें २२.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका को २४८.१ मिलियन डालर का निर्यात हुआ जो १०.४ प्रतिशत कम था। इस प्रकार अमरीका की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन भारतीय उत्पादन का मुख्य बाजार बन गया। ग्रेट ब्रिटेन को बढ़ा हुआ निर्यात मुख्य रूप में चाय, कच्ची तम्बाकू, शुद्ध किया हुआ चमड़ा और इन्जीनियरिंग के सामान आदि के क्षेत्र में था।

सोवियत संघ के लिए किये जाने वाले निर्यातों का मूल्य १६२.३ मिलियन डालर था। इस प्रकार यह २.७ प्रतिशत घट गया। दूसरी ओर जापान के लिये १६१ मिलियन डालर का निर्यात किया गया जो ३१.४ प्रतिशत अधिक था। यह इसलिये हुआ क्योंकि जापान ने भारतीय लोहे और स्पात, अभ्रक, तम्बाकू चमड़ा आदि का अधिक आयात किया। पश्चिमी योरोप के लिये भारत के निर्यात ४१ मिलियन डालर तक उठ गये। इस क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन के लिए निर्यातों में ५१ मिलियन डालर की वृद्धि हुई, किन्तु योरोपीय साझा बाजार के देशों में लगभग १२ मिलियन डालर की कमी आ गई। ऐकेफे (ECAFE) देशों के लिए भारतीय निर्यात ३२ मिलियन डालर अधिक बढ़ गया। इस क्षेत्र में अकेले जापान में ३८.५ मिलियन डालर की वृद्धि हुई। इण्डोनेशिया, आस्ट्रेलिया, थाइलैण्ड और सिंगापुर आदि देशों में भारतीय निर्यात अधिक हुआ किन्तु इसी क्षेत्र के दक्षिण वियतनाम, न्यूजीलैण्ड, लंका, बर्मा, अफगानिस्तान आदि के साथ भारतीय निर्यात कम हुए। उत्तरी अमेरिका, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के कुछ देशों में निर्यात कम हुआ, किन्तु पूर्वी योरोप के देशों के साथ निर्यात यथावत् बना रहा।

EXPORT TO PRINCIPAL COUNTRIES[1]

(Rs. Lakhs)

Country	1963-64	1954-65	1965-66	1966-67	1967-68	Apr.-Dec. 68
UK	16297	16639	14478	20239	22903	16470
USA	12953	14642	14698	21999	20743	16713
U. S. S. R.	5195	7789	9289	12340	12179	11282
Japan	5878	6082	5705	10744	13592	11245
Australia	1759	1994	1749	2612	2798	2005
Ceylon	1915	1438	1279	1850	1493	1693
Germany (F. R)	1976	1757	1797	2603	2228	2061
Burma	631	629	357	374	384	864
UAR	1254	1424	2705	2500	2153	1468
France	1083	1187	1103	1836	1554	1380
Argentina	1006	743	415	202	57	53
Sudan	785	634	817	1457	2075	1455
Malaya	1285	704	1259	1048	691	520

1. Source—India, 1969, P. 359.

Country	1963–64	1964–65	1965–66	1966–67	1967–68	Apr.-Dec. 68
Singapore	1735	787	–	935	878	995
Netherlands	1043	909	791	1179	1298	1191
Czechoslovakia	1616	1592	1593	2857	2917	2899
Kenya	503	529	486	731	604	604
Italy	1125	992	839	1548	1782	1401
Nigeria	378	512	400	459	375	252
Cuba	401	167	29	Neg.	Neg.	Neg
New Zealand	726	538	657	589	627	534
Pakistan	717	970	488	1	1	1
Indonesia	240	180	82	107	586	464
Canada	2117	1744	2027	3097	2977	2188
Total (including other countries)	78928	81315	80165	115653	119867	101902

IMPORTS FROM PRINCIPAL COUNTRIES[1]

(by sea, air and land)

(Rs. lakhs)

Country	1963-64	1664-65	1965-66	1966-67	1967-68	April-Dec. -68
USA.	44997	51048	53483	78291	77151	46467
UK.	17146	16365	15009	16547	15786	9587
Germany (F.R)	9046	10934	13714	16286	14316	9186
Iran	4799	2902	2408	3049	3289	2644
Japan	6587	7819	7933	10740	10690	9391
Italy	1742	2262	1986	4151	3407	3744
France	1442	1786	1805	3509	3263	2799
USSR.	6846	7878	8317	11380	9582	9807
Belgium	798	879	1151	2428	1649	746
Switzerland	1207	1186	1451	1806	1339	1161
Australia	1792	2465	2418	5900	6496	2220
Federation of Malaya	1209	1042	1277	1240	730	443
Saudi Arabia	2118	1346	866	605	2230	552
Canada	2397	2652	3152	9219	9777	7068
Czechoslovakia	1733	1983	2115	3350	2738	2630

Source—India, 1969, P. 369.

१६

भारत की तटकर नीति, व्यापारिक नीति, प्रशुल्क आयोग एवं आयात-निर्यात नियंत्रण

(INDIA'S TARIFF POLICY UP TO 1947; COMMERCIAL POLICY SINCE 1951, TARIFF COMMISSION AND IMPORT & EXPORT CONTROL)

"भारत के लिये उचित प्रशुल्क नीति चाहे कुछ भी रहे किन्तु
यह स्पष्ट है कि उसे अपने विचार करने की वही
स्वतन्त्रता होनी चाहिये जो ग्रेट ब्रिटेन,
आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा और
दक्षिणी अफ्रीका के पास है।"

—भारत के लिये प्रशुल्क स्वायत्तता
आयोग पर संयुक्त प्रवर समिति

"Whatever be the right fiscal policy for India, it
is quite clear that she should have the same
liberty to consider her interest as Great
Britain, Australia, Newzealand,
Canada and Africa have."

—Joint Select Committee on Fiscal
Autonomy Commission for India.

भारत की तटकर नीति, व्यापारिक नीति, प्रशुल्क आयोग एवं आयात-निर्यात नियंत्रण

(India's Tariff Policy upto 1947 ; Commercial Policy Since 1951 ; Tariff Commission and Import & Export Control)

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मुख्यत: विदेशी हितों की साधना करता था। यहां व्यापार पर लगाए गये प्रतिबन्ध ब्रिटिश हितों का अधिक ध्यान रखते थे। भारत की तटकर नीति का अध्ययन करने से पूर्व शाही प्राथमिकताओं के सम्बन्ध में दो शब्द कहना उपयुक्त रहेगा क्योंकि स्वतंत्रता से पूर्व ये पर्याप्त महत्वपूर्ण थे। अंग्रेजी राज्य के समय भारत को इम्पीरियल प्रीफरेन्स (Imperial Preference) की नीति के अनुसार अपना व्यापार संचालित करना होता था। इस नीति के अनुसार एक उपनिवेश अथवा आधीन राज्य द्वारा साम्राज्यवादी देश के लिए विदेशी व्यापार में कुछ सुविधाएं प्रदान की जाती हैं और इन सुविधाओं के बदले किसी प्रकार की सुविधा पाने की आशा नहीं की जाती। यह एक पक्षीय दायित्व है। सिद्धान्त रूप में शाही प्राथमिकता (Imperial Preference) व्यावसायिक सौदेबाजी के साधन के रूप में निर्मित विभिन्न प्रशुल्कों में से एक है। सामान्य रूप से तटकर सम्बन्धी प्राथमिकताएं राजनैतिक अथवा भौगोलिक या अन्य परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। उनके फलस्वरूप व्यापारिक सम्बन्धों में कुछ दायित्व अनिवार्य बन जाते हैं। इस समय सर्वाधिक पक्षपात-पूर्ण राष्ट्र के प्रावधान के अन्तर्गत ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्य एक दूसरे पर अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा रियायती तौर पर तटकर दरें लगाते हैं।

साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) के आधीन तीन बातों का होना जरूरी है—(१) उपनिवेश एवं साम्राज्यवादी देश के बीच

व्यापार की सम्भावनायें होनी चाहिए, (२) उपनिवेश साम्राज्यवादी देश के सभी दावों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो, और (३) ये प्राथमिकतायें दूसरे देशों को या तो बिल्कुल ही न दी जाएं और यदि दी भी जाएं तो साम्राज्यवादी देश की अनुमति से दी जाएं। इन प्राथमिकताओं की दृष्टि से एक उपनिवेश साम्राज्यवादी देश से आने वाले माल पर दूसरे देशों से आने वाले माल की अपेक्षा कम आयात-कर लगता है।

शाही प्राथमिकता का सिद्धान्त भारत की तटकर नीति में सबसे पहले ओटावा व्यापार समझौते के बाद अपनाया गया। इस समझौते में ग्रेट ब्रिटेन के आयातों को (जिनकी संख्या करीब १०६ थी) रियायतें प्रदान की गयीं। ऐसी ही रियायतें भारत को भी ग्रेट ब्रिटेन के लिए अपने निर्यातों पर प्राप्त हुई। यह सिद्धान्त मन्दी के काल में हमारे निर्यातों की संभावित हानियों के विरुद्ध बीमा के रूप में काम आया। इस समय ग्रेट-ब्रिटेन में भारत के निर्यातों को और भारत में ग्रेट ब्रिटेन के आयातों को जो प्राथमिकतायें दी जाती हैं वे १६३६ के इण्डो-ब्रिटिश व्यापार समझौते द्वारा प्रशासित होती हैं जिन्हें अब GATT द्वारा संशोधित कर दिया गया है।

तटकर नीति का अर्थ
(The Meaning of Tariff Policy)

तटकर नीति किसी देश के आयातों और निर्यातों पर लगाए जाने वाले करों से सम्बन्धित नीति का विवरण होती है। सामान्यतः इसमें आयात करों को अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार के करों का उद्देश्य या तो विदेशी प्रतियोगिता से घरेलू उद्योगों की रक्षा करना होता है अथवा विकास की दृष्टि से उनको लागू किया जाता है। जो देश अपने आयात-निर्यात पर कोई कर नहीं लगाता और यदि लगाता भी है तो केवल राष्ट्रीय वृद्धि के लिए लगाता है तो हम उस देश की तटकर नीति को स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) की संज्ञा प्रदान करते हैं। दूसरी ओर जब आयात-कर देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाकर उनका विकास करने के लिए लगाए जाते हैं तो इसे संरक्षण नीति (Policy of Protection) कहा जाता है।

संरक्षण की नीति के अन्तर्गत और भी कई बातें आती हैं किन्तु मुख्य बात यह है कि विदेशी माल पर आयात कर लगा दिए जाते हैं ताकि उसकी कीमत देश में महंगी हो जाय तथा केवल देशी माल ही राष्ट्र के बाजारों में बिक सके। आजकल संरक्षण की नीति प्रायः प्रत्येक देश में अपनाई जाती है। इसलू नीति के उद्देश्य घरे उद्योगों की शक्ति को बढ़ाना,

परिवहन का समुचित विकास करना, वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान में वृद्धि करना, उद्योगों की आर्थिक दृष्टि से सहायता करना और उत्पादन लागत को कम करना आदि है।

जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेड्रिक लिस्ट ने संरक्षण की नीति का समर्थन किया था और उसके समय से ही यह नीति आर्थिक विकास की दृष्टि से विभिन्न देशों के समर्थन का विषय बनती रही है। जब एक देश तीव्र गति से आर्थिक विकास करना चाहता है तो उसकी विदेशी विनिमय की स्थिति पर दबाव पड़ता है और उसे विदेशी विनिमय की आवश्यकता महसूस होती है। ऐसी स्थिति में तटकर नीति आवश्यक बन जाती है। इसके अतिरिक्त संरक्षण की नीति द्वारा ही देश में उपलब्ध उत्पादन के साधनों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है।

भारत में तटकर नीति का इतिहास
(The History of Tariff Policy in India)

भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीति का उद्देश्य यहाँ का आर्थिक विकास अथवा अन्य किसी प्रकार से कल्याण करना नहीं था। वे अपने व्यापारिक हितों को प्राप्त करने के लिए यहां आये थे। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को कच्चे माल का आयात तथा निर्मित माल का निर्यात करने की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटिश सरकार ने संरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक नहीं समझा और स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनायी। बाद में सरकार ने आर्थिक कारणों से प्रभावित होकर १८९४ में सूती माल पर ५ प्रतिशत का आयात कर लगाया। इसके अतिरिक्त लोहे तथा इस्पात के आयात पर एक प्रतिशत आयात कर लगाया गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाया गया आयात-कर यहां के उद्योगों का विकास करने के लिए अधिक प्रभावशाली रहा क्योंकि इसके साथ-साथ इन उद्योगों पर उत्पादन कर भी लगाया गया था और इस प्रकार संरक्षण का प्रभाव मिट गया। साम्राज्यवादी सरकार से हम संरक्षण की नीति की आशा कर भी नहीं सकते थे क्योंकि उसका उद्देश्य देश के हितों की पूर्ति करना नहीं था।

बाद में परिस्थितियां कुछ बदलीं और इनके फलस्वरूप सरकार ने संरक्षण की नीति अपनाना स्वीकार किया। बदली हुई परिस्थितियां ये थीं —

(१) प्रथम महायुद्ध के समय देश में पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने के कारण यहां के शासकों को युद्ध संचालन में कठिनाइयां दिखाई देने लगी; अतः स्वतन्त्र व्यापार की नीतियों को दोषपूर्ण समझा गया। १९१६ में

औद्योगिक आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि सरकार को देश के औद्योगिक विकास में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। इस प्रकार सरकार संरक्षणात्मक नीति अपनाने के लिए प्रेरित हुई।

(२) प्रथम विश्व युद्ध में भारतीय योगदान से प्रसन्न होकर भारत सचिव श्री मोन्टेस्क्यू ने भारत को धीरे-धीरे स्वशासन प्रदान करने की घोषणा की। धीरे-धीरे प्रशुल्क सम्बन्धी मामलों में भारत सचिव द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप बन्द होता गया। इससे भावी संरक्षण की नीति का मार्ग खुल गया।

(३) भारत में जो स्वदेशी आंदोलन चल रहा था वह पर्याप्त उग्र होता गया; इसने अंग्रेजी शासन की मुक्त व्यापार नीति की आलोचना की। जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि विभिन्न देशों के उदाहरण प्रस्तुत करके इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि मुक्त व्यापार की नीति छोड़कर संरक्षण की नीति को अपनाया जाए।

विभेदात्मक संरक्षण की नीति
(Policy of Discriminating Protection)

भारत में संरक्षणात्मक प्रशुल्कों की नीति १९२१ में राजकोषीय स्वायत्तता प्राप्त करने के बाद अपनाई गई। मि. हीरेन्द्र लाल डे (Hirendra Lal Dey) के कथनानुसार "संरक्षण की नीति देश की औद्योगिक कमजोरियों का एकमात्र अथवा सर्वश्रेष्ठ इलाज था।"[1] जब सरकार विभिन्न कारणों से संरक्षण नीति को अपनाने के लिये मजबूर हो गई तो उसने ७ अक्टूबर, १९२१ को सर इब्राहिम रहमतुल्ला की अध्यक्षता में एक राजकोषीय आयोग नियुक्त किया। इस आयोग का उद्देश्य भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की परीक्षा करना था। इसके अतिरिक्त आयोग को साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) पर भी विचार करना था।

राजकोषीय आयोग ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि देश के आकार, जनसंख्या और प्राकृतिक साधनों को देखते हुए यहां औद्योगिक विकास पर्याप्त नहीं हो पाया है। आयोग का मत था कि देश के औद्योगिक विकास के लिये विभेदात्मक संरक्षण की नीति ही उपयुक्त रहेगी। इस नीति के

---

1. "..............a Policy of protection was the only, or at any rate the best, care for many of her industrial weaknesses.—" Hirendra Lal Day, The Indian Tariffs Problems in Relation to Industry and Taxation, 1933, Page 8.

अनुसार संरक्षण देश के सभी उद्योगों को प्रदान नहीं करना था वरन् केवल उन उद्योगों को प्रदान करना था जिनकी आयोग के द्वारा सिफारिश की गई थी। इसके लिये एक त्रिसूत्री कसौटी का उल्लेख किया गया—(१) सम्बन्धित उद्योग के पास पर्याप्त प्राकृतिक साधन होने चाहिये जैसे कच्चा माल, सस्ती शक्ति, पर्याप्त मात्रा में श्रम की पूर्ति तथा व्यापक घरेलू बाजार आदि। जो उद्योग इन दृष्टियों से दूसरों की तुलना में लाभ की स्थिति में नहीं हैं वे दुनियां के सफल उद्योगों के साथ समान शर्तों पर प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकते। (२) उद्योग के लिये संरक्षण की परम आवश्यकता है और उसके बिना उसका विकसित होना वांछनीय है। (३) वह उद्योग ऐसा होना चाहिये जिस पर से यदि भविष्य में संरक्षण हटा लिया जाये तो वह विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला कर सके। कोई भी संरक्षण स्थाई रूप से प्रदान नहीं किया जा सकता। यह केवल एक अस्थाई समायोजन है जो भविष्य में हटा लिया जायेगा। संरक्षण प्रदान करते समय यह ध्यान रखा जाये कि देश की समस्त आवश्यकताएं घरेलू उत्पादन से सन्तुष्ट की जा सकेंगी अथवा नहीं।

उपर्युक्त आवश्यक शर्तों के अतिरिक्त संरक्षण की नीति को लागू करने के लिये कुछ अन्य बातें भी महत्वपूर्ण मानी गयी हैं। यह कहा जाता है कि उन उद्योगों को संरक्षण दिया जाय जो आधारभूत हैं तथा जो देश की सुरक्षा के लिये अनिवार्य हैं। दूसरे, उन उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाय जिनमें उत्पादन बढ़ने से उत्पादन लागत कम हो सकती है। तीसरे, देश में आने वाले कच्चे माल और मशीनों को कर से मुक्त कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो अर्द्ध-निर्मित माल भारतीय उद्योगों के लिये उपयोगी हैं उस पर बहुत थोड़ा कर लिया जाये।

आयोग के सदस्यों में से ६ ने इन विभिन्न सिद्धांतों को स्वीकार किया किन्तु अल्पमत ने इनकी आलोचना की। सरकार द्वारा आयोग की सिफारिशों को स्वीकार किया गया। सन् १९२३ में पास किये गये एक सरकारी प्रस्ताव के अनुसार तीन शर्तों वाला सूत्र लागू कर दिया गया। जुलाई, १९२३ में प्रथम प्रशुल्क मण्डल (The First Tariff Board) स्थापित किया गया। यद्यपि राजकोषीय आयोग ने स्थाई प्रशुल्क मण्डल की सिफारिश की थी किन्तु सरकार द्वारा केवल अस्थायी प्रशुल्क मण्डल ही स्थापित किये गये।

प्रशुल्क मण्डल
(The Tariff Board)

प्रशुल्क मण्डल की स्थापना के लिये एक प्रस्ताव १९२३ में व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव में यह सिफारिश की

गयी थी कि राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) की सिफारिशों को प्रभावशील बनाने के लिये अधिक से अधिक एक वर्ष के हेतु एक प्रशुल्क मण्डल स्थापित किया जाये। यह प्रशुल्क मण्डल एक परीक्षात्मक एवं परामर्शदाता निकाय होगा। इसमें अधिक से अधिक तीन सदस्य होंगे। इनमें से एक सरकारी अधिकारी होगा जिसे यह शक्तियां प्राप्त होंगी कि विशेष पूछताछ के लिये दूसरे सदस्यों को सहवृत कर सके। इस प्रस्ताव के अनुसार स्थापित प्रशुल्क मण्डल के एक अध्यक्ष और एक या दो सदस्य होते थे। इस संस्था को स्थायी रूप प्रदान करने की अपेक्षा समय-समय नियुक्त किया गया। इसमें अपनाई गई प्रक्रिया देरी और अनिश्चितताओं के कारण संरक्षण की आवश्यकता वाले उद्योगों को हतोत्साहित करने के लिये पर्याप्त थी।

प्रशुल्क नीति का लक्ष्य
(The Objectives of Tariff Policy)

भारत में प्रारम्भ की गई प्रशुल्क नीति का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय धन और आय में वृद्धि करना था। इसके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता एक व्यापक औद्योगीकरण है। देश के प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाता है। प्रशुल्क नीति के समर्थन में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का विरोध किया जाता है। स्वतन्त्र व्यापार की यह नीति बहुत पहले ही व्यापक क्षेत्र में अपनी लोकप्रियता खो चुकी है।

ब्रिटिश भारत में जब प्रशुल्क नीति को अपनाया गया तो इसके लिये उत्तरदायी विभिन्न कारण बतलाये गये। प्रथम विश्व-युद्ध के अंत तक प्रायः सम्पूर्ण विश्व ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का बहिष्कार कर दिया था और प्रायः प्रत्येक देश आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए कुछ व्यापारिक प्रतिबन्ध और प्रशुल्क लगाने लगा था। युद्ध के बाद व्यापार एक पक्षीय आधार पर होने लगा। यहां तक कि ग्रेट ब्रिटेन ने भी अपने साम्राज्य में प्राथमिकताओं की नीति के पक्ष में स्वतन्त्र व्यापार का बहिष्कार कर दिया। इस प्रकार शेष संसार के विरुद्ध संरक्षण की नीति अपनाई गई।

संरक्षण की नीति परिस्थितियों की आवश्यकताओं का परिणाम थी। स्वतन्त्र व्यापार केवल तभी सम्भव और लाभदायक हो सकता है जबकि वह समानता के सिद्धान्त पर आधारित हो अथवा कोई भी राज्य दूसरे राज्य पर राजनैतिक दृष्टि से आश्रित न हो और ऐतिहासिक विकास की दुर्घटनाओं के अतिरिक्त माल के प्रवाह को रोकने का प्रयास न करे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि कम्पनी के प्रारम्भिक दिनों में भारत का

आर्थिक जीवन अपेक्षाकृत सन्तुलित था और वह केवल अतिरिक्त आरामदेह वस्तुओं का निर्यात करता था। इससे ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारिक हितों को चोट पहुँची। १९वीं शताब्दी में यह आर्थिक सन्तुलन समाप्त हो गया। भारत के कुटीर उद्योग धन्ध नष्ट हो गये। जब यंत्रों से निर्मित सस्ता माल मिलने लगा और कुटीर उद्योग धन्धे समाप्त होने लगे तो इससे व्यवसाय सन्तुलन की हानि हुई। देश के अधिकांश लोग कृषि की ओर झुके जहां पहले से ही बहुत अधिक भार था। इन स्थितियों में भारत के लिये स्वतन्त्र व्यापार यहां की बढ़ती हुई जनसंख्या और बढ़ते हुए देहातीपन के लिए हानिकारक था।

संरक्षण की नीति के औचित्य का आधार आत्मनिर्भरता है। समान स्तरों वाले राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में जब स्वतन्त्र रूप से समझौते किये जाते हैं और उपभोक्ताओं के लिए कोई बलिदान नहीं किया जाता तो वाणिज्य दोनों पक्षों के लिये लाभदायक रहता है किन्तु एक आश्रित देश भोजन और कच्चे माल में अपना जीवन तथा रक्त लगाता है तो बदले में उसका आर्थिक शोषण करते हुये यदि निर्मित माल उसे सौंपा जाये तो शीघ्र ही उसकी अर्थ-व्यवस्था खत्म हो जायेगी।

संरक्षण की नीति यह मानती है कि राज्य का काम केवल शान्ति और व्यवस्था की स्थापना नहीं है वरन् व्यावहारिक जीवन के विकास के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियों की व्यवस्था एवं उनका नियमन है। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भारत को अपने सारे साधन स्रोत युद्ध की आवश्यक सामग्री प्राप्त करने में लगाने पड़े, उसी प्रकार शांतिकाल में देश के समस्त साधनों को नागरिक कल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए न केवल प्रशुल्कों का ही सहारा लिया जाये वरन् तकनीकी शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय। साहसपूर्ण उद्योगों का संगठन किया जाए, ऋण और साख की सुविधाएं प्रदान की जाएं और अंत में व्यवस्थापिका के नियन्त्रण द्वारा राष्ट्रीय कल्याण से सम्बन्धित उद्योगों का समाजीकरण किया जाए। विचारकों का मत है कि गैर-सरकारी स्वामित्व के आधीन रहने वाले उद्योगों को बिना शर्त के संरक्षण प्रदान करने की नीति पूर्णतः अवांछनीय है।

विभेदात्मक संरक्षण के सिद्धान्त

(Principles of Discriminating Protection)

राज्य की आर्थिक नीति के संरक्षणात्मक प्रशुल्क को एक विधिपूर्ण व्यवस्था माना जाता है किन्तु फिर भी विभेदात्मक प्रशुल्कों के प्रशासन में

अनेक सम्भावित खतरे हैं जैसे—राजनैतिक भ्रष्टाचार, अकार्यकुशलता, निरन्तरता, समाज के एक विशेष वर्ग पर सम्पूर्ण समाज का अतिशय भार आदि : इन खतरों की सम्भावना के कारण ही भारतीय राजकोषीय आयोग ने विभेदात्मक नीति प्रयोग करने के लिए कुछ सिद्धांत निर्धारित किये। इसके मुख्य सिद्धांतों में से प्रमुख निम्न प्रकार से हैं।—

(१) प्रशुल्क मण्डल सरक्षण के कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण भाग होगा।

(२) संरक्षण के लिए दिए गए प्रार्थना-पत्रों पर विचार करते हुए प्रशुल्क मण्डल यह देखेगा कि जो उद्योग संरक्षण के लिये दावा कर रहा है वह अधिक प्राकृतिक स्रोतों से सम्पन्न है अथवा सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और बड़े बाजार से पूर्ण विकसित ही नहीं हो पायेगा अथवा उस गति से विकसित नहीं हो पाएगा जो देश के हितों के लिए वांछनीय है। क्या वह संरक्षण के बिना भी विश्व प्रतिस्पर्धा का सामना करने योग्य बन सकेगा ?

(३) जो उद्योग देश के सम्पूर्ण बाजार की पूर्ति करने की सम्भावित क्षमता रखते हैं उनको संरक्षण की नीति के लिये विशेष रूप से दावेदार स्वीकार किया जाए।

(४) एक विशेष उद्योग के संरक्षण से अन्य सम्बन्धित उद्योगों को हानि हो सकती है फिर भी प्रशुल्क मण्डल को संरक्षण नहीं हटाना चाहिये क्योंकि यह कुल मिलाकर आर्थिक लाभ प्रदान करता है।

(५) बाल उद्योगों को संरक्षण मिलना चाहिये। इसके अतिरिक्त उन उद्योगों को भी संरक्षण दिया जाय जिनमें अस्थाई संकट है।

(६) नये उद्योगों को आवश्यक संरक्षण प्रदान करने का नियम नहीं बनाना चाहिये।

(७) संरक्षण की दर न अधिक नीची और न ही अधिक ऊंची होनी चाहिये। वह तुलनात्मक लागत के प्रकाश में निर्धारित की जानी चाहिये।

(८) प्रशुल्क मण्डल को सामयिक रूप से यह देखते रहना चाहिये कि जिन विभिन्न उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया है क्या उनको निरन्तर रखना वांछनीय है या उनमें परिवर्तन किया जाए या उनको हटा दिया जाए ?

भारत सरकार ने विभेदात्मक संरक्षण की नीति को स्वीकार किया और १९२३ में इसे सभा के समक्ष प्रस्तुत किया। जून, १९२४ में एक प्रशुल्क मण्डल स्थापित किया गया। प्रारम्भिक वर्षों मे संरक्षण का लाभ मुख्य रूप से तीन उद्योगों को दिया गया—रूई, फौलाद और चीनी

उद्योग। ये तीनों भारत के सामान्य जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। इनमें विभेदात्मक प्रशुल्क स्थापित करने पर आर्थिक नीति सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुए।

विभेदात्मक संरक्षण की आलोचना
(Criticism of Discriminating Protection)

संरक्षण की नीति को कई आधारों पर आलोचना का विषय बनाया गया। त्रिसूत्रीय फार्मूले को सिद्धान्त रूप से अस्पष्ट और विरोध तथा त्रुटिपूर्ण माना गया। व्यवहार में यह नीति अनुदार तथा अनुचित सिद्ध होती है। विभेदात्मक संरक्षण की नीति की आलोचनायें निम्न प्रकार थीं—

(१) संरक्षण प्रदान करने के लिए जिस त्रिसूत्री कार्यक्रम को अपनाया गया है वह दोषपूर्ण है। आलोचकों का कहना था कि इसकी प्रथम दो शर्तें विरोधपूर्ण हैं। यदि एक उद्योग के पास पर्याप्त प्राकृतिक स्रोत हैं और अन्य सुविधाएं भी उसको प्राप्त हैं तो संरक्षण देने की आवश्यकता ही क्या पड़ेगी? संरक्षण तो केवल उसी उद्योग को देना चाहिये जिसे कोई असुविधा हो और संरक्षण द्वारा वह दूर की जा सकें। दूसरी शर्त के अनुसार संरक्षण के बिना जो देश पनप न सके अथवा तेजी से न पनप सके उसे संरक्षण दिया जाना चाहिए किन्तु ऐसा उद्योग वही होगा जिसके पास प्राकृतिक साधनों की सुविधा नहीं होगी। ये दो शर्तें विरोधपूर्ण हैं और दोनों को एक साथ पूरा नहीं किया जा सकता। तीसरी शर्त में निश्चितता का अभाव है और यह निर्धारित करना कठिन है कि कौन उद्योग भविष्य में अपने पैरों पर खड़ा हो पाएगा और कौन उद्योग नहीं हो सकेगा। कुछ विचारक इन आलोचनाओं को कोई महत्व प्रदान नहीं करते।

(२) जब संरक्षण सम्बन्धी शर्तों का पालन कड़ाई के साथ किया गया तो उद्योगों को लाभ की अपेक्षा हानि होने लगी। इन सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन किया गया और इसके परिणामस्वरूप कई आवश्यक उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। उदाहरण के लिए कांच उद्योग को इस आधार पर संरक्षण नहीं दिया गया कि उसमें पर्याप्प प्राकृतिक साधन नहीं थे।

(३) संरक्षण की नीति अपनाते समय सीमित दृष्टिकोण रखा गया। इसे देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव डालने वाला एक महत्वपूर्ण साधन मानने की अपेक्षा कुछ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने का माध्यम समझा गया। संरक्षित उद्योगों की प्रगति एवं गतिविधियों की जांच करने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं की गयी थी।

(४) इस नीति को केवल चालू उद्योगों पर ही लागू किया गया। नये उद्योगों को इसके लाभ प्राप्त करने से वंचित रखा गया। जो उद्योग

विकास के स्तर पर आगे नहीं आ पाए थे वे इससे पर्याप्त लाभ नहीं उठा पा रहे थे। विभेदात्मक संरक्षण की नीति ने नये उद्योगों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त नहीं किया।

(५) प्रशुल्क मण्डल के अस्थाई स्वरूप के कारण उसकी यह आलोचना की गयी कि इसमें नियमितता और समानता का अभाव रहेगा। संरक्षण के लिए कोई भी प्रार्थनापत्र भारत सरकार के उद्योग विभाग को दिया जाता था। वह इसे प्रशुल्क मण्डल में भेजने से पहले ही अस्वीकार कर सकता था। जब कभी प्रशुल्क मण्डल द्वारा संरक्षण के लिए सिफारिश की जाती थी तो उसे मानना सरकार के लिए जरूरी नहीं था। प्रशुल्क मण्डल के अधिकार सीमित थे संरक्षण के मार्ग मे अनेक कठिनाइयां थीं।

(६) संरक्षण की नीति के सम्भावित लाभ साम्राज्य प्रधिमान (Imperial Preference) के कारण कम हो गए। इनके फलस्वरूप केवल ब्रिटिश हितों को लाभ होता था और भारत को इससे हानियां होती थीं।

(७) सरकार ने जिन आयात-करों को आय प्राप्ति के उद्देश्य से लगाया था उन्हें भी वह संरक्षण की नीति का भाग मानने लगी।

संरक्षण की नीति का कार्य रूप

(Protection Policy at Work)

स्वतन्त्रता से पूर्व विभिन्न उद्योगों के सम्बन्ध में जो संरक्षण की नीति अपनाई गयी उसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

(१) लोहा और इस्पात उद्योग

१९२३ में व्यवस्थापिका सभा में प्रस्ताव आने के बाद जिस पहले उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया वह लोहा और इस्पात उद्योग था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इस उद्योग को विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करनी पड़ी। विदेशी उत्पादक अपना माल पर्याप्त कम कीमतों पर निकाल रहे थे। १९२४ में प्रशुल्क मण्डल ने यह अनुभव किया कि लोहा और इस्पात उद्योग राजकोषीय आयोग द्वारा स्थापित तीन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त आधारभूत उद्योग होने के नाते भी इसे संरक्षण प्रदान करना चाहिए।

प्रारम्भ में प्रशुल्क मण्डल द्वारा कर–वृद्धि की गयी किन्तु जब इसे अपर्याप्त माना गया तो मण्डल ने और कर बढ़ाने की सिफारिश की। १९२५ में मण्डल से संरक्षण से सम्बन्धित प्रश्न पर पुनः विचार करने को कहा गया। मण्डल ने विचारोपरांत जिन सिफारिशों को प्रस्तुत किया उन्हें सरकार ने स्वीकार कर लिया और अतिरिक्त सहायता देने की बात मान ली। १९२७

में विभेदपूर्ण कर लगाए गये ताकि ब्रिटिश उद्योगों को गैर-ब्रिटिश उद्योगों की तुलना में संरक्षण प्रदान किया जा सके। यह नीति देश के उद्योगों की प्रगति में बाधक बन गई।

लोहा और इस्पात कारखाने के इतिहास का दूसरा काल १९३२ के ओटावा व्यापार समझौते से प्रारम्भ होता है। इस के अनुसार गैर ब्रिटिश देशों से आने वाले माल पर लगाए गए कर को निश्चित कर दिया गया और ब्रिटिश आयात पर से पर्याप्त घटा दिया गया। यह व्यवस्था की गयी कि ब्रिटिश उद्योगों में अधिक से अधिक भारतीय इस्पात का प्रयोग किया जाये। इस प्रकार विभेदात्मक नीति द्वारा कच्चा माल ग्रेट ब्रिटेन भेजने और इससे निर्मित माल को देश में स्वीकार करने की नीति अपनाई गयी। १९३३ में प्रशुल्क मण्डल ने यह घोषणा की कि इस समझौते का नवीनीकरण इसके वर्तमान रूप में सम्भव नहीं है। मण्डल के सदस्यों ने इस उद्योग द्वारा की गयी प्रगति से सन्तोष किया क्योंकि इसने भारत के ७२ प्रतिशत बाजार को पकड़ लिया था। इससे श्रम की लागत घट गयी तथा उद्योग का बहुत कुछ नवीनीकरण हो गया।

यद्यपि संरक्षण की नीति का स्वभाव अवरोधक होता है कि किन्तु फिर भी इसने इस्पात के उत्पादन को १९२३ में एक लाख ३१ हजार से १९४० में एक करोड़ ७० हजार तक बढ़ा दिया। १९३९ तक यह उद्योग बहुत कुछ संरक्षण से स्वतन्त्र हो गया था। संरक्षण को औपचारिक रूप से कुछ विशेष मदों को छोड़कर वापिस ले लिया गया।

(२) रूई और कपड़ा उद्योग

भारत में कपड़े उद्योग का इतिहास अपनी विशेषता रखता है। इस उद्योग ने ब्रिटिश माल पर से कर को कम कराया। यहां तक कि धागे और कपड़े पर जो कर लगाया जाता है उससे ग्रेट ब्रिटेन को मुक्त करने की बात कही गयी। यह मुक्ति १८७८ में दी गयी। जब १८९४ में आयात करों को दुबारा लागू किया गया तो लंकाशायर के हितों को पुनः साधन बनाया गया। लंकाशायर के हित भारत की राजकोषीय नीति में उस समय तक प्रभावपूर्ण बने रहे जब तक कि उन्हें १९२९ में समाप्त नहीं कर दिया गया।

विश्व युद्ध के बाद आर्थिक मन्दी का काल आया। जापान की प्रतियोगिता ने इसे और भी बदतर बना दिया। १९२६ में आबकारी—कर को समाप्त कर दिया गया और आर्थिक मन्दी के कारणों तथा संरक्षणता की आवश्यकताओं पर विचार करने के लिए एक विशेष प्रशुल्क मण्डल नियुक्त किया

गया। मण्डल ने पाया कि इस उद्योग की कठिनाइयां बहुत कुछ जापान के साथ प्रतियोगिता करने से है क्योंकि वहां रातदिन काम होता है और महिलाओं तथा बच्चों को भी काम पर लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त मिल मालिकों की दृष्टि से जापान की स्पर्धा की शक्ति वहां की मिलों के श्रेष्ठ संगठन एवं वित्त व्यवस्था की उच्चता पर आधारित थी। बाजार अधिक अनुकूल था और कच्चा माल खरीदने के अच्छे अवसर थे। वह चाहे तो भारत से खरीददारी करे अथवा अमेरिका से वह चयन कर सकता था।

मण्डल ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया कि जापान से किए जाने वाले आयात के विरुद्ध इस उद्योग को सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। मण्डल के बहुमत ने यह स्वीकार किया कि रूई पर तीन वर्ष के लिए ११ से लेकर १५ प्रतिशत तक कर बढ़ा दिया जाए और धागे पर कर न बढ़ाया जाय। सरकार ने समस्त आयात किये धागो पर तीन वर्ष के लिए प्रति पौण्ड पर ६ पैसे के हिसाब से कर लगा दिया। बाद में इसे अन्य तीन साल के लिए और बढ़ा दिया गया। बाद के वर्षों में जापान से बहुत अधिक निर्यात होने के कारण इस संरक्षण की अपर्याप्तता साबित हो गयी। भारत सरकार ने १९२९ में मि. जी. एस. हार्डी की सिफारिशों पर आयात के धागे के करों मे और भी वृद्धि की। राजस्व की दृष्टि से कर की मात्रा आयातों पर २५ प्रतिशत तक और विदेशी निर्यातों पर ३½ प्रतिशत तक बढ़ा दी गयी। १९३२ के ओटावा समझौते ने प्रश्न को और अधिक उलझा दिया। इसके अन्तर्गत ब्रिटेन ने भारतीय रूई की खरीददारी को प्रोत्साहित करने में सहमति प्रदान की। १९३२ में प्रशुल्क मण्डल से दुबारा जांच करने को कहा गया ताकि इस उद्योग को संरक्षण प्रदान किया जा सके। जो आर्थिक मन्दी १९२९ में प्रारम्भ हुई थी उसने कृषकों को प्रभावित किया जो रूई के माल के प्रमुख उपभोक्ता थे। इसके परिणामस्वरूप बजट में घाटे की व्यवस्था आई और फलतः करों को बढ़ाना पड़ा। प्रशुल्क मण्डल ने पाया कि १९३२ से जापानी धागे को हतोत्साहित करने के कारण रूई के माल का आयात बढ़ गया है। अतः मण्डल ने सिफारिश की कि समस्त गैर-ब्रिटिश रूई के माल पर ३१¼ से लेकर ५० प्रतिशत तक कर लगाया जाये।

प्रशुल्क मण्डल ने १९३२ में की गयी अपनी जांच में इस बात पर विचार किया कि संरक्षण के लिए भारतीय उद्योगों का दावा कितना उपयुक्त है। दूसरे शब्दों में यह उद्योग भारतीय राजकोषीय आयोग द्वारा निर्धारित परिस्थितियों को कहां तक सन्तुष्ट करता है। मण्डल ने पाया कि यह उद्योग मुख्य रूप से इन आवश्यक शर्तों को पूरा करता है। इसके अतिरिक्त

यह महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योगों का प्रतिनिधित्व करता है। इस उद्योग में ६ लाख मजदूर कार्य करते हैं और इससे भी दुगने लोग इस पर आश्रित हैं। इसके अलावा ३ से लेकर १० मिलियन की संख्या तक लोग हाथ करघा पर आश्रित हैं। भारतीयों ने रूई उद्योग पर एक बडी मात्रा में पूंजीगत निवेश किया है तथा भारतीय रूई के लिए बाजार उपलब्ध हैं।

उक्त सभी कारणों से मण्डल ने इस बात का समर्थन किया कि रूई उद्योग को ही अंशतः संरक्षण प्रदान किया जाए। इस उद्योग को ब्रिटिश आयातों के विरुद्ध संरक्षण की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि जापान के विरुद्ध है। १९३४ के अधिनियम ने प्रशुल्क मैण्डल की सिफारिशों को प्रभावशील बनाया। इस अधिनियम ने पांच वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान किया जो मार्च, १९४९ तक चला। इसके बाद सितम्बर, १९३५ में एक विशेष प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की गयी जो ग्रेट ब्रिटेन से किये गये आयातों के विरुद्ध रूई उद्योग को संरक्षण देने के प्रश्न पर विचार कर सके। डॉ. डे के मतानुसार रूई उद्योग ने अपने उत्पादन को १९२३ से १९४० तक १७२५ मिलियन गज तक बढ़ा दिया। यह १९३९ तक संरक्षण से स्वतंत्र हो गया। औपचारिक रूप से संरक्षण नीति १९४७ में हटायी गयी। १९४७ के भारत प्रशुल्क अधिनियम ने रूई के कपड़े और धागे पर तत्कालीन संरक्षणात्मक करों को राजस्व करों में परिवर्तित कर दिया।

(३) चीनी उद्योग

चीनी उद्योग पर सरक्षण नीति को १९३०-३१ में अपनाया गया। इस उद्योग का विकास न केवल अपने आप में महत्वपूर्ण था वरन् इसके होने से ही एक बड़ी व्यापारिक फसल हो सकती थी जिसका घरेलू बाजार बहुत बड़ा है। प्रशुल्क मण्डल ने इस आधार पर चीनी उद्योग के संरक्षण का समर्थन किया कि 'त्रिसूत्रीय फार्मूला' की सभी शर्तें सन्तुष्ट हो गयी हैं। प्रशुल्क मण्डल का कहना था कि गन्ने के क्षेत्र का प्रसार राष्ट्रीय महत्व का विषय है। यदि अति उत्पादन के कारण फसल में आये हुए संकट को दूर करना है तो इसके लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि संरक्षणात्मक कर लगाकर न केवल स्थित फैक्ट्रियों को बनाये रखने का प्रयास किया जाए वरन् नई फैक्ट्रियों को बनाने और स्थापित किये जाने का प्रयास किया जाए। यह बताया गया कि गन्ने की फसल से मवेशियों को चारा मिलता है और इसलिए व्यक्ति और मवेशी दोनों को रबी और खरीफ की फसलों के बीच खाली समय में रोजगार मिलेगा।

संरक्षण के परिणामस्वरूप भारत चीनी के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो गया और पहले जो औसत १५ करोड़ रुपये वार्षिक का आयात होता था वह

पूरी तरह से रुक गया। इसके अतिरिक्त आबकारी कर लगाने से सरकारी राजस्व को लाभ होगा। १९३८–३९ में सरकार को आबकारी कर के परिणामस्वरूप ४२२ लाख रुपये के राजस्व का लाभ हुआ।

१९३७ में दूसरा चीनी प्रशुल्क मण्डल नियुक्त किया गया किन्तु इसका प्रतिवेदन मार्च, १९३९ में प्रकाशित किया गया। प्रशुल्क मण्डल ने यह सुझाव दिया कि उद्योग का बाजारगत सर्वेक्षण किया जाय और उस पर राज्य का कुछ नियंत्रण लागू किया जाय। मण्डल द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन को प्रकाशित करते समय सरकार ने उसमें एक प्रस्ताव को भी शामिल किया जिसके द्वारा मण्डल के अध्ययन को आलोचित किया गया।

१९३७ में एक अन्तर्राष्ट्रीय चीनी समझौते पर दुनियां के २१ चीनी उत्पादक देशों ने हस्ताक्षर किए। इनमें भारत भी एक था। चीनी परिषद ने समय समय पर चीनी निर्यातकर्त्ता देशों के निर्यात नियतांशों को विश्व के स्वतन्त्र बाजार के सन्दर्भ में निर्धारित किया। समझौते के अनुसार केवल स्वतन्त्र बाजार के लिए ही निर्यात नियतांश आवंटित किये गये। भारत सरकार ने भारतीय उद्योग की ओर से हस्ताक्षर करते हुए इस बात पर सहमति प्रकट की कि भारत स्वतन्त्र बाजारों में बर्मा को छोड़कर किसी को भी समुद्र के द्वारा चीनी का निर्यात नहीं करेगा। समझौते का दोष यह था कि भारत को एक स्वतन्त्र बाजार माना गया। यहां कोई भी देश किसी भी कीमत पर एक वर्ष में अधिक से अधिक ५० हजार टन तक चीनी का निर्यात कर सकता था। प्रशुल्क मण्डल ने इस समझौते के सम्बन्ध में बताया कि जब भारत का आन्तरिक उत्पादन पहले से ही उसकी खपत के बराबर है तो उसे एक स्वतन्त्र बाजार बनाना तथा साथ ही उसके निर्यात पर रोक लगा देना एक गलत स्थिति है।

१९३९ में सरकार ने दो वर्ष के लिए चीनी उद्योग पर संरक्षणात्मक कर लगाया। बाद में इसे मार्च, १९४७ तक के लिए बढ़ा दिया गया। संरक्षण मिलने के चार वर्ष बाद ही भारत के चीनी उद्योग ने विदेशी आयातों को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया। सन् १९४७ में प्रशुल्क मण्डल ने पुनः जांच पड़ताल की और वर्तमान दरों पर ही आगे के दो वर्षों के लिए संरक्षण को और बढ़ा दिया। मार्च, १९५० में चीनी उद्योग पुनः संरक्षण के बाहर आ गया।

(४) भारतीय रासायनिक उद्योग

भारी रासायनिक उद्योगों में सल्फ्यूरिक एसिड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, नाईट्रिक एसिड और कुछ लवणों को सम्मिलित किया गया। अम्लों पर भारी

कर लेने के कारण भारत में उनका उत्पादन सामान्यत: लाभ रहित किया जा रहा था। १९२९ में प्रशुल्क मण्डल द्वारा की गयी जांच ने यह प्रतिपादित किया कि इन लवणों के अतिरिक्त भारत में रसायनों का कोई उत्पादन नहीं किया गया। प्रशुल्क मण्डल के सम्मुख जो विभिन्न रसायन परीक्षा के लिए प्रस्तुत किये गये उनमें सल्फ्यूरिक, नाईट्रिक और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और मैग्नेशियम सल्फेट, फैरस सल्फेट, पोटास अम्ल, एल्मोनियम सल्फट, सोडियम सल्फेट, जिन्क क्लोराइड, कोपर सल्फेट आदि थे। इनमें से अधिकांश का प्रयोग कपड़ा, कागज, कांच, साबुन और मोमबत्ती आदि के उद्योगों में किया जाता था। १९३९ में रसायनों तथा रासायनिक उत्पादनों का कुल आयात १० करोड़ रुपये के मूल्य का हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध में भारतीय रासायनिक उद्योग के क्षेत्र में विदेशी आयात बन्द हुआ। भारतीय युद्ध सामग्री मण्डल और भारतीय औद्यौगिक आयोग के प्रयासों ने यह सिद्ध कर दिया कि सरकार रासायनिक उद्योग को विकसित करने के लिए उत्सुक है। युद्ध के बाद उद्योग को दो शक्तिशाली देशों के साथ संयुक्त रूप से प्रतियोगिता करनी पड़ी। १९२४ में विनिमय में महंगाई होने के कारण आगे कठिनाइयां बढ़ी। ऐसी स्थिति में संरक्षण के लिए उद्योग का दावा अधिक सारपूर्ण बन गया। यह एक मूल उद्योग था। इसमें उत्पादन लागत अधिक थी और इसलिए भारतीय उत्पादकों को विदेशी उत्पादकों के साथ प्रतियोगिता करने में कठिनाई हुई। भारी रसायन अनेक व्यापारिक उत्पादनों के आधार होते हैं। इस उद्योग के समस्त स्रोतों का पूरा-पूरा प्रयोग असम्भव था। प्रशुल्क मण्डल ने यह सिफारिश की कि उद्योग को अपने उत्पादन इतने बढ़ा लेने चाहिये ताकि प्रति इकाई लागत को कम किया जा सके। संरक्षण विशेष करों के रूप में प्रदान किया गया जिनकी मात्रा स्थित राजस्व करों के बराबर थी। मण्डल ने रेल के किराये में भी कमी का सुझाव दिया।

मण्डल का मत था कि रेलवे प्रशासन की प्रवृतियां अब भी आलोचना का विषय है। उदाहरण के लिए यह कहा गया कि आम्बेरनाथ से अन्दर की ओर जाने का भाड़ा बम्बई की अपेक्षा अधिक था जबकि बम्बई से इन स्थानों की दूरी ४५ मील अधिक थी। मण्डल ने यह सिफारिश की कि रेलवे वित्त के हितों को सम्पूर्ण देश के हितों की तुलना में कम महत्व का बनाया जाय। आगे यह कहा गया कि रेलवे एक सार्वजनिक उपयोगिता का विषय है और इसका उद्देश्य यातायात को कम से कम कीमत पर प्रदान करना होना चाहिये ताकि उद्योग और कृषि दोनों का विकास हो सके और वे देश की सम्पन्नता की अभिवृद्धि कर सकें। इस प्रकार मण्डल ने संरक्षण के लिए

एक उदार योजना प्रस्तुत की। सरकार ने केवल दो वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान करने पर सहमति प्रदान की। जब १९३३ में संरक्षण सम्बन्धी अधिनियम समाप्त हो गया तो लगाये गये कर भी रोक दिये गये।

यह संक्षेप में उस विभेदात्मक संरक्षण के व्यवहार का इतिहास है जो भारत के प्रमुख उद्योगों पर लगाया गया था। इस इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९३२ में राजकोषीय आयोग ने जो नीति प्रतिपादित की थी वह अपर्याप्त रही। विभेदात्मक संरक्षण की नीति के आधीन १९२९ से १९३९ तक के काल में केवल नौ उद्योगों को ही संरक्षण दिया गया। यद्यपि संरक्षणात्मक कार्यों को सीमित समय के लिए लागू किया गया था किन्तु बाद में इनको पुनः बढ़ा दिया गया।

द्वितीय युद्ध के बाद प्रशुल्क नीति
(Tariff Policy after Second World War)

१९४० में भारत सरकार ने यह घोषणा की कि युद्ध प्रयासों के रूप में जिन उद्योगों को विकसित करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया जा रहा है, उनको भारत के अलावा अन्य देशों के साथ अनुचित प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध युद्ध के बाद भी संरक्षण प्रदान किया जाएगा। अप्रेल, १९४५ में सरकार ने अपनी नीति सम्बन्धी एक वक्तव्य में उन युद्धकालीन उद्योगों को संरक्षण के लिए अपने दावे प्रस्तुत किए जाने के लिए आमंत्रित किया जो अब संरक्षण की तत्काल आवश्यकता समझते थे। इन समस्त उद्योगों को नवम्बर, १९४५ में नियुक्त प्रशुल्क मण्डल के सामने विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। संरक्षण के लिए उपयुक्तता की शर्तों में पहली बात तो यह देखा जाना था कि एक उद्योग राष्ट्रीय हित में कितना वांछनीय है और दूसरे, कुछ समय में वह आत्मनिर्भर बन सकता है अथवा नहीं। अप्रेल, १९४५ के प्रस्ताव ने युद्ध से पूर्व की उस परिस्थिति को एक महत्वपूर्ण मोड़ दिया जिसके अनुसार व्यक्तिवादी नीति को अपनाया जा रहा था। अब प्रतिपादित की गयी नीति की उदारतापूर्वक व्याख्या की जा सकती थी, क्योंकि राष्ट्रीय हित शब्द पूर्णरूप से केवल सैनिक या सुरक्षा सम्बन्धी विषयों तक ही सीमित नहीं था वरन् यह देश के आर्थिक कल्याण की भी इंगित करता था। इस नवीन नीति के तीन उद्देश्य थे—प्रथम, देश के साधन स्रोतों का अधिक से अधिक उपयोग करके राष्ट्रीय धन की अभिवृद्धि करना। दूसरे, देश को रक्षा के लिए भली प्रकार से तैयार करना और तीसरे, रोजगार को एक उच्च तथा स्थाई स्तर प्रदान करना। १९४५ में जो मण्डल नियुक्त किया गया था उसका मुख्य उद्देश्य संरक्षण की दृष्टि से युद्धकालीन उद्योगों के दावों की जांच करना था।

स्वतंत्रता के समय प्रशुल्क नीति
(Tariff Policy at the Dawn of Independence)

स्वतंत्र भारत के संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत यह कहा गया है कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में राज्य का उद्देश्य जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करना होगा। ऐसा करने के लिए वह एक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करेगा जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त होगा। राज्य की नीति का उद्देश्य यह रखा गया कि जीविका के पर्याप्त साधन स्त्री-पुरुषों को समान रूप से मिल सकें और समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व तथा नियंत्रण सामान्य कल्याण के लिए हो। अप्रेल, १९४८ में एक प्रस्ताव द्वारा इस नीति को स्पष्ट करते हुए बताया गया कि गतिशील राष्ट्रीय नीति को सभी सम्भव साधनों से उत्पादन की लगातार वृद्धि का प्रयास करना चाहिए। इसके साथ ही उसे सम्पत्ति के समानतापूर्ण वितरण का भी पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये। स्वतंत्र भारत की प्रशुल्क नीति का उद्देश्य अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्धा को रोकना तथा उपभोक्ता पर बिना अन्यायपूर्ण भार डाले भारत के सभी साधन स्रोतों का पूरा-पूरा प्रयोग करना रखा गया।

अगस्त, १९४८ में एक प्रस्ताव द्वारा प्रशुल्क मण्डल के कार्य और भी बढ़ा दिए गये। अब मण्डल को संरक्षित उद्योगों पर लगातार निगरानी रखनी थी। मण्डल का कार्य संरक्षण व्यवस्था में सुधार अथवा अन्य किसी कार्य में सरकार को सलाह देना था। मण्डल के अन्य कार्य ये थे—(१) कभी सरकार कहे तो देश में उत्पादित वस्तुओं की उत्पादन-लागत की जांच करना तथा कीमतें निर्धारित करके सरकार को इसका प्रतिवेदन प्रस्तुत करना। (२) विदेशों के सस्ते माल से देश के उद्योगों का संरक्षण करने के लिए आवश्यक प्रयासों के बारे में सरकार को सुझाव देना। (३) करों के प्रभावों के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देना; अध्ययन करना और उन एकाधिकारों, साझेदारियों तथा व्यापार पर लगाए गये अन्य प्रतिबन्धों का अध्ययन करना जो संरक्षित उद्योगों को प्रभावित कर सकते हैं।

नवम्बर, १९४८ में सरकार ने एक अन्य प्रस्ताव प्रसारित करते हुए बताया कि महत्वपूर्ण उद्योगों के संरक्षण के लिए दावों का उसी प्रकार अध्ययन किया जाय जिस प्रकार युद्ध के समय किया गया था।

अगस्त, १९४७ तक प्रशुल्क मण्डल ने ३९ उद्योगों के दावों से सम्बन्धित अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसे नवम्बर, १९४७ में दुबारा संगठित किया गया और फरवरी, १९५० में इसने ४७ उद्योगों के सम्बन्ध में जांच की। मण्डल द्वारा जो विभिन्न सिफारिशें प्रस्तुत की गयी उनको सामान्य रूप से

सरकार ने मान लिया तथा तीन या चार मामलों को छोड़ कर मण्डल ने संरक्षण के रूप, समय तथा प्रसार आदि के बारे में जो सिफारिशें की उनको भी मान लिया गया।

प्रशुल्क नीति के लाभ

१९४७ तक भारत में प्रशुल्क सम्बन्धी नीति को अपनाया गया उसके अनुसार यहां के उद्योग धन्धों को कई प्रकार से लाभ हुआ:—

(१) विभेदात्मक संरक्षण नीति के अनुसार १९२४ से १९३४ तक भारतीय लोहा तथा इस्पात, सूती वस्त्र, चीनी, कागज, कृत्रिम रेशों आदि को संरक्षण प्रदान किया गया। फलतः इन उद्योगों ने पर्याप्त उन्नति की। इनकी प्रगति को देखकर इन पर से संरक्षण उठा लिया गया। इस प्रकार संरक्षण की नीति का पहला और महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि इससे विभिन्न उद्योगों ने उन्नति की। इस नीति के आधीन कुछ उद्योगों को संरक्षण प्रदान नहीं किया गया तथा दूसरी ओर कुछ उद्योग उन्नति नहीं कर सके।

(२) प्रशुल्क नीति के कारण रोजगार की स्थिति सुधरने लगी। जब संरक्षण के कारण देश में उद्योगों को सहारा दिया गया तो स्वाभाविक रूप से उनमें रोजगार के अवसर बढ़े। अनुमान है कि १९२३ से लेकर १९३७ तक संरक्षित उद्योगों में रोजगार लगभग डेढ गुना हो गया था।

(३) संरक्षण नीति से आर्थिक मन्दी का प्रभाव कम हो गया। जिन उद्योगों को संरक्षण प्रदान नहीं किया गया था वे आर्थिक मन्दी के कुप्रभाव से अपने आपको न बचा सके किन्तु संरक्षित उद्योगों ने निरन्तर अपना विकास किया। वे मन्दी के समय भी अपना उत्पादन बढाने लगे।

(४) संरक्षण की नीति ने कच्चे माल के उत्पादन को बढाया। जब सूती कपडे और चीनी उद्योग आदि को संरक्षण मिला तो कपास और गन्ने की मांग बढ गयी। इसके परिणामस्वरूप उनका उत्पादन भी बढ़ा। संरक्षण की नीति के कारण ही कच्चे माल के मूल्य स्थिर रह सके। उत्पादन की मात्रा बढ़ने से कच्चे माल की पैदावार और किस्म दोनों में सुधार हुआ।

(५) संरक्षित उद्योगों ने न केवल अपना और अपने लिए आवश्यक कच्चे माल का विकास किया वरन् इन्होंने अपने सहायक उद्योगों को पनपने के लिए भी सहायक उद्योग प्रदान किये। इस प्रकार प्रशुल्क नीति कई दृष्टियों से उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध हुई है।

प्रशुल्क नीति नियोजन के साधन के रूप में कार्य करती है। इसका महत्व साख नीति (Credit Policy) के समान है। ये दोनों नीतियां व्यापार एवं उद्योग पर तथा इनके द्वारा रोजगार पर दूरगामी प्रभाव डालती हैं। प्रशुल्क नीति मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित

करती है। वर्तमान समय में सरकारी व्यय पर्याप्त बढ़ते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति मे हमारी प्रशुल्क नीति ऐसी होनी चाहिये जो मुद्रा प्रसार को कम कर सके। जब तक एसा नहीं किया जाता तब तक भारत की विभिन्न योजनाओं के लिए वित्तिय साधन नहीं जुटाये जा सकते। प्रशुल्क नीति को ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि व्यक्तिगत क्षेत्र में बचत और विनियोगों को प्रतिबन्धित करें। असल में इसका उद्देश्य सरकारी और गैर सरकारी दोनों क्षेत्रों में विनियोगों को बढ़ाना है। यह कार्य प्रशुल्क नीति की सहायता से भली-प्रकार सम्पादित किया जा सकता है।

प्रशुल्क नीति के माध्यम से आय एवं सम्पत्ति के असमान वितरण को दूर करने के लिए भी प्रयास किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष करों को अच्छा नहीं समझा जाता और अधिक से अधिक अप्रत्यक्ष करों पर जोर दिया जाता है। हमारी आयात नीति इस प्रकार की है कि इसमें प्रत्येक वस्तु के लिये नियतांश निर्धारित करते समय वस्तु के उपयोग की आवश्यकता को देखा जाता है और उन वस्तुओं के स्थानापन्न की सम्भावनाओं को भी जिनकी मांग देश में ही संतुष्ट की जा सकती है। इसके लिए प्रशुल्क कर ६६ प्रतिशत तक और कभी तो १०० प्रतिशत लगाने की व्यवस्था की जा सकती है। जब एक उद्योग अतिरिक्त संरक्षण की आवश्यकता का अनुभव करता है तो इसके लिये वह प्रशुल्क आयोग से प्रार्थना करता है। निर्यात की दृष्टि से भी देश के व्यापार में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं। सरकार ने विभिन्न निर्यात सम्वधन परिषदें (Export Promotion Councils) स्थापित करदी हैं। राजकीय व्यापार निगम और विदेशों में हमारे प्रतिनिधि सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व १६५१ से भारत की व्यापारिक नीति

(India's Commercial Policy Before Independence)

भारत की व्यापारिक नीति का अर्थ उसकी विदेश व्यापार नीति से है। किसी भी देश की विदेश व्यापार नीति उसकी सामान्य आर्थिक नीति का ही एक अंग होती है। जब कभी एक देश की सामान्य आर्थिक नीति में परिवर्तन होता है तो उसके विदेश व्यापार की नीति भी परिवर्तित हो जाती है। पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाकर भारत ने अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए कुछ नये तरीके अपनाये जिसके परिणामस्वरूप देश के विदेश व्यापार की नीति में भी मूलभूत परिवर्तन आए। पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ से भारत की विदेश नीति का जो रूप रहा, उसका अध्ययन करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में स्वतन्त्रता के पूर्व की व्यापारिक नीति का अध्ययन

करना उपयुक्त रहेगा। १९२३ से पूर्व भारत ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति (Free Trade Policy) को अपनाया था। इस नीति के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन के हितों की साधना उचित प्रकार से की जाती थी। ग्रेट ब्रिटेन ने इसे न केवल अपने देश की नीति घोषित किया वरन् भारत को भी इसका अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अनुसरण ने भारतीय व्यापार को वह रूप प्रदान किया जो कुछ अंशों में आज तक कायम है। इसके तहत भारत के निर्यातों में औद्योगिक कच्चा माल एवं कृषि उपज बहुत अधिक बढ़ गयी और आयातों मे निर्मित वस्तुओं की मात्रा बढ़ी।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद सरकार को यह स्पष्ट हो गया कि निर्बाध व्यापार की नीति भारत के लिए एक गम्भीर खतरा है। १९२३ में एक प्रशुल्क आयोग स्थापित किया गया, जिसने यह सुझाव दिया कि शिशु उद्योगों के लिए तटकरों एवं विभेदात्मक संरक्षण की छाया प्रदान की जानी चाहिए। इसके लिए प्रशुल्क मण्डल स्थापित किया गया और स्वतन्त्र व्यापार की नीति को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी गयी। इसके द्वारा कई उद्योगों को संरक्षण मिला। चीनी उद्योगों को इस दृष्टि से प्राथमिकता मिली। फलतः चीनी के आयात और निर्यात प्रभावित हुए और जावा से किए जाने वाले चीनी के आयात की मात्रा गम्भीर रूप से कम हो गयी।

१९२९ की महान मन्दी (Great Depression) के कारण दुनिया के सभी देशों में कठिनाई उत्पन्न हो गयी। संसार की मांग में सामान्य रूप से गिरावट आ गयी और कृषि-उपजों का मूल्य कम हो गया। कृषि सम्बन्धी वस्तुयें भारत के विदेश व्यापार की मुख्य मदें थीं। ऐसी स्थिति में यहां के विदेशी व्यापार की मात्रा और मूल्य पर्याप्त कम हो गये। आर्थिक मन्दी के समय ग्रेट ब्रिटेन ने साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) की प्रणाली को अपनाया ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से व्यापार बढ़ाने का प्रयास किया जाए।

भारत ने साम्राज्य अधिमान की नीति का विरोध किया क्योंकि भारत के पास साम्राज्य को देने के लिए और अधिक कुछ न था और जो कुछ भी था उसके बदले प्राप्तियां बहुत कम हो सकती थी। भारत को यह भय था कि यदि साम्राज्य को विशेष सुविधा दी गयी तो दूसरे देश उसके प्रति कड़ा दृष्टिकोण अपना सकते हैं। न चाहते हुए भी भारत को १९२७ मे साम्राज्य अधिमान की नीति के तहत ग्रेट ब्रिटेन को फौलाद एवं सूती वस्त्र पर सुविधायें देनी पड़ी। इसके सम्बन्ध में भारत को एक समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

ओटावा समझौता—१९३२ में ओटावा में साम्राज्य के विभिन्न देशों ने एक आर्थिक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में पारस्परिक सुविधायें देने के आधार पर विभिन्न व्यापारिक समझौते किये गये। भारत को साम्राज्य अधिमान के विरुद्ध होते हुए भी सम्मेलन में भाग लेना पड़ा। २० अगस्त, १९३२ को भारत तथा इंगलैण्ड की सरकारों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसे ओटावा समझौता (Ottawa Pact) के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के पक्ष और विपक्ष में एक मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई।

पक्ष में तर्क—ओटावा समझौता के पक्ष में यह कहा गया कि भारत के निर्यात व्यापार में आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप पर्याप्त हानि हो रही थी। कच्चे माल के दाम में भारी गिरावट आ गयी थी। इसके अलावा यातायात के साधनों का विकास होने के कारण दूसरे देशों का माल भी बाजारों में आने लगा था। विभिन्न देशों ने आत्म-निर्भरता की दृष्टि से आयात-नियंत्रण लगाए और कई वस्तुओं के लिए स्थानापन्नों का विकास किया। ऐसी स्थिति में भारत के निर्यात स्वाभाविक रूप से घट गए। फलतः यह समझौता उपयुक्त था। अन्य बात यह कही गई कि विश्व के विभिन्न देशों में मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयां थी, जिनसे वे निकल नहीं पा रहे थे, किन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देश इन कठिनाइयों से पहले ही निकल चुके थे। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने आयातों पर विभिन्न कर लगा दिए थे और साम्राज्य के देशों को यह विकल्प दिया कि यदि वे ब्रिटेन के साथ समझौता कर लें तो इन प्रतिबन्धों से मुक्त रहेंगे। यदि भारत इस समझौते में भाग नहीं लेता तो इंगलैंड द्वारा कठोर नीति अपनाई जाती और वह विश्व बाजार में नहीं टिक पाता।

विपक्ष में तर्क—ओटावा समझौते के विपक्ष में भी अनेक तर्क दिए गये—(१) यह कहा गया कि इससे भारतीय व्यापार स्वाभाविक स्थिति से हट जाएगा। (२) जब ब्रिटेन को विशेष सुविधाएं दी जाएंगी तो निश्चय ही करों में कमी करनी होगी और इसलिए देश की आय कम हो जाएगी। (३) भारत के औद्योगिक विकास की दृष्टि से यह आवश्यक था कि ग्रेट ब्रिटेन के आयातों से इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाए। भारत को अपना विदेशी व्यापार बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों के साथ विभिन्न व्यापार समझौते करने की आवश्यकता थी किन्तु वह साम्राज्य अधिमान की नीति को अपनाने पर ऐसा नहीं कर सकता था। (४) इस तर्क को गलत बताया गया कि ब्रिटेन भारत के प्रति कड़ा रुख अपनायेगा क्योंकि वह भारत का प्रमुख लेनदार था। यहां से आयात करने पर ही उसे पर्याप्त भुगतान मिल सकता था।

पक्ष और विपक्ष में तर्क होते हुए भी भारत ओटावा समझौते में शामिल हुआ। इस समझौते को इस तरह बनाया गया था कि भारत की अपेक्षा यह इंगलैंड के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। भारतीय जनता एवं विद्वानों ने इस समझौते की कटु आलोचना की। इसके परिणामस्वरूप इसे १९३६ में समाप्त कर दिया गया। इस वर्ष इस समझौते के स्थान पर एक नया भारत ब्रिटिश समझौता सम्पन्न हुआ। यह ब्रिटेन के पक्ष में था और भारत के हितों पर ध्यान नहीं दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर व्यापार पर कड़े नियन्त्रण लगाये गये। साम्राज्य अधिमान आज भी कायम है किन्तु आज इन्हें राष्ट्रमण्डल अधिमान कहा जाता है। आज यह किसी विशेष देश के हित की दृष्टि से नहीं वरन् पारस्परिक लाभ की बात है।

ओटावा समझौते के बाद भारत ने द्विपक्षीय व्यापार समझौतों में बंधना प्रारम्भ किया। १९४१ में भारत-जापान व्यापार समझौता हुआ। आज विश्व के अधिकांश प्रमुख देशों के साथ हमारे द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते हैं। द्विपक्षीय व्यापार की प्रणाली बहुपक्षीय व्यापार की अपेक्षा नवीन है। द्विपक्षीय व्यापार ममझौते दो देशों अथवा फर्मों के बीच वस्तुओं के सीधे विनिमय के लिये किये जाते हैं। इनमें भुगतान की आवश्यकता नहीं होती। इनका मुख्य लक्ष्य विदेशी विनिमय के नियमन के लिये व्यापार की इस तरह व्यवस्था करना होता है कि आयात और निर्यात के बीच संतुलन स्थापित हो जाय।

स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भारत ने विश्व के अनेक देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये। उदाहरण के लिये यूगोस्लाविया, हंगरी, स्विट्जरलैण्ड, मिस्र, अर्जेन्टाईना, सोवियत रूस आदि। द्विपक्षीय व्यापार समझौते करते समय जिन मुख्य उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया है वे ये हैं—

(१) भारत को आवश्यक वस्तुएं, जैसे खाद्यान्न और मशीनें आदि, प्राप्त हो सकें।

(२) डालर देशों से आवश्यक वस्तुओं के आयात सुलभ मुद्रा वाले देशों को मोड़ जा सके।

(३) निर्यात में अधिक से अधिक वृद्धि हो ताकि भुगतान संतुलन के घाटे को कम किया जा सके।

(४) जिन देशों में विदेशी व्यापार सरकार द्वारा किया जाता है उनके साथ व्यापार को सुविधाजनक बनाना। इस प्रकार के देशों से

व्यापार केवल द्विपक्षीय व्यापार समझौतों के आधार पर ही बढ़ाया जा सकता था।

(५) विभिन्न देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना।

वर्तमान परिस्थितियों में द्विपक्षीय व्यापार समझौते भारत के लिये विशेष रूप से लाभदायक हो सकते हैं क्योंकि आर्थिक विकास की योजनाओं को पूर्णता प्रदान करने के लिये यह जरूरी है कि आवश्यक वस्तुएं जहां भी मिल सकें प्राप्त की जायं।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन
(India and International Trade Organisation)

स्वतन्त्रता के बाद भारत ने विदेशों में नये बाजार खोजने और निर्यात व्यापार को विविधता प्रदान करने के लिये ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के अतिरिक्त देशों के साथ भी विभिन्न समझौते किये। पंचवर्षीय योजनाओं के काल में भारत ने अनेक ऐसे देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये जो भारत से चाय, जूट का सामान, हाथ-कर्घा और कुटीर उत्पादन को खरीद कर बदले में पूंजीगत सामान तथा अन्य कच्चा माल देने के लिये तैयार थे। द्विपक्षीय व्यापार समझौतों को सामान्य रूप से अपनाते हुए भी भारत ने व्यापार और प्रशुल्क पर सामान्य समझौते (GATT) की सदस्यता स्वीकार की है। इस समझौते का मसविदा १९४७ में २३ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जेनेवा की बैठक में तैयार किया। यह समझौता अस्थाई आधार पर १ जुलाई, १९४८ से व्यवहार में लाया गया।

इस सामान्य समझौते के अन्तर्गत भारत को जो प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें प्राप्त हुई थीं, उनका निरीक्षण तथा जांच भारतीय प्रशुल्क आयोग ने भली प्रकार की। आयोग का मत था कि भारतीय व्यापार पर इन रियायतों के प्रभाव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतने पर भी आयोग का विचार था कि जब तक इस सामान्य समझौते (GATT) का भविष्य ज्ञात न हो जाय भारत को इसका विरोध नहीं करना चाहिये। प्रशुल्क आयोग ने यह सिफारिश की थी कि भारत को जिन वस्तुओं पर रियायतें प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये वे हैं— (१) निर्मित माल, (२) वे वस्तुएं जो विश्व बाजार में प्रतिद्वन्द्विता कर सकें, और (३) वे वस्तुएं जो विश्व बाजार में अपनी स्थानापन्न वस्तुओं से प्रतिद्वन्द्विता कर सकें। भारत को जिन वस्तुओं पर रियायतें देनी चाहिये उनमें उत्पादक माल, अन्य मशीनरी एवं प्रसाधन तथा प्रमुख कच्चे माल का नाम लिया गया। आयोग की एक

अन्य सिफारिश यह थी कि कुटीर तथा लघु उद्योगों की उन्नति आवश्यक है। अत: इनके विषय मे अधिक से अधिक रियायतें प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिये।

भारत को इस सामान्य समझौते की सदस्यता से अत्यन्त लाभ हो रहा है क्योंकि वह केन्द्रीय आर्थिक नियोजन के माध्यम से शीघ्र आर्थिक विकास के लिये प्रयत्नशील है। इस सदस्यता के कारण भारत को अन्य उन्नत राष्ट्रों से प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें प्राप्त हो रही हैं और दूसरी ओर वह अपने अल्प विदेशी विनिमय कोषों को सुरक्षित रखने के लिये परिमाणात्मक आयात प्रतिबन्ध लगाने के लिये स्वतंत्र है।

भारत और यूरोपीय साझा बाजार

(India and European Common Market)

ग्रेट ब्रिटेन यूरोपीय साझा बाजार का सदस्य न होने के कारण शेष पश्चिमी यूरोप के देशों से कुछ पृथक रह गया। ऐसी स्थिति में अपने हितों की रक्षा के लिये वह गैर-यूरोपियन देशों के निकट आने को अधिक उपयुक्त मानता है।

ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के विभिन्न देशों ने ग्रेट ब्रिटेन के इस प्रयास की निन्दा की है कि वह यूरोपीय साझा बाजार का सदस्य बनने को उत्सुक है। कनाडा का मत है कि ऐसा होने पर उसके वार्षिक निर्यातों के ७५ प्रतिशत भाग पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया को भी इस प्रकार का भय है। ग्रेट ब्रिटेन राष्ट्र मण्डल के अपने साथियों से सम्बन्ध बिगाड़ना नहीं चाहता और इसलिए वह इनको साझा बाजार में प्रवेश दिलाने के लिये प्रयत्नशील है। साझा बाजार में ग्रेट ब्रिटेन की सदस्यता को भारत भी अपने हितों के विपरीत मानता है। ग्रेट ब्रिटेन हमारे माल का सबसे बड़ा ग्राहक है। देश के कुल निर्यातों का ८० प्रतिशत भाग वह खरीदता है। कपड़े के कुल निर्यात के ५० प्रतिशत का खरीददार ग्रेट ब्रिटेन है। इसके अतिरिक्त चाय, तम्बाकू, चमड़ा और जूट से देश को जो कुल आय होती है उसका ६० प्रतिशत भाग ग्रेट ब्रिटेन से ही मिलता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई बात ग्रेट ब्रिटेन को होने वाले निर्यातों को कम करती है तो वह निश्चय ही देश के आर्थिक हितों के विपरीत होगी। इस समय ग्रेट ब्रिटेन के बाजारों में भारतीय वस्त्रों को १७.५ प्रतिशत राष्ट्र मण्डल अधिमान(Commonwealth Preference) प्राप्त है। यदि ग्रेट ब्रिटेन साझा बाजार में शामिल हो गया तो भारतीय वस्त्र को जापान और चीन के साथ कटु स्पर्धा करनी होगी।

हानियां—कपड़े के अतिरिक्त दूसरी अनेक भारतीय वस्तुएं भी ब्रिटिश बाजार में कर-मुक्त रूप में प्रवेश कर सकती हैं किन्तु यदि ग्रेट ब्रिटेन साझा बाजार

में शामिल हो गया तो इससे ये रियायतें समाप्त हो जायेंगी। ग्रेट ब्रिटेन के योरोपीय साझा बाजारों में प्रवेश से भारत को जो सम्भावित हानियां हो सकती हैं। उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

(१) ब्रिटेन को होने वाले भारतीय निर्यातों की मात्रा कम हो जायेगी।

(२) ग्रेट ब्रिटेन द्वारा योरोपीय माल के प्रवेश को अधिमान दिया जायेगा।

(३) जब ग्रेट ब्रिटेन इस साझा बाजार के गैर-सदस्यों के विरुद्ध विभेदात्मक प्रशुल्क नीति अपनायेगा तो समुद्र पार के देशों से उसके आयात बढ़ेंगे और वे भारतीय निर्यात का स्थान ले लेंगे।

(४) साझा बाजार में सम्मिलित होने पर ब्रिटिश उद्योग अधिक कुशल हो जायेंगे और सम्भव है कि विश्व बाजार में भारत के प्रतिद्वन्द्वी बन जायें।

(५) भारतीय व्यापार पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव के परिणाम-स्वरूप भारत में विदेशी मुद्रा की उपलब्धता घट जायेगी और योजनाओं की गति मन्द पड़ जायेगी।

लाभ—ग्रेट-ब्रिटेन के योरोपीय साझा बाजार में शामिल होने से यद्यपि भारत को उपर्युक्त हानियां होने की सम्भावना है किन्तु इससे कुछ लाभ होने की आशा भी की जा सकती है (१) जब ब्रिटेन साझा बाजार में सम्मिलित हो जायेगा तो निश्चय ही वहाँ की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और वहां के लोग भारतीय निर्यात की वस्तुओं की अधिक मांग करने लगेंगे। (२) ब्रिटिश उद्योगों की कुशलता बढ़ने से उनकी उत्पादन लागतें कम हो जायेंगी और भारत को ब्रिटिश आयात कम कीमत पर प्राप्त हो सकेंगे। (३) साझे बाजार में ग्रेट ब्रिटेन के प्रवेश से भारतीय वस्तुओं के लिये वहाँ एक समर्थक मिल जायेगा और इस प्रकार उसे अधिक बाजार प्राप्त हो सकेंगे। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी कही जाती है कि यदि ग्रेट ब्रिटेन साझा बाजार में प्रवेश न करे तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि भारत के हितों की रक्षा होती रहेगी। वास्तविकता तो यह है कि ब्रिटेन में भारतीय निर्यातों की मात्रा अभी से घटने लगी है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ब्रिटेन के योरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने से चाहे भारतीय हितों को आघात पहुंचता हो किन्तु दीर्घकाल में सम्भवतः भारत इससे लाभान्वित होगा। भारत की वर्तमान व्यापारिक नीति यह है कि कुछ उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाय और शेष पर से प्रशुल्कों को घटाया जाय।

आयात के क्षेत्र में व्यापार नीति

(Commercial Policy in Imports)

भारत की व्यापारिक नीति किसी भी अन्य देश की भाँति उसकी आवश्यकताओं और महत्वाकांक्षाओं से प्रेरणा तथा निर्देशन प्राप्त करती है। वस्तु स्थिति यह है कि भारत को पर्याप्त विदेशी विनिमय की अपरिहार्य आवश्यकता है किन्तु इसके पास साधन स्रोतों की कमी है जहां से यह आवश्यकता पूरी की जा सके। भारत नियोजित रूप से अपनी अर्थ-व्यवस्था को ढालकर विकास कार्यक्रमों को द्रुत गति से आगे बढ़ाना चाहता है। यही कारण है कि उसने व्यापारिक नीतियों का निर्धारण इस रूप में किया है कि वे उसकी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें तथा महत्वाकांक्षाओं को पूरा कर सकें।

एक विकासशील देश होने के नाते भारत का उद्देश्य न केवल वर्तमान कारखानों को ही चालू रखना था वरन मूल तथा भारी उद्योगों की स्थापना करना भी था। विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिये पर्याप्त आयातों की आवश्यकता थी और ये आयात केवल पर्याप्त विदेशी विनिमय होने पर ही किए जा सकते थे। ऐसी स्थिति में कठोर आयात-नियन्त्रण लगाए गए जिनके भविष्य में हटने की कोई सम्भावना नहीं है।

आयातों पर लगाए गये नियन्त्रण नये नहीं हैं। इनको सर्वप्रथम भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत १६४० में युद्धकालीन कार्यक्रम के रूप में अपनाया गया था। प्रारम्भ में यह नियन्त्रण केवल कुछ वस्तुओं पर ही लगाया गया, किन्तु भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विनाश और विदेशी विनिमय की बचत के लिए आयात नियन्त्रण का क्षेत्र बढ़ाना पड़ा। १६४७ में आयात-निर्यात नियन्त्रण कानून बनाया गया। इस कानून को २५ मार्च, १६४७ से लागू किया गया। इसके सम्भाग ३ और ४ (अ) द्वारा दी गयी शक्तियों के अनुसार भारत सरकार ने आयात (नियन्त्रण) आदेश, १६५५ प्रसारित किया। यह आदेश तथा अधिनियम वह धुरी हैं जिसके चारों ओर आयात व्यापार नियन्त्रण का सारा चक्र घूमता है।

इस समय आयात नियन्त्रण में प्रायः सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं को सम्मिलित कर लिया गया है। आज बिना अनुज्ञप्ति के किसी प्रकार की वस्तु का आयात नहीं किया जा सकता। आयात (नियन्त्रण) आदेश १६५५ की अनुसूची—१ में इन वस्तुओं की एक लम्बी सूची दी गयी है। आयात नियन्त्रण का उद्देश्य विदेशी विनिमय को न्यायपूर्ण रूप से खर्च करना है। इसके अतिरिक्त नियन्त्रण द्वारा विभिन्न उद्योगों के सापेक्षिक महत्व और

आवश्यकताओं को देखते हुए उपलब्ध विदेशी विनिमय के साधनों का बुद्धिपूर्ण वितरण किया जाता है।

आयात-नियन्त्रण की नीति द्वारा आरामदायक चीजों के आयात पर रोक लगा दी गयी है। इस सम्बन्ध में औद्योगिक तथा गैर-औद्योगिक दोनों ही प्रकार के उपभोक्ताओं से यह कहा गया है कि वे उपलब्ध घरेलू साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करें ताकि आयात कम से कम किये जा सकें। जो योजनाएं देश के सम्भावित निर्यातों को प्रोत्साहन देती हैं तथा आयातों की बचत करती हैं उनको क्रियान्वित करने पर जोर दिया जाता है। आयात करते समय निर्यात करने वाले तथा रक्षा सम्बन्धी उद्योगों को विशेष रूप से महत्व दिया जाता है।

निर्यात के क्षेत्र में व्यापार नीति

(Commercial Policy in Exports)

स्वतंत्रता के बाद भारत को अपने निर्यातों की मात्रा बढ़ाने की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना पड़ा। समस्या केवल स्थिर निर्यातों को बनाए रखने की ही नहीं थी वरन् उनको तेजी से बढ़ाना जरूरी था। निर्यातों को बढ़ाये बिना देश की अर्थ व्यवस्था में वांछनीय परिवर्तन नहीं आ सकते थे। निर्यात वृद्धि की समस्या जितनी अधिक महत्वपूर्ण थी वह उतनी ही अधिक दुःसाध्य भी थी। इस दिशा में जो भी प्रयत्न किये गये वे वांछनीय रूप से सफल न हो सके।

निर्यात वृद्धि के साधनों की असफलता

भारतीय निर्यात को बढ़ाने की दृष्टि से अब तक जो प्रयास किये गये हैं वे जिन विभिन्न कारणों से असफल हुए उन सभी का उल्लेख करना अत्यन्त कठिन है किन्तु फिर भी इनमें से कुछ मुख्य कारणों का उल्लेख किया जा सकता है जो निम्न प्रकार हैं—

(१) स्वतन्त्रता के बाद से देश में प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है और उपभोक्ताओं की प्राथमिकतायें पर्याप्त बदल गयी हैं। शहरीकरण के कारण लोगों की जरूरतें बढ़ी हैं। बढ़ी हुई जरूरतों को पूरा करने के बाद निर्यात के लिए बहुत कम माल बच पाता है।

(२) व्यापारियों में यह प्रवृत्ति घर करती जा रही है कि निर्यातों की अपेक्षा घरेलू बाजारों में ही अधिक लाभ कमाया जाय। जब व्यापारी को अपने उत्पादनों का यथोचित लाभ देश में ही प्राप्त हो जाता है तो फिर विदेशों में निर्यात करने की जोखिम क्यों उठाई जाय।

(३) मुद्रा स्फीति (Inflation) के कारण निर्यात किये जाने वाले माल

की उत्पादन लागत बढ़ गयी है और इसलिए विदेशों में उसकी कीमत भी अधिक हो गयी है। ऐसी स्थिति में भारतीय माल विदेशी उपभोक्ताओं के लिए अधिक आकर्षक नहीं रह गया है।

(४) विभिन्न संरक्षणात्मक व्यवस्थापन किये गये हैं (जैसे–Minimum Price Laws) जिनके परिणामस्वरूप निर्यात लागत में वृद्धि हो गयी है। इससे भी निर्यातों को हतोत्साहित किया गया है।

(५) निर्यात तथा निर्यात-उद्योगों के विकास को रोकने वाली ऐसी अनेक संरचनात्मक कठिनाइयां और कठोरतायें हैं जिन्होंने निर्यात की मात्रा को पर्याप्त घटा दिया है।

(६) भारतीय निर्यात कम होने का एक मुख्य कारण यह है कि विश्व बाजार में कुछ भारतीय वस्तुओं की मांग पर्याप्त घट गयी है।

(७) कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जिनका निर्यात पहले केवल भारत द्वारा किया जाता था किन्तु अब दूसरे देशों ने भी उन्हें अपने निर्यात का विषय बना लिया है और इसलिए इन वस्तुओं की मांग भारत की अपेक्षा दूसरे देशों की ओर मुड़ गयी।

(८) विदेश व्यापार के क्षेत्र में निरन्तर दूसरे देशों के साथ जो प्रतिस्पर्द्धा बढ़ रही है उसने भी भारत के निर्यातों को घटाने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

(९) भारत में व्यापारी वर्ग निर्यात के प्रति रुढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाता है और पर्याप्त उदासीनता बरतता है ऐसी परिस्थिति में निर्यात वृद्धि की सम्भावनायें बहुत कम हो जाती हैं।

कुछ उपयोगी सुझाव

निर्यातों को बढ़ाने के लिए सरकार को क्या करना चाहिए तथा उसे किस प्रकार की नीति का अनुगमन करना चाहिए इस सम्बन्ध में अनेक उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(१) निर्यात के योग्य वस्तुओं का चयन किया जाय और इसके बाद देश में इन वस्तुओं की आवश्यकता को घटाया जाय तथा इनके उत्पादन को अधिक किया जाय।

(२) निर्यात के लिए पर्याप्त सहायता प्रदान की जाय।

(३) निर्यात के लिए उद्योगों का चयन करते समय पर्याप्त न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाय। जिन उद्योगों को उपयुक्त समझा जाय केवल उन्हीं को निर्यात के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(४) देश में उत्पादन के साधनों तथा अतिरिक्त क्षमता को निर्यातों की दृष्टि से प्रयुक्त किया जाय।

(५) निर्यात की दृष्टि से यह भी उपयोगी माना जाता है कि लाइसेन्स प्रक्रियाओं, चुंगीकर की औपचारिकताओं तथा विनिमय नियन्त्रण की सुविधाओं को सरल बनाया जाय।

(६) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में अनेक गुणों पर पर्याप्त जोर दिया जाय। इस दृष्टि से कठोर नियन्त्रण लागू करना वांछनीय है।

(७) विदेशों में स्थित सम्पर्क सेवाओं को सुधारा जाय।

(८) परम्परागत वस्तुओं का निर्यात करने से होने वाली प्राप्तियों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय।

(९) निर्यात उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल आदि के आयात की पूरी-पूरी सुविधायें दी जायें।

(१०) निर्यात के लिए नयी वस्तुओं तथा नये बाजारों की खोज की जाय।

(११) विदेशों में उपभोक्ताओं की शुभकामनाएं प्राप्त की जाय और आक्रमणकारी प्रतिस्पर्धा पूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाय।

(१२) निर्यात सम्बन्धी नीतियों को नियोजित करते समय पर्याप्त सावधानी एवं दूरदर्शिता को अपनाया जाय।

(१३) लोगों को निर्यात के महत्व की शिक्षा दी जाय और बढ़े हुए निर्यात से प्राप्त होने वाले लाभों का परिचय उन्हें कराया जाय।

(१४) बिक्री के लिए आधुनिकतम तरीकों तथा तकनीकों को अपनाया जाय।

(१५) बिक्री के बाद कुशल सेवा प्रदान करने की व्यवस्था की जाय।

सरकारी प्रयास

सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न कार्यक्रम तथा योजनायें बनाईं। देश के निर्यात व्यापार को शीघ्र प्रसारित करने के लिए ऐसी नीतियां अपनाई गयी जिन्होंने निर्यात व्यापार के रूप को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। अनेक मदों पर से या तो नियन्त्रण को पूर्णरूपेण हटा दिया गया अथवा उसे उदार बना दिया गया। इसके अतिरिक्त निर्यात प्रक्रिया की बुराइयों को दूर करने के लिए भी सरकार ने अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये। निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने जो विनिमय नीतियां अपनाई हैं तथा प्रेरणा प्रदान की हैं, उनके विभिन्न लक्ष्य रहे हैं। जैसे—

(१) निर्यात के लिए नयी चीजों की खोज करना।

(२) नये बाजार प्राप्त करना।

(३) औद्योगिक दृष्टि से जिन विकसित क्षेत्रों की खपत की आवश्यकतायें बढ़ जाती हैं उनको सन्तुष्ट करना।

(४) परम्परागत चीजों के निर्यात को ऐसी दिशाओं में ले जाना जहां वह अभी तक नहीं गया है।

(५) देश के समस्त उपलब्ध साधनों को निर्यात की वृद्धि के लिए लगा देना।

(६) निर्यातकर्त्ताओं को सजग करने के लिए समय-समय पर सूचनायें देना और विदेशों में प्रतिस्पर्धा करने के हेतु उत्पादन लागत कम करने का सुझाव देना।

(७) अदृश्य निर्यात (जैसे पर्यटकों से होने वाली आय) को प्रोत्साहन देना।

(८) निर्यातकर्त्ताओं को अनुशासित होने की शिक्षा प्रदान करना।

(९) निर्यात साख की लागत कम करना आदि-आदि।

सरकार ने निर्यात पर से नियन्त्रण को कम करने और निर्यात सम्बन्धी प्रक्रियाओं को सरल बनाने के अतिरिक्त विभिन्न संस्थाओं की स्थापना की है जो निर्यात को प्रोत्साहित करती हैं। ये संस्थायें जो सुविधायें प्रदान करती हैं उनका क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। ये निर्यात व्यापार के प्रायः सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखती हैं। सरकार द्वारा निर्यातकर्त्ताओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाये गये हैं।

निर्यातकर्त्ताओं को दी गयी सुविधायें तथा प्रेरणायें

देश में निर्यात की मात्रा केवल तभी बढ़ सकती है जब निर्यातकर्त्ताओं को पर्याप्त आवश्यक सुविधा प्रदान की जाय। भारत सरकार ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए विभिन्न तरीकों से निर्यातकर्त्ताओं को प्रोत्साहित किया है। जैसे—

(१) चुंगीकर घटा दिये हैं।

(२) आबकारी करों को कम कर दिया गया है।

(३) रेल के भाड़े में कमी कर दी गयी है।

(४) जिन रेलों द्वारा निर्यात होने वाला माल एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है उन्हें प्राथमिकता दी जाती है। निर्यातकर्त्ता उद्योगों को कच्चा माल और पूंजीगत माल उपलब्ध कराने के

लिए आयात अनुज्ञप्तियां प्रदान करते समय पर्याप्त उदार नीतियां अपनाई जाती हैं।

(५) निर्यातकर्त्ताओं को निर्देशन एवं सहायता प्रदान करने के लिए विभिन्न परिषदें तथा परामर्शदाता निकाय खोले जाते हैं।

(६) ऐसे फोरम खोले गये हैं जहां निर्यातकर्ता अपनी कठिनाइयों को अभिव्यक्त कर सकें और उन्हें दूर करने के लिए स्वयं सुझाव भी प्रस्तुत कर सकें।

(७) निर्यातकर्त्ताओं को व्यापारिक उद्देश्यों से विदेशों का भ्रमण करने के लिए विदेशी मुद्रा प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मेलों तथा प्रदर्शनियों में भाग लेने के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

(८) विदेशों मे स्थित बिजनेस हाऊसेज का रजिस्टर रखा जाता है।

(९) भारतीय माल का निर्यात करने वालों की निर्देशिका प्रकाशित की जाती है।

(१०) व्यापारिक झगड़ों को सुलझाने के लिए पंच निर्णय का प्रबन्ध किया जाता है।

(११) सरकार द्वारा विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये जाते हैं और समझौते करने के बाद सरकार निर्यातकर्त्ताओं को यह बता देती है कि समझौता करने वाले देश भारत से कौनसी वस्तुयें प्राप्त करना चाहते हैं।

(१२) निर्यात किये जाने वाले माल के गुणों का स्तरीकरण कर दिया गया है। इन सब प्रयासों से निर्यातकर्त्ताओं को प्रोत्साहित करने की चेष्टा की गयी है।

प्रशुल्क आयोग
(Tariff Commission

स्वतन्त्रता के बाद २० अप्रेल, १९४९ को श्री टी. टी. कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) नियुक्त किया गया। इस आयोग के प्रतिवेदन में यह सिफारिश की गई कि एक प्रशुल्क आयोग स्थापित किया जाय। १९५१ में एक प्रशुल्क आयोग अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार प्रशुल्क आयोग को जन्म मिला। इस आयोग में कम से कम तीन और अधिक से अधिक पांच पूर्णकालीन सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इन्हीं में से एक को सभापति मनोनीत कर दिया जाता है। इसके सदस्य तीन वर्ष

के लिए पद पर रहते हैं किन्तु उनको दुबारा नियुक्त किया जा सकता है। आयोग के कार्य प्रशुल्क मण्डल से अधिक व्यापक रखे गये हैं। सरकार के कहने पर आयोग संरक्षण के लिए विभिन्न उद्योगों द्वारा किए गए दावों की जांच कर सकता है। इन उद्योगों में स्थापित उद्योग तथा वे उद्योग भी आते हैं जिन्होंने अभी उत्पादन प्रारम्भ नहीं किया है किन्तु संरक्षण प्रदान किए जाने पर प्रारम्भ करने वाले हैं। यह विशेष वस्तुओं से सम्बन्धित कीमत के विषय में प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकता है चाहे वे वस्तुयें संरक्षित हों अथवा न हों। एक उद्योग को संरक्षित करने के लिए चुंगी करों में वृद्धि या कमी के लिए भी प्रतिवेदन दे सकता है। यदि कोई उद्योग संरक्षण का अनुचित लाभ उठाए तो उसे रोकने के लिए और यदि वह उद्योग अपने विकास में बाधा का अनुभव करे तो उसे प्रोत्साहित करने के लिए आयोग द्वारा प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाएगा। आयोग द्वारा इस बात पर भी विचार किया जाएगा कि एक उद्योग को संरक्षण दिए जाने से दूसरे उद्योगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा तथा इससे उन उद्योगों के उत्पादन की मात्रा एवं गुण किस प्रकार प्रभावित होते हैं। यह प्रत्येक उद्योग की आवश्यकता के अनुसार संरक्षण के काल का निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र होती है। इस पर युद्धोत्तर प्रशुल्क मण्डल की भांति यह प्रतिबन्ध नहीं है कि तीन वर्ष से अधिक के लिए संरक्षण की सिफारिश न कर सके।

इस प्रशुल्क आयोग को एक स्वतन्त्र तथा स्थायी संस्था बनाया गया। यह अर्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial) रूप से कार्य करता है। इस दृष्टि से इसके कुछ विशेषाधिकार हैं। यह आवश्यक रूप से बयान ले सकता है। आयोग द्वारा की गई सिफारिशों पर सरकार को तीन महीने में अपना निर्णय लेना होता है। प्रशुल्क आयोग के प्रतिवेदन में स्पष्टता एवं पूर्णता का होना अनिवार्य है ताकि सारी जनता परिस्थिति से परिचित हो सके।

१९५१ के एक्ट की धारा २७ के अनुसार २१ जनवरी, १९५२ को भारत सरकार द्वारा तीन सदस्यों का एक स्थायी वैधानिक प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया गया। इसके एक सदस्य को सभापति मनोनीत किया गया। प्रशुल्क आयोग स्वयं अपनी ओर से भी जांच प्रारम्भ करने का अधिकार रखता है। यदि सरकार इसकी सिफारिशों पर कोई कार्यवाही न करे तो उसे इसका स्पष्टीकरण देना होता है। जांच करने तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए सरकार द्वारा प्रशुल्क आयोग के सम्मुख कई प्रकार के कार्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं जैसे—किसी उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए

संरक्षण प्रदान करना, संरक्षण प्रदान करते समय उसके आयात करों एवं निर्यात करों में परिवर्तन करना, राशिपातन एवं संरक्षण के प्रभाव का अध्ययन करना, संरक्षण के दुरुपयोग के विरुद्ध जांच करना, संरक्षण से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रश्नों पर विचार करना आदि-आदि।

प्रशुल्क आयोग की कार्यप्रणाली एवं सफलतायें
(Working and Success of Tariff Commission)

प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण के दावों से सम्बन्धित उन अनेक मामलों को विचारार्थ लिया जिन पर पूर्व स्थित प्रशुल्क मण्डल विचार कर रहा था। इनमें ऊनी बनियान सम्बन्धी तथा बाल बीयरिंग उद्योग भी थे। इसके अतिरिक्त आयोग को ऐसे ४२ मामले सौंपे गये जिनको संरक्षण प्राप्त था। प्रशुल्क सम्बन्धी जांच के बारे में आयोग ने जिन मामलों पर विचार किया वे इस प्रकार थे—

The Year	Fresh Cases	Continued Cases	Total	Price Inquiries
१	२	३	४	५
१९५३–५४	४	११	१५	३
१९५४–५५	५	१७	२२	१
१९५५–५६	३	१७	२०	२
१९५६–५७	२	४	६	४
१९५७–५८	—	२२	२२	१
१९५८–५९	—	—	१४	२
योग	१४	७१	९९	१३

वर्ष १९५२–५३ में सरकार ने जो दावे आयोग के सामने प्रस्तुत किये उनमें स्वचालित उद्योग तथा कास्टिक सोड़ा एवं ब्लीचिंग पाउडर उद्योग को संरक्षण प्रदान करना, सुपर फोस्फेट के मूल्यों को निर्धारित करना, रबड़ के टायरों तथा ट्यूबों को बेचने की कीमत निश्चित करना, सीमेंट की कीमतों को परिवर्तित करना आदि बातें प्रमुख थीं। प्रशुल्क आयोग की अधिकांश सिफारिशें भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गयी। औजार तथा विशेष इस्पात उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षणात्मक कर की दर को बिना देरी किये ही समायोजित करने की बात कही गयी। सरकार ने सिफारिश को स्वीकार कर लिया। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि पेन्सिल उद्योग तथा स्टार्च उद्योग को संरक्षण दिया जाता रहे क्योंकि

ये अनेक मूल्यवान उद्योगों के आधार हैं जैसे पन्सिलिन, तेल, विटामिन, ग्लूकोज, रंग, वार्निश, प्लास्टिक और प्रोटीन आदि। मोटर यानों की बैटरी के उद्योग को दिया गया संरक्षण तीन वर्ष तक चलना था जो दिसम्बर, १९५५ में पूरा होता था। बाल बियरिंग उद्योग पर भी दो वर्ष तक संरक्षण रखा गया।

आयोग द्वारा की गई सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया। यदि वर्तमान मूल्यों में कोई फैक्ट्री परिवर्तन करना चाहे तो उसे सरकार को एक महीने का नोटिस देना होगा। प्रशुल्क आयोग भारत में उद्योगों के विकास का एक साधन रहा है। यह सच है कि आयोग द्वारा जिन संरक्षणात्मक कार्यवाहियों की सिफारिश की गयी उनके बिना न तो कोई उद्योग जन्म ले पाता और न वह विकसित हो पाता।

जब प्रशुल्क आयोग संरक्षण नीति को स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है तो वह उपभोक्ता वर्ग के हितों का पूरा ध्यान रखता है। संरक्षण की मांग उस स्थिति में अस्वीकार की जाती है, जब कार्य की दिशा में कच्चे माल और अन्य प्रकार की सुविधायें असन्तोषजनक स्थिति में होती हैं और उद्योग आयातित वस्तुओं की किस्म तथा लागत की प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर पाते। जब उद्योग को यह विश्वास हो कि संरक्षण प्रदान करने से उद्योग का विकास होगा तो ऐसी स्थिति में ऊंचे आयात कर लगाने की सिफारिश की जाती है। स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न उद्योगों पर से संरक्षण को हटा लिया गया क्योंकि इन उद्योगों की प्रगति को देखते हुए संरक्षण जारी रखने की आवश्यकता महसूस नहीं की गयी। विभिन्न उद्योगों पर से जब संरक्षण हटा दिए गए तो ऐसा करते समय आयोग की सिफारिशों को प्रमुखता प्रदान की गई। कुल मिलाकर संरक्षित उद्योगों की प्रगति सन्तोषजनक रही। उनका उत्पादन बढ़ा और साथ ही उनमें अनेकरूपता भी पैदा हुई। जिन उद्योगों को संरक्षित किया गया उनमें पर्याप्त स्थिरता आई है। इनके माल की किस्म में सुधार हुआ है। इनमें से कई उद्योगों ने अपने आन्तरिक साधनों की सहायता से विकास किया है तथा बाहरी पूंजी को भी आकर्षित किया है। संरक्षित उद्योगों में रोजगार की स्थिति बढ़ी है। श्रमिकों को अच्छी मजदूरी प्रदान की जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में संरक्षित उद्योगों ने अपना उचित योगदान दिया है।

सन् १९६७-६८ में अपना बजट भाषण करते हुए भारत के वित्त मन्त्री ने बताया कि देश ने पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में विभिन्न किस्म की वस्तुओं के उत्पादन करने की क्षमता प्राप्त करली है। देश के उद्योगों को विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता से बचाने के लिए आयात प्रतिबन्ध लगाए

गए हैं और आयात करों को ऊंचा किया गया है। विदेशी उत्पादकों को कार्य का लम्बा अनुभव था, उनके श्रमिक पर्याप्त प्रशिक्षित थे। पर्याप्त कच्चा माल एवं सस्ती पूंजी उनके लिए उपलब्ध थी। इन सब परिस्थितियों में संरक्षण की नीति का अपनाया जाना परम आवश्यक प्रतीत हुआ। संरक्षण की नीति कई अवसरों पर नुकसान दायक भी बन जाती है क्योंकि संरक्षण के नाम पर अनेक गलत व्यवहारों को प्रोत्साहन देकर साधनों की बर्बादी होने लगती है। आयात कम करने की दृष्टि से यह जरूरी है कि एक प्रतियोगितापूर्ण वातावरण तैयार किया जाय। घरेलू उद्योगों की कार्य-कुशलता के लिए मात्रागत आयात प्रतिबन्धों को ढीला किया गया। आयात प्रतिबंध पूरी तरह से न तो समाप्त किये जाते हैं और न ही ये किसी उद्योग पर हमेशा के लिए लगाए जा सकते हैं। जिन उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया है वे कुछ दिनों बाद इतने सुदृढ़ और आत्मनिर्भर बन जाते हैं कि बाद में उन पर से संरक्षण को हटाना होता है तथा नये उद्योगों को यह संरक्षण दिया जाता है। संरक्षण को प्राय. विभेदकारी होना चाहिये। यह समय और वस्तुओं के अनुसार बदलता रहे और इस प्रकार कुछ वस्तुओं से हटाकर अन्य वस्तु पर लगाने की दृष्टि से सुविधाजनक रहे।

राव समिति ने १९६६ में प्रशुल्क आयोग की कार्यप्रणाली के परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ सुझाव प्रस्तुत किए। समिति का विचार था कि प्रशुल्क आयोग को विभिन्न उद्योगों के लागत सम्बन्धी ढांचे की जांच करनी चाहिये। इसके अलावा आयोग को ऐसे विकासशील और नवोदित उद्योगों की भी प्रारम्भिक जांच करनी चाहिए जो भविष्य में संरक्षण के लिए दावे कर सकते हैं। यह कार्यवाही अर्थ-व्यवस्था में विनियोग के आवंटन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने से रोकने के लिए जरूरी समझी गयी। समिति को एक काम यह सौंपा गया कि वह संरक्षण की नीति के बारे में जो इस समय आयात प्रतिबन्ध लगे हुए हैं, उनकी जांच करे। जिस समय समिति को नियुक्त किया गया, उस समय भारतीय उद्योगों को दो प्रकार का संरक्षण प्राप्त था। इस दृष्टि से आयातों पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगे हुए थे और विभिन्न वस्तुओं पर आयात कर लगे हुए थे।

भारत में मुद्रा के अवमूल्यन ने देश के समस्त उद्योगों की उत्पादन लागत को बढा दिया है और इस प्रकार इन समस्त उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो गया है। यद्यपि कुछ वस्तुओं पर आयात-करों को घटा दिया गया है फिर भी पहले की तुलना में आयातों का मूल्य अब अधिक है। जब अवमूल्यन ने आयातित कच्चे माल की कीमत बढ़ा दी तो देश में उत्पादन लागत बढ़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप कुछ उद्योगों को आवश्यकता से

अधिक संरक्षण प्राप्त हो गया जबकि दूसरे उद्योगों को आवश्यकता से कम संरक्षण मिल सका ।

आयात और निर्यात नियन्त्रण
(Import and Export Control)

भारत के विदेशी व्यापार के संस्थागत एवं कार्यात्मक पहलुओं में प्रायः वे ही तरीके और संस्थाएं अपनाई जाती हैं जो सैद्धान्तिक रूप से मान्य हैं; फिर भी यदि हम भारत के आयात और निर्यात का निकट से पर्यवेक्षण करें तो कुछ ऐसी विशेषताओं से परिचित होंगे जो कि भारत की विशेष ऐतिहासिक, आर्थिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों से जन्म लेती हैं । यह कहा जाता है कि यदि हम एक देश के विदेशी व्यापार के संगठन का मूल्यांकन करना चाहें तो इसके लिये उत्तरदायी व्यक्तियों की कार्यकुशलता को देखना होगा । इतने पर भी कुछ संस्थायें एवं बिक्री के तरीके कुछ स्थितियों में दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होंगे ।

भारत में आयात और निर्यात सम्बन्धी कार्य व्यापारिक नियंत्रणों की रूप रचना में संचालित किए जाते हैं । इसलिए यहां के बाहरी व्यापार संगठन को सही रूप में समझने के लिए इन नियन्त्रणों की जानकारी प्राप्त करना जरूरी है । स्वतन्त्रता के बाद से विश्व के दूसरे देशों की भांति भारत में आयातों और निर्यातों पर नियंत्रण बढ़ता जा रहा है । युद्ध काल मे माल के आवागमन पर इसलिए नियन्त्रण लगाये जाते थे ताकि मूल वस्तुओं को दुश्मनों के हाथों में पड़ने से रोका जा सके और उपलब्ध पूर्तियों को मित्र देशों की नागरिक एवं सैनिक आवश्यकताओं के लिए रखा जा सके । युद्ध की समाप्ति के बाद इन नियन्त्रणों को समाप्त नहीं किया गया, वरन् उनको भुगतान संतुलन की स्थापना के लिए बनाए रखा गया । युद्ध के बाद रखे गए व्यापार नियन्त्रणों का मुख्य उद्देश्य निर्यातों को घरेलू मांगों के अनुसार अधिक से अधिक बढ़ाना है । इसके अतिरिक्त आयातों को केवल इतना रखना है कि विकास कार्यों के लिए आवश्यकता कच्चा माल और पूंजीगत सामान उपलब्ध हो सके । आज व्यापार का नियंत्रण और प्रत्यक्ष विनिमय देश के नियोजित आर्थिक विकास का अभिन्न भाग बन गया है ।

यद्यपि नियंत्रणों का प्रमुख उद्देश्य व्यापारिक तकनीकों में परिवर्तन करना नहीं है किन्तु फिर भी व्यवहार में वे बिक्री के तरीकों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं । साथ ही व्यापार वाली संस्थाएं भी इससे प्रभावित होती हैं । जब सरकार वाणिज्य के क्षेत्र में प्रवेश करती है तो इससे न केवल व्यापारियों को प्रत्यक्ष रूप से हानि होती है वरन् व्यापारिक संगठन

भी एक नयी स्थिति में आ जाता है जिसमें सरकार का सक्रिय योगदान और निरीक्षण परमावश्यक बन जाता है।

भारत के विदेशी व्यापार के नियन्त्रण की अन्तिम प्रशासकीय सत्ता व्यापार एवं उद्योग मंत्रालय में निहित है। यह मन्त्रालय आयात और निर्यात के मुख्य नियंत्रक द्वारा इस नियंत्रण को प्रभावी बनाता है। मुख्य नियन्त्रक की सहायता के लिए दस क्षेत्रीय लाइसेंसिंग अधिकार होते हैं। युद्ध के दौरान भारत रक्षा कानून १६३६ के आधीन व्यापारिक विनिमय लागू किए गए थे उन्हें समय-समय पर संशोधित किया गया।

निर्यात नियन्त्रण—निर्यात नियन्त्रण के अन्तर्गत किसी माल को उस समय तक निर्यात नहीं किया जा सकता जब तक उचित अधिकारी द्वारा सौंपा गया निर्यात लाइसेन्स प्राप्त न कर लिया जाए। जिन वस्तुओं पर निर्यात नियन्त्रण लगाना है उनको सूची में इंगित कर दिया जाता है और जिनको अनुसूची में नहीं रखा जाता उन्हें कहीं भी स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यातित नहीं किया जा सकता। युद्ध के बाद नियन्त्रणों को हटा कर विदेशी खरीदारों को भारत से उनकी आवश्यकता की चीजें खरीदने की स्वतन्त्रता दी गयी थी। इन पर एक मात्र सीमा यह लगाई गई कि वे अपनी खरीदारी केवल ऐसे निर्यातकर्त्ताओं से करें जिनको उतनी मात्रा में निर्यात करने की अनुज्ञप्ति हो। अनियन्त्रित वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ नियन्त्रित वस्तुएं भी होती हैं जिनकी पूर्ति करना अपेक्षाकृत सरल होता है और इनको स्वतन्त्र अनुज्ञप्ति सूची में रखा जाता है। इन स्थितियों में निर्यात अनुज्ञप्तियां स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी इच्छुक निर्यातकर्त्ता को प्रदान कर दी जाती हैं।

खुली सामान्य अनुज्ञप्तियां—उपर्युक्त के अलावा खुली सामान्य अनुज्ञप्तियां (Open General Licences O. G. L.) भी होते हैं। इनके अनुसार निर्यातकर्त्ताओं को कुछ नियन्त्रित वस्तुयें स्वतन्त्रतापूर्वक एक निश्चित स्थान को या सभी स्थानों के लिए एक निश्चित समय के दौरान खरीदने की स्वतन्त्रता दी जाती है। सन् १६६४ तक इस प्रकार के चार OGL क्रियान्वित हो रहे थे। OGL संख्या-१ उन विशेष वस्तुओं पर लागू होता था जिन्हें भारत की सीमा से लगे हुए देशों को भूमि मार्ग से निर्यातित किया जाता था। उन देशों का अपना समुद्रीय मार्ग नहीं होता था। OGL नम्बर-२ के अनुसार कठोर मुद्रा वाले देशों को काली और लाल मिर्चों के निर्यात की अनुमति प्रदान की गयी। OGL संख्या-३ में अनेक ऐसी चीजों को शामिल किया गया जिनकी पूर्ति स्थिति तुलनात्मक रूप से सरल थी और इन वस्तुओं का निर्यात सभी स्थानों के लिए उस समय तक सम्भव बनाया गया जब तक कि पूर्ति स्थितियों में परिवर्तन न आए। OGL संख्या-४

केवल उन वस्तुओं पर लागू हुआ जिनका निर्यात पाकिस्तान के साथ होता था।

निर्यातकर्त्ताओं की श्रेणियां—निर्यात पर नियन्त्रण रखने वाले अधिकारी निर्यातकर्त्ताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं, ये हैं—जहाजी व्यक्ति (Shippers), नवागन्तुक (New Comers) तथा उत्पादक (Producers)। किसी भी वस्तु के संस्थापक जहाजी वे व्यक्ति होते हैं जो उस वस्तु को यथार्थ में कम से कम एक बार निर्यात करते हैं। जब निर्यात की नीति घोषित की जाती है तो प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में मूल समय भी घोषित कर दिया जाता है।

व्यापारियों के संघ में नवागन्तुक (New Comers) शब्द पर्याप्त बदनाम है। उसका यथार्थ अर्थ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनको व्यापार के किसी क्षेत्र में पूर्वानुभव न हो। सामान्य रूप से जो लोग विशेष व्यापार के आंतरिक व्यापार में संलग्न रहते हैं अथवा मूल समय के बाहर निर्यात करते हैं उनको नवागन्तुक की अनुज्ञप्तियों का उम्मीदवार समझा जाता है। कुछ मामलों में निर्यात नियतांश उन उत्पादकों को दिए जाते हैं जो कुछ ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न हैं जिनके लिये अन्तर्देशीय व्यापार लाभदायक नहीं है। जब कभी निर्यात के लिए स्वीकृत मात्रा उस वस्तु की अन्तर्राष्ट्रीय मांग से कम होती है अथवा जब स्वीकृत निर्यात स्थापित जहाजियों की अपेक्षा कम रहता है तो नवागन्तुकों को लाइसेंस नहीं दिया जा सकता। दूसरी ओर जब स्वीकृत निर्यात पर्याप्त होते हैं तो नियतांश नवागन्तुकों, उत्पादकों और स्थापित जहाजियों को प्रदान किए जाते हैं।

किसी वस्तु विशेष के निर्यात की वास्तविक मात्रा कितनी होगी इसका निर्णय विभिन्न प्रकार के तत्वों द्वारा लिया जाता है। उदाहरण के लिए उत्पादन की घरेलू आवश्यकता और अन्तर्राष्ट्रीय मांग आदि। सामान्य रूप से जब एक विशेष वस्तु की पूर्ति-स्थिति अपेक्षाकृत संकटपूर्ण बन जाती है तो उसके लिए स्वतन्त्र रूप से अनुज्ञप्तियां प्रदान करने की परम्परा उस समय तक चलती है जब तक स्थिति में सुधार न हो जाय। १९५२ से निर्यात वाले क्षेत्र में नियन्त्रणों को ढीला करने और देश की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

नियतांश आवंटन के तरीके—कुल नियतांश में व्यक्तिगत निर्यात-कर्त्ताओं को नियतांशों का आवंटन एक कठिनाई उत्पन्न करता है। नियतांश को आवंटित करने के तीन सम्भव तरीके हो सकते हैं। पहले तरीके के अनुसार प्रथम आने वाले की सेवा पहले की जाय के सिद्धान्त का पालन किया जाय। दूसरे के अनुसार सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को निर्यात का अधिकार

बेचा जाय और तीसरे के अनुसार नियतांशों को पूर्व निर्धारित तरीके से दिया जाय। प्रथम तरीके को सामान्यतः अनुपयुक्त समझा जाता है क्योंकि जिन फर्मों ने पहले ही सम्बन्ध स्थापित कर लिए हैं वे चाहेंगी कि उनको नियतांश का आवंटन इतना किया जाय जितना वे पहले से ही व्यापार कर रही हैं। प्रथम सिद्धांत के आधार पर दिए गए नियतांश यह निश्चित नहीं करते कि उनको पूरी तरह से संतोष हो सकेगा। दूसरा तरीका यदि अपनाया गया तो विदेशी बाजारों में भारत के माल महंगे पड़ जाएंगे। यह स्थिति भारत जैसे देश के लिए अनुपयुक्त रहेगी जो अपने निर्यातों को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता है।

तीसरा तरीका एक व्यावहारिक कार्यक्रम है और भारत में यह अपनाया गया है। इस योजना के अनुसार एक वर्ष में कुल निर्यात नियतांश का प्रतिशत मूल कार्य के दौरान किये गये कुल प्रतिशत के आधार पर निकाल लिया जाता है। यह प्रतिशत व्यक्तिगत व्यापारी के ऊपर लागू किया जाता है ताकि एक समय में उसके उपयुक्त निर्यातों का अनुमान लगाया जा सके। कभी-कभी निर्यातों में कम से कम और अधिक से अधिक का निर्धारण करके समानता और न्याय की स्थापना का प्रयास किया जाता है। अनुज्ञप्तियां सामान्य रूप से तीन माह के लिए वैध मानी जाती हैं। यदि नियन्त्रण करने वाली सत्ता यह अनुभव करे कि उपयुक्त कारण हैं तो इसके समय को बढ़ाया भी जा सकता है।

आयात नियन्त्रण—आयातों के सम्बन्ध में नियन्त्रण प्रथम बार १९४० में युद्धकालीन स्थितियों का मुकाबला करने के लिए लगाए गये थे। ये नियन्त्रण केवल ६८ वस्तुओं पर ही लगाए गये। इनमें से अधिकांश उपभोक्ता वस्तुएं थी। ज्यों-ज्यों युद्ध अधिक बढ़ता गया त्यों-त्यों इन वस्तुओं की संख्या बढ़ती गयी। युद्धकाल में और उसके तुरन्त बाद विभिन्न वस्तुओं की पूर्ति करने वाले देशों में माल की पर्याप्त कमी आ गयी और इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मांगों को पूरा करना मुश्किल पड़ गया। ऐसी स्थिति में विभिन्न देशों को नियन्त्रण की नीति अपनाने पर मजबूर होना पड़ा। १९४७ में आयात नियन्त्रण एक नया रूप धारण करने लगा, जबकि इसको विदेशी विनिमय नियन्त्रण तथा भुगतान सन्तुलन की समस्या के साथ जोड़ दिया गया। १९४७ तक आयात के क्षेत्र में जो नियन्त्रण लागू किये गये थे उनमें से अधिकांश मुख्य रूप से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से सम्बन्धित थे ताकि इनके द्वारा स्वर्ण प्रतिभूतियों की रक्षा की जा सके। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है उसका अधिकांश आयात इन्हीं देशों से था। इस काल में नियन्त्रण का मुख्य मापदण्ड स्टर्लिंग की आवश्यकताओं को ही माना गया। १९४७ में जब

सामान्य रूप से OGL को स्वीकार कर लिया गया तो विदेशी विनिमय की समस्या स्पष्ट रूप से अनुभव की जाने लगी। इसके कारण आयात नीति में संशोधन किया गया और स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से किये जाने वाले आयातों पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया। १९४७ के बाद आयात की जाने वाली वस्तुओं पर कभी-कभी केवल विशेष वस्तुओं पर ही आयात नियन्त्रण में ढील दी गयी ताकि देश में मुद्रा प्रसार के दबावों का मुकाबला किया जा सके। उदाहरण के लिए १९४८ में उदारवादी नीति अपनाई गयी। इसके अलावा आयात नियन्त्रण उच्च रूप से प्रतिबन्धित बने रहे।

आयात नियन्त्रण विनियोगों के आधीन कोई भी माल बिना आयात अनुज्ञप्ति के भारत में आयात नहीं किया जा सकता। आयात करने से पहले यह जरूरी है कि आयातकर्त्ता के पास सामान्य अथवा व्यक्तिगत अनुज्ञप्ति हो। सामान्य अनुज्ञप्तियां सभी देशों से होने वाले आयातों के लिए प्रसारित की जाती हैं जबकि विशेष अनुज्ञप्तियां केवल नरम मुद्रा वाले क्षेत्रों पर ही लागू होती हैं। १९५६ में OGL संख्या-४ के अलावा समस्त OGL छोड़ दिये गये ताकि विदेशी विनिमय की बचत की जा सके। आयातों के लिए जिन विभिन्न वस्तुओं को चुना जाता है उन्हें निर्धारण उपलब्ध विदेशी विनिमय के आधार पर दिया जाता है। ऐसा करते समय प्राथमिकताओं के अनुसार निर्णय लिये जाते हैं। उलझे हुए दावों में सन्तुलन निर्धारित करने के लिए विदेशी विनिमय के साथ बजट बनाया जाता है।

आयात आवंटन के तरीके—विभिन्न इच्छुक आयातकर्त्ताओं को आयात नियतांशों का आवंटन करने के लिए चार मुख्य तरीके अपनाये जा सकते हैं—(१) इनमें पहला तरीका यह है कि सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को अनुज्ञप्तियां बेची जायं और उनको स्वतन्त्र रूप से हस्तान्तरण योग्य बनाया जाय। मिस्टर गांगुली (Mr. Ganguli) इस प्रणाली के सम्बन्ध में लिखते हैं "इसके पक्ष में हम यह कह सकते हैं कि वर्षों तक कठोर आयात-नियन्त्रण लगाने के बाद भी आयात व्यापार की विभिन्न श्रेणियों में महत्वपूर्ण निहित स्वार्थ विकसित नहीं हो पाते और कई बार आयात करने वाली फर्में बिलकुल नये रूप में प्रारम्भ करती हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रक्रिया अनुज्ञप्तियां प्रदान करने में सम्भावित भेदभाव को रोक सकती हैं और प्रतिस्पर्धापूर्ण शक्तियों को उपभोक्ताओं के लाभ के लिए प्रयुक्त कर सकती है।" यह प्रक्रिया नीलामी की फीस आदि के द्वारा आयात की कीमत को बढ़ाएगी।

(२) नियतांशों का आवंटन स्थापित आयातकर्त्ताओं के बीच पहले की दरों के आधार पर किया जाय। इस व्यवस्था के आधीन एक निश्चत समय में एक विशेष फर्म के आयातों का मूल काल के दौरान कुल आयातों से

सम्बन्ध रहता है। इस प्रक्रिया में यथास्थिति को स्थाई बनाने का खतरा रहता है। इस खतरे को तब रोका जा सकता है जबकि उच्च फर्मों के लिए निश्चित मात्रा में नियतांश निर्धारित कर दिये जायं।

(३) निर्यातकर्त्ता देशों के साथ ऐसा प्रबन्ध कर लिया जाता है कि वे स्वयं कुछ मात्रागत प्रतिबन्ध लगादें। इस तरीके को कुछ देशों ने अपनाया है। जो देश नियतांश निर्धारित करने के भार को किसी अन्य पर डालने के इच्छुक होते हैं वे इस तरीके को पर्याप्त लाभप्रद पाते हैं और इस प्रकार वे देश में होने वाले विरोधी राजनैतिक परिणामों की सम्भावना से बच जाते हैं। मि० गांगुली का मत था कि नियतांशों के आवंटन की प्रणाली पूंजीगत माल के सम्बन्ध में अस्वीकृत कर देनी चाहिए और इसका निर्धारण राष्ट्रीय अर्थ की योजना की आवश्यकताओं के अनुसार नियोजन करने वाले अधिकारियों द्वारा किया जाना चाहिए। यह अधिकार उन विदेशियों को नहीं दिया जाना चाहिए जो पूंजीगत माल का निर्यात कर रहे हैं।

(४) नियतांशों को वास्तविक उपभोक्ताओं में उनकी आवश्यकता के अनुसार आवंटित किया जाये। यह प्रणाली दो प्रकार से लाभदायक है। प्रथम, इस प्रणाली के द्वारा विना किसी प्रकार की प्रशासकीय कठिनाइयों के यह निश्चित कर दिया जाता है कि विदेशी विनिमय को केवल मूलभूत माल की खरीद के लिए ही प्रयुक्त किया जायेगा और इस माल को तुरन्त ही उत्पादन के लिए काम में लाया जाएगा। दूसरे, जब वास्तविक प्रयोगकर्त्ता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक कच्चे माल और पूंजीगत सामान का आयात करने लगेंगे तो इससे वस्तुओं की कीमत नीचे गिरेगी और अधिक प्रोत्साहन के लिए अवसर मिलेगा। इतने पर भी यह प्रणाली केवल वहीं उपयुक्त है जहां वास्तविक उपभोक्ता संगठित होते हैं तथा उनकी मागें प्रत्यक्ष आयातों के लिए पर्याप्त होती हैं।

भारत में आयात-व्यापार की नियन्त्रण-सत्ता द्वारा दूसरे और चौथे तरीकों को कुछ मात्रा में अपनाते हुए विभिन्न भागीदारों में नियतांशों का आवंटन किया जाता है। आयातकर्ताओं को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—वास्तविक प्रयोग कर्त्ता, स्थापित जहाजी और नवागन्तुक। यह विभाजन ठीक ऐसा है जैसा कि निर्यात व्यापार के सम्बन्ध में किया जाता है। निर्यात व्यापार में हम स्थापित जहाजियों को प्राथमिकता देते हैं। किन्तु आयात के क्षेत्र में प्राथमिकता केवल वास्तविक उपभोक्ताओं को प्रदान की जाती है। १९५३ से पूर्व वास्तविक उपभोक्ताओं की अनुज्ञप्तियां केवल उन संस्थाओं को प्रदान की जाती थीं जिनमें ५० से अधिक कार्यकर्त्ता संलग्न

थे। इस व्यवस्था में छोटे उत्पादक उद्योगों को भारी असुविधा हुई जिसके परिणामस्वरूप इसमें संशोधन करना पड़ा।

नियन्त्रणों का प्रभाव—विदेशों में व्यापार नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक मुख्य प्रश्न यह उठता है कि यह नियन्त्रण हमारे विदेश व्यापार की संस्थागत और प्रक्रिया सम्बन्धी बनावट को कहां तक प्रभावित करेगा ? यह सच है कि अनियंत्रित श्रेणी में आने वाले निर्यातों की समस्त मदें तथा यहाँ तक कि नियंत्रित श्रेणी में आने वाली समस्त मदें भी समस्त इच्छुक निर्यातकर्त्ताओं द्वारा स्वतत्रता पूर्वक निर्यातित की जा सकती हैं। चाय का निर्यात यद्यपि निर्यात नियतांश का विषय है किन्तु फिर भी एक विशेष स्थिति में चाय से सम्बन्धित निर्यात नियतांश हस्तान्तरण योग्य होते हैं। ऐसी स्थिति में चाय के निर्यात पर लगाया गया कोई भी नियंत्रण निर्यात व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं रखेगा। इस दृष्टि से देखने पर हम यह कह सकते हैं कि ९० प्रतिशत 'निर्यात व्यापार' व्यापार नियंत्रणों से अप्रभावित रहता है।

इतने पर भी जहां निर्यात व्यापार को सम्पादित करने के लिए अनुज्ञप्तियों को आवश्यक बना दिया गया है वहां नियंत्रणों का प्रभाव यह होता है कि व्यापार केवल उन लोगों तक प्रतिबन्धित कि जाता है जो उस वस्तु से निकट पम्पर्क रखते हैं। यह सम्पर्क एक उत्पादक या एक स्थापिन जहाजी या देशी बाजार में व्यापारी के रूप में हो सकता है। अनुज्ञप्तियों द्वारा दूसरों के प्रवेश को जब एक विशेष व्यापार में आने से रोक दिया जाता है तो उन लोगों के हितों की रक्षा होती है जो पहले से ही उस क्षेत्र में व्यापार कर रहे हैं। इनके विपरीत जो अनियंत्रित या स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात योग्य सूची में हैं उनको ऐसा कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता।

दूसरी ओर आयात व्यापार द्वारा पूर्णत: एक भिन्न तस्वीर प्रस्तुत की जाती है। यहां लगाये जाने वाले नियंत्रण आयात-व्यापार की संस्थागत एवं प्रक्रिया सम्बन्धी रचना को बदलने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। जब वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं के पक्ष में अनुज्ञप्तियों को लागू किया गया तो इससे बहुत से परम्परागत तरीके परिवर्तित हो गये। इसके द्वारा बहुत कुछ प्रत्यक्ष आयात की व्यवस्था लागू कर दी गयी। आजकल स्थापित जहाजियों का महत्व हमारे आयात-व्यापार में घटता जा रहा है।

स्थापित जहाजी (Established Shippers) वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं के प्रवेश के प्रति हमेशा विरोधी रुख अपनाते हैं क्योंकि यदि उनको अनुज्ञप्तियां प्रसारित कर दी जायं तो इन जहाजियों का आयात व्यापार गिर जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं को दी गई अनुज्ञप्तियों के प्रश्न ने आयात व्यापार के साधारण मार्गों को काफी

प्रभावित किया है। जब वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं (Actual Users) को अनुज्ञप्तियां प्रदान की जाती हैं तो इनका उद्देश्य यह नहीं होता कि उन्हें स्थापित व्यापारिक मार्गों के साथ प्रतिद्वंद्विता करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। उन्हें अनुज्ञप्तियां केवल इसलिए प्रसारित की जाती हैं ताकि उनकी आवश्यकताओं को सस्ती दरों पर पूरा किया जा सके और ऐसी व्यवस्था की जा सके जिसमें विदेशी विनिमय का प्रयोग केवल ऐसी वस्तुएं खरीदने के लिए किया जाये जो तुरन्त प्रयोग में ली जाएंगी। विचारकों का मत है कि इस लक्ष्य को उस समय पूरी तरह प्राप्त किया जा सकता है जब वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार स्थापित मार्गों के माध्यम से आयात करने की अनुमति दी जाय। वस्तु स्थिति यह है कि वास्तविक प्रयोग-कर्त्ताओं में से अधिकांश के पास आवश्यक विदेशी सम्पर्क और पूर्व अनुभव नहीं रहता। ऐसी स्थिति में उन्हें इन्डेंटिंग हाऊसेस अथवा एजेन्सी हाऊसेज द्वारा ख़रीदारी करने की आज्ञा दी जाती है। जब आयात नीति ने वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं और सहकारी समाजों को प्रत्यक्ष रूप से आयात करने के लिए प्रोत्साहित किया तो व्यापार की प्रगति में मौलिक परिवर्तन आ गये।

स्थापित आयातकर्त्ताओं द्वारा आयात करने का उनके पास एक लम्बा अनुभव है, विदेशों के साथ उनके सम्पर्क हैं। इसके अतिरिक्त उनके पास बिक्री की अच्छी सुविधाएं हैं। इसलिए वे वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं की अपेक्षा विदेशी विनिमय के साधनों का अच्छी तरह से प्रयोग कर सकेंगे। दूसरी ओर वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं द्वारा यह कहा जाता है कि स्थापित आयातकर्त्ताओं के पास वह विशेषीकृत ज्ञान और सुविधाएं नहीं होती जो उनके पास होती हैं तथा होना आवश्यक होती हैं। दोनों पक्षों के तुलनात्मक लाभों पर विचार करने के बाद १९६२ की आयात और निर्यात समिति इस निष्कर्ष पर आई कि वर्तमान अनुज्ञप्ति व्यवस्था आवश्यकताओं के अनुरूप है। इसके अति-रिक्त समिति ने इस बात पर भी जोर दिया कि कच्चा माल और एक उद्योग की विभिन्न इकाइयां स्थापित आयातकर्त्ताओं द्वारा आयतित की जानी चाहिए।

नियन्त्रण नीति के कारण नवागन्तुक आयात व्यापार में प्रवेश नहीं पा सके। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब हमारे आयात व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग राज्य के नियन्त्रण में है तो व्यापारियों के एक बड़े भाग को आयात-व्यापार में प्रविष्ठ होने से रोकना सरासर अन्यायपूर्ण है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि जिनको अनुज्ञप्तियां प्रसारित की गयी हैं वे आयात-व्यापार को कुशलता के साथ निभा सकेंगे या नहीं। पिछले अनुभव के आधार पर हम कुशलता का अनुमान लगा सकते हैं; फिर भी केवल यही एक

मापदण्ड नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि आयातकर्त्ता ने व्यापार को कुशलतापूर्वक संचालित नहीं किया है तो उसे भी एक नवागन्तुक ही समझा जाना चाहिए। आयात के लिए अनुज्ञप्तियाँ प्रसारित करते समय प्रार्थी की योग्यता को भी देख लेना चाहिए कि वह कुशलतापूर्वक व्यापार कर सकेगा अथवा नहीं। गुण सम्बन्धी योग्यता की व्यवहार में जांच करना बड़ा कठिन होता है यद्यपि पूंजी, व्यापारिक सम्पर्क, बैंक सन्दर्भ इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जो विदेश व्यापार को संचालित करने की प्रतीक कही जा सकती हैं।

आयात नियन्त्रण का व्यापार संगठन पर एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव यह है कि कुछ वस्तुओं का आयात केन्द्रीय अभिकरण, मुख्य रूप से सरकारी और गैर सरकारी अभिकरणों द्वारा होने लगता है। तांबा, एमोनियम सल-फेट, फौलाद, कच्चा रेशम, दूध का पाउडर, अखबारी कागज, सोडियम सल-फेट आदि वस्तुओं का व्यापार इस प्रकार होने लगता है। व्यापार नियंत्रणों ने हमारे देश के व्यापार संगठनों की प्रकृति को भी महत्वपूर्ण रूप से बदल दिया है। आयात नियन्त्रण प्रारम्भ करने से पूर्व विदेशी निर्यात-कर्त्ता, विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन के व्यापारी, भारत में अपनी शाखाओं अथवा कम्पनियों के माध्यम से माल लाते थे। आयात नियन्त्रणों ने स्थिति में मौलिक परिवर्तन किए हैं। आज यह कहना गलत न होगा कि विदेशी निर्यात-कर्त्ताओं द्वारा बिक्री के लिए माल को भारत में आयात नहीं किया जाता वरन् वास्तविक प्रयोगकर्त्ताओं या सरकारी अभिकरणों या स्थापित आयात-कर्त्ताओं द्वारा देश के लिए आयातित किया जाता है पहले और अब की व्यवस्था में मुख्य अन्तर यह है कि इस समय पहल करने की शक्ति उद्योगपतियों और व्यापारियों के हाथ में है जो नियोजित मांगों के अनुसार आयात करते हैं। अतीत काल में विदेशी निर्यातकर्त्ताओं द्वारा और निर्माताओं द्वारा भारत में विक्रय के विस्तार को भी नियोजित किया जाता था।

विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों तथा उनमे समय-समय पर किए गए संशोधनों ने आयात और निर्यात व्यापार को अत्यन्त जटिल बना दिया है। अधिकांश व्यापारियों को मध्यस्थों की सहायता लेनी होती है। यद्यपि हमारे देश के निर्यात व्यापार का संगठन व्यापार नियन्त्रणों से अप्रभावित रहता है किन्तु व्यापार सम्बन्धी विनियमों ने हमारे आयात व्यापार के संगठन को मौलिक रूप से बदल दिया है।

१७

स्वर्ण विनिमय और स्टर्लिंग विनिमय मान के साथ भारत के अनुभव

(INDIA'S EXPERIENCE WITH THE GOLD EXCHANGE STANDARD AND THE STERLING EXCHANGE STANDARD : INDIA & THE STERLING AREA)

'व्यापार या वाणिज्य की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान
का मुख्य लाभ यह है कि जब यह लागू रहता है तो
विनिमय की लोचशीलता को समाप्त कर
देता है।"

—ग्रेगरी

"From the stand point of business or commerce,
the great advantage of International Gold Stan-
dard is precisely that whilst it is in
working order, it eliminates fluctua-
tion of exchange."

—Gregory

स्वर्ण विनिमय मान और स्टर्लिंग विनिमय मान के साथ भारत के अनुभव

(India's experience with the Gold Exchange Standard and the Sterling Exchange Standard : India and the Sterling Area)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक प्रमुख समस्या यह है कि इसमें विनिमय के लिए किस मुद्रा का प्रयोग किया जाय। किसी भी देश की मुद्रा केवल उसकी सीमाओं में ही उपयोगी तथा सार्थक रहती है और सीमाओं से बाहर उसका प्रायः कोई महत्व नहीं रहता। प्रारम्भ में स्वर्णमान (Gold Standard) को अपनाकर विश्व के विभिन्न देशों ने पारस्परिक आदान-प्रदान की व्यवस्था की। स्वर्णमान (Gold Standard) का महत्व अन्तर्देशीय स्तर पर इतना नहीं है जितना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर है। कोई भी देश अपने आन्तरिक व्यापार को स्वर्णमान (Gold Standard) के बिना अथवा पत्र-मुद्रा के आधार पर संचालित कर सकता है किन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नहीं कर सकता; क्योंकि यहाँ पत्र मुद्रा का कोई महत्व नहीं रहता। दूसरे देश उसे अस्वीकार कर सकते हैं। स्वर्ण को कोई भी देश आसानी से ले लेता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से स्वर्णमान का महत्व है। जब संसार के विभिन्न देश स्वर्ण के रूप में अपने मुद्रा के मूल्य को घोषित कर देते हैं तो यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard) कहलाता है। इस सम्बन्ध में मि० ग्रेगरी (Mr. Gregory) का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का अर्थ केवल ऐसी व्यवस्थाओं से ही लगाया जा सकता है जो एक साथ अनेक देशों में विद्यमान रहती हैं। इन व्यवस्थाओं के अनुसार प्रत्येक देश में एक निश्चित दर पर स्थानीय मुद्रा का स्वर्ण में और स्वर्ण का स्थानीय मुद्रा में परिवर्तन हो सकता है। इन देशों के बीच स्वर्ण के आयात और निर्यात की स्वतन्त्रता रहती है।"

स्वर्णमान के लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को प्रायः प्रत्येक देश द्वारा मान्यता प्रदान की गई है। भारत भी इनमें से एक है। स्वर्णमान के अपने लाभ हैं:—

(१) यह अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का एक उपयुक्त माध्यम है। संसार का प्रत्येक देश विनिमय के माध्यम के रूप में स्वर्ण को बड़ी खुशी से स्वीकार कर लेता है। जिस देश के पास सोना (Gold) है वह बिना किसी बाधा के अपनी मन पसन्द की वस्तुयें खरीद सकता है। किसी विशेष देश की मुद्रा दूसरे देश में अनुपयोगी बन जाती है। स्वर्ण के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शक्ति को मापा जा सकता है।

(२) स्वर्णमान की एक दूसरा महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इससे विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता आती है। इस मान के अनुसार प्रत्येक देश विशुद्ध स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में अपनी मुद्रा के मूल्य को घोषित कर देता है। एक देश की मुद्रा के मूल्य को स्वर्णमान की सहायता से दूसरे देश की मुद्रा के रूप में आसानी से जाना जा सकता है। मि० ग्रेगरी (Mr. Gregory) के कथनानुसार "व्यापार और वाणिज्य की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जब यह क्रियाशील रहता है तो विनिमय की अस्थिरता को रोक देता है।"[1]

(३) स्वर्णमान से मूल्य स्तर में प्रायः स्थिरता रहती है। स्वर्णमान में स्वर्ण के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता। ऐसी स्थिति में स्वर्ण का आयात और निर्यात होने से मूल्य स्तर में भी तदनुसार वृद्धि अथवा कमी होती रहती है। इस प्रकार विभिन्न देशों के मूल्य स्तरों में संतुलन स्थापित हो जाता है और कोई भी देश अधिक समय तक अपने निम्न मूल्य स्तर का लाभ नहीं उठा सकता और न ही किसी देश को अपने उच्च मूल्य स्तर के कारण अधिक समय तक हानि उठानी पड़ती है। यदि किसी समय 'क' देश में मूल्य का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा नीचा है तो ऐसी स्थिति में 'क' देश के निर्यात बढ़ जायेंगे। इस प्रकार अन्य देशों से 'क' देश में सोने का आयात होने लगेगा। फलस्वरूप 'क' देश में स्वर्ण की मात्रा बढ़ने के

---

1. "From the stand point of business and commerce the great advantage of the International Gold standard is precisely that, whilst it is in working order, it eliminates fluctuation of exchange."

—Gregory

कारण मुद्रा की पूर्ति बढ़ जायेगी और इसके फलस्वरूप मूल्य स्तर ऊंचा होने लगेगा। इसी प्रकार मान लीजिये 'क' देश का मूल्य स्तर अन्य देशों की तुलना में ऊंचा है तो इस देश को होने वाले आयात बढ़ जायेंगे। फलतः स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। देश में स्वर्ण की मात्रा कम रह जायेगी और मुद्रा की पूर्ति घट जाने के कारण मूल्य स्तर में कमी आने लगेगी।

स्वर्णमान की बुराइयां :

स्वर्णमान (Gold Standard) की अनेक बुराइयां हैं, इनमें से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(१) स्वर्णमान के कारण आंतरिक मूल्य स्तर की स्थिरता समाप्त होने लगती है। यह इसलिये होता है क्योंकि विभिन्न देश अपनी विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिये आन्तरिक मूल्य स्तर को समय-समय पर इस प्रकार परिवर्तित करते रहते हैं ताकि उसका अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर से समायोजन हो जाय। जब कभी एक देश का मूल्य स्तर गिर जाता है और दूसरे देश से उसकी विनिमय दर में परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो दूसरे देश को भी अपना आन्तरिक मूल्य स्तर गिराना होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वर्णमान द्वारा विदेशी व्यापार की रक्षा के लिये देशी व्यापार के हितों का बलिदान कर दिया जाता है।

(२) किसी भी स्वर्णमान से युक्त देश में आए हुये संकट का प्रभाव अन्य स्वर्णमान देशों पर भी पड़ता है। एक देश के आर्थिक संकट आसानी से दूसरे देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने लगते हैं। उदाहरण के लिये जब एक देश में अशान्ति और अव्यवस्था है तो वहां के लोग अपनी सम्पत्ति को किसी ऐसे देश में लगाना चाहेंगे जहाँ शान्ति और व्यवस्था है। ऐसी स्थिति में उस दूसरे देश की मौद्रिक स्थिरता भंग हो जायेगी और वहां भी अशान्ति फैलने लगेगी। सोने का आवागमन राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न करता है क्योंकि इसके कारण राज्य को नये-नये नियम बनाने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के अन्तर्गत एक देश अपनी मुद्रा नीति को अपनाने में स्वतन्त्र नहीं होता। कई बार उसे ऐसी नीति अपनानी पड़ती है जो उसके हितों के अनुकूल न हो।

सफलता की शर्तें
(Conditions of Success)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वर्णमान का सफल रूप से संचालन करने के लिये कुछ शर्तों का होना परम आवश्यक है—

(१) इसे विश्व के अधिकांश देशों द्वारा अपनाया जाना चाहिये।

ऐसा होने पर स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शक्ति का मापक बन जाएगा तथा विनिमय के माध्यम का अच्छा कार्य कर सकेगा। इसके लिये यह जरूरी है कि कम से कम बड़े-बड़े राष्ट्र स्वर्ण मुद्रा मान या स्वर्ण धातु मान को ग्रहण करें ताकि छोटे देशों की मुद्रा का सम्बन्ध उनसे स्थापित किया जा सके।

(२) इसकी सफलता के लिये एक अन्य आवश्यकता यह है कि विभिन्न देशों के पास पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण-कोष होना चाहिये। ऐसा न होने पर वे अपनी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते और न ही अपने विदेशी भुगतान कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में उसे स्वर्णमान छोड़ने के लिए विवश होना पड़ेगा। स्वर्णकोषों का सभी देशों के बीच समान वितरण होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो विभिन्न देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता के आधार पर भाग नहीं ले सकेंगे।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वर्णमान में केवल तभी सफल हो सकता है जब उस पर किसी भी देश की ओर से प्रतिबन्ध न लगाया जाय। स्वतंत्र व्यापार होने की स्थिति में सोना न होने पर भी एक देश अपनी वस्तुएं बेचकर सोना प्राप्त कर सकता है। जब एक देश अपने आयातों पर प्रतिबन्ध लगा देता है तो उसके पास स्वर्ण की मात्रा अधिक होती चली जाएगा और दूसरे देश के पास स्वर्ण की मात्रा घटती जायेगी। स्वर्ण कोषों को समान रूप से वितरित होने के लिये यह जरूरी है कि विदेशी व्यापार स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए।

(४) किसी देश के पास अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का भार अधिक नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो देश अपने निर्यातों के अधिकांश भाग को कर्ज चुकाने में ही लगा देगा। उसके पास स्वयं के आयातों का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा थोड़ी रह जाएगी। फलतः उसे अपने स्वर्ण-कोष बाहर भेजने होंगे और इसलिए उसके स्वर्ण-कोष शिथिल हो जाएंगे। इस स्थिति में वह देश आर्थिक संकट से ग्रस्त हो जाएगा और एक दिन उसे मजबूर होकर स्वर्णमान छोड़ना पड़ेगा।

(५) स्वर्णमान की सफलता के लिए देश में राजनैतिक स्थिरता और शांति रहना परम आवश्यक है। जिस देश में आन्तरिक अशान्ति और अस्थिरता रहती है उसके प्रति लोग सन्देह करने लगते हैं। ऐसे देश के लोग अपना सोना दूसरे देशों में लगाते हैं और इस प्रकार वहां के स्वर्ण-कोष कम होते चले जाते हैं।

(६) स्वर्णमान से युक्त देशों की अर्थ-व्यवस्था पर्याप्त लोचहीन होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही वह दर-परिवर्तन के अभाव को आसानी से सह

सकेगी और समय के अनुकूल समायोजित हो सकेगी। जब स्वर्ण कोष अधिक होते हैं तो मूल्य स्तर ऊंचे होने लगते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि अर्थ-व्यवस्था मूल्य स्तर के परिवर्तनों को सहन करने की शक्ति नहीं रखती तो वह स्वयं बिखर जाएगी और स्वर्णमान को बनाए रखना कठिन बन जाएगा।

(७) स्वर्णमान के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सफलता के लिए इन नियमों का पालन करना चाहिए। स्वर्ण के आयात और निर्यात को स्वतन्त्र रखना चाहिए ताकि इससे मूल्य प्रभावित न हों। स्वर्णमान की सफलता के लिए विभिन्न देशों के बीच सहयोग की भावना रहनी चाहिए।

स्वर्णमान के सफल संचालन के सम्बन्ध मे मि० कैन्ट ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि संसार की परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिये जिनमें स्वर्णमान के परिवार का सदस्य बने रहने का इच्छुक कोई भी देश बुरे रूप में प्रभावित न हो। एक अस्थिर स्वर्णमान, लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाता है। प्रत्येक देश को स्वर्णमान कायम रखने के लिए अधिक त्याग की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए केवल तभी स्वर्णमान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपयोगी हो सकता है।

स्वर्णमान का इतिहास
(The History of Gold Standard)

स्वर्णमान को सबसे पहले १८१६ में ग्रेट ब्रिटेन ने अपने यहां स्थापित किया था। यहीं से इसका इतिहास प्रारम्भ होता है। यूरोप के दूसरे देशों ने १८७३ से पूर्व इसे नहीं अपनाया। उसके बाद क्रमशः १८७३ में जर्मनी, १८७८ में फ्रांस और १९०० में अमेरिका ने स्वर्ण मान को अपनाया। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक प्रायः सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्वर्ण मान अपना लिया था और कुछ पिछड़े हुए देश भी इसे अपनाते जा रहे थे।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व स्वर्ण को मूल्य का मापक और विनिमय का माध्यम समझा जाता था। यह प्रथम युद्ध के प्रारम्भ तक ठीक प्रकार कार्य करता रहता किन्तु प्रथम महायुद्ध में विभिन्न मुद्राओं के लड़खड़ाने के कारण स्वर्ण के स्वतन्त्र आयात-निर्यात पर रोक लगा दी गयी।

युद्ध काल में स्वर्ण मान को त्याग दिया गया किन्तु युद्ध समाप्त होते ही विभिन्न देशों ने इसे पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। इस समय परिस्थितियां पर्याप्त बदल चुकी थीं और इसलिए स्वर्णमान को पहले जैसी स्थिति में लागू करना कठिन बन गया। ऐसी स्थिति में यह सुझाव दिया

जाने लगा कि स्वर्ण धातु मान को स्वीकार किया जाए ताकि गरीब देश भी इसे आसानी से अपना सकें। इस सम्बन्ध में एक मुख्य बाधा सोने की कमी थी। १९२२ के जेनेवा सम्मेलन में ऐसी विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के बाद यह माना गया कि स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया जाए। इस प्रकार युद्ध से पूर्व स्थित स्वर्ण मान का स्थान स्वर्ण धातु मान अथवा स्वर्ण विनिमय ने ले लिया। १९१९ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्ण के निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटा लिए और इस प्रकार स्वर्णमान की पुनः स्थापना की। बाद में अन्य तीस देश भी स्वर्णमान तक लौट आए। फ्रास अन्तिम देश था जो १९२८ में स्वर्ण मान पर लौटा। यह स्वर्ण मान केवल १९३१ तक ही सर्वमान्य रूप से चलता रहा और इस वर्ष इंगलैंड ने इसे भंग कर दिया।

युद्ध के बाद स्वर्णमान की अस्थिरता विभिन्न तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम थी। इन परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्थाओं में अनेक परिवर्तन आ गये जिनके परिणामस्वरूप एक स्थाई स्वर्णमान को सफल बनाना मुश्किल था। जब ग्रेट ब्रिटेन ने १९२५ में स्वर्णमान को युद्ध से पूर्व की स्थिति मे ला दिया तो उसे घोर मन्दी का सामना करना पड़ा। इससे उसे केवल तभी छुटकारा मिला जब १९३१ में उसने स्वर्णमान को पुनः छोड़ दिया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त प्रभावशील बन गयी और इसलिए विभिन्न राष्ट्रों ने स्वर्ण के आयात और निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने आयातों को रोकने के लिए अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए। अमेरिका ने स्वर्णमान को कायम रखने के लिए कोई प्रयास नहीं किया।

स्वर्णमान की सफलता केवल तभी सम्भव है जब सभी देश इसके नियमों का पालन करें। यदि एक देश भी इन नियमों का उल्लंघन करता है तो दूसरे देश इसका उल्लंघन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, जो युद्धोत्तर काल में स्वर्ण पाने वाला एक प्रमुख राष्ट्र था, ने स्वर्णमान के नियमों का पालन नहीं किया। इसलिए स्वर्णमान टूट गया। २१ सितम्बर, १९३१ को ग्रेट ब्रिटेन ने, १९३३ में अमेरिका ने और १९३६ में फ्रांस ने स्वर्णमान छोड़ दिया। भारत का सम्बन्ध ग्रेट ब्रिटेन की मुद्रा से था अतः उसे भी स्वर्णमान छोड़ना पड़ा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्वर्णमान इसलिए टूटा क्योंकि इसके नियमों का उल्लंघन किया गया और स्वर्ण का असमान वितरण किया गया। युद्ध की क्षति-पूर्ति की समस्या मुख्य बन गयी। अल्पकालीन पूंजी के कारण समस्यायें उत्पन्न हुई; विभिन्न देशों ने आर्थिक राष्ट्रीयता के कारण संरक्षण

की नीति अपनाई। युद्धोत्तर अर्थ-व्यवस्थाएं पर्याप्त लोचहीन थीं और उन सबके अलावा १९२९ में आर्थिक मन्दी का प्रभाव हो गया। स्वर्ण-मान केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही अपनाया जा सकता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद विभिन्न देशों को जब आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा तो स्वर्णमान अधिक नहीं चल सका।

१९३० से ही विश्व के अनेक देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विनियोग बहुत कुछ अस्त-व्यस्त हो गया। विभिन्न देश प्रशुल्क प्रतिबन्धों द्वारा बेरोजगारी जैसे अपने संकटों को दूर करने का प्रयास करने लगे। इन परि-स्थितियों में विनिमय दरें अस्थिर और अनिश्चित बन गयीं और इतनी अधिक अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो गयी कि कुछ राष्ट्रों ने क्षेत्र स्थायीकरण प्रबन्धों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के देशों ने अपना स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) बना लिया। इन देशों के बीच यह समझौता हुआ कि कम से कम अस्थाई रूप से वे अपनी मुद्राओं को ब्रिटिश पौंड स्टर्लिंग से सम्बन्धित रखेंगे, भले ही पौंड दूसरी प्रमुख मुद्राओं के सम्बन्ध में घटता-बढ़ता रहे। स्टर्लिंग क्षेत्रों के देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध पर्याप्त घनिष्ठ थे और इसलिए उन्हें इस योजना में सफलता प्राप्त हो सकी। इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस के बीच भी एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि पौंड, फ्रांक और डालर में आने वाले तीव्र उतार-चढ़ाव को रोका जा सके।

भारत और स्टर्लिंग क्षेत्र
(India and Sterling Area)

स्टर्लिंग क्षेत्र बहुपक्षीय समझौतों (Multilateral Agreements) का एक रूप है। यह कुछ देशों का औपचारिक शब्द नहीं है और न ही इसे किसी सुनियोजित तरीके से उत्पन्न किया गया है। इसमें विभिन्न देश सामान्य हितों के कारण एक दूसरे के निकट आए हैं। ऐसा करने में प्रत्येक देश के ऊपर कुछ दायित्व आये हैं जबकि उन्हें विभिन्न सुविधाएं और लाभ प्राप्त हुए हैं। जब १९३१ में ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य अनेक देशों ने स्वर्ण मान छोड़ा तो इन्होंने अपनी मुद्राओं को स्टर्लिंग से संबद्ध कर दिया। इस प्रकार यह एक मुद्रा का क्षेत्र बन गया और इसे स्टर्लिंग क्षेत्र कहा जाने लगा। स्टर्लिंग क्षेत्र में जिन देशों को सम्मिलित किया जाता है, वे हैं— कनाडा को छोड़कर राष्ट्रमण्डल के सभी देश, ब्रिटिश संरक्षित राज्य (British Protectorates and Protected States), ब्रिटिश न्यास प्रदेश (British

Territories), बर्मा, जोरडन की राजधानी (Hashemite Kingdom cf Jorden), आइसलैण्ड (Iceland), आयरिश गणराज्य (The Irish Republic), और लीबिया (Libya)।

स्टर्लिंग क्षेत्र द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तक जिस प्रकार कार्य करता रहा, इसे देखकर यदि उसे लन्दन केन्द्रित अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की एक विश्वव्यापी संस्था कहें तो गलत न होगा। १९३९ तक स्टर्लिंग क्षेत्र विभिन्न प्रकार के देशों का एक समूह था। ब्रिटेन के साथ इन देशों के घनिष्ठ व्यापारिक एवं वित्तीय सम्बन्ध थे। इन देशों ने अपनी मुद्राओं के मूल्य को स्टर्लिंग के मूल्य के साथ जोड़ दिया। वे देश अपना अधिकांश विदेशी विनिमय कोष लन्दन में ही रखते थे। पौण्ड को स्वर्ण और डालरों में स्वतंत्रता पूर्वक बदला जा सकता था। यद्यपि उसकी विनिमय दरें घटती बढ़ती रहती थीं। स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य संसार के अधिकांश देशों से अपना वित्तीय लेन-देन लन्दन के माध्यम से ही किया करते थे। १९३९ में स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों की संख्या बढ़ गई।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर स्टर्लिंग क्षेत्र का आकार पर्याप्त घट गया। इसके स्थान पर अनेक विनिमय नियंत्रण लगा दिए गये। युद्धकाल में स्टर्लिग एरिया से सम्बन्धित भुगतान प्रतिबंधित हो गये क्योंकि इस समय केवल डालर क्षेत्र से ही सुविधापूर्वक खरीददारी की जाती थी। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के बाद स्टर्लिंग क्षेत्र की विशेषताएं बदल गयीं। अब इस क्षेत्र के देश अपने देशवासियों के विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं और ऐसा करते समय वे ब्रिटिश विनिमय नियंत्रणों से निर्देशन प्राप्त करते हैं। स्टर्लिग क्षेत्र के देश डालर क्षेत्र वाले देशों से होने वाले आयातों को प्राय: सीमित रखते हैं ताकि उन देशों के साथ भुगतान सन्तुलन अधिक प्रतिकूल न होने पाए। स्टर्लिंग क्षेत्र के कुछ देश पूंजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाते हैं किन्तु इस क्षेत्र के अधिकांश देशों के बीच भुगतान प्राय: स्वतन्त्रतापूर्वक ही किए जा सकते हैं। क्षेत्र के सभी देशों की डालर और दुर्लभ मुद्रा से सम्बन्धित आय एक नियंत्रित कोष में रखी जाती है। समूह के बाहर वाले देशों को भुगतान करने के लिए भी कोष से डालर और दुर्लभ मुद्राएं प्राप्त हो सकती हैं किन्तु इनकी प्राप्ति केवल उचित सीमाओं तक ही सीमित है।

भारत को स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता से पर्याप्त लाभ है। यह सच है कि इस सदस्यता के कारण देश की स्वतन्त्रता कुछ प्रतिबन्धित होती है किन्तु भारत को इस क्षेत्र का सदस्य बने रहने से कई लाभ प्राप्त हुए हैं—

(१) भारत अन्य सदस्य देशों से स्वतन्त्रता पूर्वक व्यापार कर सकता है। इस प्रकार के व्यापार के भुगतान की जिम्मेदारी स्टर्लिंग क्षेत्र की बैंक ऑफ इंगलैंड पर रहती हैं। (२) सदस्य देशों के साथ पूंजी का परस्पर हस्तांतरण भी किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप भारत को अत्यधिक लाभ हुआ है किन्तु इंगलैण्ड के वास्तविक साधनों को पर्याप्त हानि हुई है। (३) द्वितीय महायुद्ध के दौरान इंगलैंड ने सदस्य देशों से जो फौजी सामान खरीदा था उसके भुगतान को ब्रिटेन ने उन देशों के खाते में जमा कर दिया। इसके तहत भारत ने इंगलैंड तथा अन्य राष्ट्रों से पर्याप्त पूंजीगत माल खरीदा और अपने आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा किया। यदि भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य नहीं होता तो वह स्टर्लिंग बैलेन्स नहीं कमा सकता था। इसके अलावा युद्ध काल में जो स्वर्ण और डालर भारत ने कमाये उन्हें ग्रेट ब्रिटेन उसका शासक होने के कारण स्वयं हड़प सकता था। स्टर्लिंग क्षत्र का सदस्य होने के कारण, स्वतन्त्रता के बाद उसे अपनी यह कमाई ज्यों की त्यों प्राप्त हो गयी।

१९४७ से पूर्व भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग था। युद्ध के दौरान यह पौण्ड सन्तुलन रखने वाले देशों में एक महत्वपूर्ण देश था। इसके पौण्ड की निधि लगभग ५० मिलियन पौण्ड थी जो कुल निधि का २० प्रतिशत भाग थी। युद्ध के दौरान उसके सन्तुलन की प्रगति और भी हुई तथा वह पौण्ड के स्वामियों में सर्वोपरि समझा जाने लगा। युद्ध के अन्त में भारत के पास दुनियां की पौण्ड निधि का ५० प्रतिशत से भी अधिक भाग था। यह स्थिति उस समय थी जब वह युद्ध में ३२० मिलियन डालर खर्च कर चुका था। पौण्ड क्षेत्र का सबसे बड़ा उपयोग यह है कि इससे विभिन्न सदस्य देश परस्पर स्वतन्त्रतापूर्वक आदान-प्रदान कर सकते हैं। यही कारण है कि इस व्यवस्था को आन्तरिक रूप से बहुपक्षीय व्यापार क्षेत्र कहा जाता है। इस क्षेत्र का मुख्य देश ग्रेट ब्रिटेन है और अन्य देश वे हैं जो कभी न कभी इसके साम्राज्य का भाग रहे हैं।

अतीतकालीन भारत में पौण्ड सन्तुलन अथवा अन्य विदेशी सन्तुलन की रचना की। इस देश की शक्ति पर्याप्त सीमित थी क्योंकि इसकी अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति अर्द्ध-विकसित थी। भारत का रुपया पौण्ड से जुड़ा हुआ था अतः इसके बाहरी मूल्य को बनाए रखने के लिए तथा कागजी मुद्रानिधि के लिए भारत को पौण्ड की आवश्यकता थी। इन उद्देश्यों के लिए कुछ कार्यवाहक सन्तुलन भी लंदन में रखे गये। युद्ध से पूर्व भारत अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में एक कर्जदार देश था। इसके फलस्वरूप उसे पौण्ड के क्षेत्र में विशेष दायित्वों का निर्वाह करना पड़ा। भारत के बाहर रुपये का निवेश व्यावहारिक

रूप से नहीं के बराबर था दूसरी ओर भारत में जोखिम पूंजी और कर्ज की पूंजी के रूप में पौण्ड का पर्याप्त प्रसार था। देश के राजनैतिक स्तर के कारण भी उस पर अनेक पौण्ड सम्बन्धी दायित्व पड़े। उदाहरण के लिए इण्डिया हाऊस का खर्चा, सेवा निवृत अधिकारियों की पेंशनें, भारत में ब्रिटिश सेवी दल के परिवारों को दिया गया धन आदि-आदि। इन सब कार्यों के लिए जरूरी था कि भारत व्यापारिक लेखों पर निर्यात का अतिरेक रखे। इन सब लेन-देनों ने रुपये की अपेक्षा पौण्ड को मजबूत कर दिया और व्यापार शर्तों को देश के विपरीत बना दिया। लंदन में भारत सरकार द्वारा पौण्ड के रूप में जो खर्चे किए जाते थे उनको गृह खर्चे कहा जाता था। प्रथम महायुद्ध के समय ये गृह खर्चे लगभग २० मिलियन पौण्ड तक हो गये। उनके बाद ये बढ़ते गये।

पौण्ड की पूर्ति
(The Supply of Sterling)

पौण्ड का स्रोत, जिसे परम्परागत रूप से प्रयुक्त किया जाता था, पर्याप्त उन्नतिशील था। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व भारत संसार के दूसरे देशों से जितना माल खरीदता था उससे अधिक वह उनको बेचता था। भारत के निर्यात का अतिरेक उसकी आर्थिक सम्पन्नता का सूचक नहीं था। बेची जाने वाली वस्तुओं में व्यापार सन्तुलन के लेखे का अतिरेक यह सम्भव बनाता था कि देश गृह खर्चों तथा अन्य सेवाओं से सम्बन्धित अपने दायित्वों का निर्वाह कर सके। यही कारण है कि १९३० के दौरान सामान्यतः यह माना गया कि भारत का निर्यात अतिरेक ही उसके पिछड़ेपन का कारण है।

१९३१–३२ के दौरान ग्रेट ब्रिटेन में स्वर्ण की कमी आई तो भारत ने विदेशी विनिमय या पौण्ड की अपनी पूर्ति में एक नया स्रोत जोड़ दिया और वह स्वर्ण का निर्यात करने लगा। इसी काल में भारत ने चांदी का भी निर्यात किया। चांदी के निर्यात द्वारा उसने बहुत धन कमाया। इस धन की मात्रा आगे चार वर्षों मे होने वाले खर्चों को पूरा करने के लिए पर्याप्त थी। युद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन भारत के सुरक्षा बजट मे योगदान करता था और इस प्रकार पौण्ड की उसकी पूर्ति में सहायता करता था। १९३८ में भारत का रक्षा व्यय पर्याप्त बढ़ गया क्योंकि ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों का वेतन बढ़ गया था तथा नौ सेना और वायुसेना के क्षेत्र में प्रसाधनों की वृद्धि हो गयी थी। बढ़े हुए खर्च के कारण ब्रिटेन ने भारत को सहायता दी।

१९३८ में ब्रिटिश सरकार ने चैटफील्ड समिति (Chatfield Committee) नियुक्त की जिसका काम भारत की सशस्त्र सेनाओं के

संगठन का आधुनिकीकरण करने के लिए सुझाव प्रस्तुत करना था। इस समिति के सुझावों के आधार पर भारत के सुरक्षा बजट में ब्रिटेन का योगदान बढ़ गया। इस समिति के प्रस्तावों ने यह भी समर्थन किया था कि भारत सरकार भारत की बाहरी सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ संयुक्त उत्तरदायित्व स्वीकार करेगी। इस समिति की सिफारिशों को मानने के बाद ब्रिटिश अधिकारी स्रोतों से भारत में पौण्ड की पूर्ति बढ़ गयी किन्तु तुरन्त ही छिड़ने वाले युद्ध ने इन सिफारिशों को क्रियान्वित करने से पहले ही असामयिक बना दिया। इसने भारत में ब्रिटिश सरकार का सुरक्षा व्यय बढ़ा दिया और ब्रिटेन पर भारतीय उत्तरदायित्व डाले।

पौण्ड का अवमूल्यन
(Devaluation of Pound Sterling)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पौण्ड का अवमूल्यन किया गया, इसके लिए उत्तरदायी विभिन्न कारण थे—

(१) ग्रेट ब्रिटेन का व्यापार संतुलन हमेशा उसके विपरीत रहता था किन्तु वह अदृश्य निर्यातों के माध्यम से अपने भुगतान संतुलन में सम-तुल्यता प्राप्त कर लेता था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वह विश्व के सबसे बड़े कर्जदाता के स्थान पर विश्व का सबसे बड़ा कर्ज लेने वाला बन गया क्योंकि उसके अदृश्य स्रोत घट गये थे।

(२) मार्शल सहायता के माध्यम से इसने अपने डॉलर और स्वर्ण की गम्भीर कमी के बावजूद भी अपनी उत्पादन क्षमता को सुधारने का प्रयास किया और १९४८ के उत्तरार्द्ध में वह अपने बाहरी लेखों में समतुल्यता प्राप्त कर सका। १९४९ के प्रथम काल में उसकी स्वर्ण और डालर की निधियों में १४ मिलियन पौण्ड की वृद्धि हुई। अब ब्रिटेन के सामने यह समस्या थी कि वह सोने और डालर की इस निधि को शीघ्र काम में लाए। पौण्ड क्षेत्र वाले अन्य देशों के भारी मात्रा में पीछे हटने के कारण परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर बन गयी।

(३) लन्दन में कुछ वित्तीय विशेषज्ञ और राजनीतिज्ञ यह मत रखते थे कि पौण्ड क्षेत्र और नम्र मुद्रा वाले देशों पर अवांछनीय निर्यात का बोझा है, जिसके परिणामस्वरूप पुरानी पौण्ड दरें टूटने लगी हैं।

(४) १९५२ के मध्य के बाद मार्शल योजना के आधीन सहायता कार्य रोक दिया गया।

(५) जब पौण्ड मौलिक रूप से असमतुल्यतापूर्ण मुद्रा बन गया तो इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अधिक डालर का कर्ज देने से मना कर दिया।

पौण्ड का अवमूल्यन होने के कारण भारत सरकार ने भी उसी सीमा तक भारतीय रुपये का अवमूल्यन करने का निर्णय लिया ताकि रुपये तथा पौण्ड के बीच समानता बनाई जा सके। विभिन्न मुद्राओं के बाद जब पौण्ड का भी अवमूल्यन हो गया तो उन बदली हुई परिस्थितियों में रुपये का अवमूल्यन करना आवश्यक हो गया। कई विचारक एवं लेखक यह मानते हैं कि जब रुपये का अवमूल्यन किया गया तो उस पर प्रेस या जनता द्वारा कोई विचार-विमर्श नहीं किया गया था जबकि होना यह चाहिए था कि भारत स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेता। सम्भवतः ऐसा होने पर ही वह अधिक लाभान्वित हो सकता था। भारत ने निर्णय लेने में काफी शीघ्रता की।

जब पौण्ड के बाद मुद्राओं के अवमूल्यन होने लगे तो यह स्पष्ट हो गया कि पौण्ड क्षेत्र अभी भी विश्व में एक महत्वपूर्ण शक्ति है। इतने पर भी अनेक बाहरी और आन्तरिक शक्तियां इसके प्रभाव को घटाने में प्रयत्नशील थीं। पौण्ड क्षेत्र की सदस्यता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये जिन्हें स्वीकार न करने पर कुछ देशों ने इसे छोड़ दिया। यह प्रवृत्ति एकीकरण विरोधी नहीं कही जा सकती क्योंकि कुछ सदस्यों को छोड़कर पौण्ड के अवमूल्यन होने पर भी अन्य सदस्यों ने इसे नहीं छोड़ा। इससे यह जाहिर होता है कि वे अभी भी इसका सदस्य होना लाभदायक मानते हैं। पौण्ड क्षेत्र अभी भी संसार में सबसे बड़ा बहुपक्षीय व्यापार क्षेत्र (Multilateral Trade Area) है और यह दुनियां के व्यापार का लगभग २५ प्रतिशत भाग संचालित करता है। इसके सदस्यों को प्रमुख लाभ यह है कि उन्हें आपसी व्यापार में लगातार संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इस क्षेत्र में भुगतानों की स्वतन्त्रता है।

इस क्षेत्र के देशों ने व्यापार में वृद्धि करने के अतिरिक्त अपने डालर की भी बचत की है। पौण्ड क्षेत्र की व्यापारिक एवं वित्तीय नीतियां बहुत कुछ पूरक प्रकृति की हैं। अवमूल्यन के बाद जो परिवर्तन आए उन्होंने पौण्ड क्षेत्र के मूल तत्वों को प्रभावित नहीं किया। यह अभी भी सामान्य हितों, सुविधा और कुशलता की शक्ति बना रहा। क्षेत्र के सदस्य प्राथमिकतापूर्ण प्रशुल्क व्यवस्था के भाग हैं। इनके द्वारा गैर-पौण्ड क्षेत्रों पर समान विनिमय नियंत्रण लागू किया जाता है। पौण्ड क्षेत्र के अधिकांश देशों के लिए ब्रिटेन सबसे बड़े बाजार और पूर्तिकर्त्ता का काम करता है। सम्पूर्ण क्षेत्र के मूलभूत बैंक सम्बन्धी कार्यों का लन्दन में केन्द्रीयकरण करने के कारण इसके सदस्यों को पर्याप्त विनिमय स्थायित्व प्राप्त हो गया है। सभी महत्वपूर्ण विषयों पर क्षेत्र के सदस्य संयुक्त कार्यवाही करते हैं जो उनके स्वार्थों के अनुकूल होती है।

पौण्ड क्षेत्र का वर्तमान सन्दर्भ में अस्तित्व ब्रिटेन तथा उसके विभिन्न सदस्यों के हित में है क्योंकि इससे उनका आपस में पारस्परिक आर्थिक विकास होता है और व्यापार में वृद्धि होती है। पौण्ड क्षेत्र का समर्थन संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता एवं सरकार द्वारा नहीं किया जाता। ये इसे सन्देह की नजर से देखते हैं क्योंकि क्षेत्र के बाहर के देशों के प्रति यह भेदभाव-पूर्ण नीति अपना सकता है वैसे अमल में यह विचार कोरा भ्रम है। यद्यपि क्षेत्र के विभिन्न देशों की नीति में एकरूपता पाई जाती है किन्तु इन पर ग्रेट ब्रिटेन की मर्जी थोपी नहीं जाती। क्षेत्र को तोड़ने पर भी अमेरिका से इसके सदस्यों का आयात नहीं बढ़ेगा वरन् कम हो जाएगा क्योंकि कुछ सदस्य तो अमेरिका से अधिक खरीद सकेंगे जबकि अन्य सदस्य कम खरीददारी कर पाएंगे। इसके अतिरिक्त इन सदस्यों को एक दूसरे के साथ खरीददारी करने में कठिनाई का अनुभव होगा और इसलिए वे संयुक्त राज्य अमेरिका से अधिक से अधिक कर्ज प्राप्त करना चाहेंगे। असल में पौण्ड क्षेत्र बहुपक्षीय व्यापार की अमेरिकी नीति के अनुकूल है क्योंकि यह सदस्यों को अधिक से अधिक विनिमय स्वतंत्रता प्रदान करता है। यह एक व्यावहारिक क्षेत्रीय प्रबन्ध है।

पौण्ड क्षेत्र, पौण्ड के विश्वास पर आधारित है और यह उसी समय तक बना रह सकता है जब तक कि पौण्ड में विश्वास बना रहे। इस क्षेत्र की वृद्धि वांछनीय है किन्तु फिर भी इसके बने रहने का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि अन्य क्षेत्रीय ब्लाक बना दिए जाएं और भेदभाव-पूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाय। विचारकों के अनुसार पौण्ड क्षेत्र को वर्तमान संक्रमण काल की कठिनाइयों और भारी बहुपक्षीयता के बीच का पुल मानना चाहिए।

भारत के लिए औचित्य
(Validity for India)

१९३० और युद्ध के बाद के पौण्ड क्षेत्र में पर्याप्त अन्तर है। पहले पौण्ड एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा थी किन्तु युद्ध के बाद पौण्ड का स्थान घटा और इसलिए पौण्ड क्षेत्र का स्थान भी घट गया। कई एक पुराने सदस्यों ने इसे छोड़ दिया। व्यापक रूप से यह मांग भी की जाने लगी कि भारत को भी इसे छोड़ देना चाहिए। अन्य कई लेखक इस मांग को वांछनीय नहीं मानते। भारत पौण्ड सन्तुलन का सबसे बड़ा स्वामी है और इसलिए वह पौण्ड को मजबूत बनाने में रुचि लेता है। इस दृष्टि से उसे ब्रिटेन के साथ सहयोग करना चाहिए ताकि उसकी अर्थ व्यवस्था को उचित बनाए रखे और उसे पौण्ड क्षेत्र में ठहरने दे। ब्रिटेन और भारत दोनों का हित यह मांग करता

है कि भारत को न केवल डालर क्षेत्र से वरन् पौण्ड क्षेत्र से भी अपने आयातों को काट लेना चाहिए। ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध एक समान सहयोगी मित्र का होना चाहिए। भारत के सभी पौण्ड सन्तुलन लौटाए जा चुके हैं। ऐसी स्थिति में भारत को पौण्ड क्षेत्र में बने रहने से लाभ होगा।

पौण्ड आज भी एक ऐसी मुद्रा है जिस पर दुनियां के बड़े क्षेत्र आश्रित हैं और इसे अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में विनिमय का माध्यम बनाते हैं। इसके अलावा लन्दन अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के पूर्ण यन्त्र से सम्पन्न है और यह यातायात, बीमा, इत्यादि सभी सुविधाओं को प्रदान करता है। ऐसी स्थिति में पौण्ड क्षेत्र के देशों तथा कुछ अन्य देशों के विदेशी व्यापार के एक बहुत बड़े भाग की वित्त व्यवस्था लन्दन द्वारा की जाती है। लन्दन को वर्षों का अनुभव है तथा इसकी लम्बी परम्पराएं हैं इसलिए यह अभी भी विश्व व्यापार की वित्तीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण बना हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विनिमय नियंत्रण की नीतियों द्वारा पौण्ड की स्वतंत्र परिवर्तनशीलता पर्याप्त मर्यादित हो गयी है। इसके बिना वह विश्व मुद्रा नहीं बन सकता। युद्ध के दौरान पौण्ड क्षेत्र सबसे बड़ी इकाई था। इसमें अनेक और विभिन्न प्रकार के देश सम्मिलित थे। इसके देशों के बीच बहुपक्षीय व्यापार था और इसकी मुद्राएं परिवर्तनशील थीं। आज भी पौण्ड क्षेत्र की यह प्रकृति कायम है। पौण्ड की परिवर्तनशीलता को प्रसारित करने के लिए विभिन्न प्रयत्न किए जाते हैं किन्तु आज यह भी आवश्यक बन गया है कि इसके सदस्य डालर को बचाने और कमाने में एक हो जाएं। डालर की कमी जितनी अधिक होगी उतना ही इसके सदस्यों को अधिक लाभ प्राप्त होगा। पौण्ड क्षेत्र को छोड़ने से सदस्य देशों की स्थिति और भी खराब हो जाएगी क्योंकि उस समय उन्हें केन्द्रीय पूल (Central Pool) से बिना किसी सहायता के प्राप्त किए ही अपने भुगतानों को सन्तुलित करना होगा। इसके अतिरिक्त इन देशों का पौण्ड क्षेत्र के विभिन्न देशों के साथ व्यापार जो इस समय समस्त प्रतिबन्धों से मुक्त है, ऐसे ही प्रतिबन्धों से पूर्ण बन जाएगा जो गैर-सदस्यों अथवा कड़ी मुद्रा वाले क्षेत्रों पर लगे रहते हैं।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, उसे पौण्ड क्षेत्र से वापस लौटने की सलाह नहीं दी जाती क्योंकि वह डालर-पूल (Dollar Pool) को जितना योगदान देता है उससे अधिक वह प्राप्त कर लेता है। कहने का अर्थ यह है कि पौण्ड क्षेत्र में रहने से डालर क्षेत्र के देश भारत के साथ कोई भेदभाव पूर्ण व्यवहार नहीं बरतते। १९४७ से लेकर १९५० तक के तीन वर्ष के काल में भारत ने कुल ८९ मिलियन डालर प्राप्त किया। स्पष्ट है कि भारत के साथ कोई अनुचित या अन्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया गया।

पौण्ड क्षेत्र में बने रहने के लिए यह जरूरी है कि इसके सदस्य समानता के आधार पर बलिदान करने को तैयार हों; अर्थात आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न सदस्य गरीब तथा अभावग्रस्त सदस्यों की अपेक्षा अधिक बलिदान करें। सिद्धान्त यह होना चाहिए कि प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाए और प्रत्येक से उसकी आवश्यकतानुसार लिया जाय।

भारत और ब्रिटेन के युद्धोत्तर समझौते

(Post-war Agreements Between India and U.K.)

१९४७ के बाद भारत ने पौण्ड सन्तुलनों के प्रयोग के लिए समय-समय पर ग्रेट ब्रिटेन से समझौते किये। इस प्रकार एक नयी स्थिति ने जन्म लिया जिसमें पौण्ड का प्रयोग करने की असीमित स्वतन्त्रता अब समाप्त हो गयी। यह पौण्ड क्षेत्र के यन्त्र में एक नया महत्वपूर्ण विकास था। पारस्परिक भुगतानों पर लगे हुए प्रतिबन्धों को तकनीकी दृष्टि से १९४९ में वापिस ले लिया गया।

इस दृष्टि से दोनों देशों के बीच विभिन्न समझौते हुए। इनमें पहला समझौता ४½ महिने के लिए किया गया। इस पर १४ अगस्त, १९४७ को लन्दन में हस्ताक्षर किये गये। यह समझौता ३१ दिसम्बर, १९४७ तक चलना था। इसके अनुसार भारत के अतीतकालीन संचयों को दो भागों में विभाजित किया गया—स्वतन्त्र और मर्यादित। इनके अनुरूप ही भारत के रिजर्व बैंक ने इंगलैंड के बैंक के साथ दो अलग-अलग लेखे खोले। लेखा संख्या–१ और लेखा संख्या–२। इनमें लेखा नं० १ पौण्ड क्षेत्र के निवासियों के लिए किसी भी भुगतान के उद्देश्य से किसी भी मुद्रा में चालू लेन-देन का भुगतान था। इसका अर्थ यह हुआ कि भुगतान पौण्ड क्षेत्र में चालू उद्देश्यों और पूंजीगत उद्देश्यों दोनों के लिए किये जा सकते थे। जहां तक लेखा नं० २ का सम्बन्ध है वह कुछ सहमत परिवर्तनों से ही विशेष रूप से सम्बन्धित था। भारत की कुल पौण्ड की सम्पत्ति जो १४ जुलाई, १९४७ को अनुमानित की गयी वह लगभग ११६० मिलियन पौण्ड थी। इसमें से ६५ मिलियन पौण्ड को लेखा नं० १ में रखा गया और शेष १०९५ मिलियन पौण्ड को लेखा नं० २ में रखा। यह प्रावधान किया गया कि समझौते के बाद चालू लेन-देन तथा लेखे नं० २ के अन्तर्गत भारत जो भी पौण्ड कमाएगा वह लेखा संख्या–१ में चला जाएगा। भारत द्वारा १५ जुलाई, १९४७ के बाद लेखा नं० १ में से जिस धन का भुगतान किया जाएगा, वह लेखा नं० २ में से इस लेखे के लिए उतने ही धन के परिवर्तन द्वारा पूरा किया जाएगा।

• पूंजीगत स्थानान्तरणों (Capital Transfers) के सम्बन्ध में इस समझौते में यह व्यवस्था की गयी कि समय-समय पर भारत का रिजर्व बैंक

और इंगलैंड का बैंक एक दूसरे के साथ विचार-विमर्श करेंगे ताकि उपलब्ध सांख्यिकी आंकड़ों के आधार पर दूसरे पौण्ड क्षेत्र के देशों को भारत से होने वाले कुल पूंजीगत आवागमन का पता लगाया जा सके। इस बात पर भी सहमति प्रकट की गयी कि भारत से ग्रेट ब्रिटेन को जाने वाली उस सम्पत्ति पर कर न लगाया जाय जो ब्रिटेन में जन्म लेने वाले लोगों की बचत की पूंजी है तथा जो ग्रेट ब्रिटेन में स्थायी रूप से रहने के लिए भारत को छोड़ रहे हैं।

१४ अगस्त, १९४७ का यह समझौता १५ फरवरी, १९४८ को आगे बढ़ाकर ३० जून, १९४८ तक लागू कर दिया गया।

दूसरे वित्तीय समझौते पर ९ जुलाई, १९४८ को हस्ताक्षर किये गये। यह एक अधिक व्यापक अभिलेख था, इसमें लेखा नम्बर–२ से पौण्ड के सामयिक प्रसारण की अन्य व्यवस्था की गयी। इसके अलावा कुछ विशेष प्रश्नों के सम्बन्ध में भी समझौता किया गया। समझौते में अगले तीन वर्षों के लिए पौण्ड के प्रसारण के लिए प्रावधान रखे गये। इस प्रकार यह उन छमाही प्रावधानों के लिए एक दीर्घकालीन प्रयास था जो अब तक सामान्य समझे जाते थे। इस समझौते में पूर्व समझौते के अधीन प्रतिबन्धों को पुनः नवीन कर दिया। पैन्शनों तथा स्टोरों एवं निश्चित सम्पत्तियों के बारे में भारत और पाकिस्तान सरकार के बीच संयुक्त रूप से समझौते हुए।

पौण्ड सन्तुलन की वतमान स्थिति
(Present Condition of Sterling Balances)

स्वतन्त्रता के बाद से भारत के सामने पौण्ड को सन्तुलित करने की समस्या इतने महत्वपूर्ण रूप से नहीं आएगी। सन्तुलन पुनः विकसित हो सकते हैं किन्तु अब वे भारत, पाकिस्तान, मिस्र, लंका और अन्य देशों द्वारा रखे गये पौण्ड सन्तुलन नहीं होंगे परन्तु डालर, रूबल अथवा रुपये के सन्तुलन होंगे जो इस या उस या अन्य देशों के किसी भी समूह द्वारा रख जाएंगे। ऐसा होने पर इन सन्तुलनों को सुलझाने के सम्बन्ध में ऐसी ही समस्याएं उठेंगी। यदि इन सन्तुलनों को असाधारण कह दिया जाय तो इससे वास्तविक समस्या का समाधान नहीं होगा। इनके पूर्ण दायित्व स्वीकार न करने के लिए यदि कोई औचित्य ढूंढ लिया गया तो वह भी अधिक सही नहीं माना जाएगा। वे केवल इस अर्थ में असाधारण हैं कि वे ऐसे समय उत्पन्न होते हैं जब एक देश के आयात-निर्यात का रूप अचानक ही बदल जाता है और ऐसा माल अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में प्रवेश पाता है जो पहले केवल घरेलू

व्यापार का विषय था, अथवा जिसे पहले पर्याप्त मात्रा में नहीं बेचा जाता था। इस सन्तुलन को कर्ज कहने पर जो मानसिक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है उसके फलस्वरूप ये स्वभावत: असाधारण बन जाते हैं।

इस सम्बन्ध में यह तर्क दिया जा सकता है कि कर्ज शब्द कोई विशेष महत्व नहीं रखता और यह खतराहीन है, क्योंकि बैंक सन्तुलन (Bank Balances) भी एक अर्थ में कर्ज होते हैं। किन्तु निश्चय ही कर्ज शब्द के अन्य अर्थ भी हैं और जो लोग पौण्ड सन्तुलनों को लगातार कर्ज कह कर पुकारते हैं वे उन्हें ठीक उसी अर्थ में कर्ज नहीं कहते जिस अर्थ में बैंक सन्तुलनों (Bank Balances) को कर्ज माना जाता है।

तथ्य यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विशेष विदेशी निधियां समय-समय अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में उभर सकती हैं। यदि ऐसा है तो यह ठीक ही है कि पहले से ही एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता कर लिया जाय जिसका आधार ऐसे सिद्धान्त हों जो भविष्य में विशेष निधियों के समझौते को प्रशासित करें। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा इस क्षेत्र में वाद-विवाद के लिए स्थान प्रस्तुत करता है। यह एक अवसर की बात है कि भारत के पौण्ड सन्तुलनों का समझौता अन्त में मित्रतापूर्ण रूप से पूर्ण हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इस प्रकार के समझौतों के लिए मान्य प्रक्रिया द्विपक्षीय समझौते हैं जो अब तक के सामान्य नियम रहे हैं।

STERLING TRANSACTIONS OF THE RESERVE BANK OF INDIA[१]

Year/month/week ended Friday	Purchase[2]		Sale[3]		NET Purch ases/Sales (+) (−)	
	(Pounds) 000'S	(Rs. Lakhs)	(Pounds) 000'S	(Rs. Lakhs)	(Pounds) 000'S	(Rs. Lakhs)
1960–61	31,310	4174	62112	4288	−30802	−4114
1961–62	38509	5135	78874	10526	−40365	−5391
1962–63	58345	7779	73746	9842	−15401	−2063
1963–64	71363	9515	22034	2941	+49329	+6574
1964–65	41180	5491	68627	9159	−27447	−3638
1965–66	12283	16291	81972	10941	+40211	+5350

Year/month/week ended Friday	Purchase[2]		Sale[3]		NET Purchases/Sales	
	(Pounds) 000'S	(Rs. Lakhs) 000'S	(Pounds) 000'S	(Rs. Lakhs)	(+) (Pounds)	(−) (Rs. Lakhs)
1966–67	125893	24760	84494	14345	+41398	+10415
1967–68	76318	15524	50862	10142	+25456	+5382
1968–69	163055	29655	171976	31054	−8921	−1399
1969–70	165755	29836	175918	31766	−10163	−1930

Note:—Rupee devalued on June 6, 1966 and Pound Sterling devalued on November 18, 1967.

1. Excluding Govt Transactions.
2. Cover Spot Purchases and deliveries against forward Purchase Contracts
3. Cover Spot Sales and deliveries against forward sale Contracts.

Source—Reserve Bank of India Bulletin, June, 1970, P. 1049

(१०) विदेशों से पूंजीगत वस्तुओं और अतिरिक्त पुर्जों का आयात कम से कम किया जाय और उन्हें देश में ही बनाया जाय।

(११) उपयोग के लिए विदेशी साधनों का प्रयोग न किया जाय क्योंकि अवमूल्यन ने विदेशी सहायता और सहयोग को पर्याप्त महंगा बना दिया है।

(१२) आने वाले १२ महीनों में मजदूरी तथा वेतन में किसी प्रकार की वृद्धि न की जाय।

(१३) कार्यालयो और कारखानों में काम के घण्टे अधिक कर दिए जायें।

अवमूल्यन के सम्बन्ध में इस मिली-जुली प्रतिक्रिया को देखने के बाद कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं— (१) अवमूल्यन तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम था, इसे रोका नहीं जा सकता था। (२) अवमूल्यन से जिन लाभों घोषणा [illegible]शा की गयी वे केवल तभी प्राप्त किये जा सकते थे जब कि पर्याप्त विस्तार त[illegible] दृष्टिकोण अपनाए जाय। (३) अवमूल्यन, समस्याओं का एक की [illegible] है। यह अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। (४) अवमूल्यन के बाद यदि पर्याप्त सावधानी, संयम और सजगता न बरती जाय तो इसका दुष्परिणाम देश को भुगतान होगा।

अवमूल्यन का आयात-निर्यात पर प्रभाव
(Impact of Devaluation on Import-Export)

अवमूल्यन का प्रभाव देश के आयातों और निर्यातों पर उल्लेखनीय रूप से पड़ा। विभिन्न वस्तुओं पर से निर्यात नियन्त्रण हटा दिया गया जबकि दूसरी कुछ वस्तुओं पर निर्यात कर लगा दिए गये। अवमूल्यन से निर्यातों का बढ़ना दो बातों पर निर्भर करता था। (१) विदेशी खरीदारों की हमारी वस्तुओं के प्रति माँग की लोच कितनी है, और (२) हमारे देश में पूर्ति की परिस्थितियां कैसी हैं। अवमूल्यन के तुरन्त बाद भारत के निर्यात तेजी से घटे। जून, १९६६ में अवमूल्यन के कारण जो अस्त-व्यस्त स्थिति पैदा हुई उसने हमारे निर्यातों को बहुत कम कर दिया; क्योंकि निर्यात व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न फसलों पर अधिकारियों का दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं था। बाद में निर्यात व्यापार कुछ बढ़ा। फिर भी वह पिछले वर्ष की तुलना में कम रहा। कुल मिलाकर १९६६–६७ की अवधि में भारत का निर्यात ११३२.४ मिलियन डालर था। यह १९६५–६६ को तुलना में १६० मिलियन डालर कम था। इन दोनों वर्षों के निर्यातों को निम्न तालिका द्वारा वर्णित किया जा सकता है।

भारतीय निर्यात (मिलियन डालर में)

माह	१९६५–६६	१९६६–६७	परिवर्तन
१	२	३	४
अप्रैल	११९.७	१३१ ५	१+ १.८
मई	१२९.६	१३६.३	+ ६.७
जून	१४३.३	८०.८	– ६२·५
जुलाई	१३०.०	१०२.१	– २७·९
अगस्त	१४१.८	१३३.३	– ८.५
सितम्बर	१४८ ७	१२९.९	– १८ ८
अक्टूबर	१४० १	१४९.२	+ १[illegible]
नवम्बर	१५६.९	११९ ७	
दिसम्बर	१५२.७	१३९.३	
जनवरी	१३८.२	१३८.०	– ०.२
फरवरी	१२७ ९	११८.८	– ९.१
मार्च	१६३ ५	१५३.५	– १०.०
कुल अप्रेल–मार्च	१६९२.४	१५३२.४	– १६०.०
जून–मार्च	१४४३.१	१२६४.६	– १७८.५

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि अवमूल्यन ने निर्यात को बढ़ाने की अपेक्षा उसे घटाया। निर्यात कम होने में मानसून आदि प्राकृतिक अवरोधों ने पर्याप्त प्रभाव डाला। अवमूल्यन के बाद, जैसा कि प्रो० वकील का मत है, सरकार ने आवश्यक उपाय अपनाने में शीघ्रता नहीं बरती और इसलिए आर्थिक स्थिति में वांछनीय सुधार न हो सके। सरकार मुद्रा-स्फीति पर नियंत्रण रखने में असफल रही। केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा अपने कर्मचारियों का मंहगाई भत्ता बढ़ा देने के कारण आवश्यक वस्तुओं के भाव अप्रत्याशित रूप से बढ़ गये। अवमूल्यन के बाद उत्पादनों एवं निर्यातकर्त्ताओं को अनुशासनबद्ध होकर कठिन परिश्रम करना था किन्तु इसके स्थान पर उन्होंने आर्थिक सहायता और निर्यात करों में कमी की मांग की। अवमूल्यन ने राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को इस स्थिति में ला दिया जहां उसके सामने जीवन और मरण का प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन गया है। ऐसी स्थिति में उत्पादन

बढ़ाने और अपव्यय कम करने के लिए प्रयास करना अत्यन्त आवश्यक बन गया।.

रुपये के अवमूल्यन ने न केवल निर्यातों पर ही प्रभाव डाला वरन् देश के आयात भी इससे पर्याप्त प्रभावित हुए। कहा जाता है कि अवमूल्यन इसलिए किया गया ताकि बढ़ते हुए आयातों पर रोक लगायी जाय। किन्तु तथ्य यह है कि अवमूल्यन के बाद आयातों की स्थिति और भी बिगड़ गयी। अवमूल्यन के बाद आयात नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। आयात नीति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सावधानी बरती गयी। इस उदार नीति के अन्तर्गत सरकार ने ५९ ऐसे उद्योगों की सूची प्रकाशित की जिन्हें प्राथमिकता दी गयी थी। यह कहा गया कि ये उद्योग अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन को बढ़ाने के लिए कच्चा माल, उपकरण और आवश्यक पुर्जे आदि ६ माह तक आयात कर सकते थे। इसके अतिरिक्त अगस्त, १९६६ में आयात व निर्यात के मुख्य नियन्त्रक ने १५ नियत उद्योगों के सम्बन्ध में नयी आयात नीति की घोषणा की। इन उद्योगों की रक्षा, पुनस्थापन, पुनर्वासन, आधुनिकीकरण, विस्तार तथा सुधार के लिए पूंजीगत आयात करने के हेतु विदेशी विनिमय की विशेष व्यवस्था करने का प्रावधान रखा गया। अवमूल्यन के परिणाम-स्वरूप आयातों की कीमत ५७ प्रतिशत बढ़ गयी और इसलिए यह डर था कि सम्भवतः आयात हतोत्साहित होंगे। आवश्यक वस्तुओं के आयात पर से सरकार ने आयात कर घटा दिया। आयात के सम्बन्ध में सरकार की उदार नीति होने के कारण आयातों के अधिकाधिक बढ़ने की आशाएं की जाने लगी। व्यापार सन्तुलन की स्थापना के लिए निर्यातों को बढ़ाना पर्याप्त आवश्यक था। यदि निर्यात नहीं बढ़ते तो व्यापार सन्तुलन में घाटे की स्थिति आ जाएगी। जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उन वस्तुओं का उत्पादन देश में करने के लिए तत्सम्बन्धी उद्योगों को प्रोत्साहन देना भी इसलिए आवश्यक माना गया।

१९

भारत का भुगतान सन्तुलन

(INDIA'S BALANCE OF PAYMENTS : RECENT TRENDS AND PRESENT POSITION)

["आलोच्य वर्षों में भारतीय व्यापार नीति को मुख्यत: दो उद्देश्यों के लिए रूप दिया गया है। प्रथम, भुगतान संतुलन के घाटे को कम करने के लिए और दूसरे, देश में प्रसारवादी प्रवृत्तियों को मोड़ने के लिए।"]

—फारेन ट्रेड रिव्यू

"Indian Trade Policy has been shaped during recent years chiefly by the need to reduce the deficit in the balance of payments and, secondly, to curb inflationary tendencies in the country."

—Foreign Trade Review.

भारत का भुगतान संतुलन

(India's Balance of Payments : Recent Trends and Present Position)

निर्यात और आयात के अन्तर को व्यापार सन्तुलन कहा जाता है। यदि कोई देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता है तो संतुलन उसके अनुकूल माना जाएगा और यदि वह निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है तो सन्तुलन उसके प्रतिकूल कहा जाएगा। आयात और निर्यात केवल दृश्य वस्तुओं के ही नहीं होते किन्तु उन अदृश्य वस्तुओं के भी होते हैं जिन्हें देखा तो नहीं जा सकता लेकिन अनुभव किया जा सकता है तथा जो व्यापार सन्तुलन को प्रभावित करते हैं। आजकल भुगतानों के सन्तुलन का अध्ययन आर्थिक विचारों का मूलभूत विषय बन गया है। एक देश का 'भुगतान संतुलन' उस सन्तुलन का परिणाम है जो व्यापार के कारण, सीमाओं से पार बेची गयी सेवाओं के कारण तथा लिए गये ऋण के कारण स्थापित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भुगतान सन्तुलन को प्रभावित करते हुए इसे एक देश के निवासियों और दूसरे देश के निवासियों के बीच स्थित समस्त आर्थिक लेन-देनों का एक व्यवस्थित अभिलेख कहा है। एक देश के भुगतान सन्तुलन का सही अनुमान लगाने पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि वर्तमान और भविष्य में उसकी आर्थिक क्रियाएं क्या रहेंगी, उसकी साख कितनी होगी, वह भुगतान करने की कितनी क्षमता रख सकता है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में कितना योगदान कर सकता है।

युद्ध से पूर्व स्वर्ण मापक के आधीन भुगतान सन्तुलन को स्वर्ण की गति और पूंजी या केन्द्रीय बैंक के कार्यों द्वारा मूल्य स्तर में लाए गये परिवर्तनों के माध्यम से समायोजित किया जाता था। आजकल भुगतानों की अन्तर्राष्ट्रीय संरचना उल्लेखनीय रूप से बदल गयी है। वर्तमान परिस्थितियों में भुगतान सन्तुलन के समायोजन की परम्परागत धारा लागू नहीं होती फिर भी विश्व व्यापार को नियमित तथा नियंत्रित करने की आवश्यकता आज भी

उतनी ही महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बिना भुगतान सन्तुलन के गलत समायोजनों को नहीं रोका जा सकता है।

युद्ध पूर्व के भुगतान
(Pre-War Balance of Payment)

युद्ध से पूर्व भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल था किन्तु भुगतान सन्तुलन की स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं थी। निर्यात के अधिकांश अतिरेक को घरेलू उपभोक्ताओं को देने की अपेक्षा अंग्रेजों को भेज दिया जाता था। १९०७-८ और आर्थिक मन्दी के वर्षों (१९३२-३६) को छोड़कर भारत इतना समर्थ था कि वह गृह खर्चों (Home Charges) में प्रयुक्त की गयी सेवाओं की लागत और पूंजीगत आयातों पर ब्याज-भुगतानों को चुका सके। अदृश्य लेखे में घाटा लगभग ४५ करोड़ रुपये का होता था। भारत कृषि उत्पादनों और कच्चे माल का निर्यात करता था। यह उसे विपरीत व्यापार शर्तों के अनुसार करना होता था, देश के बाहरी लेखों को प्रतिवर्ष संतुलित करने में स्वर्ण के आवागमन द्वारा महत्वपूर्ण योगदान किया जाता था सम्पन्नता के समय स्वर्ण का आयात और विपरीत स्थिति में इसका निर्यात किया जाता था। १९३१-३२ से १९३८-३९ तक भारत से लगभग ३३७-३८ करोड़ रुपये का सोना निर्यात किया गया क्योंकि इस समय आर्थिक मन्दी के कारण इसकी अर्थ-व्यवस्था पर्याप्त छिन्न-भिन्न हो गयी थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत ने अन्य देशों की भांति कोई संरक्षणात्मक अथवा प्रतिबन्धकारी नीति नहीं अपनाई। भारत के निर्यात अतिरेक ने देश को सम्पन्न बनाने की दृष्टि से बहुत कम कार्य किया। निम्न तालिका सम्बन्धित आंकड़े प्रदान करती है।[1]
(तालिका पृ० ६३१ पर देखें)

युद्धकालीन भुगतान संतुलन
(War Time Balance of Payment)

युद्धकालीन भारतीय भुगतान सन्तुलन की विशेष मदें उपलब्ध नहीं होतीं। अदृश्य निर्यातों और आयातों की तो बात ही अलग है किन्तु दृश्य व्यापार सन्तुलन के सम्बन्ध में भी पूरी-पूरी सूचना प्राप्त नहीं होती। युद्ध के दौरान जो आंकड़े प्रसारित किये गये हैं वे केवल व्यक्तिगत रूप से ही किये गये व्यापार से सम्बन्धित थे। यहां तक कि १९४८ में प्रसारित भारत के विदेशी व्यापार से सम्बन्धित आंकड़े भी पूरी सूचना नहीं देते। पौण्ड सन्तुलन के सम्बन्ध में पूरी सूचनाएँ अवश्य प्राप्त हैं। इस बात का पूरा उल्लेख

1. Reserve Bank of India, Bulletin July 1949, Page 5,

PRE-WAR BALANCE OF PAYMENTS

(In Crores of Rupees)

	Caurrent Account					Cpital Account			
Year	Goods, Mercha-ndise	Services and Interest & dividends	Gold Other Services	Gold	Total	Capital long term	Capital Short term	Items total	Errors & ommiss-ions
१९२४–२५	+११७.६६	–३१.७८	–३३.३७	–७३.८८	–२१.३७	–१२.२५	–०.०३	–१२.२८	+३३.६५
१९३२–३३	– ५.४५	–३४.४१	–१६.१६	+६५.५२	+ ९.४८	+–६.५०	~–८.१५	–१४.६५	+ ५.१७
१९३६–३७	+ ५६.७३	–३२.३८	–१८.३१	+२७.८४	+३३.८८	–	–	–३३.३६	– ०५२
१९३७–३८	– ०.०२	–३०.१७	–१८.१३	+१६.३३	–३१.९९	–	–	+ ५.३०	+२६.६९
१९३८–३९	+ ७.२		–४६.४	+२३.३	–१५.७	–	–	+ ३.६	–१२.१

मिलता है कि युद्ध छिड़ने के बाद से रिजर्व बैंक ने खुले बाजार में पौण्ड की कितनी खरीददारी की तथा ब्रिटिश सरकार ने इसे कितना पौण्ड भेंट किया। भारत ने अपने पौण्ड के भुगतान सन्तुलनों में लगभग ४११ करोड़ रुपयों को पौण्ड के कर्जे चुकाने के लिए काम में लिया। पौण्ड सन्तुलनों के एक भाग का प्रयोग ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका से सोना खरीदने में किया गया ताकि भारत में इन देशों के युद्ध व्यय की पूर्ति की जा सके।

युद्धकालीन भुगतान सन्तुलन की विशेषताएँ

युद्धकाल में भारत के भुगतान सन्तुलन की कई विशेषताएं रहीं :—

(१) पौण्ड संन्तुलनों की व्यापकता के कारण यहां निरन्तर अनुकूल भुगतान सन्तुलन बना रहा भारी अदृश्य मदों के अतिरिक्त आयातों में कटौती और मूल्य उत्पादनों की कीमतों में सुधार तथा अनुकूल व्यापार शर्तें भुगतान सन्तुलन को अनुकूल बनाने के कारण थे।

(२) पौण्ड के कर्जों को चुकाने के कारण भारत एक पुराने कर्जदार से नया कर्जदाता बन गया। इसने सेवाओं के भुगतान में पर्याप्त कमी करके और होम चार्जेज को समाप्त करके यह स्थिति प्राप्त की। उसने ४५ करोड़ रुपये वार्षिक बचत की।

(३) युद्धकाल में प्रतिबन्धित आयातों और युद्ध वित्त के प्रसारवादी तरीकों ने जनता के हाथों में व्यापक क्रय-शक्तियां छोड़ दीं। जिन उद्योगों में बहुत अधिक कार्यभार था, उनको तुरन्त बदलने की आवश्यकता हुई। नये उद्योगों को स्थापित करने के लिए अनेक मशीनों का आयात करना जरूरी था, किन्तु पर्याप्त पौण्ड का भण्डार होने के कारण भारत को स्वर्ण अथवा पूंजी का निर्यात नहीं करना पड़ा और न ही विदेशों से कर्ज लेने की आवश्यकता हुई।

युद्धोत्तर भुगतान सन्तुलन
(Post-War Balance of Payments)

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत के भुगतान सन्तुलनों का रिजर्व बैंक द्वारा अनुमान लगाने का प्रयास किया गया। यद्यपि इन आंकड़ों की एक दूसरे के साथ तुलना नहीं की जा सकती फिर भी इसके आधार पर यह ज्ञात हो जाता है कि भारत के भुगतान सन्तुलन युद्ध की समाप्ति के बाद से क्या-क्या रूप धारण करते रहे हैं। इस काल में भारत के व्यापार की घाटे की स्थिति को व्यापार की बदतर शर्तों ने बहुत बढ़ा दिया।

किसी देश का व्यापार सन्तुलन दो बातों पर निर्भर करता है—(१) आयात और निर्यात की जाने वाली कुछ मात्राओं के उस अनुपात पर

जिस पर कि इसके आयातों को उसके निर्यातों के लिए बदला जा सके। विनिमय का अनुपात तुलनात्मक लागत की सीमाओं में रहता है और इसलिए हमेशा आयातकर्त्ता और निर्यातकर्त्ता देशों के लिए अनुकूल रहता है। फिर भी व्यापार से तुलनात्मक प्राप्ति अलग-अलग वर्षों में अलग-अलग देशों की हो सकती है। यह तुलनात्मक प्राप्ति व्यापार शर्तों की सारणी द्वारा स्पष्ट की जाती है। अध्ययन के आधार पर ज्ञात होता है कि युद्धोत्तर काल में भारत ने अपने आयातों को बहुत मंहगा खरीदा। इस सबके कारण इस काल के दौरान उसे व्यापारिक घाटे का सामना करना पड़ा।

युद्ध के बाद भारत के भुगतान सन्तुलनों की कुछ विशेषताएँ रहीं हैं। चालू खाते के अन्तर्गत १९४८ तक व्यापारियों के माल के कारण भुगतानों और प्राप्तियों में घनिष्ठ एकरूपता बनाए रखी गयी। १९४६ में भारत को अपने निर्यातों के बदले ३३७.५ करोड़ रुपये प्राप्त हुए जबकि खाद्यान्न सहित सौदागिरी की वस्तुओं का आयात कुल ३८८.७ करोड़ रुपये का हुआ था। १९४७ में आयातों पर नियंत्रण को अंश रूप में ढीला कर दिया गया और अब भुगतान ५३४.७ करोड़ रुपये तक बढ़ गये। दूसरी ओर प्राप्तियां भी बढकर ४५३.७ करोड़ रुपये तक पहुँच गयीं। इसलिए व्यापार सन्तुलन में कोई गम्भीर हानि नहीं हुई। देश के विभाजन के कारण और आयात नियंत्रणों को पुनः लागू करने के कारण १९४६ के उत्तरार्द्ध में व्यापारिक वस्तुओं के आयात का मूल्य ४९३.५ करोड़ रुपये हो गया। इस समय की प्राप्तियों और भुगतानों के बीच एक रूपता इसलिए प्राप्त हो सकी क्योंकि आयात नियंत्रण नीति में परिवर्तन ला दिए गये थे और १९४६ से १९४८ के मध्य तक व्यापार शर्तों में सुधार हो गया था। व्यापार शर्तों में सुधार से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में व्यापार की मात्रा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। १९४८ तक भारत व्यक्तिगत लेखे में अनुकूल सन्तुलन रखता था।

इस काल में गैर-मौद्रिक स्वर्ण के आवागमन ने अत्यन्त महत्वहीन भाग लिया। चालू खाते में शुद्ध स्थिति का निर्धारण सेवा की मदों द्वारा किया गया। १९४६ में भारत ने ग्रेट ब्रिटेन से भुगतान प्राप्त किए और इसलिए उसका सन्तुलन अनुकूल बना रहा। १९४७ में स्थिति में परिवर्तन आया।

चालू खाते में घाटा कोई बहुत अधिक नहीं था। १९४६ में यह केवल २९ करोड़ था। १९४७ में पूंजीगत खाते में लगभग ५ करोड़ रुपये का घाटा था किन्तु इन आंकड़ों को पूरी सावधानी के साथ देखा जाना चाहिए क्योंकि अधिकांश पूर्तियां गलतियों से पूर्ण हैं। पूंजीगत खाते यह प्रदर्शित

करते हैं कि चालू खाते की घाटे की अर्थ व्यवस्था किस प्रकार की है। बैंक व्यवस्था की विदेशी सम्पत्तियां १९४६ में ५६.९ करोड़ रुपये थी। ये १९४७ में १०७.५ करोड़ रुपये और १९४८ में ३२७.० करोड़ रुपये हो गयी। १९४८ में १९४७ की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रवाह अधिक था किन्तु इस खाते में १९४८ में शुद्ध भुगतान पर्याप्त कम था।

१९४८ के उत्तरार्द्ध के दौरान उदार आयात नीति और निर्यातों के मूल्य घटने से स्थिति बिगड़ने लगी। यह प्रक्रिया जून, १९४९ तक चलती रही। सरकार द्वारा किये गये आयातों के उच्च स्तर ने स्थिति को और भी बदतर बना दिया। १९४८ के तृतीय चतुर्थांश में व्यापार शर्तें कुछ और खराब हुई।

मई, १९४९ में नयी आयात नीति को अपनाने पर आयातों की दर कम होने के कारण भुगतानों का अन्तर कम होने लगा। १९४९ में रुपये का अवमूल्यन होने के बाद भुगतानों में सुधार की स्थिति आई। जुलाई, १९४८ से जून, १९४९ तक २३६.७ करोड़ रुपया ऐसा रहा जिसे विनियोजित नहीं किया गया। जुलाई, १९४९ से जून, १९५० तक ऐसे रुपये की मात्रा केवल ३ २ करोड़ थी। पौण्ड क्षेत्र के साथ भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति पुनः सन्तुलन की ओर जा रही थी। चालू खाते में अक्टूबर, १९४८ से सितम्बर १९४९ तक २४८ ८ करोड़ रुपये का घाटा था किन्तु अक्टूबर, १९४९ से सितम्बर, १९५० तक यह ६५.९ करोड़ रुपये का अतिरेक बन गया। इस परिवर्तन का कारण निर्यातों में सुधार, आयातों में कटौती और अदृश्य निर्यातों से शुद्ध प्राप्तियों में सुधार था। पूंजीगत लेखे में ३५ करोड़ रुपये का शुद्ध निवेश किया गया।

१९५० में चालू खाते में ६१.५ करोड़ रुपये अतिरिक्त अतिरेक रहा जबकि १९४९ में १६९.३ करोड़ रुपये का घाटा था। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि निर्यात मूल्यों में वृद्धि हो गयी थी। निर्यात कर बढ़ा दिये गये थे तथा निर्यात की मात्रा बढ़ गयी थी। दूसरी ओर खाद्यान्नों का आयात कम करने से आयात भी कम हो गए। १९५० के उत्तरार्द्ध में भुगतानों की स्थिति में सुधार हुआ।

भारत के भुगतान सन्तुलनों में सुधार का एक बड़ा अंश पौण्ड क्षेत्र के साथ भुगतान स्थिति में १०६ करोड़ रुपये का हुआ था। यह इसलिए हो सका कि कोरिया युद्ध के कारण निर्यातों में ६३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई, सूती उद्योग का निर्यात बढ़ा और कुछ कठोर आयात प्रतिबन्धों के कारण ४१ करोड़ रुपये के आयात घट गए।

१९५१ में चालू खाते में पुन: घाटे की स्थिति आई क्योंकि खाद्यान्न का भारी आयात करना पड़ा था। व्यापार की शर्तें सुधारने तथा निर्यातों को बढ़ाने के बावजूद भी अमेरिकी खाद्य ऋण और औद्योगिक कच्चे माल के लिए अमरीका द्वारा सुविधा न दिए जाने के कारण घाटे की स्थिति बनी रही।

भारत-पाक भुगतान सन्तुलन
(Indo–Pak Balance of Payment)

देश का विभाजन होने के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच का व्यापार क्षेत्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय बन गया। दोनों के बीच भुगतान सन्तुलन विभाजन के प्रारम्भिक दिनों में उतार-चढ़ाव के साथ चलता रहा। जुलाई, १९४८ से जून, १९४९ तक चालू खाते में कुल घाटा ३४ करोड़ रुपये का था। इसकी वित्तीय व्यवस्था बैंकिंग व्यवस्था के माध्यम से भारत से पाकिस्तान को किए गए पूंजीगत प्रवाह द्वारा हुई।

जुलाई और दिसम्बर, १९४९ के बीच भारत और पाकिस्तान का व्यापार कुछ-कुछ रुक सा गया था। चालू खाते पर कुल घाटे की स्थिति ८.५ करोड़ रुपये रही जबकि पूंजीगत खाते में अनिवेश ३.५ करोड़ रुपये का रहा। १९५० में चालू खाते को बहुत कुछ सन्तुलित बना दिया गया और अब घाटे की स्थिति केवल २ करोड़ रुपये की रही। इस वर्ष के प्रथम भाग में २.८ करोड़ रुपये का अतिरेक था किन्तु दूसरे भाग में ४.८ करोड़ रुपये का घाटा हो गया। यह अप्रेल में किए गये समझौते का परिणाम था जिसके अनुसार भारत-पाक व्यापार का प्रवाह प्रारम्भ हो गया। १९५१ में व्यापार सम्बन्ध बढ़ने के कारण चालू खाते का घाटा ४०.९ करोड़ रुपये तक हो गया। पाकिस्तान से भारत के लिए होने वाले आयातों में मुख्य स्थान कच्चे माल का है।

पौण्ड क्षेत्र में भारत का भुगतान सन्तुलन
(India's Balance of Payments with Sterling Area)

युद्ध के बाद भारत के व्यापारिक घाटे ने उसके पौण्ड कोष को कम कर दिया। भारत के पौण्ड सन्तुलनों के भारी मात्रा में कमी होने के लिए उत्तरदायी दो अन्य कारण भी थे—

(१) जुलाई, १९४८ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत सरकार को ब्रिटिश सरकार के लिए २४८० करोड़ रुपये का भुगतान करना था ताकि पौण्ड पेंशनों के भुगतान की वित्तीय व्यवस्था की जा सके और उन

सुरक्षात्मक स्टोरों तथा शस्त्र सामग्री को प्राप्त किया जा सके जिसे युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में छोड़ा था।

(२) पाकिस्तान ने इन संतुलनों के लिए अपने भाग का जो भुगतान किया वह भारत की मुद्रा से भिन्न था। यह भुगतान ३१ मार्च, १९५० तक चलता रहा। पाकिस्तान ने भारतीय नोटों को प्रसारित होने से रोक दिया और उन्हें भारत के रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। ऐसी स्थिति में भारत को पाकिस्तान को पौण्ड स्टर्लिंग सौंपना पड़ा। १ मार्च, १९४९ तक पाकिस्तान स्टेट बैंक को १७७० मिलियन रुपये की कीमत की स्टर्लिंग मुद्रा दी जा चुकी थी।

डा० जान मथाई के शब्दों में भारत सरकार की आयात नीति का उद्देश्य व्यापार को इस प्रकार विनियमित करना था कि देश की आवश्यकताओं और मांगों के अनुरूप बना रहे और वह अपने चालू खाते में किसी भी विशेष समय में अपने भुगतान सन्तुलन में घाटे की स्थिति न रखे।

कठोर मुद्रा क्षेत्रों में भुगतान सन्तुलन
(Balance of Payments in Hard Currency Areas)

युद्धोत्तर व्यापार सांख्यिकी को देखने से यह मालूम होता है कि कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों में भारत का व्यापार संतुलन उसके विरुद्ध था। इस क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका, अर्जेन्टाइना, कनाडा, बेलजियम, पुर्तगाल आदि आते हैं। १९४८ में भारत में डालर का घाटा २०० मिलियन डालर से भी आगे बढ़ गया। इसके लिए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से १०० मिलियन डालर का कर्ज लेना पड़ा। ६० मिलियन डालर के मूल्य के परिवर्तन योग्य स्टर्लिंग को काम में लिया गया और २० मिलियन डालर दूसरे तरीकों से बचाए गये। इसके बाद भी लगभग ४६ मिलियन डालर की शुद्ध घाटे की स्थिति रही। १९५० में खाद्यान्नों की कीमत गिर जाने पर भी डालर के घाटे को कम से कम १५० मिलियन डालर तक आंका गया।

युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत का प्रायः अतिरेक रहता था क्योंकि युद्ध प्रयास के लिए डालर को बचाए रखने के हेतु अमरीका से किए जाने वाले आयात में भारी कटौती की गयी। भारत अतिरेक को निरन्तर बढ़ाता रहा और उसने साम्राज्य के डालर पूल को महत्वपूर्ण योगदान किया। युद्ध के बाद व्यापार की प्रवृत्तियां उसके विरुद्ध बन गयी। कठोर मुद्रा वाले देशों के साथ भारत की घाटे की स्थिति रहने लगी। इसके कई कारण थे। प्रथम, युद्ध से प्रभावित देश भारत की खाद्यान्न की मांगों को पूरा नहीं कर सकते थे। अतः इसके लिए उसको कठोर मुद्रा वाले

देशों की ओर मुड़ना पड़ा। बर्मा चावल की पूर्ति नहीं कर सकता था क्योंकि वह युद्ध के कारण काफी कुछ नष्ट हो गया था और युद्ध के बाद आन्तरिक उपद्रवों ने उसकी हालत खराब कर दी। आस्ट्रेलिया ग्रेट ब्रिटेन को खाद्य की पूर्ति करने में प्राथमिकता दे रहा था। दूसरे, विभाजन के फलस्वरूप भारत ने कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों से होने वाले निर्यातों से प्राप्त अपनी आय को खो दिया, क्योंकि कच्चा जूट, खाल आदि चीजें अब भारत में नहीं वरन् पाकिस्तान में चली गयी थीं।

डालर के घाटे की स्थिति को एक अन्य कारण ने भी गम्भीर बना दिया। अतीत काल में भारत के डालर की घाटे की स्थिति को पौण्ड क्षेत्र की केन्द्रीय निधि से पूरा किया जाता था किन्तु जनवरी, १९४८ से ग्रेट ब्रिटेन ने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करना अस्वीकार कर दिया और भारत के पौण्ड को बदलने की सीमा का कठोरता के साथ पालन किया जाने लगा।

अवमूल्यन (१९४९) और भुगतान संतुलन
(Devaluation and Balance of Payments)

भारत के भुगतान संतुलन पर पड़ने वाले अवमूल्यन के प्रभावों पर विचार करने के लिए विभिन्न देशों को चार समूहों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश जिन्होंने उतना ही अवमूल्यन कर दिया था जितना कि भारत ने।

(२) वे देश जिन्होंने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन भारत से कम किया।

(३) वे देश जिन्होंने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन भारत से भी अधिक किया।

(४) वे देश जिन्होंने अवमूल्यन किया ही नहीं, जैसे अमरीका और पाकिस्तान।

ग्रेट ब्रिटेन जैसे प्रथम समूह वाले देशों में रुपये और पौण्ड का अनुपात स्थायी रखा गया। ग्रेट ब्रिटेन के साथ का व्यापार मुद्रा के अस्थायित्व के बावजूद भी जैसा का तैसा बना रहा। अवमूल्यन के बाद यह सम्भावना की गयी कि जिन देशों ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया है उनसे किया जाने वाला आयात कम होकर ग्रेट ब्रिटेन की ओर मुड़ जाएगा। विचारकों का कहना है कि यदि हमने पौण्ड के अवमूल्यन के साथ अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया होता तो पौण्ड संतुलन को चुकाने में हमारे परिवर्तन की कठिनाईयां बढ़ जाती।

भुगतान संतुलन पर विभाजन का प्रभाव
(Effects of Partition on Balance of Payments)

१५ अगस्त, १९४७ को भारत आजाद हुआ, किन्तु साथ ही देश दो टुकड़ों में विभाजित हो गया। इस विभाजन का अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन-देन पर गहरा प्रभाव पड़ा। यदि विभाजन से पूर्व के इन दोनों भागों के मध्य स्थित व्यापार का विभाजन के बाद के व्यापार से तुलनात्मक अध्ययन करें तो पाएगे कि दोनों के बीच काफी अन्तर आ गया था। विभाजन के बाद भारत से जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाने लगा उनमें निर्मित माल का भाग अधिक रहा। भारत के आयातों में कच्चे माल का अनुपात बढ़ गया। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि अब भारत कच्चा माल उत्पादित करने वाले देशों की श्रेणी में नहीं रहा, जैसा कि वह विभाजन से पहले था। यह कहना अधिक सही रहेगा कि विभाजन के बाद भारत फ्रांस की भांति अर्द्ध-निर्माता देश बन गया। अदृश्य वस्तुओं की दृष्टि से भारत-पाक विभाजन ने भारत को अधिक आमदनी कमाने वाला देश बना दिया। पहले सेवाओं की दृष्टि से भारत के जो बाहरी दायित्व थे वे अब उतने नहीं रहे। भारत की परिवर्तित भौगोलिक स्थिति ने उसकी मौद्रिक स्थिति को प्रभावित किया, यहां तक कि उसकी सम्पूर्ण आर्थिक नीतियां प्रभावित हुईं। नयी राजनैतिक सीमाओं ने नवीन हितों को जन्म दिया।

भुगतान सन्तुलन के प्रभावक तत्व
(Influencing factors of Balance of Payment)

भारत के भुगतान सन्तुलन पर जिन विभिन्न तत्वों ने प्रभाव डाला है उनमें व्यापार शर्तें (Terms of Trade), डालर समस्या (Dollar Problem), विदेशी पूंजी (Foreign Capital), सहायक सेवाओं का विकास (Development of Auxiliary Services) तथा पर्यटक यातायात का विकास (Development of Tourist Traffic) आदि महत्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) **व्यापार शर्तें (Terms of Trade)**—युद्ध के बाद भारत के आयात और निर्यात की कीमतें युद्ध से पूर्व की तुलना में बढ़ रही थी। १९४५-४६ का निर्यात का मूल्य सूचकांक १९३८-३९ की तुलना में दो गुने से भी अधिक था। यह प्रक्रिया १९४८-४९ तक चलती रही जबकि निर्यात मूल्य लगभग चौगुने हो गये। १९४९-५० में वस्तु स्थिति में परिवर्तन आया। १९४५-४६ में व्यापार शर्तें भारत के अनुकल नहीं थी, किन्तु वे अगले वर्षों में कुछ सुधरी। इनके फलस्वरूप हमारे व्यापार की

स्थिति विकृत होने से रुकी। मई, १९४८ में व्यापार शर्तें भारत के पक्ष में उच्च स्तर पर पहुँच गयी। किन्तु उसके बाद वे १९४९ के प्रारम्भिक महीनों तक विपरीत बनी रहीं। व्यापार शर्तों के इस विपरीत मोड़ ने तथा आयातों के आकार में वृद्धि ने भुगतान सन्तुलन की हमारी कठिनाइयों को बढ़ा दिया। खाद्यान्न, दाल, आटा और कच्चे जूट आदि के क्षेत्र में देश का आयात निरन्तर बढ़ता जा रहा था। मशीनों का आयात भी बढ़ रहा था। देश के निर्यात कम हो रहे थे। उसके आयात तथा आयातों की कीमतें बढ़ रही थीं और इस प्रकार कुल मिलाकर भुगतान सन्तुलन देश के विपरीत होता जा रहा था। मूल्य की ओर ध्यान न देते हुए सरकार ने जो आयात किए उनसे स्थिति और भी बिगड़ गयी। अवमूल्यन के बाद कुछ व्यापार शर्तें (Gross Terms of Trade) निरन्तर भारत के प्रतिकूल रहीं।

(२) **डालर समस्या (The Dollar Problem)**—डालर की समस्या एक विश्व-व्यापी समस्या है। भारत इसका अपवाद नहीं है। इस समस्या को उत्पन्न करने वाले विभिन्न तत्वों में प्रमुख ये हैं—

(i) विश्व के अधिकांश भागों में युद्ध के कारण जो क्षति हुई उसके कारण विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन गिर गया और इसके फलस्वरूप निर्यात में भारी कमी आई।

(ii) विभिन्न देशों में पुनर्रचना, विकास और चालू उपभोग के लिए माल की अधिक माँग की जाने लगी। महाद्वीप में की गयी उद्योगों की पुनर्रचना की मांग का तिरस्कार नहीं किया जा सकता था। दूसरी ओर पश्चिमी क्षेत्रों में विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका में उत्पादन पर्याप्त बढ़ा। असल में संयुक्त राज्य अमेरिका ही एकमात्र ऐसा देश था जिसकी उत्पादन क्षमता को युद्ध ने नुकसान नहीं पहुंचाया और इसलिए कम देरी के साथ वह खाद्य मशीनों की पूर्ति कर सकता था। स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति में अमरीकी निर्यात बढ़ गये और फलतः डालरों की मांग बढ़ गयी। इस प्रकार डालर समस्या उत्पादन और पुनर्रचना की समस्या है।

(iii) जब गैर डालर वाले देशों ने डालर के माल की मांग अपेक्षाकृत अधिक की तो संयुक्त राज्य अमेरिका को आत्मनिर्भर बनने का अवसर मिला।

यह कहा जाता है कि विश्व व्यापी डालरों की ऐतिहासिक कमी का मूल कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की तकनीकी सर्वोच्चता है जो उसे ऐसी अनेक वस्तुओं के उत्पादन में सर्वोच्चता प्रदान करती है, जिन्हें आधुनिक उच्च जीवन स्तर के लिए आवश्यक समझा जाता है। अमेरिका के

पास बहुत कुछ संतुलित प्राकृतिक स्रोत हैं। वह अपेक्षाकृत आधुनिक और पूंजीगत साधनों से युक्त हैं। इसके अलावा प्राकृतिक साधनों और पूंजीगत प्राप्तियों की तुलना में उसकी जनसंख्या थोड़ी है। इन सब के अलावा संयुक्त राज्य अमेरिका के पास व्यापक उत्पादन करने वाले उद्योगों के लिये पर्याप्त बाजार भी है। अमेरिकी निर्मित माल के लिए विश्व की मांग आय तथा मूल्य की दृष्टि से पर्याप्त लोचशील है जबकि वर्तमान काल तक विदेशी निर्मित वस्तुओं के लिए अमेरिकी मांग बहुत कुछ लोचहीन रही है। कई बार संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रशुल्क नीति को डालर की कमी के लिए दोषी ठहराया जाता है किन्तु विचारकों का कहना है कि अमरीकी प्रशुल्क में कटौती अधिक सहायक नहीं रहेगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका कृत्रिम उत्पादनों (Synthetic Products) पर अधिक से अधिक आश्रित होता गया। इस प्रकार गैर-डालर देशों से तंतुओं (Fibres) की मांग बढ़ गई। यह प्रक्रिया लगभग तीन दशाब्दियों तक चलती रही और इसका परिणाम यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका कोयले और लोहे की सम्पन्नता के कारण आर्थिक दृष्टि से निर्भर बन गया है। यह अनुमान किया जाता है कि अमरीका जितने माल का उपभोग करता है उसमें से ९४ प्रतिशत का उत्पादन वह स्वयं ही कर लेता है। आशा की जाती है कि अमरीका विश्व के कुल माल का $\frac{1}{3}$ (एक तिहाई) भाग उत्पादित करेगा। ऐसी स्थिति में इन वस्तुओं का कहीं और से संयुक्त राज्य अमेरिका के खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर डालर-विहीन अनेक देश अमेरिका से वह माल खरीदना चाहते हैं जिनकी उन्हें बहुत आवश्यकता है।

(iv) अर्द्ध-विकसित उद्योगों का विकास हो रहा है और वे इस विकास को और भी आगे बढ़ाने के धुन में हैं। उन्होंने योरोप के औद्योगिक देशों को एक चुनौती दी है जो बहुत कुछ इनके निर्यातों पर निर्भर करती है।

डालर की समस्या उपर्युक्त कारणों से एक विश्व व्यापी समस्या थी और इसलिए भारत भी इससे अछूता न रहा। भारत की डालर समस्या विश्व के अन्य देशों की डालर की समस्या से भिन्न नहीं थी। वस्तु स्थिति के परिणामस्वरूप भारत को डालर क्षेत्र के देशों से आयात करना पड़ा। जब तक कठोर मुद्रा के घाटे डालर पूल द्वारा पूरे किए जाते रहे तब तक डालर की समस्या अधिक गम्भीर नहीं रही, किन्तु जब ग्रेट ब्रिटेन ने पौण्ड को डालर में परिवर्तित करने की सुविधा को सीमित कर दिया तो भारत को कठोर मुद्रा वाले क्षेत्रों से आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने पड़े। इस प्रकार कुछ

समय के लिए उसे संतुलन प्राप्त हो गया किन्तु अन्न के आयात ने उसकी समस्या को बढ़ा दिया क्योंकि इसके लिए डालर की आवश्यकता थी। कठोर मुद्रा वाले देशों के साथ घाटे की स्थिति बढ़ी और इसलिए इन देशों के लिए किया जाने वाला निर्यात बढ़ाना परमावश्यक बन गया।

निर्यात को बढ़ाना जितना आवश्यक था उतना सरल नहीं था। विभाजन के बाद कच्चे जूट की पूर्ति अनिश्चित और मूल्यवान बन गयी इसलिए उत्पादन घटा और निर्यातों को हानि हुई। विभाजन के बाद कच्ची रूई आदि में जो निर्यात अतिरेक उपलब्ध था वह भी समाप्त हो गया। भारतीय माल की ऊंची कीमत के कारण उसका निर्यात बहुत घट गया।

भारत की डालर समस्या ने यहां के व्यापार की दिशाओं को मोड़ दिया। १९३८–३९ में नर्म मुद्रा वाले क्षेत्रों द्वारा हमारे माल का लगभग ७१ प्रतिशत निर्यात समाहित कर लिया जाता था किन्तु १९४७–४८ में यह घटकर ६७·५ प्रतिशत रह गया। इसका कारण पौण्ड क्षेत्र में योगदान की गिरावट थी। इसके लिए हमारे निर्यातों को डालर बाजार खोजने पड़े। १९३८–३९ में डालर क्षेत्र के इन देशों को हमारा लगभग १२ प्रतिशत निर्यात होता था किन्तु १९४७–४८ में इसकी मात्रा २७ प्रतिशत हो गयी। १९४९–५० में इन क्षेत्रों को हमारे निर्यात अवमूल्यन के कारण बढ़ गये थे किन्तु फिर भी इनकी कुल मात्रा २० प्रतिशत बनी रही। इस प्रकार भारत एक दुविधापूर्ण स्थिति में था। एक ओर तो डालर की कमी के कारण वह डालर बाजारों की खोज की ओर प्रयत्नशील था और दूसरी ओर मूल्य की प्रेरणाओं ने उसके निर्यातों को नर्म मुद्रा वाले क्षेत्रों में बढ़ाने को प्रेरित किया।

भारत ने पौण्ड क्षेत्र का एक सदस्य होने के नाते डालर के आयातों और निर्यातों में उस सामान्य नीति को स्वीकार कर लिया जिस पर सम्पूर्ण पौण्ड क्षेत्र के देश एकमत हैं। सितम्बर, १९५० में राष्ट्र मण्डल के वित्त मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें यह निर्णय लिया गया कि डालरों की खरीद पर कोई मात्रागत सीमा नहीं होनी चाहिये किन्तु प्रत्येक सदस्य देश को अधिक से अधिक मितव्ययता करनी चाहिये जितनी कि वह कर सके। कुल मिलाकर निर्यातों में वृद्धि और आयातों में कमी करना अत्यन्त आवश्यक बन गया है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न समितियों, आयोगों और विचारकों के सुझाव तथा विचार आमंत्रित किए गए।

(३) **पौण्ड सन्तुलन (Sterling Balance)**—भारत के पौण्ड सन्तुलन बहुत समय तक सार्वजनिक विचार-विमर्श के विषय बने रहे। इसका कारण कुछ तो यह था कि देश में मुद्रा का खतरनाक प्रसार हो रहा था और

विदेशों से अनिच्छापूर्ण रूप से ऋण लिए जा रहे थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश प्रेस इस मसले के अन्तिम समाधान के प्रति पर्याप्त दुराग्रहपूर्ण थी।

पौण्ड सन्तुलनों की मात्रा निरन्तर गिरती जा रही थी। गिरने की दर विशेष समय की आयात नीति पर आधारित थी। दूसरी ओर आयात नीति पौण्ड की उस मात्रा द्वारा निर्धारित की जाती थी जो एक विशेष समय के लिये दिया गया था। जुलाई, १९४७ से पहले भारत पौण्ड क्षेत्र में अपनी इच्छा के अनुसार पौण्ड सन्तुलन का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र था। इसके अतिरिक्त वह उसे अपनी स्वेच्छा से ही डालर अथवा अन्य किसी मुद्रा में बदल सकता था। कठोर मुद्रा और नरम मुद्रा वाले दोनों क्षेत्रों के सम्बन्ध में आयात नीति पर्याप्त उदार थी। तत्कालीन आर्थिक दशाओं ने बड़े आयातों को न्यायोचित सिद्ध किया किन्तु इस नीति में पर्याप्त स्वेच्छा का अभाव रहता था। सभी देशों से आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओं में उदार नीति अपनाई गयी। अनुज्ञप्तियां पर्याप्त उदारतापूर्वक प्रसारित की गयीं। भारत के पास सीमित साधन होने की वजह से वह डालर क्षेत्र से वांछित माल का आयात नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में पौण्ड क्षेत्र से किए जाने वाले आयातों की संख्या बढ़ी। १९४६ के दौरान अनेक अवांछित वस्तुयें डालर क्षेत्रों से भी आयातित की गयीं। इसके परिणामस्वरूप पौण्ड सन्तुलन घट गया।

इस स्थिति के कारण पौण्ड क्षेत्र के सम्बन्ध में आयात नीति कठोर हुई। आयात नीति विदेशी विनिमय की स्थिति से सम्बन्धित थी। अनेक आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का आयात भी कठोरतापूर्वक मर्यादित कर दिया गया। यद्यपि मशीनों तथा कुछ औद्योगिक माल के लिए नीतियाँ उदारतापूर्वक अपनाई गयीं, फिर भी अनेक औद्योगिक कच्चे माल प्रतिबन्धित सूची में रखे गये। इस प्रकार प्रतिबन्ध बढ़ गये।

जुलाई, १९४८ में पौण्ड सन्तुलन समझौता हुआ जिसके अनुसार तीन वर्ष के लिए ८० मिलियन पौण्ड की छूट दी गयी। ८० मिलियन पौण्ड पहले का बचा हुआ था और इस प्रकार ३० जून, १९५१ तक प्रयोग में लाने के लिए १६० मिलियन पौण्ड देश के पास उपलब्ध था। उस समय जिस दर पर पौण्ड सन्तुलनों को प्रयुक्त किया जा रहा था उसके प्रति भारी असंतोष बढ़ रहा था। भारत के सामने अधिक छूट के दावों की स्थिति के साथ समायोजन करने की एक अनोखी स्थिति पैदा हो गयी। जुलाई, १९४८ में आयात नीति को उदार बनाया गया। देश में मुद्रा स्फीति की परिस्थितियों ने माल की अधिक पूर्ति को आवश्यक बना दिया ताकि देश में अभाव

की समस्या को सुलझाया जा सके। पहले जो पौण्ड की छूट दी गई थी उसे व्यावहारिक रूप से पूरा काम में ले लिया गया। आयात के सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति ने स्थिति को गम्भीर बना दिया। इसके कारण इतना अधिक आयात हुआ कि इससे हमारे सारे अन्य खर्चे सन्तुलन समाप्त हो गये और अप्रेल, १९४९ तक ४२ मिलियन पौण्ड का अधिक खर्च कर लिया गया। यह कहा जाता है कि इस काल में भारत के सामने जो कठिनाइयां आई उनमें से कुछ को सुलझाया जा सकता था, बशर्ते कि हमारी आयात नीति नियन्त्रित और न्यायपूर्ण ढंग से प्रशासित की जाती।

इतनी मात्रा में आयातों को अधिक समय तक जारी नहीं रखा जा सकता था और इसलिए मई, १९४९ तथा अगस्त, १९४९ में आयात नीति को कठोर बनाया गया। इसके परिणामस्वरूप आयातों में धीरे-धीरे कमी हुई और पौण्ड सन्तुलनों की दर का गिरना धीमा पड़ गया। रुपये के अवमूल्यन ने निर्यातों को बढ़ा दिया और आयातों को कम किया और इस प्रकार ३१ मार्च, १९५० तक पौण्ड सन्तुलन ८५९ करोड़ रुपये तक बढ़ गए। देश औद्योगिक कच्चे माल और आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं से वंचित रह गया। इसके परिणामस्वरूप प्रमुख उद्योगों में उत्पादन घटा तथा मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियां बढ़ने लगी। यह स्थिति भी बहुत समय तक नहीं रखी जा सकती थी और इसलिए आयातों को उदार बनाया गया। अवमूल्यन के कुछ समय बाद निर्यात भी गिर गये। ऐसी स्थिति में पौण्ड सन्तुलन दुबारा घट गया। यह घटाव कोरिया युद्ध के कारण पुनः रोक दिया गया। ऊंचे मूल्यों और अनुपलब्धता के कारण निर्यात बढ़े और आयात घटे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पौण्ड के क्षेत्र में जो भारी भुगतान सन्तुलन के उतार-चढ़ाव आए उनका मूल कारण आयात और निर्यात के सम्बन्ध में हमारी अनियोजित नीतियां थी।

१९४८ में पौण्ड सन्तुलन समझौते के स्थान पर एक दीर्घकालीन समझौता किया गया जिसमें ६ वर्ष तक हमारे पौण्ड सन्तुलनों में प्रतिवर्ष ३५ मिलियन पौण्ड की राहत प्रदान की गई। यह समय एक जुलाई, १९५१ से प्रारम्भ होना था। इस समझौते के प्रावधान पर्याप्त लोचशील थे, इनके अनुसार यदि किसी विशेष वर्ष में कुल मात्रा के किसी भाग को काम में न लाया जा सके तो उसे आगे के काल में मिला दिया जाएगा।

(४) **विदेशी पूंजी (Foreign Capital)**—१९४७ के मूल्य स्तर को आधार बनाकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत की पूंजीगत व्यय की कम से कम आवश्यकतायें २५० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष हैं। मूल्यों में

वृद्धि होने के कारण यह आवश्यकता निरन्तर बढ़ती रहती है। यदि खाद्य और औद्योगिक कच्चे माल की कमी को ध्यान में रखा जाय तो कृषि का अंश पर्याप्त बढ जाता है। भारत की कम से कम पूंजीगत आवश्यकताओं और उसकी घरेलू बचतों के बीच एक बड़ा रिक्त स्थान है। ऐसी स्थिति में विदेशी पूंजी की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। भारत की विकास योजनाओं को संचालित करने के लिए पूंजीगत माल और प्रसाधनों पर भारी व्यय करना जरूरी था। ये केवल विदेशों से ही खरीदे जा सकते थे और इनका भुगतान विदेशी मुद्रा, विशेषकर डालर, में किया जाना था। पौण्ड संतुलनों को डालर में स्वतंत्रतापूर्वक नहीं बदला जा सकता था और इसलिए विदेशी ऋण एक मात्र उपाय था। तकनीकी ज्ञान, औद्योगिक अनुसंधान, तकनीकी विशेषज्ञों का प्रशिक्षण, प्रबन्धकों और प्रशासकों के प्रशिक्षण आदि के लिए निश्चय ही विदेशी मुद्रा परमावश्यक थी। दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में आर्थिक विकास के लिए ६ वर्षीय कोलम्बो योजना ने हमारी अनेक औद्योगिक महत्वाकांक्षाओं को वास्तविकता में परिणत कर दिया। इस योजना के अधीन यह सम्भव था कि देश बिना किसी राजनैतिक सोच विचार के विदेशी सहायता स्वीकार कर सके।

विदेशी पूंजी के विभिन्न स्रोत थे। इन स्रोतों में व्यक्तिगत निवेशकर्त्ता (Private Investor), अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (The International Bank of Reconstruction and Development), विदेशी सरकारों द्वारा भेंट और ऋण (Gifts and loans from Foreign Governments) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी स्रोतों ने भारत को विदेशी पूंजी प्रदान करके यहां के भुगतान सन्तुलनों को अनुकूलता की ओर प्रेरित किया।

(५) **सहायक सेवाओं का विकास (Development of Auxiliary Services)**—भारत को सहायक सेवाओं (Auxiliary Service) की खातिर भारी भुगतान करना होता था। १९४८ के दौरान विदेशी यातायात और बीमा कम्पनियों की निर्यात से होने वाली कुल आमदनी (Gross Income) लगभग १९ करोड़ रुपये थी। इसका एक अल्प भाग भारत की कम्पनियों का माना जा सकता है। यह स्थिति भारत के भुगतान सन्तुलन के विपरीत उत्तरदायी विभिन्न कारणों में से एक है। यदि इस क्षेत्र में भारतीय उद्यम विकास करें तो भुगतान यदि पूरी तरह समाप्त नहीं हुए तो कम अवश्य हो जायेंगे। इससे भारत का भुगतान सन्तुलन मजबूत बनेगा।

(६) **पर्यटक यातायात का विकास (Development of Tourist Traffic)**—भारतवर्ष प्रति वर्ष अपने देशवासियों द्वारा की जाने वाली

विदेश-यात्राओं पर भारी व्यय करता है, किन्तु यह सब बहुत कुछ एक पक्षीय रूप से किया जाता है। यह प्रयास किया जाना चाहिए कि भारत विदेशी पर्यटकों से कम से कम इतनी विदेशी मुद्रा प्राप्त करे जितनी कि वह विदेशों में अपने देशवासियों पर खर्च करता है।

पश्चिमी देशों के सामाजिक जीवन में यात्रा का एक महत्वपूर्ण स्थान है और इसको एक व्यवस्थित रूप से प्रोत्साहित किया जाता है। पर्यटक उद्योग मूल रूप से विलासिता का उद्योग (Luxury Industry) है। इसके जो ग्राहक हैं वे सम्पन्न वर्ग के लोग होते हैं जिनके पास धन की कोई कमी नहीं रहती तथा वे आराम तथा सुख के प्रति उन्नत विचार रखते हैं। विशेष रूप से अमरीकनों के पास पर्याप्त फालतू समय और बहुत सारा धन है। विश्व-व्यापी औद्योगीकरण के कारण यात्रा के लिए जिन लोगों के पास फालतू समय है, उनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी है। इस सब स्थिति का फायदा उठाते हुए ऐसे प्रयास किए जा सकते हैं जिनसे भारत को विदेशी मुद्रा की अधिक से अधिक आमदनी हो सके और उसका भुगतान सन्तुलन अनुकूलता की ओर जा सके। पर्यटन को प्रोत्साहन देने के लिए वायु यातायात ने क्रांतिकारी कार्य किया है।

यह पाया गया है कि जो देश पर्यटन को प्रोत्साहन देते हैं उनकी आय का एक अन्य स्रोत खुला जाता है। इस दृष्टि से हम स्विट्जरलैंड का नाम ले सकते हैं जिसने पर्यटन को राष्ट्रीय उद्योग के रूप में विकसित किया है। पर्यटन यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त सरकारी, अर्द्ध-सरकारी और निजी संगठन विदेशों में संगठित किये जाते हैं। पर्यटन उद्योग एक ऐसा उद्योग है जो पर्याप्त विदेशी मुद्रा की आय का कारण बन सकता है किन्तु इसमें अधिक व्यय नहीं करना पड़ता। इस उद्योग के प्रोत्साहन से हमें दूसरे उद्योग के लाभ भी प्राप्त हो सकते हैं। व्यापारिक आगन्तुकों को प्रोत्साहित करके यह हमारे निर्यात व्यापार को बढ़ाने में सहायता करेगा। पर्यटक जब पर्यटन करने आते हैं तो व्यक्तिगत रूप से खरीददारी करते हैं और उसके बाद भी वे उन्हीं चीजों को खरीदते रहते हैं। यातायात सेवाओं के बढ़ने से देश में रोजगार की स्थिति अच्छी होगी। इसके द्वारा विदेशी पूंजी के निवेश को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस सब के अलावा हम अपने रहन-सहन के तरीकों की जानकारी प्रदान करके अच्छे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास में सहायता कर सकते हैं।

भारत पर्यटकों के आकर्षणों के दृष्टि से पर्याप्त धनवान है। यहां के प्राकृतिक दृश्यों का मुकाबला दुनियां में कोई देश नहीं कर सकता। इसके

अतिरिक्त प्राचीन स्मृति की चीजें यहां महत्व और प्राचीनता की दृष्टि से किसी भी देश से कम नहीं हैं। इतने पर भी यह दुर्भाग्य की बात है कि इस देश की सम्भव क्षमताओं को पूरी तरह से पहचाना नहीं गया। यद्यपि इन दिनों अनेक प्रयास किये गये हैं फिर भी अभी बहुत कुछ करना शेष है।

पंचवर्षीय योजनायें और भुगतान सन्तुलन
(Five Year Plans and Balance of Payments)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का प्रमुख दायित्व पिछली शताब्दियों के शासन द्वारा निर्मित व्यापक गरीबी और बहुत जनसंख्या की समस्या को सुलझाना था। एक कृषि प्रधान देश होते हुए भी भारत का कृषि व्यवसाय अभी तक उस पुराने तरीके से सम्पन्न किया जाता था जिसमें बैलगाड़ी और देशी हल अभी तक मुख्य औजार बने हुए थे। विज्ञान के आधुनिक प्रसाधनों ने कृषि को अभी तक छुआ नहीं था किन्तु उसकी मांग देश में निरन्तर बढ़ती जा रही थी। संसार के दूसरे देशों में सम्पन्नता बढ़ रही थी किन्तु भारत में गरीबी अधिक से अधिक होती जा रही थी। पाश्चात्य देशों तथा भारत के बीच जीवन स्तर की दृष्टि से जो महत्वपूर्ण दूरी पैदा हुई, उसे दूर करना और देश को न्यूनतम मानवीय जीवन-स्तर प्रदान करना एक प्रमुख समस्या थी जिसे सुलझाने तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया जाना बहुत जरूरी था। जीवन-स्तर के उच्च मापदण्डों की प्राप्ति के लिए और भारत में प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों की रक्षा के लिए नियोजन आवश्यक बन गया।

प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने की दृष्टि से किया गया प्रजातन्त्रात्मक नियोजन देश के भुगतान संतुलनों के घाटे की स्थिति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था। इस नियोजन में नियोजनकर्त्ता अपनी क्षमता के अनुसार उद्देश्यों की रचना नहीं करता किन्तु पहले उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं और फिर उनके साधन खोजे जाते हैं। देश के उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिए पर्याप्त साधनों की प्राप्ति और उत्पादन साधनों की वृद्धि एकाएक नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में देश को उपभोक्ता वस्तुयें और पूंजीगत माल दोनों का इतनी मात्रा में आयात करना होता है जिसका वह अधिक निर्यात द्वारा तत्काल भुगतान नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में देश का भुगतान संतुलन घाटे की स्थिति में चलता है।

नियोजन देश की अर्थ-व्यवस्था तथा बाहरी भुगतान की स्थिति को घाटे की स्थिति में ला देता है क्योंकि :—

(१) नियोजन को साकार बनाने के लिए जो खर्च किये जाते हैं उनकी आय उसी समय नहीं होती, और जो आय होती है, उसका अधिकांश भाग आयातों पर खर्च किया जाता है। नये तरीके के विदेशी माल की दर्शनीय भूख आयात की मात्रा को पर्याप्त ऊंचा रखती है।

(२) नियोजनकर्त्ता देश में उन मशीनों और पूंजीगत माल की खरीदारी के लिए भारी खर्च किया जाता है जिन्हें देश घरेलू रूप से बनाने की स्थिति में नहीं है।

(३) परम्परागत रूप से जिन कृषि वस्तुओं का निर्यात किया जाता था उनका नियोजित अर्थ-व्यवस्था में अधिक से अधिक प्रयोग होने लगता है। यदि नियोजित निवेश स्पष्ट रूप से निर्यात से सम्बन्ध नहीं रखता तो निश्चय ही निर्यात का आकार और मूल्य घट जाएगा अथवा वह बढ़े हुए आयातों की मांगों के साथ मेल नहीं रख पाएगा।

(४) योजना की आयात आवश्यकताओं को जो प्रकाशन और प्रचार प्रदान किया जाता है तथा योजना के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जो सम्माननीय स्थान प्रदान किया जाता है, उसके कारण पर्याप्त आयात आवश्यक बन जाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था देश के भुगतान संतुलन में विभिन्न प्रकार से घाटे की स्थिति उत्पन्न करती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना और भुगतान संतुलन
(First Five Year Plan and Balance of Payments)

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में १९६० करोड़ रुपये खर्च क का उद्देश्य रखा गया था। इस व्यय का निर्वाह विभिन्न साधनों से किया जाना था जैसे—

(१) करारोपण और रेलवे का अतिरेक	३८ प्रतिशत
(२) घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Financing)	२१ प्रतिशत
(३) अल्प बचत और खर्च (Unfounded Debits)	१६ प्रतिशत
(४) बाजार से ली गई उधार (Market Borrowings)	१० प्रतिशत
(५) बाहरी सहयोग (External Assistance)	१० प्रतिशत
(६) अन्य पूंजीगत प्राप्तियां	५ प्रतिशत
टोटल	१०० प्रतिशत

उक्त समस्त स्रोतों से धन को प्राप्त करके उनको जिन विभिन्न वस्तुओं पर आवंटित किया गया वह निम्न प्रकार था—

	कुल योजना प्रावधान	वास्तविक व्यय
(१) कृषि और सामुदायिक विकास	१४.६ प्रतिशत	१४.८ प्रतिशत
(२) सिंचाई और शक्ति	२७.२ प्रतिशत	२६.१ प्रतिशत
(३) यातायात और संचार	२४.० प्रतिशत	२६ ४ प्रतिशत
(४) सामाजिक सेवाएं	२२.४ प्रतिशत	२१.० प्रतिशत
(५) उद्योग और खनिज	७.६ प्रतिशत	५.० प्रतिशत
(६) विविध	६.३ प्रतिशत	३.७ प्रतिशत
	१००.०० प्रतिशत	१००.०० प्रतिशत

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सरकारी दान को छोड़कर वार्षिक औसत चालू घाटा १८० २०० करोड़ रुपये का अनुमानित किया गया था। १९४८-४९ की व्यापार शर्तों के आधार पर योजना काल में ६६७ से लेकर ७२७ करोड़ रुपये तक कुल चालू घाटा अनुमानित किया गया। इस काल में व्यापार शर्तें १९४८-४९ के स्तर की तुलना में लगभग ७ प्रतिशत बिगड़ गयी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि योजना आयोग द्वारा जो घाटा अनुमानित किया गया, उससे भी अधिक घाटा होता। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में भारत का भुगतान सन्तुलन निम्न प्रकार रहा—

प्रथम पंचवर्षीय योजना और भुगतान सन्तुलन

(करोड़ रुपये में)

काल	अनुमानित भुगतान संतुलन घाटे की स्थिति	भुगतान संतुलन की वास्तविक स्थिति
प्रथम वर्ष १९५१-५२	....	–१६३
द्वितीय वर्ष १९५२-५३	....	६०
तृतीय वर्ष १९५३-५४	–१६०	४७
चतुर्थ वर्ष १९५४-५५	–१६०	६
पंचम वर्ष १९५५-५६	–१६०	१७
	६६७.७२७	–३३

नियोजनकर्त्ताओं ने जो अनुमान लगाए थे उनकी अपेक्षा भारत के बाहरी भुगतान का घाटा योजना काल में कम रहा। इसके लिए उत्तरदायी

निम्न कारणों का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) आयातित खाद्य का स्तर कम रहा। योजना काल में नौ मिलियन टन खाद्य आयात करने का अनुमान लगाया गया था जबकि असल मे ३ मिलियन टन का ही आयात किया गया। इससे लगभग ३०० करोड़ रुपये से भी ज्यादा विदेशी मुद्रा की बचत हुई।

(२) १९५२ के बाद गेहूं तथा अन्य खाद्यान्न का घरेलू उत्पादन अधिक हुआ और इसलिए खाद्यान्न का आयात आशा से कम करना पड़ा। योजना काल में लोहे और इस्पात के उद्योगों तथा भारी विद्युत प्रसाधन उद्योगों में अधिक रचनात्मक कार्य नहीं किया गया क्योंकि मशीनों का आयात आशा से कम किया गया। योजना काल में कुल मिलाकर जो व्यय किया गया वह आशा से कम था और इसलिए पूंजीगत माल का आयात आशा से कम ही किया गया। योजना बनाने वालों ने यह सोचा था कि योजना के दौरान लगभग २०० करोड़ रुपये की विदेशी विनिमय निधि कम हो जाएगी किन्तु वास्तव में यह केवल १३८ करोड़ रुपये कम हुई।

(३) मुद्रा स्फीति के दबावों ने आयातों को हतोत्साहित किया और निर्यातों को प्रोत्साहन दिया। १९५१–५२ में भारत को अमरीकी गेहूं का ऋण उपलब्ध हो गया, इसलिए हमें अपने पौण्ड सन्तुलनों से धन नहीं निकालना पड़ा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना और भुगतान सन्तुलन
(Second Five Year Plan and Balance of Payment)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में ३३६० करोड़ रुपये का कुल व्यय हुआ किन्तु द्वितीय योजना काल में इस व्यय की मात्रा ६७५० करोड़ रुपये थी। यद्यपि द्वितीय योजना के अन्तर्गत शुद्ध नियोजित निवेश प्रथम योजना की तुलना में दो गुना था किन्तु विदेशी विनिमय का व्यय लगभग तीन गुना रहा। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम योजना में रेलवे पर २६८ करोड़ रुपये, व्यक्तिगत क्षेत्र के उद्योगों पर २३३ करोड़ रुपये, सरकारी क्षेत्र के उद्योगों पर ५७ करोड़ रुपये और शक्ति के क्षेत्र में २६० करोड़ रुपये खर्च किए गये। इसके विपरीत दूसरी पूरी पंचवर्षीय योजना में रेलवे पर ११२५ करोड़ रुपये, व्यक्तिगत क्षेत्र के उद्योग पर ५७५ करोड़ रुपये, सरकारी क्षेत्रों के उद्योग पर ५२४ करोड़ रुपये तथा शक्ति पर ४४० करोड़-रुपये खर्च किए गये। इस प्रकार प्रथम योजना काल में विदेशी मुद्रा का कुल खर्च ८१८ करोड़ रुपये और द्वितीय योजना काल में २६६४ करोड़ रुपये हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में चालू बाहरी भुगतानों में जो घाटे की स्थिति रही वह योजना आयोग के अनुमान से अधिक थी। यद्यपि वस्तुओं का निर्यात तथा अन्य अदृश्य साधनों से होने वाली प्राप्तियां योजना के अनुमान से अधिक थीं तो भी घाटा अधिक रहा। यह इसलिए हुआ क्योंकि द्वितीय योजना काल में आयात बहुत अधिक किए गये। इस काल में आयात को बढ़ाने के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारण निम्न थे—

(१) १९५६ का स्वेज नहर का झगड़ा, जिसके फलस्वरूप भाड़े की दरों में वृद्धि हो गयी और इस प्रकार हमारे आयातों का मूल्य बढ़ गया।

(२) प्रथम योजना काल में जो आयात लाइसेंस दिए गये उनमें से अनेक को द्वितीय योजना काल में प्रथम दो वर्षों में काम में लिया गया। यह इसलिए हुआ क्योंकि एक तो भारत के लिए निर्यात करने वाले विदेशी व्यापारियों ने माल भेजने में देर कर दी और दूसरे भारत में प्रबन्धक स्टॉफ की कमी और एकाधिकारी कठोरताओं के कारण प्रथम योजना को क्रियान्वित करने में पर्याप्त देरी हुई।

(३) आयातित सुरक्षा सम्बन्धी माल का मूल्य बढ़ गया क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन आदि पूर्तिकर्त्ता केन्द्रों में इनकी कीमतें बढ़ गईं।

(४) मशीनों तथा अन्य पूंजीगत साधनों के आयातों पर द्वितीय योजना काल में अधिक जोर दिया गया क्योंकि प्रथम योजना के अन्तिम वर्षों में इन चीजों को महत्व दिया गया था।

(५) जनसंख्या बढ़ने के कारण अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता हुई किन्तु इसे तत्कालीन उत्पादन द्वारा पूरा नही किया जा सका। इसके फलस्वरूप इनका आयात करना बड़ा जरूरी बन गया।

दोनों योजनाओं में भुगतान सन्तुलन की समस्याएं
(Balance of Payment Problems in Both the Five Year Plans)

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में बाहरी चालू घाटे के बीच आश्चर्यजनक रूप से समानता थी दोनों में घाटे की स्थिति के कारण अलग-अलग थे। प्रथम योजना के प्रथम वर्ष में घाटा कोरिया संकट के कारण आया और इसलिए आयातों के मूल्य बढ़ गये। इस काल में आयातों की मात्रा इसलिए भी बढ़ी क्योंकि भारतीय निर्यातकर्त्ताओं ने पर्याप्त आय की थी। दूसरी ओर द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष की घाटे की स्थिति अन्य कारण से थी। प्रथम योजना काल में दूसरे तथा बाद वाले वर्षों में थोड़ा बहुत अतिरेक रहा था, किन्तु द्वितीय योजना काल के दूसरे वर्ष में प्रथम वर्ष की अपेक्षा अधिक घाटा रहा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तीसरे और चौथे वर्ष के बाहरी भुगतानों का घाटा अनुमान से भी कम रहा। इस काल में वस्तुओं का

आयात कम हुआ। आयात नियन्त्रणों को प्रभावशाली रूप से लगाने के कारण आयात घट गए।

बाद में विदेशी मुद्रा का संकट आया १९५७–५८ में यह संकट उल्लेखनीय बन गया। इसके लिए उत्तरदायी अनेक लिए कारण थे—(१) इस काल में निर्यात नहीं बढ़ सके। यूरोपीय और अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक मन्दी आ गयी। उनकी बैंक की दरें बढ़ गयीं। इस काल में भारत में कीमत वृद्धि निरन्तर होती रही। इस स्थिति में भारत के निर्यात हतोत्साहित रहे और आयात प्रोत्साहित हुए। (२) देश में धन बढ़ने और औद्योगिक क्रियाओं के अधिक होने के कारण निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का देश में ही उपभोग किया जाने लगा और इस प्रकार निर्यात किए जाने योग्य अतिरिक्त माल बहुत कम बचने लगा। (३) विदेशी प्रेस में इस बात का प्रचार किया गया था कि भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना अत्यधिक महत्वाकांक्षी है और इसलिए योजना के प्रारम्भिक वर्षों में दूसरे देश भारत को स्वतन्त्रतापूर्वक साख और ऋण देने के लिए तैयार नहीं हुए। पूंजी का निर्यातकर्त्ता प्रमुख देश संयुक्त राज्य अमरीका इस समय भारत की तटस्थ नीति को अधिक प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देख रहा था।

१९५७–५८ में आए विदेशी विनिमय के संकट के लिए अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग स्पष्टीकरण प्रदान किए। कुछ का कहना है कि भारत सरकार की मौद्रिक राजकोषीय नीतियां गलत थी जिनके अनुसार वार्षिक योजनाओं की वित्त-व्यवस्था करने के लिए घाटे को काम में लिया गया। इसके अलावा कीमत और आय दोनों के प्रभावों से आयातों को प्रोत्साहित और निर्यातों को हतोत्साहित किया गया। दूसरे अर्थशास्त्री यूरोपीय आर्थिक मन्दी को इसका मुख्य कारण बताते हैं। कुछ का विचार है कि इस घाटे के लिए पूरी तरह से सरकार उत्तरदायी है क्योंकि इसने प्रथम और द्वितीय योजना बनाते समय निर्यातों की वृद्धि पर विशेष ध्यान नहीं दिया। अन्य कुछ विचारक हैं जो भारतीय मानसूनों की कुटिल दृष्टि को उत्तरदायी ठहराते हैं जिसके कारण देश को अतिरिक्त खाद्यान्न का आयात करना पड़ा और इससे विदेशी विनिमय की भारी कमी हुई। असल में सत्य दोनों अतिश्योक्तियों के बीच में है। १९५७–५८ के संकट को लाने मे बाहरी और आन्तरिक मुद्रा सम्बन्धी और व्यापारिक कारण, ईश्वर की कुदृष्टि और मानवता की गलतियों आदि सभी का कुछ-कुछ योगदान रहा है।

संकट मुक्ति के उपाय
(Measures to Combat the Crisis)

ज्यों ही सरकार ने विदेशी विनिमय की भारी कमी का अनुभव

किया त्यों ही १९५७ के प्रारम्भिक दिनों में उसने एक ऐसी आयात-नीति अपनाई जो विदेशी विनिमय की निधियों को सीमा कर सके। इसके अतिरिक्त सरकार ने सम्पत्ति कर और व्यक्तिगत कर आदि लगाकर घाटे की वित्तीय व्यवस्था की आवश्यकता को घटाने का प्रयास किया। इन करों से जिस प्राप्ति का अनुमान लगाया वह अकार्यकुशल कर संग्रहकर्त्ता, नौकरशाही और कर दाताओं में सार्वजनिकता के अभाव के कारण पूरा न किया जा सका। इस सब के अतिरिक्त सरकार ने विदेशी मुद्रा की कमी के सन्दर्भ में योजना का दुबारा मूल्यांकन किया। सरकारी क्षेत्र में मौलिक योजना में ४८०० करोड़ रुपये का व्यय अनुमानित किया गया था किन्तु विदेशी विनिमय की कमी के कारण इसे घटाकर ४५०० करोड़ रुपये कर दिया गया।

अधिक विदेशी विनिमय कमाने की गरज से सरकार ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के प्रयास किए। सितम्बर, १९५७ में एक निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risks Insurance Corporation) की स्थापना की गयी जो निर्यातकर्त्ताओं के राजनैतिक और व्यापारिक दोनों जोखिमों को सुरक्षा प्रदान कर सके। इस निगम द्वारा ली गयी प्रीमियम की दरें १९५९-६० में घटाकर १० प्रतिशत की गयी। राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporations) की स्थापना भी की गयी जो भारत के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए दीर्घकालीन समझौते करके स्थापित व्यापारिक मार्गों की अनुपूर्ति कर सके। इसके अलावा ११ निर्यात प्रमोशन परिषदें बनायी गयीं। अब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मेलों और प्रदर्शनियों में पहले की अपेक्षा अधिक भाग लेने लगा है। ये सभी प्रयास धीरे-धीरे प्रभाव डालते हैं। शीघ्र प्रभाव डालने वाले प्रयासों में सरकार ने निर्यात नियतांशों को विभिन्न वस्तुओं पर से हटा दिया, विभिन्न वस्तुओं पर से निर्यात करों को हटा लिया गया अथवा कम कर दिया गया। १९५६ में सरकार ने उन करों को वापिस करने की घोषणा कर दी जिनका भुगतान निर्मित वस्तुओं की रचना के लिए आवश्यक कच्चे माल के लिए किया गया था। सरकार ने कुछ प्रेरक योजनाओं को भी प्रस्तुत किया जिन्होंने कच्चे माल और पूंजीगत प्रसाधनों के लिए आयात अनुज्ञप्तियां प्रसारित की। इस योजना में ऊनी माल, जहाज की मरम्मत आदि उद्योगों को सम्मिलित किया गया।

भारत सरकार ने निजी विदेशी पूंजी के प्रवाह को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ सकारात्मक कदम उठाए। इसने विदेशी सरकारों के साथ कई समझौते किए ताकि निजी विदेशी पूंजी पर दोहरे करारोपण को रोका जा सके। विदेशी निवेशकर्त्ता को अधिक आश्वासन और सुरक्षा की भावना

प्रदान करने के लिए सरकार ने बीमा योजनाओं को प्रारम्भ किया। भारतीय उत्पादनों में योजनाओं को प्रारम्भ किया। भारतीय उत्पादनों में विदेशी पूंजी को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने भारत में नवस्थापित उद्योगों को कर की राहत (Tax holiday) प्रदान की। इसके अलावा भारत की व्यापार साख और निवेश निगम की प्रशासकीय परिषद् के प्रबन्ध के अधीन निवेश केन्द्र खोले गये ताकि भारत में निवेश के अवसरों के बारे में विदेशी निवेशकर्त्ताओं को सूचना प्रदान की जा सकें।

भारत ने विदेशी विनिमय की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से २०० मिलियन डालर की साख प्राप्त की। सरकार ने पुनर्रचना और विकास के लिए ऋण प्राप्त करने के लिये मित्र देशों और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से समझौता वार्ता करना प्रारम्भ किया। योजना आयोग द्वारा मई, १९५८ में प्रकाशित एक पत्रिका (Appraisal and prospects of Second Five Year Plan, May, 1958) के अनुसार विदेशी सहायता १९५८–५९ में तीन सौ करोड़ रुपये बढ़ने की आशा की गयी। यह १९५६–५७ में ३८ करोड़ रुपये और १९५७ ५८ में १०० करोड़ रुपये था। रिजर्व बैंक के प्रतिवेदन के अनुसार सार्वजनिक कानून ४८० और ६६५ (पी. एल.–४८० और ६६५) के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम चार वर्षों में लगभग १५२७ करोड़ रुपये कर्ज, अनुदान और सहायता के लिए स्वीकार किए गये। इनमें से १०३४ करोड़ रुपये का इस काल में प्रयोग किया गया।

विदेशी सहायता को बढ़ाने के लिए किए गये उक्त प्रयासों के परिणामस्वरूप द्वितीय योजना के तृतीय और चतुर्थ वर्षों में विदेशी विनिमय की स्थिति सुधर गयी। इस योजना के अन्तिम वर्ष में विकास आयातों की वृद्धि और घर में मूल्यों की वृद्धि होने के कारण निर्यात कम हुआ और इसलिए विनिमय की समस्या गम्भीर बन गयी। साथ ही व्यापारिक घाटे की स्थिति बढ़ी। इस समय भारत के विदेशी विनिमय की निधियां १४०.८४ करोड़ रुपये तक घट गयीं। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी विदेशी विनिमय की समस्या पर्याप्त बनी रही। इस समय भुगतान सन्तुलन की स्थिति कुछ अधिक सन्तोषजनक नहीं थी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना और भुगतान सन्तुलन
(Third Five Year Plan and Balance of Payments)

तृतीय पचवर्षीय योजना में निवेश का अनुमान लगाया गया था वह कुल मिलाकर दस हजार दो सौ करोड़ रुपये था। इसमें से सरकारी क्षेत्र में ६२०० करोड़ रुपये और व्यक्तिगत क्षेत्र में ४००० करोड़ रुपये रखा गया।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि तृतीय योजना काल में घाटे की अर्थ व्यवस्था को पूरा करने के लिए स्रोत बहुत कम थे जबकि घाटे की मात्रा तुलनात्मक दृष्टि से अधिक थी। तृतीय योजना के प्रारम्भ होने के समय कीमत स्तर पहले से ही ऊंचा था। इसके अलावा घाटे की वित्तिय स्थिति के मुद्रा स्फीति सम्बन्धी प्रभावों को दूर करने के लिए विदेशी विनिमय बहुत कम था। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में विनिमय बहुत कम था। इसमें यह आशा की गयी थी कि विदेशी सहायता द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा अधिक मिल सकेगी। सम्भावित होते हुए यह भी वांछनीय नहीं था कि एक स्वतंत्र विदेश नीति के इच्छुक देश को अपने २७ प्रतिशत धन के लिए बाहरी सहयोग पर निर्भर रहना पड़े।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के लिए जो भुगतान सन्तुलन अनुमानित किए गए उनका प्रथम दो योजनाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन निम्न तालिका में किया जा सकता है।[1]

तृतीय पंचवर्षीय योजना में भुगतान सन्तुलनों के अनुमान

विवरण	वार्षिक औसत १९६१–६२ से १९६५–६६	करोड़ रुपयों में १९६१–६२	वार्षिक औसत १९५६–५७ से १९५८–५९ तक
१. निर्यात	६९०	६५०	६०२
२. शुद्ध अदृश्य (विदेशी सरकारी दान के अतिरिक्त)	२४	४५	१०१
३. व्यक्तिगत विदेशी निवेश और अधिकारी ऋण की ताजा प्राप्तियों के अतिरिक्त शुद्ध पूंजीगत लेनदेन	—१००	—१५०	—२२
४. आयात के लिए उपलब्ध विदेशी विनिमय के साधन	६१४	५४५	६३१
५. निर्वाह आयात	७१४	७३०	७२८
६. विकास आयातों के लिए उपलब्ध विदेशी विनिमय के स्रोत	—१००	—८५	—४७

1. Source, Planning Commission, III Five Year Plan-A Draft outlines, Page 53.

तृतीय योजनाकाल में भारत के भुगतान सन्तुलन के अनुमानों को प्रकाशित किया गया। किन्तु यह प्रकाशन प्रतिवर्ष के हिसाब से नहीं था। केवल प्रथम वर्ष के सम्बन्ध में अनुमान लगाया गया और पांच वर्षों का औसत प्रकाशित कर दिया गया। तृतीय योजना के प्रथम वर्ष के आंकड़े १९५९-६० के अनुमानों से अधिक भिन्न नहीं हैं। इसके पहले योजना आयोग ने जो अनुमान लगाए वे पर्याप्त गलत सिद्ध हुए और इसलिए तृतीय योजना में आगे के अनुमानों को पहले से लगा देना उचित नहीं समझा गया। प्रतिवर्ष अनेक अप्रत्याशित बातें हो जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप कोई भी भविष्यवाणी करना खतरे से खाली नहीं होता। इतने पर भी आंकड़ों के वार्षिक सन्तुलन का अनुमान लगाना इसलिए आवश्यक है क्योंकि ऐसा करके थोड़ी सावधानी बरत कर अनेक कमियों और गलतियों को दूर किया जा सकता है। पहले ही विचार करके अतीत की गलतियों को सुधारने का उपक्रम किया जाता है। इस दृष्टि से यदि योजना आयोग भुगतान सन्तुलनों के वार्षिक अनुमान प्रकाशित करता है तो यह परम वांछनीय है।

योजना आयोग ने भुगतान सन्तुलन के अनुमान लगाते समय इस बात पर गहराई से विचार किया कि योजना में कितनी विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। तृतीय योजना काल में कुल मिलाकर २०८ करोड़ रुपये की बाहरी सहायता आवश्यक समझी गयी। विदेशी सहायता के इस सरकारी अनुमान के अतिरिक्त डा. बी. एन. शेनाय आदि ने भी अनुमान लगाये हैं। डा. शेनाय के अनुसार आवश्यक विदेशी सहायता का अनुमान और अधिक होना चाहिये क्योंकि घरेलू बचत एवं विदेशी व्यय के मध्य पर्याप्त अन्तर स्पष्ट है। दोनों अनुमानों के बीच मूल धारणाओं के सम्बन्ध में विभिन्नता थी। डा. शेनाय तृतीय योजना काल में राष्ट्रीय आय को ३.५ प्रतिशत बढ़ाना चाहते थे, जबकि इसी काल में योजना आयोग राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत की वृद्धि करना चाहता था। इसके अतिरिक्त डा. शेनाय के अनुसार राष्ट्रीय बचत केवल १/२ प्रतिशत अधिक बढ़कर ८ प्रतिशत हो सकेगी किन्तु तृतीय योजना का उद्देश्य राष्ट्रीय आय को १३ प्रतिशत करना था। डा. शेनाय के कथनानुसार बचत के कम अनुमान लगाना उचित है क्योंकि अधिक अनुमान लगाने से वही परिणाम प्राप्त होता है जो द्वितीय योजना काल में सरकार को हुआ।

कुल मिलाकर डा. शेनाय का मत निराशावादी था। यदि अतीतकाल में देश की प्रगति धीमी रही है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि भावी उद्देश्यों को नीचा बना दिया जाए। अतीत की धीमी गति से प्रभावित होकर हमें अपने उद्देश्य अधिक ऊंचे रखने चाहिए ताकि आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील

देशों के बराबर पहुँच सकें और जीवन स्तरों में अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरों को कम कर सकें। यह कहा जाता है जब हम आसमान का लक्ष्य बना कर चलते हैं तो हम वृक्ष की ऊंचाई तक तो पहुँच ही सकते हैं किन्तु यदि हम धरातल को ही लक्ष्य माने तो हम ऊपर चढ़ ही नहीं पाएंगे। प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं में विश्वास पैदा करने में हमें अपने पड़ौसी साम्यवादियों की प्रगति की गति के साथ प्रतिस्पर्धा करनी है। यदि प्रजातन्त्रात्मक आर्थिक, वैज्ञानिक प्रगति के क्षेत्र में हम तेजी से आगे न बढ़ पाये तथा स्वतन्त्रता विहीन देशों से भी पीछे रह गये तो ऐसी स्वतन्त्रता का जन साधारण के लिए क्या अर्थ होगा। इस प्रकार कुल मिलाकर निराशाजनक दृष्टिकोण अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं है, वरन् हम आशावादी रहकर अधिक लाभ में रह सकते हैं। यद्यपि भुगतान संतुलन की समस्या है और रहेगी किन्तु इस समस्या को अतिशयोक्ति के परिवेश में बदतर सिद्ध करना किसी दृष्टि से उपयोगी नहीं माना जा सकता। जब तक भारत एक आत्मनिर्भर देश नहीं बन जाता तब तक भुगतान संतुलन समस्या बनी रहेगी। आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के लिए देश को भारी प्रयास करने हैं तथा सभी नागरिकों को देश भक्ति की भावना से प्रेरित होकर कार्य करना है।

इस समय भुगतान संतुलन की समस्या का इतना महत्व नहीं है जितना कि उत्पादन और उपभोग, बचत और व्यय तथा कार्य और आराम के बीच संतुलन की स्थापना का है। यदि ये संतुलन बनाए रखे गए तो भुगतान संतुलन की समस्या केन्द्रीय बैंकरों के अतिरिक्त किसी के भी सिर दर्द का विषय न रहेगी। तृतीय योजना काल के १९६४ और १९६५ के वर्षों में भारत की भुगतान स्थिति निम्न प्रकार रही—

भारत की भुगतान स्थिति

(अरब रुपये में)

	१९६४	१९६५
१. चालू खाता		
आयात (सी. आई. एफ.)		
(क) गैर सरकारी	६.२२	६.१०
(ख) सरकारी	७.६५९	७.८६३
कुल आयात (क+ख)	१३.८७९	१३.९६३
निर्यात (एफ. ओ. बी.)	८.१७३	७.८२७
व्यापार तुला	—५.७०३	—६.१३६

		१९६४	१९६५
	गैर-मुद्रा सम्बन्धी सोने की आवाजाही (शुद्ध)	—	+०.१६
	सरकारी हस्तांतरण के भुगतान (शुद्ध)	+१.१८	+०.३५३
	अन्य छोटी मोटी मदें (शुद्ध)	+०.१९१	−०.३७६
	चालू खाता (शुद्ध)	−४.३३२	−५.९९९
२.	भूल चूक	−०.७७४	+०.४६५
३.	पूंजी खाता		
	गैर-सरकारी पूंजी (शुद्ध)	+०.०४२	−०.०५५
	(क) लम्बी अवधि	+०.०६	−०.०४२
	(ख) कम अवधि	−०.०१८	−०.०१३
	बैंक की पूंजी (शुद्ध)	−०.००१	+०.०४३
	सरकारी पूंजी (शुद्ध)	+४.५४४	+६.०३
	(क) ऋण	+५.४८७	+५.५९४
	(ख) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिया	−०.२३८	+०.५९५
	(ग) परिशोधन	−०.५११	−०.८२५
	(घ) फुटकर	−०.१९४	+०.६६२
	पूंजी खाता	+४.५८५	+६.०१८
	सुरक्षित कोष में (घट − बढ़ +) (१ + २ + ३)	−०.५२१	+०.४८४

INDIA'S BALANCE OF PAYMENTS

(Millions of U.S. Dollars) (Minus Sign indicates Debit)

Items	1961	1962	1963	1964	1965	1966	1967	1968
Goods and Services	—792	—945	—890	-1264	-1418	-1147	-1304	—840
Trade balance job/cif	—751	—876	—870	-1232	-1254	-1069	-1134	—635
Investment income	—134	—171	—189	—214	—251	—254	—276	—278
Central Govt. NIE	43	70	110	155	86	150	83	37
Other	50	32	59	27	1	26	23	36
Tranfers : Private	74	72	88	87	83	178	139	160
Central Govt.	19	98	135	248	75	127	44	16
Capital N.I.E : Private	—11	10	38	35	—7	14	3	—13
Central Govt.	668	620	709	1066	1057	837	1199	927
Commercial Banks : Assets	1	-9	4	-16	17	-57	36	36
Liabilities	-26	10	20	15	-8	-11	-7	-19
Monetary Authorities	59	136	-23	-25	103	11	14	-76
Monetary Gold	—	—	—	—	-34	38	—	—
I M F Accounts	126	29	-20	-44	133	75	95	-83
Other assets	7	116	-16	18	18	-96	-85	-24
Other liabilities	-74	-9	13	1	-14	-6	4	31
Net Errors and Omissions	8	8	-81	-146	98	48	-124	-191

Sources—International Financial Statistics Prepared by the Statistics Bureau of the International Monetary Fund, Vol. XXIII, No. 5 May, 1970, P. 164.

FOREIGN TRADE[1]

(In Lakhs of rupees)

Year/ Month	Merchandise			Treasure (Gold)		
	Imports (−) 1	Exports (+) 2	Balance of trade 3	Imports (−) 4	Exports (+) 5	Balance of Trade 6
1960-61	112162	64207	−47955	86	—	− 86
1961-62	109163	66058	−43105	145	—	−145
1962-63	113148	68532	−44616	167	—	−167
1963-64	122285	79324	−42961	90	—	− 90
1964-65	134903	81630	−53273	69	—	− 69
1965-66	140852	80564	−60288	37	—	− 37
1966-67	207799	115653	−92146	37	—	− 37
1967-68	198638	119869	−78769	—	—	—
1968-69	191020	135778	−55242	—	—	—
1969-70	156749	141001	−15748	—	—	—

1. Source—Reserve Bank of India, Bulletin, June, 1970, P. 1069

वर्तमान समय में भी भुगतान संतुलन की समस्या कम गम्भीर नहीं है देश के आयात और निर्यात की स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि भुगतान संतुलन का संकट अभी रहेगा। १९६६ में कुल आयात १६ अरब ५८ करोड़ ७० लाख रुपये का हुआ था। १९६५ में १३ अरब ६८ करोड़ ८० लाख रुपये का आयात किया गया था। इस प्रकार ६६ में आयात की वृद्धि २ अरब ७२ रुपये अथवा १९.६ प्रतिशत की हुई। ६ जून, १९६६ को अवमूल्यन हो जाने के कारण इस आयात की कीमत डालरों में बहुत अधिक बढ़ गई। १९६६ के आयातों में सबसे अधिक भाग औद्योगिक कच्चे माल तथा पुर्जों का था। उपभोक्ता वस्तुओं में अन्न का आयात सर्वाधिक रहा। अन्न के अधिक आयात के कारण अमेरिका, कनाडा और बर्मा से पिछले वर्ष की अपेक्षा अधिक आयात किया गया जबकि चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया से मूल्य और अन्य दृष्टियों से अधिक आयात हुआ। ब्रिटेन पश्चिमी जर्मनी और रूस से पिछले साल की अपेक्षा १९६६ में आयात गिरा।

अवमूल्यन और भुगतान संतुलन
(Devaluation (1966) and Balance of Payments)

६ जून, १९६६ को भारतीय रुपया अवमूल्यित कर दिया गया। यह अवमूल्यन का निर्णय बुद्धिपूर्ण रहा अथवा नुकसानदायक इसके संबध में विचारकों में मत एक नहीं है। वैसे अवमूल्यन का प्रभाव उसके बाद में लिए जाने वाले आर्थिक निर्णयों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जब कभी अवमूल्यन को लाभदायक नहीं पाया जाता तो उसके प्रभाव को घटाने के लिए किसी भी आर्थिक क्रिया के क्षेत्र में करों की उचित व्यवस्था अथवा सहायता की व्यवस्था कर दी जाती है। जब हम अपने आयात और निर्यात से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं तो इसके लिए यही व्यवस्था अपनाई जाती है। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में निर्यात सहायता और आयात कर का व्यापक स्तर पर प्रबंध करके इसी व्यवस्था को अपनाने का प्रयास किया था। १९६६ के अवमूल्यन ने स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न को खड़ा किया कि क्या अवमूल्यन हमारे भुगतान असमतुल्यता की समस्या को सुलझा सकेगा? क्या इसके द्वारा हम अपने निर्यातों को बेच कर अधिक से अधिक मात्रा में विदेशी धन प्राप्त कर सकेंगे? अथवा क्या इसके द्वारा निर्यातों से प्राप्त आमदनी को मितव्ययता के साथ प्रयोग में ला सकेंगे? ये प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अवमूल्यन द्वारा यह माना जाता है कि एक देश की सेवाओं तथा माल पर विदेशी व्यय प्रोत्साहित होगा और विदेशी वस्तुओं तथा सेवाओं

पर व्यय करने से स्वदेशी नागरिक हतोत्साहित होगा। ऐसा करने के लिए आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों को प्रोत्साहित किया जाता है।

इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होते हैं। जसे-क्या भारत को आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों की असंतुलता का अनुभव हुआ हैं, यदि ऐसा हुआ हैं तो क्या भारत के मुद्रा प्रसार में इसकी निर्यात आय पर नुकसानदायक प्रभाव पड़ा है ? क्या इसके कारण हमारे निर्यातों की मात्रा घटी है और निर्यात से होने वाली आमदनी रुक गई है ? क्या इसके कारण विदेशी माल और सेवाओं पर व्यय बढ़ गया है ? क्या इस मुद्रा प्रसार की स्थिति में विशेष नियन्त्रणों की व्यवस्था संतोषजनक रूप से कार्य नहीं कर रही ? ये कुछ प्रमुख प्रश्न हैं जो इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। १९६६ के अवमूल्यन के औचित्य और अनौचित्य इन प्रश्नों के जवाब द्वारा ही सिद्ध किये जाते हैं।

अवमूल्यन के कारण व्यापार शर्तें भारत के विपक्ष में हो गयीं। घरेलू और विदेशी कीमतें यथावत् रहने पर भी ३६·५ प्रतिशत के अवमूल्यन का अर्थ होगा कि हमें पहले जितनी मात्रा में आयातों को खरीदने के लिए अपने निर्यातों का ३६·५ प्रतिशत अधिक देना होगा। यदि हम अवमूल्यन के कार्य को आधारभूत काल मान कर चलें तो अवमूल्यन का अर्थ होगा कि आयात की एक इकाई के लिए अब निर्यात की एक इकाई के स्थान पर १·३६५ इकाइयों की आवश्यकता होगी। यदि हमारे आयात हमारी राष्ट्रीय आय का ६ प्रतिशत होते हैं तो उन्हें अब खरीदने के लिये करीब चालीस प्रतिशत अधिक राष्ट्रीय उत्पादन की आवश्यकता रहेगी। यदि हमारे आयातों की वित्तीय व्यवस्था विदेशी ऋणों द्वारा हो जाती है तो भी स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं आता। अन्त में हमारे आयातों का भुगतान निर्यातों के द्वारा ही किया जाता है। यदि ३६ ५ प्रतिशत अवमूल्यन को करों या आन्तरिक मूल्य वृद्धि के द्वारा महत्वहीन न बनाया जाय तो हमारे राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग २/४ भाग विदेशियों को उनकी सहायता के लिए चला जायेगा। इससे वे पूंजीवादी देश कम प्रभावित होंगे जिनमें पहले से ही अपर्याप्त अघरेलू मांग है और जहां उत्पादन की क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो पा रहा है। एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था जो घर में माल के सामान्य अभाव में पीड़ित है इस प्रकार के उपाय नहीं अपना सकती क्योंकि या तो इससे देश में कीमत वृद्धि हो जायेगी, अथवा वस्तुओं की कमी पड़ जायेगी।

यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें कि विदेशी सहायता की उपलब्धता बहुत कुछ रुपये के अवमूल्यन पर निर्भर करती है और हम यह मानते हैं कि विदेशी सहायता देश की आय का लगभग ४ प्रतिशत है तो हमें यह

कहना है कि जब तक अवमूल्यन के प्रभावों को आन्तरिक मूल्य वृद्धि या निर्यात करों के माध्यम से महत्वहीन न बनाया जाय तब तक विदेशी सहायता से होने वाली आधी प्राप्ति को व्यापार शर्तों की प्रतिकूलता आधा बना देगी। अतः हमारी स्थिति यह है कि यदि हम पुनर्मूल्यन करने की नहीं सोचते तो हमारे सामने केवल एक ही विकल्प रह जाता है कि अवमूल्यन के बुरे प्रभावों को महत्वहीन बनाने के लिए उचित नीति अपनायें।

अवमूल्यन के कारण विदेशी आय की अधिक मात्रा प्राप्त नहीं हो सकेगी क्योंकि वस्तुओं के निर्यात में उनकी लोचशीलता सम्बन्धित कीमत परिवर्तन में एकता से कम है। इस प्रकार की निर्यात योग्य वस्तुओं में यह आवश्यक रहेगा कि अवमूल्यन के कारण गिरी हुई कीमतों के प्रभाव को विशेष निर्यात करों की व्यवस्था द्वारा महत्वहीन बनाया जाये। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि अवमूल्यन सम्बन्धी कार्य करों तथा सहायता की उस विशेष व्यवस्था से छुटकारा नहीं दिला सकता जो अवमूल्यन से पहले भी कायम थी। इसी प्रकार आयातों के बारे में भी या तो हमको आयात-कर घटाने होंगे अथवा उन वस्तुओं को सकारात्मक सहायता देनी होगी जिनके आन्तरिक मूल्यों को बढ़ाना नहीं चाहते।

इस प्रकार आयातों के क्षेत्र में भी सहायता और करों की व्यवस्था को संचालित करना आवश्यक है। विदेशी धन को लाने के लिए जो प्रेरणाएं अभी तक दी जाती हैं, उनको केवल उसी स्थिति में हटाया जा सकता है जबकि हमें यह ज्ञात हो जाए कि ३६.५ प्रतिशत का अवमूल्यन उन लोगों के लिए पर्याप्त प्रेरणा बन जाएगा जो अपने विदेशी धन को भारत में लाना चाहते हैं। जो विदेशी कम्पनियां भारत में काम कर रही हैं वे भी विदेशों के लिए कम आकर्षक बन सकती हैं और इससे गैर-सरकारी विदेशी पूंजी का भारत में प्रसार अथवा पुनः निवेश विपरीत रूप से प्रभावित हो सकता है। इस क्षेत्र में भी विदेशी निवेशकर्ताओं को प्रेरणाएं प्रदान करने की व्यवस्था लागू रखनी होगी।

वर्तमान स्थिति में भुगतान सन्तुलन की स्थिति में आयातों तथा बचतों को बढ़ाना होगा ताकि निर्यातों और निवेश को सन्तुलित किया जा सके। इस अर्थ-व्यवस्था में निवेश बचतों से अधिक होते हैं; उसमें एक ओर तो कीमतों में आन्तरिक दबाव पड़ता है और दूसरी ओर भुगतान सन्तुलनों पर बाहरी दबाव पड़ता है। तृतीय योजनाकाल में इसी प्रकार की यान्त्रिकी देश में कायम रही। रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा विकास की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण हमारी बचत और व्यय के बीच का अन्तर

चौड़ा होता गया। ऐसी स्थिति में विदेशी सहायता द्वारा अतिरिक्त आयात द्वारा इसे करना कठिन था। इस स्थिति का उचित इलाज यही था कि गैर जरूरी उपभोगों को रोक कर तथा हर प्रकार के अनुत्पादक खर्चों को काट कर देश की बचत को बढ़ायें। इस सम्बन्ध में मि. डी. के. शुक्ला का यह कहना सही है कि "इस प्रकार के प्रयासों द्वारा व्यय और बचत में सन्तुलन प्राप्त करके और कृषि उत्पादन को बढ़ाकर हम प्रसार के दबावों तथा भुगतान सन्तुलन की असमतुल्यता से छुटकारा पा सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारत का भुगतान सन्तुलन स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व देश के पक्ष में था। १६३० के बाद से द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार ने बहुत सामान खरीदा था किन्तु देश के आयातों में वृद्धि इस अनुपात में न हुई। १६४७ के बाद देश का व्यापार सन्तुलन कई कारणों से उसके विरुद्ध हो गया। इन कारणों में से कुछ ये हैं—

(१) जब द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अधिक कागजी नोट छापे गये तो भारत में विभिन्न वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया। उसके फलस्वरूप अनेक देश भारत में अपनी वस्तुयें बेचने के लिये अग्रसर हुये। देश का आयात व्यापार बढ़ गया किन्तु दूसरी ओर यहां की वस्तुएं खरीदना अन्य देशों के लिए लाभदायक नहीं था, अतः निर्यात व्यापार नहीं बढ़ सका।

(२) विभाजन के बाद भारत की खाद्य समस्या अत्यन्त जटिल हो गई और उसे हल करने के लिए उसे प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की मुद्रा खाद्य पदार्थों के आयात के लिये खर्च करनी पड़ी।

(३) जब युद्ध समाप्त हुआ तो देश में बनाई तथा आयात की जाने वाली वस्तुओं की मांग बढ़ गई और इसलिये उन चीजों की खपत देश में होने के कारण निर्यात कम हुये और आयात बढ़े।

(४) विभाजन के बाद अनेक ऐसी वस्तुओं का जिनका पहले भारत द्वारा निर्यात किया जाता था, आयात होने लगा।

(५) भारत ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण की दिशा में अग्रसर हो रहा है त्यों-त्यों उसके आयातों में वृद्धि हो रही है। निर्यात की दृष्टि से इंजीनियरिंग के समान और परिवहन के उपकरण बढ़ रहे हैं किन्तु इनका अनुपात कम है।

(६) भारतीय दूतावासों का खर्च अब पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया है। इसके कारण भारतीय विदेशी मुद्रा घटने लगी है।

विरोधी व्यापार सन्तुलन को सुधारने के लिए देश में अनेक प्रयास किये गये हैं। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप कुछ सुधार भी हुआ है। देश के

निर्यात बढ़ने लगे हैं और आयातों में कमी आई है, किन्तु इस दिशा में अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।

अर्वाचीन प्रवृत्तियां और वर्तमान स्थिति

(Recent Trends and Present Position)

भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति को सुधारने के लिए विभिन्न क्रान्तिकारी प्रयास किये गये ताकि आयातों की मात्रा को कम किया जा सके और विदेशी मुद्रा की बचत की जा सके। दूसरी ओर निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए भी विभिन्न प्रावधान किये गये ताकि अधिक से अधिक विदेशी विनिमय कमाया जा सके। वर्तमान समय में भुगतान सन्तुलन को सुधारने की दृष्टि से भारत की व्यापार नीति को नयी दिशायें और अपूर्व प्रवृत्तियां प्रदान की गयी। आधुनिक काल में व्यापार नीति में निर्यात से होने वाली आय में वृद्धि करने और आयातित वस्तुओं तथा कच्ची सामग्री के स्थान पर देश में ही उपलब्ध होने वाली वस्तुओं के उपयोग पर जोर देकर आयात की कमी करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

१ मई, १९६७ को वर्ष १९६७-६८ के लिए आयात नीति घोषित की गयी। इस नीति में छोटे-बड़े कुल ५९ उद्योगों को आयात की अतिरिक्त सुविधायें दी गयी। इन में देश का लगभग ७५ प्रतिशत उत्पादन होता है। इनके अलावा ८१ ऐसी चीजों का आयात बन्द कर दिया गया है जो देश में बन सकती हैं। इस आयात नीति की प्रमुख विशेषता इस की निरन्तरता है। इस नीति के अन्तर्गत वास्तविक उपभोक्ताओं (Actual users) को विशेष सुविधायें प्रदान की गयी। इसमें पुराने आयातकर्ताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। इस नयी आयात नीति के अनुसार निर्यात किये जाने वाले माल के उत्पादक कारखानों की आयात आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। उनको हर सम्भव स्रोत से आयात करने की सुविधा दी गयी है।

निर्यात के क्षेत्र में अपनाई गयी नीति के अनुसार निर्यात पर लगे हुए नियन्त्रणों को धीरे-धीरे ढीला किया जा रहा है, ताकि देश की आंतरिक अर्थ-व्यवस्था के अनुसार संगठित निर्यात को प्रोत्साहन दिया जा सके। निर्यात (नियन्त्रण) आदेश के अनुसार अनेक वस्तुओं को नियन्त्रणों से मुक्त कर दिया गया है। केवल कुछ वस्तुओं पर नियन्त्रण को बनाए रखा गया है। निर्यात को बढ़ाने के लिए विभिन्न उपाय किये गये हैं जिनका विवरण यथा-स्थान दिया जा चुका है। इन उपायों में आयात की सुविधा, लोहे तथा

इस्पात देने में रियायत, रेल के भाड़े में रियायत, उत्पादन शुल्क और करों से छूट आदि बातें मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। तथ्य यह है कि सब कुछ प्रयास करने के बावजूद भी हमारे निर्यात वांछनीय गति और मात्रा में नहीं बढ़ रहे हैं।

तीसरी योजना में निर्यात का लक्ष्य ३७–३८ अरब रुपये का रखा गया था। चौथी योजना में अवमूल्यन से पूर्व ५१ अरब रुपये के निर्यात का लक्ष्य था और इसके बाद ८० अरब ३० करोड़ रुपये कर दिया गया। इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु निर्यात में वृद्धि के अनेक क़दम उठाए गए हैं।

मई, १९६२ में व्यापार बोर्ड की स्थापना की गयी और जून, १९६६ में इसका पुनर्गठन किया गया। यह बोर्ड व्यापारियों और उद्योग-पतियों से परामर्श करके निर्यात बढ़ाने का प्रयास करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बोर्ड ने विभिन्न समिति और दलों की रचना की। इसके अधीन १९ निर्यात प्रोत्साहन परिषदें स्थापित की गयी हैं। चाय, नारियल, जूट, कहवा, इलायची हाथ कर्घा, रेशम उद्योग आदि के लिए भी जिन्स मंडल (Quality Board) स्थापित किए गये हैं। विभिन्न परिषदों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए तथा विकास कार्यों में उनकी सहायता करने के लिए भारतीय निर्यात संगठन संघ नाम का एक शीर्ष निकाय स्थापित किया गया है। इन सब के अतिरिक्त सरकारी व्यापार निगम के सहायक हस्त शिल्प तथा हाथ करघा निर्यात निगम एवं भारतीय चलचित्र निर्यात निगम भी अपने-अपने क्षेत्र में निर्यात को प्रोत्साहित करने का कार्य कर रहे हैं। निर्यातकर्ताओं को ऋण की सुविधा प्रदान करने के बारे में दो अध्ययन दल नियुक्त किये गये थे। इनकी सिफारिशों को स्वीकार करते हुए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन कर दिये गये हैं। निर्यात हानि-लाभ बीमा निगम के स्थान पर एक निर्यात ऋण तथा गारन्टी निगम स्थापित किया गया है जो निर्यात को प्रोत्साहन देने और उनको विकास के लिए ऋण सम्बन्धी सुविधायें पूरा करने का कार्य करता है। यह निगम देश में निर्यात ऋण की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करता है। अब तक अनेक निर्यात गृहों को मान्यता दी जा चुकी है। निर्यात कर्ताओं के लिए एक आचरण संहिता तैयार की गयी है।

एक प्रदर्शनी निदेशालय द्वारा व्यावसायिक दृश्य प्रचार की देख-भाल की जाती है। भारत विभिन्न देशों में व्यापारिक प्रदर्शनियाँ लगाता

है और इनके माध्यम से भारत के उत्पादन को प्रचारित करता है। बम्बई में भारतीय व्यापार मेला तथा प्रदर्शनी परिषद स्थापित की गयी है जो निर्यात को प्रोत्साहन देने में सहायता करती है।

भारतीय व्यापार की दिशायें वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं से बहुत कुछ प्रभावित रही हैं। ब्रिटेन और अमेरिका भारत के प्रमुख ग्राहक बन गये हैं। जिन देशों को भारत द्वारा निर्यात किया जाता है उनमें से प्रमुख हैं–ब्रिटेन, अमरीका, रूस, जापान, आस्ट्रेलिया, श्रीलंका, पश्चिम जर्मनी, कनाड़ा, बर्मा, संयुक्त अरब गणराज्य, फ्रान्स, अर्जेन्टाइना, सूडान, मलेशिया, सिंगापुर, नीदरलैंडस्, चेकोस्लोवाकिया, केनिया, इटली, नाइजीरिया, क्यूबा, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान और इण्डोनेशिया। १९६५–६६ में पूर्व यूरोप देशों को भारत का निर्यात एक अरब ५६ करोड़ रुपये के मूल्य का हुआ। इस काल में अमरीका, जापान तथा रूस को होने वाले निर्यात में वृद्धि होती रही, किन्तु अर्जेन्टाइना, इन्डोनेशिया, इटली, कनाड़ा, आदि देशों को होने वाला निर्यात या तो पूर्ववत् रहा अथवा उसमें कमी आ गयी।

भारत में जिन देशों से आयात किया जाता है उनमें अमेरिका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, इटली, जापान, रूस बेल्जियम, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, मलेशिया, सऊदी अरब, कनाड़ा, पाकिस्तान, बर्मा, स्वीडन, केनिया और सूडान आदि प्रमुख हैं। सबसे अधिक आयात अमरीका से होता रहा है। उसके बाद क्रमशः ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, जापान और रूस का स्थान आता है। भारत से सन् १९६१-६२, ६४–६५ और ६५–६६ में जिन वस्तुओं का निर्यात किया गया और इन्हीं वर्षों में जो वस्तुयें आयातित की गयी उनकी सूची देना अप्रासगिक न रहेगा। इन सूची को देखने के बाद हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि भारत का भुगतान सन्तुलन किन दिशाओं की ओर अग्रसर हो रहा है।

आयातों और निर्यातों की उपर्युक्त सूची को देखने के बाद भारत के भुगतान सन्तुलन का अनुमान हो जाता है। १९६५ के पाकिस्तानी आक्रमण और १९६२ के चीनी आक्रमण ने देश की सुरक्षा आवश्यकताओं को महत्वपूर्ण बनाकर हमारे रक्षा व्यय में पर्याप्त वृद्धि की है। देश की विकास योजनाओं में कटौती करके हमें विदेश विनिमय का निवेश दूसरे देशों से आवश्यक हथियार और युद्ध सामग्री खरीदने के लिए करना पड़ा। विदेशी आक्रमणों का मुकाबला करते समय भारत को जो जन-धन की हानि उठानी पड़ी उसके परिणामस्वरूप उसका आर्थिक ढांचा गम्भीर रूप में प्रभावित

हुआ। इन आक्रमणों की पुनरावृत्तियों को रोकने के लिए सैनिक प्रसाधनों में आत्मनिर्भर बनना परमावश्यक था, किन्तु साथ ही विकास योजनाओं की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। फलतः दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित करना जरूरी बन गया। वर्तमान समय में जो कीमतों की वृद्धि होती रही है उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि देश की आर्थिक संरचना सुधारने की अपेक्षा बिगड़ने की दिशा में अग्रसर हो रही है। वस्तु स्थिति में सुधार लाने के लिए आयात और निर्यात के क्षेत्र में सरकार द्वारा उपर्युक्त नीति का निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है वरन् इसके लिए देश के उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा प्रत्येक वर्ग के उपभोक्ताओं को हर सम्भव और आवश्यक त्याग करने के लिए तैयार रहना होगा।

EXERCISES

"Between whatever places foreign trade is carried on, they all of them derive to distinct benefits from it. It carries out that surplus part of the produce of their land and labour for which there is no demand among them and brings back in return for it something else for which there is a demand."

—(Adam Smith : Wealth of Nations)

Discuss how the benefits indicated by Adam Smith were treated in the subsequent evolution of International Trade.

"विदेश व्यापार चाहे किन्हीं स्थानों के बीच में क्यों न हो, उनके दो लाभ होते हैं। इससे देश की भूमि और श्रम के उत्पादन का वह अतिरिक्त भाग काम में आ जाता है जिसके लिए देश में कोई मांग नहीं है और इसके बदले उसे वह कुछ मिल जाता है जिसके लिए माग है।"

—(एडम स्मिथ)

एडम स्मिथ द्वारा इंगित ये दोनों लाभ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की संस्थापित विचारधारा के विकास में क्या स्थान रखते हैं, विचार कीजिए।

If free trade is shown to be conducive to the maximum welfare of all countries of the world, does it follow that it is necessarily conducive to the maximum welfare of any single country ? Under what circumstances would a country maximise its welfare from trading by abandoning free trade, and by which mean.

यदि स्वतन्त्र व्यापार दुनियां के सभी देशों के अधिकतम कल्याण के लिए उपयोगी है तो क्या इसका अर्थ यह होगा कि यह केवल एक देश के लिये ही अधिक से अधिक कल्याणजनक होगा ? ऐसी कौनसी परिस्थितियां हैं जिनमें एक देश स्वतन्त्र व्यापार को छोड़कर इन साधनों से अपने लाभ को अधिक से अधिक बना सकता है ?

3. How do you account for the fact that balance of payments difficulties have become much more common and a recurrent in the recent years then in the older days.

   उन कारणों का उल्लेख कीजिये जिनसे भुगतान सन्तुलनों की कठिनाइयां वर्तमान काल में पहले की अपेक्षा अधिक सामान्य बन गयी हैं।

4. Give an account of the assistance provided by the International Bank of reconstruction and development specially to under-developed countries, during the first ten years of his assistance.

   पुनर्रचना और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अपनी स्थापना के प्रथम दस वर्षों में जो सहायता प्रदान की है, विशेषत: अर्द्ध-विकसित देशों के लिए, उसका उल्लेख कीजिए।

5. How far has been International Monetary fund been able to fulfil the principle objective of Safeguarding exchange stability of member countries ?

   अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य देशों के विनिमय स्थायित्व के मुख्य उद्देश्य को प्राप्त करने में कितना सफल रहा है ?

6. Examine the Changes in the composition and direction of India's Foreign Trade since partition of the country ?

   देश के विभाजन के बाद भारत के विदेश व्यापार की रचना एवं दिशा में हुए परिवर्तनों की परीक्षा कीजिये ?

7. Disicuss the circumstances leading to the devaluation of Rupee in September, 1949. How did it effect the course of foreign trade in our country.

सितम्बर, १९४९ में हुए रुपये के अवमूल्यन की आधारभूत परिस्थितियों पर विचार कीजिए। इससे हमारे देश का विदेश व्यापार किस प्रकार प्रभावित हुआ ?

8. Critically examine the poisition of our balance of payments since the beginning of Second Plan. Do you think our recent foreign exchange difficulties are merely the inavailable consequence, of development planning in and under-developed economy or the results of mismanagement.

   द्वितीय योजना के प्रारम्भ से हमारे भुगतान सन्तुलनों की स्थिति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ? आपके मतानुसार हमारी वर्तमान विदेशी विनिमय की कठिनाइयां केवल एक अर्द्ध-विकसित व्यवस्था में विकासशील नियोजन के केवल अपरिहार्य परिणाम है अथवा कुप्रबन्ध के परिणाम हैं ?

9. Examine the suitability and the merits of the recommendations of the Second Fiscal Commission for an under-developed economy like ours.

   हमारी जैसी अर्द्ध-व्यवस्था के लिए द्वितीय राजकोषीय आयोग की सिफारिशों की उपयुक्तता और लाभों का परीक्षण कीजिए।

10. Describe and critically examine the system of Exchange Control practiced in India since the beginning of Second World War. How can it aid us in Planning our Foreign Trade as a part of Economic Planning in India ?

    द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ से भारत ने विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था को किस प्रकार लागू किया है, उसकी व्याख्या और आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। यह भारत में आर्थिक नियोजन के भाग के रूप में हमारे विदेश व्यापार को नियोजित करने में किस प्रकार मदद कर सकता है ?

11. Write a critical note on India's trade relations with USA or Japan or Pakistan since, 1947.

    १९४७ से संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान या पाकिस्तान के साथ भारत के जो व्यापार सम्बन्ध रहे उन पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए ?

12. Outline a scheme for the reconstruction of India's foreign trade to suit our present needs.
हमारी वर्तमान आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त भारत के विदेश व्यापार की पुनर्रचना के लिए एक योजना की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिये।
13. Examine how for the volume of foreign trade is an index of a country's prosperity.
विदेश व्यापार की मात्रा एक देश की सम्पन्नता का सूचकांक किस प्रकार होता है, परीक्षा कीजिए।
14. "International Trade in commodities is a substitute for International mobility of factors." Comment.
"वस्तुओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तत्वों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का विकल्प है।" विचार कीजिए।
15. What do you mean the "Barter Terms of Trade"? Communicate the factors that influence a country's barter terms of Trade.
अदला-बदली के व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते हैं? एक देश की अदला-बदली की शर्तों पर प्रभाव डालने वाले तत्वों का उल्लेख कीजिये।
16. Under what conditions does a policy of protection favour Employment?
संरक्षण की नीति किन परिस्थितियों में रोजगार को बढ़ावा देती है?
17. Examine the proposition that a small country gains more from International trade than a big country.
"एक बड़े देश की अपेक्षा एक छोटा देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिक प्राप्त करता है।" इस कथन की परीक्षा कीजिये?
18. Show how Planning has effected the Foreign Trade of India?
भारत का विदेश व्यापार नियोजन से किस प्रकार प्रभावित हुआ है। प्रदर्शित कीजिए।
19. Consider the principles of protection from the point of view of India's economy with special reference to the recommendations of the Second Fiscal Commission.

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से सुरक्षा के सिद्धान्त पर द्वितीय राजकोषीय आयोग की सिफारिशों के सन्दर्भ में विचार कीजिए ?

20. Discuss the Balance of payment position of India since 1951.
१९५१ से भारत की भुगतान सन्तुलन की स्थिति पर विचार कीजिए ?

21. Would you advocate the devaluation of The Rupee ?
क्या आप रुपये के अवमूल्यन का समर्थन करेंगे ?

22. Examine the reasons, why the rupee-sterling link has been maintained after Independence ? Do you visualise circumstances under which the link should be removed ?
स्वतन्त्रता के बाद रुपया और पौण्ड के बीच सम्बन्ध क्यों बनाए रखा गया है। कारणों की परीक्षा कीजिए। क्या आप ऐसी परिस्थितियों की सम्भावनायें देखते हैं जिनमें इस सम्बन्ध को समाप्त कर देना चाहिये।

23. Discuss the way in which Exchange control as now operated in India effects Indian Trade. Suggest remedies.
इस समय भारत में व्यवहृत विनिमय नियन्त्रण यहां के व्यापार को किस प्रकार प्रभावित करता है, विचार कीजिए और उपचार सुझाइये।

24. Examine the nature of Foreign Aid for our Economic Development and discuss its effects on the balance of payment.
हमारे आर्थिक विकास के लिये दी गयी विदेशी सहायता की प्रकृति की परीक्षा कीजिये और भुगतान सन्तुलन पर पड़ने वाले इसके प्रभावों पर विचार कीजिये।

25. Discuss the implications of the encouragement of the investments of foreign private capital in Indian Industries.
भारतीय उद्योगों में विदेशी निजी पूंजी के निवेश को प्रोत्साहन देने में निहित बातों पर विचार कीजिये।

26. Are the resources at the disposal of International Monetary Fund adequate for discharging its functions under present conditions ? Give reasons for your answer.
क्या वर्तमान परिस्थितियों में अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास पर्याप्त स्रोत हैं ? अपने उत्तर के लिये कारण दीजिये ।

27. Has the Ottava Trade Agreement helped India ? Examine the effects of Britain's entry into the European Common Market on the trade of India.
क्या ओटावा समझौते ने भारत की सहायता की है ? यूरोपीय [illegible] बाजार में ब्रिटेन के प्रवेश से भारतीय बाजार पर पड़ने वाले प्रभावों की परीक्षा कीजिये ।

28. Explain briefly the advantages of International Trade. Are we able to have these advantages under our system of Planning ? Give reasons in you support
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिये । क्या हम नियोजन की अपनी वर्तमान व्यवस्था में इन लाभों को प्राप्त कर सकते हैं ? कारण दीजिये ।

29. State and explain the commercial policy of India since 1951.
सन् १९५१ से भारत की वाणिज्य नीति का उल्लेख और स्पष्टीकरण कीजिये ।

30. How is it that under conditions of development we have to think of more exports ?
विकास की परिस्थितियों के अधीन हमें अधिक निर्यात पर क्यों विचार करना चाहिये ?

31. What are the main difficulties in the way of the expansion of our export trade ? What steps would you take to remove them.
हमारे निर्यात व्यापार की वृद्धि की प्रमुख कठिनाइयां क्या हैं उनको दूर करने के लिये आप क्या कदम उठायेंगे ?

32. Discuss the actual function of Tariff Commission in recent years. In what respects have they undergone a change from the main function of the commission.
वर्तमान वर्षों में प्रशुल्क आयोग के वास्तविक कार्यों पर विचार कीजिये। ये कार्य आयोग के मुख्य कार्यों से किस प्रकार भिन्न हैं। सकारण उत्तर दीजिये।

33. Discuss a few alternative concepts of balance of payments deficit. Which of these do you think is the most significant ? Give reasons for your answer.
भुगतान सन्तुलन के घाटे की कुछ वैकल्पिक धारणाओं पर विचार कीजिये। आपकी दृष्टियों से इनमें से कौनसी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सकारण उत्तर दीजिये।

34. Discuss the arguments for and against a policy of flexible Exchange rate.
लोचशील विनिमय दर की नीति के पक्ष और विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों पर विचार कीजिये ?

35. What are the causes of International Capital movements ? Point out the differences in the nature of International capital movements during the two periods, namely, (A) Interwar period between 1920 & 1939, and (B) the post second world war period since 1946.
अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमन के क्या कारण हैं ? दो कालों में अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीगत आवागमनों की प्रकृति के अन्तरों का उल्लेख कीजिये ये हैं—(अ) १९२० से १९३९ तक युद्ध के बीच का समय और (ब) १९४६ से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का समय।

36. Describe the rational and working of the Indian Exchange control during World War Second. i. e. 1939 to 1945.
द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान (१९३९ से १९४५ तक) भारतीय विनिमय नियन्त्रण के औचित्य और व्यवहार पर विचार कीजिये ?

37. Discuss the pros and cons of India's membership of sterling block.
पौण्ड गुट में भारत की सदस्यता के हानि-लाभों पर विचार कीजिये?

38. Examine the alternative proposals for increasing the liquidity of the International Monetary Fund.
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की तरलता की वृद्धि के लिये वैकल्पिक प्रस्तावों की परीक्षा कीजिये।

39. Elaborate the Heckscher-Ohlin version of the theory of comparative costs and illustrate diagrammatically. Is the theory supported by empirical evidence ?
हैक्शर-ओहलिन के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के स्वरूप की व्याख्या कीजिए। क्या इस सिद्धान्त की पुष्टि अनुभवों से की जा सकती है ?

40. What is a protective tariff ? What are the arguments for protection in the under-developed countries ?
संरक्षक तट-कर क्या है ? अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण की नीति किन तर्कों पर आधारित है ?

41. What is the absorption approach to the analysis of devaluation and how is it different from the elasticity approach ?
अवमूल्यन की व्याख्या के अवशोषण दृष्टिकोण से आप क्या समझते है ? यह दृष्टिकोण लोच-दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है ?

42. What are the gains from international trade ? Examine the argument which states that free trade maximizes the gains from trade.
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या लाभ हैं। इस तर्क की समीक्षा कीजिए कि मुक्त व्यापार से अधिकतम लाभ होता है।

43. What are the principal defects of the existing international monetary arrangements ? Describe in this context the scheme of Special Drawing Rights to deal with the problem of international liquidity.

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में क्या दोष हैं ? 'विशिष्ट ऋण-प्राप्ति अधिकार' की योजना का अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के संदर्भ में विवेचन कीजिए।

44. Discuss the problems of international economic assistance from the point of view of the donor and the recipient countries.

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायता की समस्याओं का विवेचन देने वाले तथा प्राप्तिकर्त्ता देशों के दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तुत कीजिए।

45. What reasons account for the slow growth of India's exports in recent years ? What steps have been taken by the Government to deal with the problem ?

पिछले कुछ वर्षों में भारत के निर्यातों की धीमी प्रगति के क्या कारण रहे हैं ? इस समस्या के समाधान के लिए भारत सरकार ने क्या कदम उठाये हैं।

46. Write short notes on any Two :—

(i) Factor-price equalization theorem.
(ii) International Bank for Reconstruction and Development.
(iii) India's trade with Eastern Europe.
(iv) India's tea exports.

किन्हीं दो पर टिप्पणियां लिखिए :—

(*i*) साधन-मूल्य समीकरण सिद्धान्त।
(*ii*) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक।
(*iii*) पूर्वी योरप से भारत का व्यापार।
(*iv*) भारत से.चाय का निर्यात।

47. Explain the Opportunity-cost doctrine of International Trade as propounded by Haberler. Use diagrams to illustrate your answer.

हैबलर के 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर-लागत सिद्धान्त' को समझाइये। उत्तर को रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट कीजिये।

48. Discuss the effects of tariffs on (a) internal price level, (b) distribution of National Income, (c) terms of trade, and (d) economic development of a country.

किसी देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर, राष्ट्रीय आय के वितरण, व्यापार की शर्तों तथा आर्थिक विकास पर टैरिफ के प्रभाव की व्याख्या कीजिये ।

49. What is meant by 'terms of trade'? When do they become unfavourable? Examine the view that the 'terms of trade' of a poor country exporting primary products generally tend to be unfavourable.

'व्यापार की शर्तों' का क्या अर्थ है? वे कब प्रतिकूल हो जाती हैं? इस विचार की जांच कीजिये कि एक गरीब देश के लिये, जो प्राथमिक उत्पाद का निर्यात करता है, 'व्यापार की शर्तों' की प्रवत्ति आमतौर से प्रतिकूल होने की होती है।

50. Discuss the Purchasing Power Parity Theory. How far does this theory apply in actual practice?

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिये । व्यावहारिक जीवन में यह सिद्धान्त कहां तक लागू होता है?

51. Explain the role which the International Monetary Fund plays in stabilising external value of currency of a member country.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य स्थिर रखने में क्या योगदान देता है, समझाइये ।

52. What have been the objectives of G. A. T. T.? Indicate; keeping under-developed countries in mind, how far it has been possible to achieve those objectives.

जी. ए. टी. टी. के क्या उद्देश्य रहे हैं? अर्द्धविकसित राष्ट्रों को ध्यान में रखते हुए बतलाइये कि उन उद्देश्यों को पूरा करना कहां तक सम्भव हो सका है ।

53. Describe the methods of exchange control adopted in India at present.

अभी भारत में प्रयुक्त विनिमय नियन्त्रण के तरीकों का उल्लेख कीजिये ।

54. Is it advisable for under-developed countries (including India) to form regional economic allia-

nces like the European Common Market ? Give reasons for your answer.

क्या (भारत समेत) अर्द्धविकसित राष्ट्रों के लिये यह उचित है कि वे ऐसी प्रादेशिक आर्थिक मैत्रियां बनाएं जैसी कि यूरोपियन साझा बाजार है ? अपने उत्तर के कारण बतलाइये।

55. Attempt a brief survey of India's import needs, her export prospects and balance of trade position in the Fourth Five Year Plan.

चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत की आयात आवश्यकताओं, निर्यात संभावनाओं और व्यापार आधिक्य के सर्वेक्षण का प्रयास कीजिये।

56. Write short notes on any two of the following:—

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये:—

(a) Special Drawing Rights.
विशिष्ट ऋण-प्राप्ति अधिकार।

(b) Trade versus Aid.
व्यापार बनाम सहायता।

(c) Devaluation of Indian Rupee in 1966.
सन् १९६६ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन।

(d) Foreign Trade Multiplier.
विदेशी व्यापार गुणक।

SELECTED READINGS

1. Barret Whale : International Trade.
2. Harrod : International Economics.
3. Haberler : International Trade.
4. Ohlin : Inter-regional and International Trade.
5. Ellsworth : International Economy.
6. Ellsworth : International Trade.
7. Taussig : International Trade.
8. Clear and Caum : A B C of Foreign Exchange.
9. Thomas : Principles and Arithmatic of Foreign Exchange.
10. Einzing : Exchange Control.
11. P. Ray : India's Foreign Trade.
12. Adakar : Fiscal Policy.
13. Adakar : Indian Tariff Policy.
14. Fiscal Commission Report, 1949.
15. Madan : Indian and Imperial Preference.
16. Dey : Indian Tariff Problem.
17. Naraynaswami Naidu : India's Trade.
18. Ganguli : Reconstruction of India's Foreign Trade.